

महाकवि अजितसेन विरचित
अलंकारचिन्तामणि

सम्पादन-अनुवाद

डॉ. नैमिचन्द्र शास्त्री

ज्योतिषाचार्य, न्याय-काव्य-ज्योतिषतीर्थ, साहित्यरत्न
एम. ए. (संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत) पी-एच. डी., डी. लिट्.
संस्कृत-प्राकृत विभागाध्यक्ष
एच. डी. जैन कॉलेज, आरा
मगध विश्वविद्यालय



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

पुरोवाक्

• प्राचीन पाण्डुलिपियोंका समुद्धार जितना ज्ञानसाध्य है, उतना ही श्रमसाध्य । पग-पग पर विषय, भाषा और लिपिकी इतनी और ऐसी समस्याएँ आ खड़ी होती हैं कि उनके समाधानका क्लेश सधर्मा ही समझ सकता है । मार्ग बनाने और बने-बनाये मार्गपर चलनेमें जो अन्तर है वही पाण्डुलिपिके सम्पादन और सम्पादित-मुद्रित पाण्डुलिपिके अध्ययनमें है । मुद्रित रूपको देखनेवाला उसमें निहित श्रमकी यथावत् कल्पना भी नहीं कर पाता ।

‘अलंकारचिन्तामणि’के सम्पादनमें डॉ. मेमिचन्द्र शास्त्री जीने जिस वैदुष्यका परिचय दिया है और जो श्रम किया है, उसके लिए वे अलंकारशास्त्रविदोंके अनल्प साधुवादके भाजन हैं । शास्त्री जी बहुज्ञ और विशिष्ट विद्वान् होनेके साथ अरोचकी तथा अभिनिवेशी लेखक भी हैं । अलंकारशास्त्र और भाषाशास्त्रमें उनकी ‘समं लीलायते भारती’ । उनका ‘अभिनव प्राकृत व्याकरण’ हिन्दीमें प्राकृतका सर्वोत्कृष्ट व्याकरण है । ‘मागधम्’ नामक पाण्डुलिपिक संस्कृत शोध-पत्रिकाके नियमित एवं सारवान् प्रकाशनके द्वारा उन्होंने संस्कृत पत्रकारिताके क्षेत्रमें ईर्ष्य मानदण्ड स्थापित किया है । ‘मागधम्’के सभी अंक स्थायी महत्त्वके हैं । उनके अनेक ग्रन्थ हैं ।

‘अलंकारचिन्तामणि’ श्री अजितसेनाचार्यकी रचना है जिनका समय शास्त्री जीने तेरहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध (सन् १२६६ ई०) निर्धारित किया है । अजितसेना जैसे जैन अथवा रूपगोस्वामी जैसे वैष्णव आचार्य द्वारा अलंकारशास्त्रीय ग्रन्थोंका प्रणयन इस बातका सूचक है कि अलंकारशास्त्रका प्रसार केवल कवियों और काव्यालोचकों तक ही सीमित नहीं था, बल्कि वह धार्मिक मतवादीके प्रचारका लोकप्रिय माध्यम भी था । ‘अलंकारचिन्तामणि’के रचयिताकी प्रतिज्ञा है :

अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादिमुभाषितम् ।

पुण्यपुण्यसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ॥—अ. चि. १।५

इससे ग्रन्थकारका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है । ‘अलंकारचिन्तामणि’के उदाहरण सत्पुरुषोंके सुचरितसे सम्बद्ध और पुराणोंसे गृहीत हैं; अतः यह ग्रन्थ प्रकारान्तरसे स्तोत्र ही है ।

अजितसेनाचार्यकी काव्यलक्षण-विषयक धारणा समन्वयात्मक है । उनके अनुसार काव्य शब्दालंकार तथा अर्थालंकारसे युक्त, नव रसोंसे समन्वित, रीतियोंके प्रयोगसे

अलंकारचिन्तामणि

मनोरम, व्यंग्यादि अर्थोंसे सम्पन्न, दोषोंसे रहित, गुणोंसे सहित होना चाहिए। काव्यके प्रयोजनमें ग्रन्थकारने दो बातों पर विशेष बल दिया है एक तो उसे उभयलोकोपकारी होना चाहिए अर्थात् उसके देखके आनन्द होना चाहिए, सामुहिकता प्रेयसी प्राप्त होना चाहिए, दूसरे, पुण्य और धर्मके अर्जनका उते समर्थ साधन भी होना चाहिए।

शब्दार्थालङ्कृतीदं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामं
व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणवलितं नेतृसङ्घर्षनाह्वयम् ।
लोकद्वन्द्वोपकारि रघुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुवार्थं
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोद्देष्टुम् ॥१॥७॥

अलंकारचिन्तामणिमें पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें मुख्यतः 'कविसमय' का संग्रह है, द्वितीय परिच्छेदमें चित्रालंकारका तथा तृतीय परिच्छेदमें यमकका प्रपञ्च है; चतुर्थ परिच्छेदमें अर्थालंकारों का विवरण है। पंचम परिच्छेदमें रस, रीति, शब्दार्थ, शब्दव्यापार, दोष, गुण, नायक-नायिका आदिका निरूपण है। एक पंचम परिच्छेदमें ही इतने विषयोंके समावेशका कोई यौक्तिक आधार नहीं दीखता। ग्रन्थकी विशेषता किसी उल्लेख्य मौलिक उद्भावनामें नहीं, बल्कि विषय प्रतिपादनकी प्राञ्जला और उदाहरणोंकी श्लीलतामें है।

प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादनमें शास्त्री जीने जो धन किया है वह तो क्लृप्त है ही, पूरे ग्रन्थका हिन्दी अनुवाद देकर उन्होंने इसका महत्त्व अनेकगुण बढ़ा दिया है। अनुवाद प्रामाणिक तथा स्पष्ट है, साथ ही शास्त्रीजीके आधिकारिक ज्ञानका अनवद्य निदर्शन है। निश्चय ही इस ग्रन्थसे अलंकारशास्त्रके मर्मज्ञ सुदित एवं तृप्त होंगे।

पटना

६-१२-३२

देवेन्द्रनाथ शर्मा
आचार्य तथा अध्यक्ष,
हिन्दी-विभाग,
पटना विश्वविद्यालय

प्रस्तावना

'अलंकारचिन्तामणि'के वैशिष्ट्य और महत्त्वपर विचार करनेके पूर्व काव्यमें अलंकारका स्थान और अलंकारशास्त्रकी उपयोगितापर विचार करना आवश्यक है। यतः सभी धर्मानुयायियोंने समान रूपमें अलंकार शास्त्रका प्रणयन किया है।

कर्तृवाच्य और करणवाच्य द्वारा अलंकार शब्दकी व्युत्पत्ति—“अलं करोति अलंकारः” और “अलं कियतेऽनेनेत्यलंकारः” रूपमें की जाती है। प्रथम व्युत्पत्तिके आधार पर जो भूषित करता है वह अलंकार है। और द्वितीयके अनुसार जिसके द्वारा किसीकी शोभा होती है वह अलंकार है। सामान्यतः दोनों व्युत्पत्तियोंका एक ही अर्थ प्रतीत होता है। पर सूक्ष्म दृष्टिसे अध्ययन करनेपर स्पष्टतः भेद परिलक्षित होगा। कर्तृवाच्यमें अलंकार काव्यका सहज अथवा स्वाभाविक धर्म है। और करणवाच्यमें वह साधन मात्र है; सहज अथवा स्वाभाविक नहीं। प्रथममें अलंकार ही अलंकार्य है, दोनोंमें कोई भिन्नता या पृथक्ता नहीं; पर द्वितीय व्युत्पत्तिमें अलंकारसे भिन्न अलंकार्य है। यहाँ अलंकार बाह्य धर्म है, अन्तरंग धर्म नहीं। अलंकारकी इस व्युत्पत्तिभिन्नताके कारण भारतीय साहित्यशास्त्रियोंमें दो वर्ग दिखलाई पड़ते हैं। प्रथम वर्गके आचार्योंने अलंकार और अलंकार्यमें अभेद स्थापित कर अलंकारकी ही काव्यका सर्वस्व माना है। इस सिद्धान्तके पोषकोंमें भामह, दण्डी, वामन, जयदेव आदि हैं। द्वितीय वर्गके आचार्योंने अलंकारको काव्यका शोभाकारक धर्म और बाह्यरूपसे उपस्कारक माना है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार हारादि अलंकार रमणीके नैसर्गिक सौन्दर्यकी वृद्धिमें उपकारक होते हैं, उसी प्रकार उपमादि अलंकार काव्यकी रसात्मकताके उत्कर्षक हैं। इस सिद्धान्तका पोषण आनन्दवर्द्धन, मम्मट, विश्वनाथ प्रभृति रसवादी आचार्योंने किया है। यहाँ यह स्मरणीय है कि ये रसवादी आचार्य भी अलंकारकी सर्वथा उपेक्षा नहीं करते। ये भी उचित और सन्तुलित रूपमें अलंकार योजनाको महत्त्व देते हैं। निःसन्देह अलंकार वाणीके विभूषण है, इनके द्वारा अभिव्यक्तिमें स्पष्टता, भावोंमें प्रभ्रविष्णुता, प्रेक्षणीयता तथा भावामें सौन्दर्यका सम्पादन होता है। अतएव काव्यमें रमणीयता एवं चमत्कारका आधान करनेके हेतु अलंकारोंकी स्थिति आवश्यक है।

यूनानी काव्यशास्त्रके अनुसार—“अलंकार उन विधाओंका नाम है, जिनके प्रयोग द्वारा श्रोताओंके मनमें वक्ता अपनी इच्छाके अनुकूल भावना जगाकर उनको

अपना समर्थक बना सकता है।^१ भारतीय चिन्तक भी वैदिक युगसे अलंकारका महत्त्व स्वीकार करते चले आ रहे हैं। स्पष्टता और प्रभावोत्पादनके हेतु वाणीमें अनायास ही अलंकार आ जाते हैं। विकासकी दृष्टिसे अलंकारक्षेत्रकी तीन स्थितियाँ मानी जा सकती हैं—(१) आदिम स्थिति, (२) विकसित और (३) प्रतिष्ठित स्थिति। आदिम स्थितिमें अन्प्रेताओंको काव्यके प्रभावक धर्मका एक ही रूप ज्ञात था, जिसको वे अलंकार कहते थे। विकसित स्थितिमें अलंकार वाक्यमें अर्थ विस्तार हुआ और सौन्दर्य मात्रको अलंकार कहा जाने लगा। प्रतिष्ठित स्थितिमें प्रभावक धर्मकी दूसरी विधाओंको स्वतन्त्रता मिली और वे भी अलंकारके साथ शास्त्रीय अध्ययनका विषय बन गयीं। इस प्रकार अलंकार शास्त्रके अन्तर्गत काव्यके सभी उपकरण और रचना-प्रक्रिया अन्तर्भूत हो गयी।

ऋग्वेदमें उपमा, रूपक, यमक आदिका प्रयोग पाया जाता है। यास्कने 'अलंकारिण्यम्'^२ का प्रयोग अलंकारके अर्थमें किया है। इन्होंने तिघण्टुमें उल्लिखित उपमा-वाचक द्वादश शब्दोंमें-से दशका प्रयोग तृतीय अध्यायमें कर अलंकारशास्त्रकी उपादेयता प्रदर्शित की है।

वैयाकरणों द्वारा यास्क और भरतके बीच अलंकारके कुछ शास्त्रीय शब्द प्रयुक्त मिलते हैं। पाणिनिके समय तक सादृश्यमूलक अलंकार स्वीकृत हो चुके थे। कृत, तद्धित, समास आदिपर सादृश्यका प्रभाव स्पष्ट है। अतएव यह सिद्ध होता है कि वैयाकरणोंने उपमा आदि अलंकारोंसे प्रभाव ग्रहण कर तुलना सूचक शब्दोंके नियमनका विधान किया है। इस नियमनके अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि अलंकारशास्त्रका बीजारोपण भरत मुनिके पूर्व हो चुका था। यही कारण है कि वैयाकरणोंने अलंकारके प्रभावको ग्रहण किया है।

अलंकारशास्त्रमें अलंकारका स्थान

रास्कृतके अलंकारशास्त्रियोंने अलंकारको कटक-कुण्डलवत् बताया है। पर संस्कृतके काव्योंके अध्ययनसे अवगत होता है कि यह सम्बन्ध तन्तुपटवत् है, कटक-कुण्डलादिवत् नहीं। अलंकार काव्यशरीरके ताने-बाने से पूर्णतः मिला-जुला होता है। उसे अलग नहीं किया जा सकता। इस शब्दार्थके साथ सारायनिक अन्तर्गठन है; अतः उसे पृथक् कर विचार नहीं किया जा सकता।

अलंकारोंकी स्थिति मनोवैज्ञानिक आधारपर प्रतिष्ठित है। ये कविकी वाणीको सौन्दर्य प्रदान करनेके साधन हैं। कवि स्वभावतः सहृदय और कलाकार होता है। उसकी सहृदयता, उसकी भावनाको उद्दीप्त कर देती है; और कविकी कलाप्रियताके कारण उद्दीप्त भावनाएँ स्वतः ही अलंकृत हो जाती हैं। भावनाकी उद्दीप्ति मनके ओज-

१. हिन्दी साहित्य कोश, जनमण्डल, काशी, वि. सं. २०१६, पृ. ७।

२. तिलनिर्णय धर्मसन्तानादरेतमलंकारिण्युमपञ्चानम्—तिलक ६।१६।

पर निर्भर है। अतः अलंकारशास्त्रियोंने मनके ओजको अलंकारोंके अस्तित्वका कारण माना है।

वस्तुतः अलंकार किसी भी विषयको उक्तिवैचित्र्य रूपमें कहनेके साधन है। कविकी यह स्वाभाविक धारणा होती है कि वह अपनी रचनाको रोचक बनानेका यत्न करे। किसी बातको सीधे ढंगसे यथातथ्य रूपमें कह देनेका उतना व्यापक प्रभाव नहीं पड़ता, जितना कल्पनामिश्रित अतिरंजित वाणी द्वारा व्यक्त करनेसे प्रभाव पड़ता है। कवियोंकी इसी प्रवृत्तिके कारण अलंकारशास्त्रियोंने अलंकारके मूलमें अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति या औपम्यको ग्रहण किया है।

निःसन्देह अलंकार काव्यमें रसके उत्कर्षक एवं सौन्दर्यका परिवर्द्धन करने वाले आवश्यक उपादान हैं। कविकी सौन्दर्यप्रियताके कारण ही काव्यमें अलंकारोंका अस्तित्व पाया जाता है। अलंकारोंका मनोवृत्तियोंसे पनित सम्बन्ध है। कवि अपने रचिवैशिष्ट्यके अनुसार अलंकारका प्रयोग कर अपनी रचनामें चाहता उत्पन्न करता है। अलंकार द्वारा एक व्यक्तिके हृदयकी अनिर्वचनीय रसानुभूति दूसरे व्यक्तिके हृदयमें संक्रमित होती है। हमारे जीवनकी रसानुभूतियाँ केवल सुख, सुकुमार एवं अनन्त वैचित्र्यशील ही नहीं होतीं किन्तु हृदयके गहन अन्तरालमें अनिर्वचनीय आह्लादका संचार करती हैं। इस अनिर्वचनीयको वचनीय करनेकी चेष्टा असाधारण भाषा द्वारा की जाती है—यतः अभिव्यक्तिका साधन भाषा ही है। कवि भाषा द्वारा जिस अन्तर्लोकका परिचय देना चाहता है, वह परिचय साधारण भाषा द्वारा नहीं दिया जा सकता। इसके लिए हृदय को स्पन्दित करनेवाली विशेष भाषाकी अपेक्षा होती है। इस विशेष भाषाका नाम ही अलंकार भाषा है।

अलंकार कविकी विशेष भाषाके धर्म होते हैं। इन्हींके प्रयोग द्वारा वह अपनी अनुभूतिको प्रेषणीय बनाता है। काव्यानुभूति, स्वानुरूप चित्र, स्वानुरूप वर्ण, स्वानुरूप अंकार लेकर ही आदर्शभिव्यक्ति करती है। जब तक कवि अपनी काव्यानुभूति को विशेष भाषामें मूर्त नहीं कर पाता, तब तक भर्मस्पर्शी काव्यका प्रणयन सम्भव नहीं होता। रस समाहित हृदयके स्पन्दनको अभिव्यक्त करनेके लिए असाधारण भाषा अपेक्षित है। और इस असाधारण भाषाको काव्योचित विशेषोक्ति या अलंकार समन्वित विशेषोक्ति कहा जा सकता है।

कलाका प्रधान कार्य व्यक्तिविशेषके भावोंको सार्वजनीन बनाना है। यह सार्वजनीन या साधारणीकरणकी प्रक्रिया तथ्यनिरूपण मात्रसे नहीं हो सकती। इसके लिए अलंकार भाषाका प्रयोग करना आवश्यक है। अलंकारके अभावमें रचनामें मनोजता नहीं आ सकती है और न वह रचना सहृदय-संबन्ध ही हो सकती है। यह सत्य है कि अलंकार काव्यका कलापक्षीय धर्म है। पर वाणीमें सौन्दर्य और चाहता अलंकार द्वारा ही उत्पन्न होती है।

शब्दालंकार भाषाके संगीत धर्मके अन्तर्गत हैं और अर्थालंकार चित्र धर्मके। इन

दोनोंके द्वारा सौन्दर्यका सृजन होता है। अर्थात् अलंकारके छह आधार हैं—(१) साधर्म्य, (२) अतिशय, (३) वैषम्य, (४) औचित्य, (५) वक्रता और (६) चमत्कार। साधर्म्यमूलक अलंकारों द्वारा मुख्यतः हम अपने कथनको स्पष्ट करते हुए श्रोताकी मनोवृत्तियोंको अन्वित करते हैं। जैसे हम किसी सुन्दरीके मुखको चन्द्रमासे उपमा देते हैं तो मुखके टेकनेसे हमारे मनमें जो विशिष्ट भाव उत्पन्न होते हैं उनका हम प्रसिद्ध उपमानकी सहायतासे साधारणीकरण करते हैं। चन्द्रमा सौन्दर्यका प्रतीक है। हम किसी सुन्दरीके मुखको चन्द्रमाके समान कहकर अपनी उद्दीप्त भावनाको श्रोता या पाठकके हृदयमें प्रेषित करते हैं। इस प्रकार हमारी उक्तिके प्रभावको पूर्णतः ग्रहण कर श्रोताकी वृत्तियाँ प्रसन्न होकर अन्वितिके लिए प्रस्तुत हो जाती हैं। साधर्म्यमूलक अलंकार लोकातिशयताके द्वारा मनका विस्तार करते हुए वृत्तियोंको ऊर्जस्वित् करते हैं।

वैषम्यमूलक अलंकारोंकी रसानुभूतिमें मोग देनेकी विधि साधर्म्यमूलक अलंकारोंसे विलकुल विभिन्न है। ये वैषम्य—शब्दगत या अर्थगत निषेधके द्वारा आश्चर्यचकित कर हमारी वृत्तियोंको अन्वित करनेमें सहायक होते हैं।

औचित्यमूलक अलंकार हमारी वृत्तियोंको सीधे रूपमें समन्वित होनेमें सहायक हैं। वक्रतामूलक अलंकार कार्य-जिज्ञासाको उभाड़कर पूरा करते हैं। वक्रता पर आश्रित अलंकार गोपनकी सहायतासे हमारे मनमें जिज्ञासा उत्पन्न करते हैं। हमारी वृत्तियोंकी गतिको थोड़ा रोककर उन्हें तीव्र बनाते हैं और फिर वास्तविक अर्थकी संगति द्वारा उनकी अन्वितिमें सहयोग देते हैं।

चमत्कारमूलक अलंकारोंका बुद्धिके व्यायामसे अधिक सम्बन्ध है। और नियोजन भी मुख्यतः मस्तिष्ककी क्रियाओं तक ही आश्रित है। इस श्रेणीके अलंकार मनमें कौतूहल उत्पन्न कर वृत्तियोंको जागरूक बनाते हैं। अलंकारका कार्य भावोद्दीप्त करना है। सामान्य तथ्य भी अलंकारयुक्त होकर मनोहर और रमणीय हो जाते हैं।

अलंकारके रहस्यको अवगत करनेके लिए कल्पनाके महत्त्वको समझ लेना आवश्यक है। काव्यका सर्जन कल्पना द्वारा ही होता है। प्रतिभासम्पन्न कवि कल्पनाके सहारे ही सौन्दर्यकी सृष्टि करता है। कल्पना अलंकारका ही रूपान्तर है। कल्पना चार प्रकारकी होती है—(१) स्वस्थ, (२) अतिरंजित, (३) मानवीकरण-प्रेरित और (४) आदर्श। स्वस्थ कल्पना कारण और कार्यकी मृत् खलासे स्वाभाविकताको सृष्टि करती है। इसके द्वारा स्वानुभूतिकी परिधि अत्यन्त विस्तृत होकर संसारगत व्यापारमात्रको समेट लेती है। इस प्रकारकी कल्पना अलंकारप्रयोगके बिना सम्भव नहीं। अतिरंजित कल्पना तो अलंकारमूलक ही है। इसके द्वारा असम्भावित परिस्थितियोंको प्रत्यक्ष जगत्में अवतरित कर अन्विति उत्पन्न की जाती है। जीवनके रागात्मक सम्बन्धोंकी वास्तविकता एवं उनकी समष्टिगत परिव्याप्ति अलंकृत भाषाके बिना सम्भव नहीं है। विविध परिस्थितियोंमें अलंकार कल्पनामय चमत्कारका सर्जन करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि अलंकृत भाषा और कल्पना-वैविध्य जीवनगत सौन्दर्य

का उद्घाटन करते हैं। अलंकारोंका प्रयोग जीवनके कार्य व्यापारोंको आकर्षक बनानेमें है। इनसे भाषा और भावोंकी तनता दूर होकर उनमें सुषमा और सौन्दर्यकी सृष्टि होती है।

वस्तुतः अलंकार केवल काव्यको अलंकृत करनेका उपकरण ही नहीं है, बल्कि वस्तु या पात्रमें निहित मनोवैज्ञानिक सौन्दर्यकी स्पष्ट करनेका साधन भी है। अलंकारशास्त्रियोंने अलंकार योजना द्वारा काव्यमें निम्नलिखित तथ्योंका समावेश किया है।

१. सौन्दर्योत्पादन।
२. चमत्कारप्रवणता।
३. प्रभावोत्पादन।
४. अभिव्यञ्जनाका वैचित्र्य।
५. स्पष्ट भावावबोधन।
६. वस्तुजगत्में प्रच्छन्नभावको विभिन्न दृष्टिसे उभारकर गतिमत्तोत्पादन।
७. बिम्ब-ग्रहणार्थ चित्रयोजन।
८. रस-उपस्करण।
९. संगीतात्मकता-उत्पादन।
१०. साहचर्य जागृत कर अन्विति-सर्जन।

इस प्रकार अलंकार शास्त्रियोंने अलंकारको काव्यके लिए आवश्यक माना है। अलंकारके अन्तर्गत काव्योत्पत्तिके साधन रस-भाव प्रक्रिया, गुण-दोष विवेचन आदि भी अभिप्रेत हैं। अलंकारशास्त्रके ग्रन्थोंका प्रारम्भ भरतके नाट्यशास्त्रसे होता है। इसके पश्चात् भामह, दण्डी, उद्भट और रुद्रटने इस शास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। वामनने काव्यालंकार सूत्रवृत्ति लिखकर एक नवीन शैलीका प्रवर्तन किया है। मम्मट, विश्वनाथ आदिने भी अलंकारशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तोंका ग्रथन कर अलंकारशास्त्रको सुनियोजित और समृद्ध बनाया है। इसी परम्परामें अलंकार चिन्तामणिके रचयिता अजितसेन भी आते हैं। अजितसेनने अलंकार लक्षणोंके अतिरिक्त काव्यके अन्य महत्त्वपूर्ण उपकरणोंका भी निर्देश किया है। काव्य-सम्बन्धी रचना-प्रक्रियाका ऐसा सांगोपांग विवेचन कम ही स्थानोंमें उपलब्ध होगा।

अलंकारचिन्तामणिकी विषय-वस्तु

अलंकारचिन्तामणि पाँच परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें एक सौ छह पद्य हैं। इनमें कवि-शिक्षा पर प्रकाश डाला गया है। कवि-शिक्षाकी दृष्टिसे यह परिच्छेद बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। महाकाव्य निर्माताको कितने विषयोंका वर्णन किस रूपमें करना चाहिए, इसकी सम्यक् विवेचना की गयी है। भंगलाचरणके पश्चात् इस ग्रन्थको अलंकार ज्ञान प्राप्त करानेका प्रमुख साधन बताया है। पंचम पद्यमें इसे स्तोत्र कहा है। लिखा है—“इस अलंकार ग्रन्थमें अलंकारोंके उदाहरण प्राचीन पुराण ग्रन्थ,

सुभाषित ग्रन्थ एवं पुण्यात्मा शलाकापुरुषोंके स्तोत्रोंसे उपास्थित किये गये हैं। अतः यह ग्रन्थ भी एक प्रकारसे स्तोत्र है।^१

अनन्तर सज्जन-प्रशंसा और आत्म-लघुताका कथन आया है। आचार्य अजित-सेनने बताया है कि काव्य-रचना तो कवि करता है, पर सहृदय आलोचक उसको गुणोंका विस्तार करते हैं। काव्य-स्वरूपका निरूपण करते हुए लिखा है कि शब्दालंकार और अर्थालंकारोंसे युक्त, नवरस सहित, वैदर्भी इत्यादि रीतियोंके सम्यक् प्रयोगसे सुन्दर, व्यंग्यादि अर्थोंसे समन्वित, धृति, कटु इत्यादि दोषोंसे मुक्त, प्रसाद माधुर्य आदि गुणोंसे युक्त, नायकके चरित-वर्णनसे सम्पृक्त, उभयलोक हितकारी एवं स्पष्टार्थक काव्य होता है।^२

कविकी योग्यताका प्रतिपादन करते हुए बताया है कि प्रतिभाशाली विविध प्रकारकी रचनाओंके वर्णनमें दक्ष, सभी प्रकारके व्यवहारमें निपुण, नाना प्रकारके शास्त्रोंके अध्ययनसे कुशाग्र बुद्धिको प्राप्त एवं व्याकरण, न्याय आदि ग्रन्थोंके अध्ययनसे व्युत्पत्तिमान् कवि होता है। काव्य-हेतुओंके अन्तर्गत अभ्यास, व्युत्पत्ति, प्रज्ञा एवं प्रतिभाकी गणना की है। यहाँ प्रज्ञा और प्रतिभा इन दोनोंमें अन्तर है। वर्णन-निपुणताकी प्रज्ञाकी संज्ञा दी गयी है तथा कल्पना-जन्य सभी प्रकारके चमत्कार प्रज्ञामें समाविष्ट है। प्रतिक्षण नये-नये विषयोंको कल्पित करनेकी शक्तिरूपी बुद्धिको प्रतिभा कहा है। व्युत्पत्तिके अन्तर्गत उन्मत्तास, अलंकारशास्त्र, गणित, धर्मशास्त्र, व्याकरण-शास्त्र, जित्त, तर्कशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्रके अध्ययन द्वारा जानार्जन प्राप्त करना व्युत्पत्ति है। अभ्यास, गुरुके समक्ष बैठकर काव्यरचना करनेकी साधनारूप है। अजित-सेनने साधनाका विशेष वर्णन किया है। किन्तु ग्रन्थोंका अध्ययन किस रूपमें अपेक्षित है इसका उन्होंने विस्तारपूर्वक विचार किया है। यति, गति, उपसर्ग, अव्यय-व्यवस्थाका भी कथन आया है।

महाकाव्यके अन्तर्गत राजा, राजपत्नी—महिषी, पुरोहित, कुलश्रेष्ठ पुत्र—ज्येष्ठपुत्र, अमात्य, सेनापति, देश, ग्राम, नगर, कमल, सरोवर, धनुष, नद, वाटिका, बनोद्दीप्त पर्वत, मन्त्र—शासन सम्बन्धी परामर्श, दूत, यात्रा, भुगया—आखेट, अश्व, गज, ऋतु, सूर्य, चन्द्र, आश्रम, युद्ध, कल्याण, जन्मोत्सव, वाहन, वियोग, सुरत—रति-क्रीडा, सुरापान एवं नाना प्रकारके क्रीडा-विनोद आदि विषय समाविष्ट रहते हैं।

राजाके वर्णनीय गुणोंमें कीर्ति, प्रताप, आज्ञा-पालन, बुद्ध-तिग्रह, शिष्ट-पालन, सन्धि, विग्रह, धान, नीति, क्षमा, काम-क्रोधादिपर विजय, धर्मप्रेम, दयालुता, प्रजाप्रीति, शत्रुओंको जीतनेका उत्साह, धीरता, उदारता, गम्भीरता, धर्म-अर्थ-काम-प्राप्तिके अनुकूल साधन, साम-दाम-दण्ड-विभेद इत्यादि उपायोंका प्रयोग, त्याग, सत्य, पवित्रता, शूरता, ऐश्वर्य और उद्योग आदि बातोंका समावेश किया है।

१. अलंकारचिन्तामणि, प्रथम परिच्छेद, पद्य-५।

२. वही, पद्य-७।

लज्जा, नम्रता, व्रताचरण, सुशीलता, प्रेम, चातुर्य, व्यवहार-निपुणता, लावण्य, मधुरालाप, दयालुता, शृंगार, सौभाग्य, मान, काम-सम्बन्धी विविध चेष्टाएँ, पैर, तलवा, गुल्फ, नख, जंघा, सुन्दर घुटना, उरु, कटि, रोमपंक्ति, शिबलि, नाभि, मध्य-भाग, वक्षस्थल, गर्दन, बाहु, अंगुलि, हाथ, दाँत, श्रेष्ठ, कफोल, आँसू, भौंह, ललाट, कान, मस्तक, बेषी आदि अंग-प्रत्यंगों एवं गमनरीति, जाति आदिका वर्णन, महिषीके वर्णनीय गुणोंमें सम्मिलित हैं।

राजपुरोहितका वर्णन करते हुए उसे शकुन और निमित्तशास्त्रका ज्ञाता, सरल, शक्तिशाली, सत्यवक्ता, पवित्र, शास्त्रज्ञ एवं प्रत्युत्पन्नमति कहा गया है।

राजकुमारके वर्णनीय गुणोंमें राजाकी भक्ति, कला-परिज्ञान, नम्रता, शास्त्र-प्रयोगका परिज्ञान, शास्त्राभ्यास, युद्ध-कलाविज्ञता, सुगठित शरीर, विनोदप्रियता आदि गुण सम्मिलित हैं।

राजमन्त्री पवित्र शिष्यारोंबाला, क्षमाशील, बीर, नम्र, बुद्धिमान्, राजभक्त, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंका ज्ञाता, व्यवहारनिपुण, एवं स्वदेशमें उत्पन्न वस्तुओंके उद्योगमें प्रयत्नशील, राजनीति और अर्थनीतिका ज्ञाता होता है।

सेनापति, निर्भय, अस्त्र-शस्त्र का अम्यासी, युद्धकलाविज्ञ, अश्वदिकी सवारीमें पटु, राजभक्त, महान् परिश्रमी, विद्वान् एवं प्रत्युत्पन्नमति होता है।

देशके वर्णनीय विषयोंमें पञ्चरागादि मणियाँ, नदी, स्वर्ण, अन्नभण्डार, खनिज पदार्थ, विशाल भूमि, ग्राम, नगर, जनसंख्या, कृषि, उद्योग, वाणिज्य, धन, धान्य आदि सम्मिलित हैं। ग्रामका वर्णन करते समय अन्न, सरोवर, लता, वृक्ष, गाय, बैल इत्यादि पशु-सम्पत्ति, ग्रामीणोंकी सरलता, अज्ञानता, घटीघन्ना, कृषि, खेत, खलिहान आदि बातोंका कथन करना आवश्यक है। नगरके चित्रणमें परकोटा, दुर्ग-आचीर, अट्टालिका, खातिका, तोरण, श्वजा, सुधालित भवन, राजपथ, वापिका, बाटिका, मन्दिर, पवित्र-स्थान आदिका ध्यान रखना आवश्यक है।

सरोवरके वर्णन-प्रसंगमें कमल, तरंग, कमल-पुष्प, गज-क्रीड़ा, हंस-हंसी, चक्रवाक, भ्रमर एवं तीर-प्रदेशमें स्थित उद्यान, लता, पुष्प प्रभृतिका चित्रण करना आवश्यक माना गया है। समुद्रमें विद्रुम, मणि, मुक्ता, तरंग, जलपीत, जलहस्ति, मगर, नदियोंका प्रवेश एवं निर्गमन, संक्षोभ—चन्द्रोदयजन्य हर्ष, गर्जन-तर्जन इत्यादिका वर्णन समुद्रवर्णनके क्रममें अपेक्षित है। नदीके वर्णनमें समुद्र-गमन, हंस-मिश्रण, मछली, कमल, पक्षियोंका कलरव, तटपर उत्पन्न लताएँ, कमलिनी, कुमुदिनी, सन्तरण करते हुए मानव, एवं तटोंके आकार-प्रकारका चित्रण करना आवश्यक है। उद्यानके वर्णनीय विषयोंमें कलिका, कुसुम, फल, लता, मण्डप, विभिन्न प्रकारके तरु, कोयल, भ्रमर, मयूर, चक्रवाक, उद्यान-क्रीड़ा एवं उद्यान-विहार करते हुए नर-नारियोंका चित्रण अपेक्षित है। पर्वतके वर्णन-प्रसंगमें शिखर, गुहा, बहुमूल्य रत्न, विभिन्न प्रकारकी उपत्यका, चनवासी किन्नर, सरना, गेरिकादि धातु, उच्च शिखरपर निवास करनेवाले मुनि, कुसुमोंकी बहुलता,

हरीतिमा आदि वर्णनीय है। वन-वर्णनके प्रसंगमें सर्प, सिंह, व्याघ्र, शूकर, हरिण, एवं विविध तरुओंके साथ भालू, उल्लू इत्यादिका एवं कुंज, बल्मीक तथा पर्वत इत्यादिका वर्णन करना आवश्यक है।

इस कवि-शिक्षामें मन्त्रके अन्तर्गत साभ, दाम, भेद और दण्ड इन चार उपायों का; प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीन शक्तियोंका; कुशलता तथा नदीतटा; वर्णन आवश्यक माना है। दूतके गुण, विजय-यात्राके समय चतुरंगिणी सेनाकी विविध प्रवृत्तियाँ एवं वातावरणका वर्णन आवश्यक बताया है। मृगयाके वर्णन-प्रसंगमें जंगली पशुओंके भय, पलायन, उनकी विभिन्न प्रकारकी शारीरिक और मानसिक चेष्टाएँ, चित्रित करनेका नियमन किया है। अश्व और गजोंका वर्णन करते समय उनकी जाति, गति, विभिन्न गुण-दोष, शारीरिक शक्ति, रूप-सौन्दर्य आदिका वर्णन आवश्यक माना है।

षट्ऋतुओंके वर्णनीय विषयोंका निरूपण करते हुए वसन्त ऋतुमें दोला, मयानिल, भ्रमर-वैभयकी संकार, कुड्मलकी उत्पत्ति, आम्र, मधूक आदि वृक्ष, पृष्प, मंजरी, एवं लता आदिका वर्णन; ग्रीष्म ऋतुका वर्णन करते समय मल्लिका, उष्मा, सरोवर, पथिक, शुष्कता, मृग-तृष्णा, मृग-मरीचिका, प्रपा, कूप या सरोवरसे जल भरनेवाली नारियोंका दृश्य-चित्रण; वर्षा ऋतुमें मेघ, मयूर, वर्षाकालीन सौन्दर्य, संज्ञावात, वृष्टिके जलकण, फुहार और बौछार, हंसोंका निर्गमन, केलकी, कदम्बादिकी कलिकाएँ और उनके विकासका चित्रण; शरद् ऋतुका चित्रण करते समय चन्द्रमा और सूर्यकी स्वच्छ किरणें, हंसोंका आगमन, वृषभादि पशुओंकी प्रसन्नता, स्वच्छ जल-सरोवर, कमल, सप्तपर्णी आदि पुष्प एवं जलाशय आदि; हेमन्त ऋतुके वर्णनमें हिमसुक्त लताएँ, मुनियोंकी तपस्या, कान्ति, सरोवर, नदीतट आदिका चित्रण; एवं शिशिर ऋतुमें शिरीष और कमलका विनाश अत्यधिक शैत्यके कारण कम्पन, अग्निकी अनुष्णता, सूर्य, आस्तापकी सहिष्णुता आदिका वर्णन करना आवश्यक है।

सूर्यका वर्णन करते समय उसकी अरुणिमा, कमलका विकास, चक्रवाककी आँखोंकी प्रसन्नता, अन्धकारका नाश, कुमुदिनीका संकोचन, तारा-चन्द्रमा-दीपककी प्रभाव-हीनता एवं कुलटाओंकी पीड़ाका चित्रण; चन्द्रमाके वर्णनमें मेघ, कुलटा, चकवा-चकवी, चौर, अन्धकार, वियोगियोंकी मर्म-व्यथा, उज्ज्वलता, समुद्र, कैरव और चन्द्रकान्तमणिकी प्रसन्नताका चित्रण; आश्रमके वर्णनमें मुनियोंके समीप सिंह, हाथी, हरिण आदिकी शान्त-वृत्ति; सभी ऋतुओंमें प्राप्त होनेवाले फल, पुष्प, प्राकृतिक सौन्दर्य छटा, इष्टदेव पूजन-यजन, एवं युद्ध-वर्णनमें तुर्य आदि वायोंकी ध्वनि, तलवार, कटार आदिकी चमक, धनुषकी प्रत्यक्षापर बाण चढ़ाना, छत्र-भंग, कदच-भेदन, गज-रथ और सीतकोंका वर्णन अपेक्षित है।

उत्सवोंके चित्रण भी सांगोपांग होने चाहिए। जन्म-कल्याणकका वर्णन करते समय गर्भवतिरण, जन्माभिषेकके समय ऐरावत हाथी, सुमेरु पर्वत, समुद्र, देवी द्वारा जय-जय-ध्वनि, विद्याधर और मनुष्यों द्वारा विभिन्न प्रकारके हर्षोल्लास, नृत्य, गीत-

वाद्यका आयोजन, और विवाहका वर्णन करते समय, स्नान, शरीरकी स्वच्छता, वस्त्राभूषण, अलंकार, मधुरगीत, विवाह-मण्डप, बेदी, नाटक, नृत्य एवं वाद्योंकी विविध ध्वनिका चित्रण आवश्यक है। विवाहके सन्दर्भमें ही उष्ण निःश्वास, मानसिक चिन्ता, शरीरकी दुर्बलता, शिशिरश्रुतु होनेपर भी ग्रीष्मकी अधिकता, रात्रि या दिनकी दीर्घता, रात्रि-जागरण, हँसी, प्रसन्नता, और विविध प्रकारकी भाव-भंगिमाओंका चित्रण करना चाहिए।

सीत्कार, कण्ठालिगन, नखक्षत, दन्तक्षत, करधनी, कंकण, मंजीरकी ध्वनि, और स्त्रीका पुरुषके समान आचरण आदिका वर्णन सुरतके वर्णन-प्रसंगमें करना चाहिए। स्वयंवरका वर्णन करते समय नगाड़ा, मंच, मण्डप, कन्या, तथा स्वयंवरमें पधारै राजाओंके वंश, प्रसिद्धि, मश, वैभव, रूप-लावण्य, आकृति-प्रभृतिका चित्रण करना चाहिए। पुष्पावचयके सन्दर्भमें पुष्पचयन, परस्पर वक्रोक्ति, गोत्र-स्खलन, रागपूर्वक अवलोकन इत्यादिके वर्णन करनेका नियमन है। जल-क्रीड़ाके सन्दर्भमें जल-संशोभ, जलमन्यन, हंस और शक्रवाकका वहांसं दूर हटना, धारण किये हुए हारादे अलंकारोंका गिर पड़ना, जलसीकरोंकी श्वेतता, जलसीकरयुक्त मुख एवं श्रम इत्यादिका वर्णन करना चाहिए।

अजितसेनने अन्य आचार्योंके मतानुसार वर्ण्य विषयोंका निरूपण करते हुए महाकाव्यमें अठारह विषयोंके वर्णित किये जानेका निर्देश किया है—१. चन्द्रोदय, २. सूर्योदय, ३. मन्त्र, ४. दूत, ५. जलक्रीड़ा, ६. राजकुमारका अन्मुदय, ७. उद्यान, ८. समुद्र, ९. नगर, १०. वसन्तादि ऋतुएँ, ११. पर्वत, १२. सुरत, १३. समर-युद्ध, १४. यात्रा, १५. मंदिरापान, १६. नायक-नायिकाकी पदवी, १७. वियोग एवं १८. विवाहका चित्रण महाकाव्यमें आवश्यक माना है।

इस परिच्छेद में महाकाव्यके वर्ण्य विषयोंके अतिरिक्त कवि-समयोंका भी कथन किया है। कवि-समय तीन प्रकारके होते हैं—१. जो वस्तु संसारमें नहीं है उसका उल्लेख, २. जो वस्तु संसारमें है उसका अनुल्लेख और ३. समान जाति वाले पदार्थोंका संक्षेपमें नियमानुसार वर्णन करना कवि-समय है।

प्रथम कविसमय असत्में सत् वर्णन-सम्बन्धी है। यथा—सभी पर्वतों पर रत्नादि की उपलब्धि, छोटे-छोटे जलाशयोंमें भी हंसादि पक्षियोंका वर्णन, जलमें तारकावलीका प्रतिबिम्ब, आकाशमंगा एवं अन्य नदियोंमें भी कमलादिका वर्णन, अन्धकारका सूचिकाभेदन, उसका सुष्टिप्राप्त्यत्व, ज्योत्स्नाका अंजलि-प्राप्त्यत्व आदि। असत् वर्णन रूप कवि-समयके अन्तर्गत प्रतापके वर्णन-प्रसंगमें उसे रक्त या उष्ण कहना, कीर्तिमें हंसादिकी शुक्लता, अयशमें कालिमा, क्रोध और प्रेमकी अवस्थामें रक्तिमाका वर्णन करना असत्-वर्णन कवि-समय है। कवि-समयके अनुसार प्रतापको रक्त, कीर्तिको शुक्ल, अपयशको कृष्ण, एवं क्रोध-प्रेमको अरुण माना जाता है। समुद्रकी चार संस्था, चकवा-चकवीका रातमें वियोग, चकोर पक्षी और देवताओंका चन्द्रमें निवासका वर्णन

असत् वर्णनके अन्तर्गत है। लक्ष्मीका कमल तथा राजाके दक्षस्थल पर निवास, समुद्रमन्थन तथा समुद्रमन्थनसे चन्द्रकी उत्पत्तिकी वर्णन असत् वस्तु वर्णन कवि-समय है।

इस प्रकार कविसमयोंका विस्तारसे निरूपण कर धमक, श्लेष और चित्रकाव्य सम्बन्धी व्यवस्थाका चित्रण किया है। इन अलंकारोंके नियोजनमें किन-किन वर्णनोंमें किस प्रकार विभेद माना जाता है, काव्य-रचनाके नियमोंके वर्णन-प्रसंगमें वर्णनोंका ध्रुव/शुभत्व, गणोंके देवता और उनका फल, बतलाया गया है। कविको काव्य-रचना करते समय पदके आरम्भमें किन-किन वर्णों और मात्राओंका प्रयोग नहीं करना चाहिए, इसका भी विचार किया है। कविके लिए विशेष और निषिद्ध बातोंका भी कथन आया है। बताया गया है कि काव्यके अग्रिममें भगण होनेसे सुख, जगण होनेसे रोय, सगण होनेसे विनाश, नगणके प्रयोगसे धनलाभ और मगणके प्रयोगसे शुभफलकी प्राप्ति होती है।

रचना-प्रक्रियाकी दृष्टिसे काव्योंके भेद-प्रभेदोंका निरूपण किया है। काव्यारम्भ करते समय किन-किन नियमोंका पालन करना आवश्यक है, इस पर भी विचार किया गया है। समस्यापूर्तिके औचित्यका कथन करते हुए समस्यापूर्ति सम्बन्धी विधि-निषेधोंका कथन किया है। महाकवि और उत्कृष्ट, मध्य एवं जवन्य कवियोंके स्वरूप-निर्धारणके साथ उनके लिए विधि तथा निषेध सम्बन्धी नियम प्रतिपादित किये गये हैं। इस प्रकार इस प्रथम परिच्छेदमें कवि-शिक्षाका निर्देश किया है।

द्वितीय परिच्छेदमें शब्दालंकारोंके चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक ये चार भेद बतलाये हैं। इस परिच्छेदमें एक सौ नवासी पद्य हैं और इसमें विस्तारपूर्वक चित्रालंकारका प्रतिपादन किया गया है। इस परिच्छेदमें चित्रालंकारके बयालीस भेद बतलाये हैं, १. व्यस्त, २. समस्त, ३. द्विव्यस्त, ४. द्विःसमस्त, ५. व्यस्तसमस्त, ६. द्विःव्यस्त-समस्त, ७. द्विःसमस्तक-सुव्यस्त, ८. एकालापम्, ९. प्रभिन्नक, १०. भेद-भेदक, ११. ओजस्वी, १२. सालंकार, १३. कौतुक, १४. प्रश्नोत्तर, १५. पृष्ट-प्रश्न, १६. भ्रमोत्तर, १७. आद्युत्तर, १८. मध्योत्तर, १९. अन्तोत्तर, २०. अपह्नुत, २१. विषम, २२. वृत्त, २३. नामाख्यातम्, २४. ताकिक, २५. सौत्र, २६. शाब्दिक, २७. शास्त्रार्थ, २८. वर्गोत्तर, २९. वाक्योत्तर, ३०. श्लोकोत्तर, ३१. खण्ड, ३२. पदोत्तर, ३३. सुचक्रक, ३४. पद्य, ३५. काकपद, ३६. गोमूत्र, ३७. सर्वतोभद्र, ३८. गत-प्रत्यागत, ३९. वर्द्धमान, ४०. हीयमानाक्षर, ४१. शृंखला और ४२. नागपाशक। ये शुद्ध चित्रालंकार हैं। इनके अतिरिक्त अर्थ-प्रहेलिकाकी गणना भी चित्रालंकारोंमें की है। चित्रालंकारके वर्णनकी दृष्टिसे यह परिच्छेद अद्भुत है, प्रत्येक चित्रालंकारका लक्षण और उदाहरण अंकित किया गया है। अन्य अलंकारके ग्रन्थोंमें जहाँ दो-चार ही चित्रालंकार मिलते हैं वहाँ इस ग्रन्थमें बयालीस चित्रालंकारोंका कथन आया है। काव्यशास्त्रमें चित्रालंकारकी समशीयता कम महत्त्व नहीं रखती है। मांगलिक ग्रन्थों-

में श्रीबन्ध, सर्वतोभद्र, अर्द्धभ्रमक, तिलकबन्ध, मुरजबन्ध और एकाक्षर मुरजबन्ध प्रधान हैं। आयुधबन्धोंमें खड्गबन्ध, मुसलबन्ध, धनुर्बन्ध, शरबन्ध, त्रिशूलबन्ध, शक्ति-बन्ध, हलबन्ध और महाचक्रबन्धकी गणना की गयी है। विष्णुके आयुधबन्धोंमें शंखबन्ध, चक्रबन्ध, गदाबन्ध और पद्मबन्ध प्रधान हैं। प्रकीर्णकबन्धोंमें सर्वतोमुखबन्ध, कूपबन्ध, प्रेममालाबन्ध, मालाबन्ध, सूर्यबन्ध, चन्द्रबन्ध, शिविकाबन्ध, दर्पणबन्ध, छत्र-बन्ध, मेरुबन्ध, गजबन्ध, नागबन्ध, कमण्डलुबन्ध, शरयन्त्रबन्ध एवं डालबन्धकी गणना की गयी है। इस परिच्छेदमें चित्रालंकारसम्बन्धी नियमन महत्त्वपूर्ण हैं।

तृतीय परिच्छेदमें चित्रालंकारके अतिरिक्त शब्दालंकारके अन्य भेद, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमकका सोदाहरण स्वरूप-विश्लेषण किया गया है। इस परिच्छेदमें इकतालीस पद्य हैं। आरम्भके दो पद्योंमें वक्रोक्तिका सोदाहरण निर्देश हुआ है। अजितसेनने लिखा है कि जिस रचनाविशेषमें शब्द और अर्थकी विशेषताके कारण प्राकरणिक अर्थसे भिन्न, कुटलाभिप्रायसे अर्थान्तर कहा जाय, उसे विद्वानों ने वक्रोक्ति अलंकार बतलाया है। वक्रोक्तिके मूलभूत साधन 'श्लेष' और 'वाकु'का भी समावेश किया गया है। अनुप्रासके लक्षणस्वरूपके अनन्तर लाटानुप्रास और छेकानुप्रासके सोदाहरण लक्षण दिये गये हैं। वृत्तानुप्रासका विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है।

यमकालंकारके स्वरूपनिर्धारणके पश्चात् उसके प्रमुख ग्यारह भेद बतलाये गये हैं। और इन भेदोंका सोदाहरण स्वरूप निर्धारित किया गया है—

१. प्रथम और द्वितीय पादकी समानता होनेसे मुख यमक होता है।
२. प्रथम और तृतीय पादमें समानता होनेसे संदंश यमक होता है।
३. प्रथम और चतुर्थ पादमें समानता होनेसे आवृत्ति यमक होता है।
४. द्वितीय और तृतीय पादमें समानता होनेसे गर्भयमक होता है।
५. द्वितीय और चतुर्थ पादमें समानता होनेसे संदृष्टक यमक होता है।
६. तृतीय और चतुर्थ पादमें समानता होनेसे पुच्छयमक होता है।
७. चारों चरणोंके एक समान होनेसे पंक्ति यमक होता है।

८. प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीयपाद एक समान हों तो परिवृत्ति यमक होता है।

९. प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थ पाद एक समान हों तो युगयमक यमक होता है।

१०. श्लोकका पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध एक समान होनेसे समुद्गक यमक होता है।

११. एक ही श्लोकके दो बार पढ़े जाने पर महायमक होता है।

सामान्यतः पादांश, पदांश और वर्णोंकी आकृष्टिकी अपेक्षासे यमकालंकारके अनेक भेद हैं। अजितसेनने यमकालंकारके सुन्दर उदाहरण संगृहीत किये हैं। यह परिच्छेद यमकालंकारकी दृष्टिसे विशेष महत्त्वपूर्ण है।

वनुर्य परिच्छेदमें अर्थालंकारोंका निरूपण आया है। इस परिच्छेदमें तीन सौ पैंतालीस पद्य हैं। अन्य परिच्छेदोंके समान बीच-बीचमें गद्यांश भी आया है। परिच्छेदके आरम्भमें अलंकारकी परिभाषा, गुण और अलंकारोंमें भेद, एवं अलंकारोंके भेदोंका कथन किया गया है। इस परिच्छेदमें उपमा, विनोक्ति, विरोधाभास, अयन्तिरन्धास, विभावना, उक्ति-निमित्त, विशेषोक्ति, विपम, समचित्र, अधिक, अन्योन्य कारणमाला, एकावली, दीपक, व्याघात, माला, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, अर्थापत्ति, सार, पर्याय, परिवृत्ति, समुच्चय, परिसंख्या, विकल्प, समाधि, प्रत्यनीक, विशेष, मीलन, सामान्य, संगति, तद्गुण, अतद्गुण, व्याजोक्ति, प्रतिपदोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक, उदात्त, व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, परिकर, अनन्वय, अतिशयोक्ति, अपस्तुत-प्रशंसा, अनुक्त-निमित्त-विशेषोक्ति, परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्लाव, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष एवं सहोक्ति अलंकारोंके स्वरूप एवं उदाहरण निबद्ध हैं। इस प्रकार लगभग बृहत्तर अर्थालंकारोंका विवेचन किया गया है।

सादृश्यमूलक अलंकारोंका निरूपण करते हुए साधर्म्य और सादृश्यका भी कथन आया है। सादृश्य भिन्न वस्तुओंमें धर्म अथवा धर्मोंकी साधारणताके आधारपर होता है। सादृश्यमें कुछ धर्म साधारण होते हैं तथा कुछ असाधारण। धर्मोंकी साधारणतासे सामान्य तत्त्व बनता है तथा असाधारणतासे विशेष। सादृश्यमें सामान्य और विशेष वे दोनों तत्त्व पाये जाते हैं। अलंकारशास्त्रियोंके मतमें सामान्य तत्त्वका दूसरा नाम साधर्म्य है और विशेष तत्त्वका दूसरा नाम वैधर्म्य। साधर्म्य और वैधर्म्य, इन दोनोंके मिलनेसे सादृश्यका जन्म होता है। सादृश्यके लिए जो साधर्म्य अपेक्षित है उसमें धर्मोंकी संख्याका कोई विधान नहीं, परन्तु इतना अवश्य है कि इस साधर्म्यका क्षेत्र इतना विस्तृत न होना चाहिए कि वह वस्तुओंके समस्त धर्मोंको अपने अन्तर्गत कर ले। यतः इस अवस्थामें कोई ऐसा धर्म न रह जायेगा जिसके आधारपर वैधर्म्य हो सके। वैधर्म्य तत्त्वका सर्वथा लोप होनेके कारण वह सादृश्य भी सम्भव नहीं, जिसके लिए साधर्म्यके अतिरिक्त वैधर्म्य तत्त्वकी भी अपेक्षा है। वैधर्म्य तत्त्वसे रहित इस अवस्थाको हम तादरूप्य कहेंगे। तादरूप्य, साधर्म्यकी परम विस्तृत अवस्था है। इस अवस्थामें वस्तुओंके समस्त धर्म, साधर्म्यकी परिधिमें समाविष्ट हो जाते हैं।

सादृश्यमें हमारी दृष्टि एक वस्तुके दूसरी वस्तुसे सम्बन्धपर केन्द्रित रहती है। साधर्म्यमें यह दोनों वस्तुओंके एक धर्मके सम्बन्धपर केन्द्रित रहती है। इस प्रकार सादृश्यमें उपमेय अनुयोगी होता है तथा उपमान प्रतियोगी। साधर्म्यमें उपमेय तथा उपमान दोनों अनुयोगी होते हैं और साधारण धर्म प्रतियोगी।

कुछ विद्वान् सादृश्य और साधर्म्यको एक मानते हैं। पर अजितसेनने सादृश्य और साधर्म्यको पृथक् माना है। इनकी दृष्टिमें सादृश्यका चित्र साधर्म्यकी अपेक्षा विस्तृत है। साधर्म्यमें हमें वस्तुओंमें केवल साधारण धर्म दिखलाई देते हैं, पर सादृश्यमें

इन साधारण धर्मोंके अतिरिक्त अन्य धर्म भी उपलब्ध रहते हैं। इस प्रकार सादृश्यमें वस्तुओंका एक सामूहिक अथवा विस्तृत चित्र पाया जाता है। जब हम दो वस्तुओंका अन्वलेकन करते हैं, तब सर्वप्रथम जोई साधारण धर्म हमें उन वस्तुओंमें दृष्टिगोचर होता है। हम देखते हैं कि प्रथम वस्तुमें यह धर्म है तथा द्वितीयमें भी यह धर्म है। यह साधर्म्यका चित्र हुआ। इसके अनन्तर उस धर्मसे युक्त दोनों वस्तुओंका सामूहिक अथवा विस्तृत चित्र हमारे समक्ष आता है। इस स्थितिमें उस धर्मका पृथक् ज्ञान नहीं होता अपितु वस्तुके अन्य गुणोंके साथ मिश्रित रहता है। इन मिश्रित चित्रोंमें हमें सादृश्य दिखलाई पड़ता है। इस प्रकार अजितसेनने साधर्म्यको सादृश्यका कारण माना है। पर साधर्म्य ज्ञानकी स्थिति सादृश्य ज्ञानकी स्थितिसे भिन्न स्वीकार की है। अनेक अलंकारोंमें सादृश्य वाच्य न होकर व्यंग्य रहता है। यदि सादृश्यको साधर्म्यसे भिन्न न माना जाये तो साधारण धर्मके उपादानकी स्थितिमें इन अलंकारोंके सादृश्यका व्यंग्यत्व असमीचीन सिद्ध हो जायेगा। रूपकादि अलंकारोंमें अनेक बार साधारण धर्मका तो निर्देश होता है, परन्तु सादृश्य फिर भी व्यंग्य माना जाता है। यह सादृश्य और साधर्म्यको एक माननेकी स्थितिमें सम्भव नहीं है। यतः जहाँ साधारण धर्मका निर्देश होगा वहाँ साधर्म्य वाच्य होगा और यदि सादृश्य तथा साधर्म्यको एक माना जाये तो सादृश्य भी वहाँ वाच्य हो जायेगा। अजितसेनने साधर्म्यके तीन भेद बतलाये हैं—

१. भेदप्रधान २. अभेदप्रधान और ३. भेदाभेदोभयप्रधान। इन्होंने सादृश्य और साधर्म्यमें तात्त्विक भेद स्वीकर किया है। सादृश्यनिषेध, अपह्लाव, अतिशय, कार्य-कारण भाव आदिके द्वारा आता है। यह वाच्य या गम्य माना जा सकता है। दो वस्तुओंका सादृश्य जब भेद और अभेद दोनोंके समान बनाये रखता है तब उपमा, अन्वय, स्मरण आदि अलंकार निर्मित होते हैं। सादृश्यका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है और साधर्म्यका उसकी अपेक्षा संकुचित है। अजितसेनने सादृश्यमूलक अलंकारोंके अतिरिक्त अलंकारोंके वर्गीकरणका आधार, निम्नलिखित माना है—

१. अध्यवसायमूलकत्व।
२. विरोधमूलकत्व।
३. वाक्यन्यायमूलकत्व।
४. लौकिकव्यवहारमूलकत्व।
५. तर्कन्यायमूलकत्व।
६. शृंगला-वैचित्र्य।
७. अपह्लावमूलकत्व।
८. विशेषणवैचित्र्यहेतुकत्व।

अजितसेनने उपमालंकारकी परिभाषा बड़े ही स्पष्ट रूपमें अंकित की है। उन्होंने उपमाका लक्षण लिखते हुए बताया है—

वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतः सिद्धेन धर्मतः ।

भिन्नेन सूर्यभीष्टेन वाच्यं यत्रोपमैकदा ॥

स्वतो भिन्नेन स्वतः सिद्धेन विद्वत्संमतेन अप्रकृतेन सहप्रकृतस्य यत्र धर्मतः सादृश्यं सोपमा । स्वतः सिद्धेनेत्यनेनोत्प्रेक्षानिरासः । अप्रसिद्धस्याप्युत्प्रेक्षायामनुमानत्वघटनात् । स्वतो भिन्नेनेत्यनेनानन्वयनिरासः । वस्तुर्न एकस्यैवानन्वये उपमानोपमेयत्वघटनात् । सूर्यभीष्टेनेत्यनेन हीनोपमादिनिरासः ।

अर्थात्—स्वतः पृथक् तथा स्वतः सिद्ध आचार्योंके द्वारा अभिमत अप्रकृतके साथ प्रकृतका एक समय धर्मतः सादृश्य वर्णन करना, उपमालंकार है । इस लक्षणमें 'स्वतः सिद्धेन' यह विशेषण नहीं दिया जाता तो उत्प्रेक्षामें भी उपमाका लक्षण घटित हो जाता, क्योंकि स्वतः अप्रसिद्धका भी उत्प्रेक्षामें अनुमान उपमानत्व होता है । इसी प्रकार 'स्वतः स्वतोभिन्नेन' यदि लक्षणमें समाविष्ट न किया जाता तो अनन्वयमें भी उपमाका लक्षण प्रविष्ट हो जाता, क्योंकि एक ही वस्तुको उपमान और उपमेय रूपसे अनन्वयमें कहा जाता है । यदि उपमाके उक्त लक्षणमें 'सूर्यभीष्टेन' पदका समावेश नहीं किया जाता तो हीनोपमामें भी उपमाका उक्त लक्षण प्रविष्ट हो जाता । अतः उपमाके लक्षणमें 'सूर्यभीष्टेन' आचार्योंभिमत दिया गया है ।

उपमाका यह लक्षण पदसार्थकपूर्वक दिया गया है । आचार्य अजितसेनने प्रत्येक पदकी सार्थकता दिखलाकर अन्य अलंकारोंके साथ उसके पृथक्त्वकी सिद्धि की है । उनके लक्षणका प्रत्येक पद अन्य अलंकारोंसे पृथक्त्व घटित करता है । उक्त लक्षणमें 'धर्मतः' पद श्लेषालंकारका व्यवच्छेदक है, क्योंकि श्लेषमें केवल शब्दोंकी समता मानी जाती है, गुण और क्रियाकी नहीं । स्पष्ट है कि अजितसेनका उक्त लक्षण अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनों दोषोंसे रहित है ।

उपमालंकारके पूर्णोपमा और लुप्तोपमाके अतिरिक्त, धर्मोपमा, वस्तूपमा, विपर्ययोपमा, अन्योपमा, नियमोपमा, अनियमोपमा, समुच्चयोपमा, अतिशयोपमा, मोहोपमा, संशयोपमा, निश्चयोपमा, श्लेषोपमा, सन्तानोपमा, निन्दितोपमा, प्रशंसोपमा, आचिख्यासोपमा, विरोधोपमा, प्रतिषेधोपमा, चद्रूपमा, तस्त्रारूपानोपमा, असाधारणोपमा, अभूतोपमा, असम्भावितोपमा, विक्रमोपमा, प्रतिवस्तूपमा आदि अनेक भेद किये हैं ।

पूर्णोपमाके श्रौती और आर्थी, भेदोंका भी कथन किया है । पूर्णोपमाके वाक्यगा, समासगा और तद्धितगाके भेदसे श्रौती और आर्थी इन दोनोंके तीन-तीन भेद बतलाये गये हैं । सादृश्यवाचक शब्दोंमें, इव, वा, यथा, समान, निभ, तुल्य, संकाश, नीकाश, प्रतिरूपक, प्रतिपक्ष, प्रतिद्वन्द्व, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृश, सदृक्ष, सम, संवादी, सजातीय, अनुवादी, प्रतिविम्ब, प्रतिच्छन्द, सरूप, सम्मित, सलक्षणभ, सपक्ष, प्रख्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित, कल्प, देशीय, देश्य, वत्की गणना की है । उपमाका बहुत

ही विस्तारके साथ विवेचन किया गया है। यह विवेचन अन्य अलंकार ग्रन्थोंसे भिन्न न होनेपर भी विशिष्ट अवश्य है।

अलंकारचिन्तामणिके इस परिच्छेदमें कुल बहूतर अलंकारोंका स्वरूप और उदाहरण आया है। अजितसेनकी अलंकारनिरूपणसम्बन्धी यह प्रमुख विशेषता है कि वे लक्षणोंमें प्रयुक्त पदोंकी सार्थकता दिखलाते हैं। यहाँ उदाहरणार्थ रूपक अलंकारकी परिभाषाकी लिया जा सकता है। इस अलंकारकी परिभाषामें जितने पद प्रयुक्त हैं, वे सभी अन्य अलंकारोंमें लक्षणकी घटित नहीं होने देते हैं। बताया है—

अतिरोहितरूपस्य व्जारोपविषयस्य यत् ।

उपरञ्जकमारोप्यं रूपकं तदिहोप्यते ॥

मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखमारोपस्य विषयः आरोप्यश्चन्द्रः अतिरोहितरूपस्येत्यनेन विषयस्य सन्दिह्यमानत्वेन तिरोहित-रूपस्य संदेहस्य, भ्रान्त्या विषयतिरोधानरूपस्य भ्रान्तिमतः अपह्लवेनारोपविषयतिरोधानरूपस्यापह्लवस्यापि च निरासः । व्जारोप-विषयस्येत्यनेनोत्प्रेक्षादेरध्यवसायगर्भस्वोपमादीनामनारोपहेतुकानां व्यावृत्तिः ॥ उपरञ्जकमित्येतेन परिणामालंकारनिरासः ।^१

जहाँ प्रत्यक्ष, अतिरोहित, आरोपके विषयका आरोप्य विषय उपरंजक होता है वहाँ रूपक अलंकार माना जाता है। 'मुखं चन्द्रः' इत्यादि उदाहरणमें आरोपका विषय है मुख और आरोप्य है चन्द्रमा। अतिरोहित रूप इस विरोधात्मक सन्दिग्ध होनेसे विषयके सन्दिह्यमान होनेके कारण तिरोहित रूप विषयवाले सन्देहालंकार भ्रान्तिके कारण, विषयके तिरोधानवाले भ्रान्तिमानालंकार अपह्लवसे आरोप विषयके तिरोधानके कारण अपह्लव अलंकारोंमें रूपकका लक्षण घटित नहीं होगा। 'व्जारोपविषयस्य' इस पदके उपादानके कारण अध्यवसाय, गर्भ, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारोंकी एवं अनारोपहेतुक उपमादि अलंकारोंकी व्यावृत्ति हुई है।

'उपरञ्जकम्', इस पदके सन्निविष्ट होनेसे रूपकका यह लक्षण परिणामालंकारके लक्षणसे व्यावृत्त होता है, क्योंकि परिणामालंकारमें प्रकृतिका उपयोगी होनेसे आरोप्य-माणका अन्वय होता है न कि प्रकृतिके उपरंजक होनेके कारण।

आरोपमें सदा दो वस्तुएँ होती हैं—आरोपविषय तथा आरोप्यमाणविषयी। उपमामें हम इन्हींको क्रमशः उपमेय तथा उपमान कहते हैं। उपमान, उपमेय का सदा उपस्कार करता है। यतः एक दृष्टिसे उपमेयको आघेयगुण तथा उपमानको गुणघाता माना जाता है। जब कवि मुखकी उपमा चन्द्रसे देता है तो चन्द्रके सौन्दर्यकी मुखमें प्रतीति होती है। इस सादृश्य प्रतीतिके पश्चात् उपमाका कार्य विधान्त हो जाता है। रूपकमें मुखको कवि जब चन्द्र कहता है तो चन्द्र-सौन्दर्यकी मुखमें अभेदेन सादृश्य प्रतीति होती है। इसीप्रकार मुखमें कवि जब चन्द्रकी सम्भाषना करता है तो चन्द्र

सौन्दर्य मुखका उपस्कारक होता है। उपमामें यह उपरंजन सादृश्यप्रत्याघन तक सीमित है। रूपकमें वह सादृश्य-प्रतीतिमें दर्शावित्त होता है और उल्लेखमें सादृश्य-वसायके सौन्दर्यमें। इन तीनों ही अलंकारोंमें उपमान या आरोप्यमाण उपमेय या आरोप्य विषयका उपरंजन करता है। यही उसका अन्तिम लक्ष्य है। वाक्यार्थकी विश्रान्ति भी प्रकृतार्थके उपरंजनसे होती है।

परिणामालंकारमें क्वि जिस आरोप्यमाणका प्रयोग करता है वह प्रकृतार्थका उपरंजक तो होता ही है पर साथ ही उसकी प्रकृतार्थमें उपयोगिता समाविष्ट रहती है। रूपकमें विषयीका आरोप, प्रकृतार्थोपरंजन कर विश्रान्त हो जाता है। पर परिणाममें वह आरोपविषय धनकर विश्रान्त होता है। 'मुखं चन्द्रः'की सौन्दर्य-प्रतीतिमें चन्द्रका मुखके रूपमें कोई उपयोग नहीं। मुखमें चन्द्रके रूपका आरोप भर होता है। इतना ही नहीं रूपकके रूप समारोप और परिणामके रूप समारोपमें भी अन्तर है। प्रथममें विषयी विषयको अपने रूपसे सर्वथा रूपित कर देता है। विषयका रूप विषयीके रूपमें घुला-मिला दिखलाई पड़ता है। वह अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है, पर परिणाममें विषयीका उपयोग शेष रहता है, अतः वह विषयीके रूपमें सर्वथा अपनेको घुलाता-मिलाता नहीं। वह अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होता। 'मुखं चन्द्रः'में मुख, चन्द्रके सौन्दर्यमें विलीन हो जाता है और फिर उसका कोई उपयोग न होनेके कारण उसका स्वरूप नष्ट सा हो जाता है। पर इसके विधरीत 'मुखचन्द्रेण तापः शाम्यति', परिणामालंकारके इस उदाहरणमें चन्द्र अपने रूपसे मुखको रूपित तो करता ही है पर साथ ही मुख अपना स्वरूप नहीं खोता, क्योंकि अभी भी तापशमनके साथ उसका उपयोग शेष है।

परिणामालंकारके उदाहरणमें दो अंश हैं—१. मुख चन्द्र और २. तापशमन। प्रथम अंश रूपसमारोपका है और दूसरा उपयोगका। अतः स्पष्ट है कि परिणाममें न केवल रूपसमारोप होता है, अपितु व्यवहार-समारोप भी होता है। समासोक्तिमें भी अप्रकृतिके व्यवहारका प्रकृतिपर आरोप होता है, पर वहाँ अप्रकृत—विषयीका उपादान नहीं होता, वह प्रतीकमान रहता है; किन्तु परिणाममें विषय और विषयी दोनोंका उपादान होता है तथा अप्रकृत-प्रकृतोपयोगी होता है। आरोप्यमाण यदि केवल प्रकृतार्थका उपरंजन करता है तो उसमें केवल औचित्य भर है; यदि वह प्रकृतार्थका सम्पादक भी है तो उसमें उपयोगिता भी समाविष्ट है। परिणाममें प्रकृतार्थपर अप्रकृतार्थका रूप-समारोप ही नहीं, व्यवहार समारोप भी किया जाता है। आशय यह है कि प्रकृतार्थकी दृष्टिसे आरोप्यमाणका औचित्य तो सभी अलंकारोंमें पाया जाता है, किन्तु उसका उपयोग केवल परिणाममें ही होता है। इस प्रकार अजितसेनने रूपककी परिभाषामें जितने पदोंका समावेश किया है वे सभी पद, अन्य अलंकारोंके स्वरूपोंके विभच्छेदक हैं।

इस परिच्छेदमें अलंकारोंके पारस्परिक भेदोंका भी निरूपण आया है। भेदोंका

इतना स्पष्ट और एकत्र उल्लेख सम्भवतः अन्यत्र नहीं है । अतएव इस परिच्छेदमें निम्नलिखित विशेषताएँ उपलब्ध हैं—

१. अलंकारोंके लक्षणोंमें विभच्छेदक पदोंका प्रयोग एवं पदोंकी सार्थकता ।
२. अलंकारोंमें पारस्परिक अन्तरका विश्लेषण ।
३. उपमाके भेद-प्रभेदोंका नयी दृष्टिसे विचार-विनिमय ।
४. अलंकार विभाजनके आधारका निरूपण ।
५. स्वमतकी पृष्टिके लिए अन्य अलंकारशास्त्रियोंके वचनोंका प्रस्तुतीकरण ।

पंचम परिच्छेदमें रस, रीति, शब्द-शक्तियाँ, वृत्तियाँ, गुण, दोष, एवं नायक-नायिकाके भेदोंका कथन आया है । इस परिच्छेदमें चार सौ छह पद्य हैं । परिच्छेदका आरम्भ रसके स्वरूप-विश्लेषण द्वारा हुआ है । आचार्य अजितसेनने जैनदर्शनके आलोकमें स्थायीभाव एवं उसके द्वारा अभिव्यक्त रसका स्वरूपांकन किया है । बताया है कि ज्ञानावरण और वीर्य-अन्तराय कर्मके क्षयोपशम होनेसे इन्द्रिय और मनके द्वारा प्राणीको इन्द्रिय-ज्ञान उत्पन्न होता है । इन्द्रिय ज्ञानसे संवेद्यमान मोहनीयकर्मसे उत्पन्न रसकी अभिव्यक्ति करनेवाला जो चिद्वृत्तिरूप पर्याय है, वह स्थायीभाव कहलाता है । स्थायीभाव रसका अभिव्यञ्जक है ।

अनुभव तीन प्रकारके माने गये हैं—१. संवेदनात्मक, २. भावात्मक और ३. संकल्पात्मक । स्थितिमात्रका अनुभव संवेदन है । जैनदर्शनकी दृष्टिसे यही इन्द्रियज्ञान है । व्यक्तिका ज्ञानावरण और वीर्यन्तराय कर्मका क्षयोपशम जिस कोटिका होगा उसी कोटिका यह ज्ञान भी स्पष्टतर और स्पष्टतम होगा । वस्तुको देखकर जो प्रीति या घृणाकी अनुभूति होती है वह भी एक प्रकारका भाव है । जैनदर्शनमें मोहनीयकर्मके उदय होनेपर इन्द्रियजन्य ज्ञान या संवेदन भावके रूपमें परिणत होता है और इसी भावसे रसकी अभिव्यक्ति होती है ।

संवेदनाओंके गुणका नाम भाव है । जिस प्रकार प्रत्येक संवेदनमें मन्दता या तीव्रताका गुण होता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके सद्भावके कारण संवेदनमें सुखमय या दुःखमय होने का भी गुण होता है । इसी गुणके कारण संवेदनाएँ भावात्मक रूप ग्रहण करती हैं । प्रत्येक संवेदन किसी न किसी इन्द्रिय से सम्बन्ध रखता है और जब यह संवेदन वेदनीय सहकृत मोहनीय कर्मके कारण हर्ष या विषाद से जुड़ जाता है तो वह भावका रूप ग्रहण कर लेता है । भाव विषयी से सम्बन्ध रखते हैं और संवेदन विषयसे । भावोंका उदय या अस्त किसी बाह्य पदार्थ की उपस्थिति या अनुपस्थिति पर निर्भर नहीं रहता पर संवेदन सदा किसी अन्य पदार्थकी अपेक्षा रखता है । अतः स्पष्ट है कि संवेदनके उत्तरकालमें ही भाव उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम ये स्थायी भाव इन्द्रिय संवेदनोंसे उत्पन्न होते हैं । स्थायीभाव की उत्पत्ति, वीर्यन्तराय और ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमके साथ वेदनीय सहकृत मोहनीयके उदयके कारण होती है । इस प्रकार अजितसेनने रस

सम्बन्धी सिद्धान्तको उत्पत्तिवाद माना है। संवेदनोंके संयोगसे स्थायी भाव और स्थायी भावोंसे रसकी उत्पत्ति होती है। संवेदनोंके अन्तर्गत ही विभाव भी आते हैं। कटाक्ष आदि अनुभाव भावको प्रतीतियोग्य बनाते हैं।

रसके स्वरूपनिर्धारणके पश्चात् विभाव, अनुभाव एवं संचारी भावोंकी परिभाषाएँ अंकित की गयी हैं। भाव ज्ञान और क्रियाके बीचकी स्थिति है। यह एक प्रकारका विकार है। कोई विकार स्वयं उत्पन्न नहीं होता और न सहजमें उसका नाश होता है। एक विकार दूसरे विकारके उत्पन्न करता है। जो व्यक्ति पदार्थ बाह्य-परिवर्तन या विकार मानसिक भावोंको उत्पन्न करते हैं, उनको विभाव कहते हैं। और जो शारीरिक विकार क्रियाके प्रारम्भिक रूप होते हैं वे अनुभाव कहलाते हैं। स्थायीभाव, संचारीभाव, विभाव और अनुभाव ये चारों ही रस के अंग हैं। इस सन्दर्भमें सात्त्विक भावोंका स्वरूप, उनके भेद एवं परिभाषाएँ प्रतिपादित की गयी हैं। संचारी भावोंके अन्य अलंकारशास्त्रियोंके समान तैत्तिरीय भेद बतलाये तथा इन भेदोंका उदाहरण सहित लक्षण भी निरूपित किया है।

तदनन्तर शृंगाररसको अंकुरित और पल्लवित करने वाली कामजन्य दस अवस्थाओंका निरूपण किया गया है। इस सन्दर्भ में रसके नौ प्रधान भेदोंका उपभेदों सहित उदाहरण कथन किया है। शृंगार, हास्य, कथन आदि रसोंकी सामग्रीका भी कथन आया है। आचार्य अजितसेनने रसोंके वर्ण, देवता, पारस्परिक विरोधी रस, आदिका विचार किया है। एक सौ चौतीसवें पद्यसे एक सौ तैंतालीसवें पद्य तक रीतियों एवं काव्य-पाकोंका वर्णन आया है। गुणसहित, सुगठित, शब्दावलीयुक्त सन्दर्भ को रीति कहा है। रीतिका अर्थ विशिष्ट लेखन-पद्धति है। अजितसेनने इसका सम्बन्ध समासके साथ माना है। रीतिके तीन भेद हैं—१. वैदर्भी, २. गौड़ी और ३. पांचाली।

वैदर्भी रीति—सन्दर्भके पारुष्य काठिन्यसे रहित छोटे-छोटे समास वाली तथा कर्कश शब्दावलीसे रहित होती है। इस रीतिमें सभी गुण और रसोंका समावेश पाया जाता है। ओजोगुण और कान्तिगुणोंसे परिपूर्ण वैदर्भी रीति होती है। समस्त पांच-छह पद वाली ओजः-कान्ति-सौकुमार्य, माधुर्य गुणयुक्त पांचाली रीति होती है। सम्पूर्ण रीतियोंसे मिश्रित, कोमल समाससे युक्त, अधिक संयुक्त अक्षरोंसे रहित, अत्यन्त स्वल्प घोष अक्षर वाली लाठी रीति होती है।

शय्या और पाकका निरूपण एक सौ उन्तालीसवें पद्यसे एक सौ तैंतालीसवें पद्य तक किया गया है। पदोंके अनुगुण रूप वाली मैत्रीको शय्या और अर्थोंकी सम्मीरताको पाक कहते हैं। पाक दो प्रकारका होता है, द्राक्षापाक और नारिकेलपाक। बाहर और भीतर दृश्यमानरस वाले पाक को द्राक्षापाक और केवल भीतर छिपे हुए रस वाले पाक को नारिकेल पाक कहते हैं। इन पाकोंके उदाहरण भी आये हैं।

तदनन्तर काव्य-सामग्रीका निरूपण किया गया है। इस सामग्रीमें रस, गुण, अलंकार, पाक, रीति आदिका कथन आया है। अर्थनिरूपणके पूर्व अक्षरका महत्त्व

स्वीकार किया गया है और अलंकारशास्त्रियोंने शब्द, पद, वाक्य, खण्ड-वाक्य और महा-वाक्यको बचन बताया है। शब्दके लुट, धीगिक और योगरूढ़ भेदोंका कथन किया है। इसी प्रसंगमें पद, वाक्य, खण्ड-वाक्य और महावाक्यके लक्षण और उदाहरण भी आये हैं। ग्रन्थकारने एक सौ पञ्चपनवें पद्यसे व्यंजनावृत्तिका स्वरूप-कथन किया है। यह तीन प्रकारकी होती है—१. शब्द-शक्तिमूला, २. अर्थ-शक्तिमूला और ३. उभयशक्तिमूला।

प्राकरणिक अर्थमें पर्यवसित होने वाली अभिधावृत्ति अप्राकरणिक अर्थका बोध करानेमें समर्थ नहीं हो सकती है। अतः कविके इस प्रकारके अर्थका बोध व्यंजना नामक व्यापार द्वारा होता है। अतएव इन पद्यों द्वारा अजितसेनने व्यंजनावृत्तिका अस्तित्व सिद्ध किया है।

रसकी स्थितिका बोध कराने वाली कौशिकी, आरभटी, सात्वती और भारती वृत्तियोंका निरूपण आया है। और इन वृत्तियोंके भेद-प्रभेद भी बतलाये गये हैं। एक सौ तिहत्तरवें पद्यमें व्यंग्यार्थके अप्रधान, प्रधान और अस्पष्ट रहनेके कारण काव्यके मध्यम, उत्तम और जघन्य भेद बतलाये गये हैं। व्यंग्यार्थके मुख्य न होने पर मध्यम या गुणीभूत व्यंग्य, व्यंग्यार्थके मुख्य रहने पर उत्तम या ध्वनिकाव्य और व्यंग्यार्थके अस्पष्ट रहने पर अधम या चित्रकाव्य कहा जाता है। इस प्रकार लक्ष्य, व्यंग्य और ध्वन्यर्थका निरूपण हुआ है। एक सौ नव्वेवें पद्यसे गुण और दोषोंका निरूपण किया गया है। काव्यके महत्त्वकी घटानेका कारण शब्द और अर्थमें रहने वाला दोष है। इस प्रकार पद और वाक्य-दोषोंके साथ अर्थ-दोषों का भी कथन आया है। अजितसेनने चौबीस वाक्य-दोष माने हैं—

१. छन्दश्च्युत—छन्दोभंग।
२. रीतिच्युत—रसके अनुरूप रीतिका अभाव।
३. यतिच्युत—यतिभंग।
४. क्रमच्युत—शब्द या अर्थका क्रमसे न होना।
५. अंगच्युत—क्रियापदसे रहित।
६. शब्दच्युत।
७. सम्बन्धच्युत—समागत पदोंका परस्परमें अन्वयाभाव।
८. अर्थच्युत—आवश्यक वक्तव्यका अभाव।
९. सन्धिच्युत।
१०. व्याकीर्ण—विभक्तियोंमें आपसमें अन्वयाभाव।
११. पुनश्चल—पुनरावृत्ति।
१२. अस्थित समास—समासका अनौचित्य।
१३. विसर्गलुप्त।
१४. वाक्याकीर्ण—एक वाक्यके पद दूसरे वाक्यमें व्याप्त हों।
१५. सुवाक्यगर्भित—बीचमें अन्य वाक्योंका आना।

१६. पतत्-प्रकर्षता—शैथिल्य ।
 १७. प्रक्रमभंग—नियमभंग ।
 १८. न्यूनोद्गमदोष—उपमेयकी अपेक्षा उपमानकी न्यूनता ।
 १९. उच्चैःश्रितिक—उपमेयकी अपेक्षा उपमानकी अधिकता ।
 २०. अधिकपद ।
 २१. भिन्नोक्ति ।
 २२. भिन्नलिङ्ग ।
 २३. समास-पुनराप्त—समास वाक्यको पुनः शब्द द्वारा जोड़ना ।
 २४. अपूर्ण दोष—सम्पूर्ण क्रियाका जन्वयाभाव ।
 अर्थदोष अकारह प्रकारके बताये गये हैं—

१. एकार्थ—कथित अर्थमें अभिन्न होना ।
२. अपार्थ—वाक्यार्थसे रहित ।
३. व्यर्थ—प्रयोजनरहित ।
४. भिन्नार्थ—परस्पर सम्बन्धसे रहित वाक्यार्थ ।
५. अक्रमार्थ—वाक्यार्थ पूर्वापर क्रमका अभाव ।
६. परुषार्थ—क्रूरतायुक्त अर्थ ।
७. अलंकारहीनार्थ—अलंकाररहित अर्थ ।
८. अप्रसिद्धोपमार्थ—उपमानकी अप्रसिद्धि ।
९. हेतुशून्य—कारणरहित अर्थ ।
१०. विरस—अप्रस्तुत रसका कथन ।
११. सहस्ररभ्रष्ट—सदृश पदार्थके उल्लेखका अभाव ।
१२. संशयाळा—वाक्यार्थमें सन्देह ।
१३. अदलील—लज्जाजनक अर्थ ।
१४. अतिमात्र—असम्भव अर्थ ।
१५. विसदृश—असदृश उपमान ।
१६. समताहीन—उपमानका उपमेयकी अपेक्षा अपकृष्ट या उत्कृष्ट होना ।
१७. सामान्य साम्य—उपमान, उपमेयकी समानता ।
१८. विरुद्ध—दिशा इत्यादिकी विरुद्धता ।

इनके अतिरिक्त देशविरुद्ध, लोकविरुद्ध, आगम, स्वदत्तन, प्रत्यक्षविरोध, अवस्था-विरोध, नामदोष आदिकर भी निरूपण किया गया है ।

गुणके वर्णन-प्रसंगमें चौबीस गुणोंका उल्लेख आया है । इन गुणोंके सोदाहरण स्वरूप विवेचित हुए हैं ।

१. दलष—अनेक पदोंकी एक पदके समान स्पष्ट प्रतीति ।
२. भाविक—प्रतीतिरूप भावका समावेश ।

३. सम्यतत्त्व—पदतुल्य अर्थोंका समावेश ।
४. समता—विषमताहीन कथन ।
५. गाम्भीर्य—ह्वन्यर्थका समावेश ।
६. रीति—पतत्-प्रकर्ष दोषका अभाव ।
७. उक्ति—भणितिका समावेश ।
८. माधुर्य—माधुर्यपूर्ण पदोंका सन्निवेश ।
९. सुकुमारता—अनुस्वारसहित कोमल-कान्त पदावलीका सन्निवेश ।
१०. गति—स्वरका आरोह व अवरोह ।
११. समाधि—अन्य धर्मका अन्य स्थानमें आरोप ।
१२. कान्ति—पद-उज्ज्वलता ।
१३. औजित्य—दृढ़बन्धता ।
१४. अर्थग्यक्ति—अर्थस्पष्टता ।
१५. औदार्य—विकटाक्षरबन्धता ।
१६. प्रसाद—क्षटिति अर्थ-प्रतीति ।
१७. सौकम्य—गुण-रीति निरूपण ।
१८. ओजः—समासकी बहुलता ।
१९. विस्तर—पद-विस्तार ।
२०. सूक्ति—च्युत-संस्कार दोषका अभाव ।
२१. प्रौढ़—कथनका सम्यक् परिपाक ।
२२. उदात्तता—प्रशंसनीय विशेषणोंसे पद-युक्तता ।
२३. प्रेयान्—प्रिय पदार्थका प्रतिपादन ।
२४. संक्षेपक—अभिप्रायका संक्षेपमें प्रस्तुतीकरण ।

नायकके गुणोंका वर्णन करनेके पश्चात् धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त और धीरोद्धत नायकोंका उदाहरणपूर्वक स्वरूप निर्धारण किया गया है । शृंगाररसकी अपेक्षासे दक्षिण, छाठ, धृष्ट और अनुकूल ये चार नायकके भेद बतलाये गये हैं, और इन चारोंका सोदाहरण कथन किया गया है । नायकके कुल अड़तालीस भेद माने गये हैं और इनके सहायक विदूषक, विद और पीठमर्द बतलाये गये हैं ।

नायकोंके वर्णनके पश्चात् स्वकीया, परकीया और सामान्या इन तीनों नायिकाओं के लक्षण एवं उदाहरण वर्णित हैं । परकीया नायिकाके अन्योद्ध और कन्या ये दो भेद एवं स्वकीयाके मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा ये तीन भेद सोदाहरण प्रतिपादित किये गये हैं । मध्या नायिकाके धीरा, अपीरा और धीरान्धीरा भेद उदाहरणपूर्वक निरूपित हैं । विशेषरूपसे नायिकाओंके आठ भेद बतलाये गये हैं ।

१. स्वाधीनपतिका ।
२. वासकसज्जिका ।

३. कलहान्तरा ।
४. खण्डिता ।
५. विप्रलब्धा ।
६. प्रोषितभर्तृका ।
७. विरहोत्कण्ठिता ।
८. अभिसारिका ।

इत सभी नायिकाओंके स्वरूपवर्णनके अनन्तर दूतियाँ, स्त्रियोंके सात्त्विकभाव, हाव-भाव, स्त्रियोंके स्वाभाविक अलंकार, ललित, किलकिंचित् विभ्रम, कुट्टमित, मोटाघित, विध्वोफ, विच्छित्ति, और व्याहृतके लक्षण एवं उदाहरण आये हैं ।

इस पंचम परिच्छेदमें काव्यशास्त्रसम्बन्धी सभी आवश्यक चर्चाएँ समाविष्ट हैं । वक्रोक्ति अलंकारका कथन इस ग्रन्थमें दो सन्दर्भोंमें आया है—तृतीय परिच्छेद और चतुर्थ परिच्छेद में । इसमें पुनरुक्तिकी शंका नहीं की जा सकती । यतः वक्रोक्ति शब्दशक्तिमूलक और अर्थशक्तिमूलक होता है । तृतीय परिच्छेदमें शब्दशक्तिमूलक और चतुर्थ परिच्छेदमें अर्थशक्तिमूलक वक्रोक्ति निरूपित है ।

इस अलंकारग्रन्थमें नाटकसम्बन्धी और ध्वनिसम्बन्धी विषयोंको छोड़ शेष सभी अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी विषयोंका कथन किया गया है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—लक्षण और लक्ष्य—उदाहरण—लक्षण-सम्बन्धी सभी पद्य अजितसेनके द्वारा विरचित हैं । और लक्ष्य-सम्बन्धी श्लोक महापुराण, हरिवंशपुराण, आत्मानुशासन, जिनशतक, धर्मशर्माम्बुदय एवं मुनिमुद्रतकाव्य आदि ग्रन्थोंसे लिये गये हैं । ग्रन्थकारने स्वयं निम्नलिखित पद्यमें उक्त तथ्यको स्वीकृत किया है—

अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादिसुभाषितम् ।

पुण्यपुरुषसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ॥

अर्थात् इस अलंकार ग्रन्थमें अलंकारोंके उदाहरण प्राचीन पुराणग्रन्थ, सुभाषित ग्रन्थ एवं पुण्यात्मा शलाकापुरुषोंके स्तोत्रोंसे उपस्थित किये गये हैं । अतः यह ग्रन्थ भी एक प्रकारसे स्तोत्रग्रन्थ है ।

अलंकारचिन्तामणिमें 'उक्तञ्च' लिखकर वाग्भट्टालंकारके पद्य भी उद्धृत किये गये हैं ।

ग्रन्थकार—

इस ग्रन्थके रचयिता आचार्य अजितसेन हैं । ग्रन्थकर्ताके नामका निर्देश निम्नप्रकार उपलब्ध होता है—

अथ एकाक्षर-क्रमेण पठिते सति अजितसेनेन कृतचिन्तामणिः भरतयशसीति गम्यते । चक्रवन्धके उदाहरणमें भी अजितसेनका नामोल्लेख आया है । अतः यह निर्विवाद है कि इस ग्रन्थके रचयिता आचार्य अजितसेन हैं । जैन साहित्यमें अजितसेन नामके आठ आचार्योंका उल्लेख प्राप्त होता है । श्वणभेलगोलके शिलालेख अहतीस, सङ्गसठ, और चौवनमें अजितसेनका निर्देश आया है । मैसूर प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारकोंमें अजितसेनके सम्बन्धमें निम्नलिखित तथ्य उपलब्ध होते हैं ।

“न. ४०, सन् १०७७ मानस्तम्भपर—चट्टलदेवीने कमलभद्र पण्डितदेवके चरण धोकर भूमि दी । पंचकूट जिनमन्दिरके लिए विक्रमसाम्प्रतदेवने अजितसेन पण्डितदेवके चरण धोकर भूमि दी ।”^१

“न. ३, सन् १०९० के लगभग पोप्पयाम—इस स्मारकको अपने गृह मुनि दादीभसिह अजितसेनकी स्मृतिमें महाराज मारसाम्प्रतवंशीने स्थापित किया । यह जैन आगमरूप समुद्रकी वृद्धिमें चन्द्रमासमान था ।”^२

“न. १९२, सन् ११०३—चालुक्य त्रिभुवनमल्लके राज्यमें उसवंशी अजबलि-साम्प्रतने पोम्बुच्चमें पंचवस्ति बनवायी । उसीके सामने अनन्दूरमें चट्टलदेवी और त्रिभुवनमल्ल-साम्प्रतदेवने एक पाषाणकी वस्ति द्रविलसंघ अत्तंगलान्वयके अजितसेन पण्डितदेव-वाविघरट्टके नामसे बनवायी ।”^३

“न. ८३, सन् १११७ ई.—चामराज नगरमें पार्श्वनाथ वस्तिमें एक पाषाण-पर । जब द्वारावती (हलेबीडु) में वीरगंग विष्णुवर्द्धन विट्टिंग होयसलदेव राज्य करते थे तब उनके मुद्र और शान्तिके महामन्त्री चाव और अरसिकव्हेपुव पुनीश राजदण्डाधीश था । यह श्री अजितमुनियतिका शिष्य जैन श्रावक था । तथा यह इतना वीर था कि इसने टोडको भयवान किया, कौंगोंको भगाया, पल्लवोंका वध किया, मलयालोकका नाश किया, कालराजको कम्पाग्रमान किया तथा नीलगिरिके ऊपर जाकर विजय की पताका फहरायी ।”^४

“न. १०३, सन् ११२०, सुकदरे ग्राममें लक्ष्मण मन्दिरके सामने पाषाण-पर ।—माता एचलेके पुत्र अत्रेयगोत्री जिकिसेट्टिने अपने सुकदरे ग्राममें एक जिनालय बनवाया व उसके लिए एक सरोवर भी बनवाया, तथा दयापालदेवके चरण धो कर भूमि दान की । इसके गृह अजितमुनियति थे जो द्रविलसंघमें हुए जिसमें समन्तभद्र; भट्टकलंक; हेमसेन; बादिराज; व मल्लिसेण मलधारी हुए ।”^५

“न. ३७, सन् ११४७, तोरणवागिलुके उत्तर खम्भेपर ।—जगदेकमरुलके

१. अक्षरचिन्तामणि, पृ. सं. ६४, २/१५२ के अंगेका गद्य ।

२. महास व मैसूर प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक, पृ. ३२० ।

३. वही, पृ. सं. २६१ ।

४. वही, पृ. सं. ३२५ ।

५. वही, पृ. सं. १५६ ।

६. वही, पृ. सं. २०२ ।

राज्य में राजा तैलसान्तर जगदेकदानी हुए। भार्या बट्टलदेवी इनके पुत्र थी बल्लभराज या विक्रमसान्तर त्रिभुवनदानी पुत्री पम्पादेवी थी। पम्पादेवी महापुराणमें विदुषी थी.... पम्पादेवी ने अष्टाविधार्चन महाभिषेक व चतुर्भक्ति रची। यह द्रविलसंध नन्दिगण अरुणलान्धय, अजितसेन, पण्डितदेव या वादीभसिंहकी शिष्या श्राविका थी। पम्पादेवीके भाई श्री वल्लभराजने बल्लभुष्य जी. देवो जग. श्री. न. दान किया।”^१

“नं. १३०, करीब सन् ११४७ ई. इस बस्तिके द्वारपर। श्री अजितसेन भट्टारकका शिष्य बड़ा सरदार पमादि था। उसका ज्येष्ठ पुत्र भीमप्य, भार्या देवल थे। उनके दो पुत्र थे—मसन सेट्टि और मारिसेट्टि। मारिसेट्टिने दोरसमुद्रमें एक उच्च जैन-मन्दिर बनवाया।”^२

“नं. १ सन् ११६९ ई. ग्राम चन्दियर (?) में जैन बस्तिके पाषाणपर। इस समय होयसल बल्लालदेव दोरसमुद्रमें राज्य कर रहे थे। यहाँ मुनि वंशावली दी है। श्री गीतम भद्रबाहु, भूतबलि, पुष्पदन्त, एकसन्धि, सुमति भ., समन्तभद्र, भट्टाकलंकदेव, वज्रग्रीवाचार्य, वज्रनन्दि भट्टारक, सिंहनन्दाचार्य, परिवादिमल्ल, श्रीपालदेव, कनकसेन, श्री वादिराज, श्री विजयदेव, श्रीवादिराजदेव, अजितसेन, पण्डितदेव....”^३

उपर्युक्त अभिलेखोंमें उल्लिखित अजितसेनका समय ई. सन् १०७७ से ई. सन् ११७० तक है। इस प्रकार तिरानवे वर्षोंका काल उनका कार्य-काल आता है। यदि इस कार्यकालके पूर्व बीस-पच्चीस वर्षकी आयुके भी रहे हों तो उनका वायुकाल एक सौ अठारह वर्षके करीब पहुँच जाता है। अभिलेखोंमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि विक्रम सान्तरदेवने अजितसेनको मान्यता प्रदान की। इस प्रकार अजितसेनका समय ईसवी सन् की बारहवीं-त्रारहवीं शती सिद्ध होता है। पर अलंकारचिन्तामणिके रचयिताने जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट, अर्हदास, और पीयूषवर्ष आदि आचार्योंके श्लोक उद्धृत किये हैं। इन उल्लिखित आचार्योंमें अर्हदासका समय विक्रमकी तेरहवीं शतीका अन्तिम चरण है। अतः अजितसेनका समय इसके पश्चात् होना चाहिए। पौम्बुच्चसे प्राप्त पूर्वोक्त अभिलेखोंमें निर्दिष्ट अजितसेनका समय ईसवी सन्की बारहवीं शती है। अतः उक्त अजितसेन अलंकारचिन्तामणिके रचयिता नहीं हो सकते।

श्रवणबेलगोलके तीन अभिलेखोंमें अजितसेनका उल्लेख आया है। अभिलेख संख्या अड़तीसमें बताया गया है कि गंगराज मारसिंहने कृष्णराज तृतीयके लिए गुर्जर देशको जीता था। उसने कृष्णराजके विपक्षी अल्लका मद चूर किया, विन्ध्य पर्वतकी तलहटीमें रहनेवाले किरातोंके समूहको जीता और मान्यखेटमें कृष्णराजकी सेनाकी रक्षा की। इन्द्रराज चतुर्थका अभिषेक कराया, पाताल मल्लके कनिष्ठ भ्राता वज्रलको पराजित किया, वनवासी नरेशकी धनसम्पत्तिका अपहरण किया, मादूरवंशका मस्तक झुकाया और

१. नदाम व मंदूर प्रान्तके प्राचीन जैन स्मारक, पृ. सं. ३१६।

२. वही, पृ. सं. २२३।

३. वही, पृ. सं. २०६।

मोलम्ब कुलके नरेशोंका सर्वनाश किया। इतना ही नहीं उसने उच्चंगि दुर्गको स्वाधीन कर शबराधिपति नरगका संहार किया, चौड़ नरेश राजादित्यको जीता एवं चेर, चोड, पाण्ड्य और परल्लव नरेशोंको परास्त किया। इसने अनेक जैन मन्दिरोंका निर्माण कराया। अन्तमें राज्यका परित्याग कर अजितसेन भट्टारकके समीप तीन दिवस तक सल्लेखना व्रतका पालन कर बंकापुरमें देहोत्सर्ग किया। लिखा है —

धर्म (म) ज्ञानं नमस्यं नहयिसिबलियमोन्दुवर्षं राज्यमं पसुविट्टु बङ्गापुरदोल्
अजितसेनभट्टारकर श्रीपादसन्निधियोल् आराधनाविधिर्ममूखदे सं नोन्तु समाधियं
साधिसिदं ॥

यह अभिलेख शक-संवत् ८९६ का है। अतः अजितसेनका समय ईसवी सन्की दशम शती सिद्ध होता है। इस प्रकार यह अजितसेन भी अलंकारचिन्तामणिके रचयिता नहीं हो सकती है। शकसंवत् ९६२ में चन्द्रगिरिपर प्राप्त एक अभिलेखमें अजितसेनका नामोल्लेख मिलता है। इनके शिष्य चामुण्डके पुत्र जिनदेवणने बेलगोलमें एक जिन-मन्दिरका निर्माण कराया था। इस अभिलेखमें निदिष्ट अजितसेन भी अलंकार चिन्तामणिके रचयिता सम्भव नहीं हैं।

मल्लिषेणप्रशस्तिमें अजितसेनका नाम उपलब्ध होता है। यह अजितसेन तार्किक और नैगमिक थे। इस कारण इनकी तपाधि वादीभसिह् थी। मल्लिषेणप्रशस्ति पार्श्वनाथवस्तुके एक स्तम्भपर शकसंवत् १०५०में अंकित की गयी है। अतः अजितसेनका समय ईसवी सन्की बारहवीं शती सिद्ध होता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह अजितसेन राजाओंके द्वारा मान्य प्रभावशाली जैनायममें प्रवीण विद्वान् रहे हैं। प्रशस्ति में लिखा है—

संकल-भुवनपालामञ्ज-मूर्द्धाविवद्ध-
स्फुरित-मुकुट-चूडालीढ-पादारविन्दः ।
मदवदसिल-वादीभेन्द्र-कुम्भप्रभेदी
गणभूदजितसेनो भासि वादीभसिहः ॥^२

अलंकारचिन्तामणिका रचनाकाल बारहवीं शतीके पश्चात् होना चाहिए। अतएव मल्लिषेणप्रशस्तिमें निदिष्ट अजितसेन भी अलंकारचिन्तामणिके रचयिता नहीं हैं।

अलंकारचिन्तामणिके रचयिता अजितसेन अन्य अलंकारग्रन्थ 'शृंगारमंजरी' के भी रचयिता हैं। डॉ. ज्योतिप्रसाद जीने अजितसेनका परिचय देते हुए लिखा है कि अलंकारचिन्तामणिके रचयिता अजितसेन यस्तीवर वक्षिणदेशाम्भारत तुलुव प्रदेशके निवासी सेनगण पोगरिगच्छके मुनि सम्भवतया पार्श्वसेनके प्रशिष्य और पद्मसेनके गुरु महासेनके सवर्मा या गुरु थे।^३

१. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं. ३८, पृ. सं. २०।

२. जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख सं. ४०, पृ. सं. २७, पृ. सं. १११।

३. जैनग्रन्थेश शोधक २, नवम्बर, २०, सन् १९५८, पृ. सं. ७६।

अजितसेनके नामसे शृंगारमंजरी नामक एक लघुकाव्य अलंकारग्रन्थ भी प्राप्त है। इस ग्रन्थमें तीन परिच्छेद हैं। कुछ भण्डारों की सूचियोंमें यह ग्रन्थ 'रायभूप' की कृतिके रूपमें उल्लिखित है। किन्तु स्वयं ग्रन्थकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है कि शृंगारमंजरीकी रचना आचार्य अजितसेनने शीलविभूषणा रानी विट्टलदेवीके पुत्र और 'राय' नामसे विख्यात सोमवंशी जैन नरेश कामिरायके गढ़नेके लिए संक्षेपमें की है। प्रशस्तिपद्य निम्नप्रकार है—

राज्ञी विट्टलदेवीति ख्याता शीलविभूषणा ।
तत्पुत्रः कामिरायाह्यो 'राय' इत्येव विश्रुतः ॥
तद्भूमिपालपाठार्थमुदितेयमलंक्रिया ।
संक्षेपेण बुधैर्होषा यद्भावास्ति (?) विशोध्यताम् ॥

शृंगारमंजरीकी दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं। एक प्रतिके अन्तमें 'श्रीमदजितसेनाचार्य—विरचिते शृङ्गारमञ्जरीनामालङ्कारे तृतीयः परिच्छेदः' तथा दूसरी प्रतिमें "श्रीसेनगणाग्रगण्यतपोलक्ष्मीविराजिताजितसेनदेवयतीश्वरविरचितः शृङ्गारमञ्जरीनामालंकारोऽयम्" लिखा है। विजयवर्णीने राजा कामिरायके निमित्त शृंगारार्णवचन्द्रिका ग्रन्थ लिखा है। सोमवंशी कदम्बोंकी एक शाखा बंगवंशके नामसे प्रसिद्ध हुई। दक्षिण कन्नड़ जिले तुलु प्रदेशके अन्तर्गत बंगवट्टपर इस वंशका राज्य था। बारहवीं-तेरहवीं शतीके तुलुदेशीय जैन राजवंशोंमें यह वंश सर्वमान्य सम्मान प्राप्त किये हुए था। इस वंशके एक प्रसिद्ध नरेश वीर नरसिंहवंगराज (११५७-१२०८ ई.) के पश्चात् चन्द्रशेखर-बंग और पाण्ड्यवंशने क्रमशः राज्य किया। तदनन्तर पाण्ड्यवंशकी बहन रानी विट्टलदेवी (१२३९-४४ ई.) राज्यकी संचालिका रही। और सन् १२४५ में इस रानी विट्टलम्बाका पुत्र उक्त कामिराय प्रथमवंगनरेन्द्र राजा हुआ। विजयवर्णीने उसे गुणार्णव और राजेन्द्रपूजित लिखा है। प्रशस्तिमें बताया है—

स्याद्वादधर्मपरमामृतदत्तचित्तः
सर्वोपकारिजिननाथपदाब्जभृङ्गः ।
कदम्बवंशजलराशिसुधामयूखः
श्रीरायवङ्गनृपतिर्जगतीह जीयात् ॥
गर्वारूढविपक्षदक्षबलसंघाताद्भुताहम्बरा-
मन्दोद्गर्जनघोरनीरदमहासंदोहक्ष्णानिल ।
प्रोद्यद्भानुमयूखजालविपिनवातानलज्वालसा-
दुश्योद्भासुरवीरविक्रमगुणस्ते रायवङ्गोद्भवः ॥
कीर्तिस्ते विमला सदा वरगुणा वाणी जयश्रीपरा
लक्ष्मीः सर्वहिता सुखं सुरसुखं दानं निधानं महत् ।

ज्ञानं पीनमिदं पराक्रमगुणस्तुङ्गो नयः कोमला-
रूपं कान्ततरं जयन्तनिभमो श्रीरायभूमीश्वर ॥^१

कामिरायको विजयवर्णीने पाण्ड्यवङ्गका भागिनेय बताया है । लिखा है—

तस्य श्रीपाण्ड्यवङ्गस्य भागिनेयो गुणार्णवः ।

विट्टुलाम्बामहादेवीपुत्रो राजेन्द्रपूजितः ॥^२

इसमें सन्देह नहीं कि अजितसेन सेनगणके विद्वान् थे ।

स्थितिकाल—डॉ. ज्योतिप्रसाद जैनने ऐतिहासिक दृष्टिसे अजितसेनके समयपर विचार किया है । उन्होंने अजितसेनको अलंकारशास्त्रका वेत्ता कवि और निन्तक विद्वान् बतलामा है ।

अजितसेनने अलंकारचिन्तामणिमें समन्तमद्र, जिनसेन, हरिचन्द्र, वाग्भट और अर्हदास आदि आचार्योंके ग्रन्थोंके उद्धरण प्रस्तुत किये हैं । हरिचन्द्रका समय दशम शती, वाग्भटका ग्यारहवीं शती और अर्हदासका तेरहवीं शतीका अन्तिम चरण है । अतएव अजितसेनका समय तेरहवीं शती होना चाहिए । डॉ. ज्योतिप्रसादजीका अभिमत है कि अजितसेनने ईसवी सन् १२४५के लगभग शृंगारमंजरीकी रचना की है; जिसका अध्ययन युवक नरेश कामिराय प्रथम बंगनरेन्द्रने किया और उसे अलंकारशास्त्रके अध्ययनमें इतना रस आया कि उसने ईसवी सन् १२५०के लगभग विजयकीर्तिके शिष्य विजयवर्णी से शृंगारार्णवचन्द्रिकाकी रचना करायी । आश्चर्य नहीं कि उसने अपने आदि विद्यागुरु अजितसेनको भी इसी विषयपर एक अन्य विशद ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा की हो, और उन्होंने अलंकारचिन्तामणिके द्वारा शिष्यकी इच्छा पूरी की हो ।

अर्हदासके मुनिसुव्रत काव्यका समय लगभग १२४० ई. है । और इस काव्यग्रन्थकी रचना महाकवि पं. आशाधरके सागारधर्माभूतके पश्चात् हुई है । आशाधर ने सागारधर्माभूतको ई. सन् १२२८ में पूर्ण किया है । अलंकारचिन्तामणिमें आदिपुराणके उद्धरण आये हैं और आदिपुराणके रचयिता जिनसेनके समयकी उत्तरावधि आठ सौ पचास ईसवीके लगभग है । धर्मशर्माभ्युदयकी रचना नेमिनिर्वाण काव्यसे पूर्व हो चुकी है । और नेमिनिर्वाण काव्य वाग्भटालंकारका पूर्ववर्ती है । वाग्भटालंकारके रचयिता वाग्भट गुजरातके सोलंकी नरेश जयसिंह सिद्धराज (ई. सन् १०९४-११४२ ई.) के समयमें हुए हैं । मुनिसुव्रत काव्यके रचयिता अर्हदास पं. आशाधरके समकालीन हैं । ये आशाधर जीकी सूक्तियों और सद्ग्रन्थोंके भक्त अध्येता थे और उन्हें गुरुवत् समझते थे । पं. आशाधर जीका निश्चित समय १२१०-४३ ईसवी है । अतः अर्हदासका समय भी ईसवी सन् १२४०-५० ई. के आस-पास निश्चित है ।

आशाधर जीने सागारधर्माभूतकी रचना १२२८ ईसवीमें पूर्ण की है । अतः मुनिसुव्रतकाव्यके रचयिता अर्हदासके काव्यग्रन्थोंके उद्धरण अलंकारचिन्तामणि में

१. शृंगारार्णवचन्द्रिका, ज्ञानपीठ संस्करण, १९१६, १९६७, पृ. सं. १२० ।

२. वही, ११६ ।

विद्यमान रहनेसे अलंकारचिन्तामणिका रचनाकाल ईसवी सन् १२५०-६० के मध्य है और इस ग्रन्थके रचयिता अजितसेन पाण्ड्यवंशकी बहून रानी विट्टलदेवीके पुत्र कामिराय प्रथम बंगनरेन्द्रके गुह है ।

भरतमुनिका नाट्यशास्त्र और अलंकारचिन्तामणि

अलंकारशास्त्रके प्रथम आचार्यका स्थान उपलब्ध ग्रन्थोंके आधारपर महामुनि भरतको प्रदान किया जा सकता है । काव्यके लक्षण ग्रन्थोंमें सर्वप्रथम हमें इन्हींका नाट्यशास्त्र उपलब्ध होता है । यद्यपि काव्यमीमांसामें राजशेखरने शास्त्रसंग्रह नामक प्रथम अध्यायके प्रारम्भमें भरतमुनिके साथ सुवर्णनाभ, कुचमार, स्वयम्भू आदिके नामोंका भी उल्लेख किया है । लिखा है—

तत्र कविरहस्यं सहस्राक्षः समाप्नासीत्, औक्तिवमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः, अनुप्रासिकं प्रचेताः, यमो यमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः, वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यमौपकायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेषमुत्थयः, उपमालंकारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकनिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिपणः, गुणोपादानिकमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः—इति । ततस्ते पृथक्-पृथक् स्वशास्त्राणि विरचयामाचक्रुः ।

अर्थात् सहस्राक्ष इन्द्रने कविरहस्य, उक्तिगर्भने उक्तिविषयक ग्रन्थ, सुवर्णनाभने रीतिविषयक, प्रचेताने अनुप्राससम्बन्धी, यमने यमकसम्बन्धी, चित्राङ्गदने चित्रकाव्यविषयक, शेषने शब्दश्लेषविषयक, पुलस्त्यने स्वभाषोक्तिविषयक, औपकायनने उपमालंकारसम्बन्धी, पाराशरने अतिशयोक्तिसम्बन्धी, उत्थयने अर्थश्लेषविषयक, कुबेरने अलंकारविषयक, कामदेवने वैनोदविषयक, भरतने नाट्यविषयक, नन्दिकेश्वरने रसाधिकारिक, धिपण-दृहस्पतिने दोषविषयक, उपमन्युने गुणविषयक, और कुचमारने औपनिषदिक सम्बन्धी ग्रन्थरचना की है ।

राजशेखरके इस कथनमें कुछ कल्पित नामावली भी हो सकती है, पर सुवर्णनाभ, कुचमार, नन्दिकेश्वर आदि ऐतिहासिक नाम हैं, जिनका समर्थन वात्स्यायनके कामसूत्र और भरतमुनिके नाट्यशास्त्रसे होता है । इसमें सन्देह नहीं कि उपलब्ध अलंकारशास्त्रमें सबसे प्राचीन भरतमुनिका नाट्यशास्त्र ही है । यतः इसका उल्लेख महाकवि कालिदासके विक्रमोर्वशीय नाटकमें आया है ।^१

नाट्यशास्त्रका विषय दृश्यकाव्य सीमांसा है । पर काव्यके शब्द और दृश्य इन दोनों भेदोंका निरूपण किया गया है । यह ग्रन्थ सैंतीस अध्यायोंमें विभक्त है । छठे अध्यायमें रस, सातवेंमें स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव, चौदहवेंमें लक्षण और

१. काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९२४, प्रथम अध्याय, पृ. सं. ४ ।

२. मुनिना भरतेन अः प्रयोगो भवतीष्वश्ररसाधयः प्रयुक्तः ।

नानिशाशिनयं समथ भर्ता मरुता अष्टमनाः स लोकपालः ॥—विक्रमोर्वशीय, २।१८ ।

उदाहरण, सोलहवेंमें अलंकार, काव्यके दोष-गुण, और काव्यलक्षण, सत्रहवेंमें प्राकृतादि-भाषाएँ, अठारहवेंमें षस प्रकारके रूपक, बीसवेंमें भारतीय, सात्वती, कैशिकी और आरभटी वृत्तियाँ एवं बाईसवेंमें हास-भाव, हैला, नायक-नायिकादि भेद-निरूपण, विद्यमान हैं। इस बाईसवें अध्यायमें अक्षयकाव्यसे सम्बन्ध रखनेवाले तन्त्रियोंका निरूपण भी आया है। शेष अध्यायोंमें नाट्याभिनय सम्बन्धी कथन आये हैं।

भरतमुनिने काव्यकी परिभाषा निम्नप्रकार उपास्थित की है—

मृदुललितपदार्थं गूढशब्दार्थहीनं

बुधजनमुखयोग्यं बुद्धिमन्नुत्तयोग्यम् ।

बहुरसकृतमार्गं संधिसन्धानयुक्तं

भवति जगति योग्यं नाटकं प्रेक्षकाणाम् ॥^१

उक्त लक्षणका विश्लेषण करनेपर काव्यमें निम्नलिखित सात गुणोंका रहना परमावश्यक है—

१. कीमल और मनोरम पदावली ।
२. गूढ़ शब्द और अर्थका अभाव ।
३. सर्वजनप्राप्तता ।
४. मुक्तियुक्तता ।
५. नृत्यमें उपभोग किये जानेकी योग्यता ।
६. रसयुक्तता ।
७. संधिसन्धानयुक्तता ।

काव्यके उपर्युक्त सात विशेषणोंमें प्रथम, तृतीय विशेषणों द्वारा भरतमुनिने प्रसाद, भाषुर्य आदि गुणोंपर प्रकाश डाला है। द्वितीय विशेषणसे दोषमुक्तताका बोध होता है। चतुर्थ विशेषणमें अलंकारादिका ग्रहण है। षष्ठ विशेषण द्वारा काव्यका रसयुक्त होना बताया गया है। पंचम और सप्तम विशेषणों द्वारा दृश्यकाव्यके लिए उपयुगी विषयोंका प्रतिपादन किया गया है। भरतमुनिके उपर्युक्त कथनसे काव्यशास्त्रके अन्तर्गत गुण, रस, अलंकार, शैली, दोषाभावका ग्रहण किया गया है। इन्होंने रसकी परिभाषा एवं रसास्वादनकी प्रक्रियाका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। षष्ठ अध्याय में रसोंका विस्तारपूर्वक कथन आया है। इनका अभिमत है कि रसके बिना जगत्में कोई भी सन्दर्भ उपलब्ध नहीं हो सकता है। रस-निष्पत्तिके सन्दर्भमें विचार करते हुए लिखा है—

“विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः । को वा दृष्टान्त इति चेत्—उच्यते यथा नानाभ्यञ्जनौषधिव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः, तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । यथा

गुडादिभिर्द्रव्यैर्गर्भं ज्वररोधधीभिश्च षड् रसा निर्वर्त्यन्ते, एवं नाताभावोपहिता अपि स्थायिनो भावा रसत्वभाप्नुवन्ति ।^१

भरतमुनिने ध्वनि और गौणीभूत ध्वंग्यका विवेचन नहीं किया है। रस-विवेचन सन्दर्भमें आठ नाट्यरसोंको ही गना है। य.श.रसको उसके कर्मों में लोच्यपूर्वक गौणिकान किया है। इन्होंने रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा तथा विस्मय ये आठ स्थायी भाव माने हैं। निर्वेद, र्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता आदि तैतीस व्यभिचारी भाव और स्तम्भ, स्वेद-रोमांच, स्वरसाद, वेपथु, वैवर्ष्य, अश्रु तथा प्रलय ये सात्त्विक भाव बतलाये हैं। आठ स्थायी, तैतीस संचारी या व्यभिचारी और आठ सात्त्विक ये कुल मिलाकर उनचास भाव हैं जो काम्य या नाट्यरसके कारण-भूत हैं। रसके सम्बन्धमें भरतमुनि ने शृंगार, रौद्र, वीर और बीभत्स इत चार रसोंका उत्पादक अर्थात् मूलरस माना है। दोष चार हास्य, करुण, अद्भुत और भयानकको क्रमशः उक्त रसोंसे उत्पन्न होनेवाला कहा है। इन्होंने लिखा है—

शृंगाराद्धि भवेद्वास्यो रौद्राच्च करुणो रसः ।

वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः बीभत्साच्च भयानकः ॥^३

अर्थात् शृंगारसे हास्य, रौद्रसे करुण, वीरसे अद्भुत और बीभत्ससे भयानक रसकी उत्पत्ति होती है। इस कथनकी पुष्टि करते हुए भरतमुनिने लिखा है कि जो शृंगारकी अनुकृति है, वही हास्यरस है, जो रौद्रका कर्म है वही करुण रस है। वीरका कर्म अद्भुत रस कहलाता है। बीभत्सका दर्शन ही भयानक रस कहा जाता है। इस तथ्यका स्फोटन करनेपर अवगत होता है कि शृंगारमें उत्पत्तिहेतुत्व अनुकृतिके कारण है। उदाहरणार्थ एक वृद्ध एवं विकलांग नायक तथा शोडशी नायिकाके शृंगारको लिया जा सकता है। यहाँ शृंगार रति न उत्पन्न कर हासको ही उत्पन्न करता है। इसी कारण शृंगारको हास्यका उत्पादक कहा है। रौद्रका कर्म करुणरस कहा गया है। इसमें उत्पत्तिहेतुत्व फलसे सम्बन्धित है। रौद्र रसका फल या परिणाम वध या बन्धन आदि है। ये वध-बन्धनादि पीड़ित पक्षके लिए करुणाजनक है; इसी कारण रौद्रसे करुणकी उत्पत्ति मानी गयी है। वीररससे अद्भुतरसकी उत्पत्ति मानने में भी उत्पत्तिहेतुत्व फलसे ही सम्बन्धित है। पर यह रौद्रवाले उत्पत्तिहेतुत्वसे भिन्न है। इसमें एक रस दूसरे रसको ही फल मानकर प्रकृत होता है। वीररसमें कारणीभूत उत्साह जगत्को विस्मित करता है। फलस्वरूप इससे अद्भुत रसका जन्म होता है। बीभत्स द्वारा भयानक रसकी उत्पत्ति माननेमें उत्पत्तिहेतुत्व समान विभवत्वसे सम्बन्धित है। बीभत्स रसमें हृदिरप्रवाहादि विभाव, मरण भूच्छा आदि व्यभिचारी तथा मुख सिकोड़ना

१. नाट्यशास्त्रम्, वाराणसी, १९२५, ४४ अध्याय, ३९ कारिकासे आगेका पद्य, पृ. सं. ७१ ।

२. वही, ४४ अध्याय, पद्य ३२-३८ ।

३. नाट्यशास्त्र, वाराणसी, १९२५, ६-३६, पृ. ७२ ।

आदि अनुभाव, भयानक रसमें भी होते हैं। अंगोंका कटना तथा रक्तका प्रवाहित होना आदि देखकर एक पक्षमें अस्ती भी उत्पत्ति होती है।

भरतमुनिने रसोंके वर्ण, देवता आदिका भी कथन किया है। भरतमुनिने आठ नाट्यरसोंके अतिरिक्त शान्तरसका भी विवेचन किया है। रसाध्यायके अन्तमें आठ ही रसोंका उपसंहार किया है। इससे ध्वनित होता है कि शान्तरसका प्रकरण कभी बादमें जोड़ा गया है। शम, स्थायी भाववाले मोक्ष प्रवर्तक रसको शान्तरस कहा है। इसे तत्त्वज्ञान, वैराग्य तथा चित्तशुद्धि आदि विभावोंसे उत्पन्न होनेवाला कहा गया है। यम, नियम, अध्यात्म, ज्ञान, ध्यान, धारणा, उपासना, दया तथा प्रवृज्याग्रहण आदि इसके अनुभाव बताये गये हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति, शौच, स्तम्भ तथा रोमांच आदि इसके व्यभिचारी भाव कहे हैं। नाट्यशास्त्रमें रति आदि भावोंको विकृति तथा शमको प्रकृति कहा गया है। इसके अनुसार अपने-अपने निमित्त प्राप्त करके रति आदि भाव शान्तसे ही उत्पन्न होते हैं और निमित्तोंके अभावमें पुनः शान्तरसमें मिल जाते हैं।

अलंकारके विचारप्रकरणमें चार ही अलंकारोंका निर्देश आया है। उपमा, रूपक, दीपक और यमक; इन चारोंके भेदोंका भी निरूपण हुआ है। काव्यदोषोंमें दस दोषोंकी गणना की है—१. गूढार्थ, २. अर्थान्तर, ३. अर्थहीन, ४. भिन्नार्थ, ५. एकार्थ, ६. अविलुप्तार्थ, ७. न्यायादपेक्ष, ८. विषम, ९. विसन्धि और १०. शब्दच्युत। गुणोंमें १. श्लेष, २. प्रसाद, ३. रामता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. सौकुमार्य, ८. अर्थ व्यक्ति, ९. उदात्त और १०. कान्तिकी गणना की है।

अलंकारचिन्तामणिमें नाट्यशास्त्रमें प्रतिपादित सभी काव्यांग निरूपित हैं। नाट्यशास्त्रमें काव्यकी जो परिभाषा अंकित की गयी है उसकी अपेक्षा अलंकारचिन्तामणिमें निरूपित काव्य-परिभाषा विशिष्ट है। इस अलंकारशास्त्रमें अलंकार, रस, रीति, गुण और व्यंग्यार्थसे समन्वित काव्य माना है। श्रुतिकटु आदि दोषोंका अभाव भी आवश्यक माना गया है। काव्य-परिभाषा निम्न प्रकार है—

शब्दार्थालङ्कृतीद्धं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामम्
व्यंग्याद्यर्थ विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्दर्शनाख्यम् ।
लोको दन्धोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थं
नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यचमोरुहेतुम् ॥

उपर्युक्त परिभाषाका स्फोटन करनेपर निम्नलिखित तत्त्व निष्पन्न होते हैं—

१. शब्दालंकार और अर्थालंकारोंसे युक्त ।
२. शृंगारादि नवरससहित ।
३. वैदर्भी इत्यादि रीतियोंसे युक्त ।

४. सम्बन्ध प्रयोगोंसे युक्त ।
५. व्यंग्यदि अर्थोंसे समन्वित ।
६. प्रसाद-माधुर्य आदि गुणोंसे युक्त ।
७. नायकके चरितवर्णनसे संपृक्त ।
८. उभय लोक हितकारी ।
९. सुस्पष्टतायुक्त ।
१०. दोषशून्य ।

नाट्यशास्त्र और अलंकारचिन्तामणिकी काव्यपरिभाषा पर तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करने पर साक्ष होता है कि अलंकारचिन्तामणिकी काव्यपरिभाषा नाट्यशास्त्रकी काव्यपरिभाषाकी अपेक्षा विशिष्ट है । इस परिभाषामें रीति, गुण और अलंकारोंका समन्वय किया गया है तथा व्यंग्यार्थको काव्यका अनन्य तत्त्व माना है ।

भरत मुनिने नाट्यशास्त्र में काव्यहेतुओंका विचार नहीं किया है । पर अलंकारचिन्तामणि में काव्यहेतुओंकी चर्चा की गयी है । जिसके द्वारा काव्यरचना में कविको सफलता प्राप्त होती है, अर्थात् जिसका होना कवि में परमावश्यक है उसे काव्यका हेतु बताया है । अजितसेनने काव्यरचनामें व्युत्पत्ति, प्रज्ञा और प्रतिभा इन तीनोंको कारण माना है । शास्त्रोंका अभ्यास भी काव्यनिर्माणमें हेतु है । व्युत्पत्ति के अन्तर्गत छन्दशशास्त्र, अलंकारशास्त्र, गणित, कामशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, शिल्पशास्त्र, तर्कशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्रोंमें गुरु परम्परासे प्राप्त उपदेश द्वारा अर्जित निपुणता-बहुज्ञता, व्युत्पत्ति है । व्युत्पत्तिके अभावमें कोई भी कवि श्रेष्ठ काव्यकी रचना नहीं कर सकता । प्रतिभावान् कवि भी विभिन्न शास्त्रोंके परिज्ञानाभावमें लोकोपयोगी काव्य रचनेमें असमर्थ रहता है । यही कारण है कि अजितसेनने काव्यहेतुओंमें व्युत्पत्तिको पहला स्थान दिया है । लिखा है—

व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कार्या शब्दार्थघटनावटा ।

प्रज्ञा नवनयोल्लेखशालिनी प्रतिभास्य धीः ॥^१

व्युत्पत्ति के साथ अभ्यासके संस्कारको भी काव्यप्रतिभाके लिए आवश्यक माना है । अजितसेनने काव्यरचनामें प्रज्ञा और प्रतिभाको भी कारण माना है । प्रज्ञाका तात्पर्य रचना गुम्फनकी क्षमता है । इसीको कोशमें 'त्रैकालिकी बुद्धिः प्रज्ञा' कहा गया है । और प्रतिभाके अन्तर्गत नवीन-नवीन विषयोंको कल्पित करनेकी क्षमता मानी गयी है । कल्पनाको मूर्तरूप प्रदान करनेवाली शक्ति प्रज्ञा कही जाती है । इस प्रकार आचार्य अजितसेनने शक्तिको दो अंशोंमें विभक्त कर दिया है—प्रज्ञा और प्रतिभा । यह सत्य है कि प्रतिभा नैसर्गिकी होती है, यह जन्मजात है, अध्ययन या चिन्तनसे इसे प्राप्त नहीं

किया जा सकता। इस प्रकार काव्यहेतुओंका विचार अलंकारचिन्तामणिमें विशेषरूपसे किया गया है जो भरतमुनिके नाट्यशास्त्रमें उपलब्ध नहीं है।

अलंकारचिन्तामणिमें काव्यके भेद भी वर्णित हैं। जब कि भरतमुनिने अपने नाट्यशास्त्रमें श्रव्य और दृश्य इन दो ही भेदोंका निरूपण किया है। ध्वनि और गौणीभूत व्यंग्यका निरूपण दोनों ही ग्रन्थोंमें नहीं आया है। नवरसोंका कथन भरतमुनि ने विस्तारसे किया है, पर अलंकारचिन्तामणिमें संक्षेपमें नवरसोंका कथन सांगोपांग रूपमें किया गया है। रीतियोंके सम्बन्धमें भी अलंकारचिन्तामणिमें चर्चा आयी है। गुणसहित सुगठित शब्दावलीयुक्त समुद्रको रीति कहा है। यह रीतिकी परिभाषा बहुत ही स्पष्ट और काव्योपयोगी है। इसमें रीतिका आधार गुणोंको स्वीकार किया गया है। रीतियोंमें वैदर्भी, गौडी और पांचालीका सोदाहरण कथन आया है। इस ग्रन्थमें काव्यसामग्रीका भी निरूपण आया है। इस सामग्रीके अन्तर्गत रीतियाँ, काव्यपाक, अलंकार, वृत्तियाँ, रस आदिका निरूपण हुआ है। वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य इन तीनों प्रकारके अर्थोंका सोदाहरण निरूपण है। लक्षणा और व्यंजनाके भेद-प्रभेदोंका भी कथन आया है। शब्दशक्तिमूलक व्यंजना और अर्थशक्तिमूलक व्यंजनाके स्वरूप और उदाहरण भी आये हैं।

रसोंकी स्थितिका बोध करानेवाली तथा रचनाओंमें विद्यमान वृत्तियाँ दोनों ग्रन्थोंमें समान रूपसे वर्णित हैं। दोषोंका कथन नाट्यशास्त्रकी अपेक्षा अलंकारचिन्तामणिमें विस्तारपूर्वक आया है। इस ग्रन्थ में सत्रह पददोष, चौबीस वाक्यदोष, अठारह अर्थदोष वर्णित हैं। जहाँ भरतमुनिने केवल दस दोषोंका कथन किया है वहाँ अलंकारचिन्तामणिमें लगभग पैंसठ दोषोंका निरूपण हुआ है।

भरतमुनिने दस गुणोंका वर्णन किया है। पर अलंकारचिन्तामणिमें चौबीस गुणोंका सोदाहरण प्रतिपादन किया गया है। नाट्यशास्त्रमें वर्णित श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, पद-सौकुमार्य, अर्थ-व्यक्ति, उदारता और कान्ति, ये दस गुण अलंकारचिन्तामणिके चौबीस गुणोंमें समाविष्ट हैं। गुणोंकी परिभाषाएँ दोनों ही ग्रन्थोंमें आयी हैं।

मायक-मायिकाके भेद एवं स्वरूप भी प्रायः दोनों ग्रन्थोंमें समान हैं। स्त्रियोंके सार्विक भाव और सत्त्वज अलंकार भी प्रायः दोनों ग्रन्थोंमें तुल्य हैं। नाट्यशास्त्रमें नाटक-सम्बन्धी नियम एवं छन्दशास्त्र-सम्बन्धी विधिविधान अलंकारचिन्तामणिकी क्षीका विशिष्ट हैं। अलंकारोंके स्वरूप और उदाहरणकी दृष्टिसे अलंकारचिन्तामणि नाट्यशास्त्रसे बहुत आगे है। शब्दालंकारोंकी तो अनूठी मीमांसा आयी है। अर्थालंकारोंमें ब्रह्मर अलंकारोंकी परिभाषाएँ अंकित की गयी हैं। अलंकारचिन्तामणिके रसप्रकरणका स्रोत यह नाट्यशास्त्र है, इसीके आधारपर रसकी मीमांसा की गयी प्रतीत होती है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र और अलंकारचिन्तामणि की तुलना करनेपर यह निष्कर्ष निकलता है कि नाट्यशास्त्र जहाँ नाटक के विभिन्न-विधानों को समुच्चय देता है वहीं अलंकारचिन्तामणिमें काव्य-प्रयोजन, काव्यहेतु, काव्यस्वरूप, काव्यके भेद-प्रभेद, अलंकार, शब्द-शक्तियाँ, रीतियाँ, गुण-दोष आदिका सुस्पष्ट विवेचन आया है।

अग्निपुराण और अलंकारचिन्तामणि

अग्निपुराणमें अध्याय ३३७-३४७ तक काव्यशास्त्रीय सामग्री संकलित है। ३३७वें अध्यायके प्रारम्भमें काव्यकी परिभाषा और उसका महत्त्व प्रतिपादित है। तदनन्तर भयकाव्यका लक्षण और उसके भेद-प्रभेदोंका सम्यक् निरूपण किया गया है। अन्तमें पद्यकाव्यके भेदोंका उल्लेख कर महाकाव्यका विस्तृत और अन्य भेदोंका संक्षिप्त स्वरूप दिया गया है।

तीन सौ अड़तीसवें अध्यायमें रूपकके भेदोंका उल्लेख कर नाटक प्रकार, अर्थ-प्रकृतियाँ, नाटकीय सन्धियाँ तथा तत्सम्बन्धी अन्य सामग्री उल्लिखित है। अध्यायके अन्तमें श्रेष्ठ नाटकके गुण एवं उसमें अंगोक्षित देश-कालका भी निर्देश किया गया है।

३३९वें अध्यायमें रस, स्थायी भाव, आलम्बन तथा उद्दीपन विभावके निरूपणके पश्चात् नायक-नायिका भेदकी चर्चापर प्रकाश डाला गया है। ३४०वें अध्यायमें रीति तथा वृत्तिके लक्षणोंके अनन्तर उनके भेदोंपर प्रकाश डाला गया है। ३४१वें अध्यायमें नायिकाओंकी चेष्टाओंका विभाजन प्रस्तुत किया है, तत्पश्चात् नृत्यकलामें प्रयुक्त होनेवाले अंगोंकी चेष्टाओं तथा हास-भावोंका परिगणन किया गया है।

३४२वें अध्यायमें ऋतुविध अभिनयोंके निरूपणके उपरान्त शृंगारादि रसोंके लक्षण निर्दिष्ट किये गये हैं। तदनन्तर अलंकारका स्वरूप निर्धारित किया है और उसके भेदोंके उल्लेखके साथ-साथ शब्दालंकारके नौ भेदोंके लक्षण अंकित किये हैं। ३४३वें ३४४वें अध्यायमें अनुप्रास, यमक, चित्र और बन्ध अलंकारोंका भेदोपभेद सहित वर्णन किया है। अध्यायमें अर्थालंकारोंके आठ भेदोंका स्वरूप सहित वर्णन किया है। ३४५वें अध्यायमें उभयालंकारोंका वर्णन आया है। ३४६वें अध्यायमें गुणकी परिभाषा, उसका महत्त्व एवं भेद-प्रभेदों की चर्चा है। इस अध्यायमें सात शब्दगुण, छह अर्थगुण तथा छह शब्दार्थगुण बतलाये गये हैं।

३४७वें अध्यायमें काव्यदोषोंका निरूपण आया है। सर्वप्रथम वक्तृवाचकके भेदसे सात प्रकारके दोष बतलाये गये हैं। तत्पश्चात् उनके भेद-प्रभेदोंके लक्षण निरूपित कर दोषोंका परिहार दिया गया है। इस प्रकार अग्निपुराणमें काव्य, नाटक, रस, रीति, अभिनय, अलंकार, गुण-दोषका वर्णन आया है।

इसमें सन्देह नहीं कि अग्निपुराणोंमें यह काव्य विषय संग्रहीत है। इस संग्रहमें अलंकारोंके भेद-प्रभेद इतने सूक्ष्म, विस्तृत और वैज्ञानिक हैं कि पाठक आश्चर्यचकित रह जाता है। इस ग्रन्थमें शब्दालंकारके छाया, मुद्रा, उक्ति, युक्ति-गुफ्तन, श्राकोवाक्य,

अनुप्रास, चित्र, और दुष्कर ये नौ भेद बतलाये हैं। इनमें छायाके चार उपभेद हैं— १. लोकोक्ति, २. छेकोक्ति, ३. अर्भकोक्ति और ४. मत्तकोक्ति। उक्ति अलंकारके विधि, निषेध, नियम, अनियम, विकल्प और परिसंख्या ये छह उपभेद हैं। युक्तिके पदगत, पदार्थगत, वाच्यगत, वाच्यार्थगत, विषयगत और प्रकरणगत ये छह भेद बतलाये हैं। गुम्फनके शब्दगत, वर्णगत और शब्दार्थगत ये तीन भेद, वाक्योपगमे, ऋजुवाकोवाक्य, और वक्र-वाकोवाक्य ये दो भेद; अनुप्रासके वर्णगत, पदगत और वाक्यगत ये तीन भेद; चित्रके प्रश्न, प्रहेलिका, गुप्तपद, च्युतपद, दत्तपद, समस्या और श्लेष ये सात भेद, दुष्करके विदर्भ और नियम ये दो भेद, वन्धके गोमूत्रिका, अर्द्धभ्रमण, सर्वतोभद्र, कमल, चक्र, चक्राब्ज, दण्ड और भुज ये आठ भेद एवं मुद्राका एक ही भेद है। इस प्रकार अग्निपुराणमें शब्दालंकारोंकी चौतीस या अड़तीस संख्या वर्णित है।

अलंकारचिन्तामणिके साथ अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय अंश की तुलना करने-पर अवगत होता है कि अग्निपुराणमें जो काव्यकी परिभाषा अंकित की गयी है उसकी अपेक्षा अलंकारचिन्तामणिकी काव्यपरिभाषा अधिक व्यापक है। अग्निपुराणमें अलंकार-गुणयुक्त और दोषोंसे मुक्त वाक्यको काव्य कहा है। इस परिभाषामें रस और रीतिको स्थान नहीं दिया गया है। महाकाव्यके वर्ण्य-विषयोंका निर्देश भी अलंकारचिन्तामणिका अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागकी अपेक्षा विशिष्ट है। अग्निपुराणमें महाकाव्यमें वर्ण्य नगर, समुद्र, पर्वत, जंतु, चन्द्र, सूर्य, आश्वम, पादप, उद्यान, जलक्रीड़ा, मद्यपानादि उत्सव, दूती-वचन, कुलटाओंके विस्मयजनक चित्र आदिका वर्णन आवश्यक बताया है।^१ पर इस सन्दर्भमें यह नहीं बताया गया है कि उक्त वस्तुओंका वर्णन किस प्रकार और किस रूपमें होना चाहिए। अलंकारचिन्तामणिमें केवल वर्ण्य-विषयोंकी तालिका ही नहीं दी गयी है अपितु इन विषयोंका वर्णन किस रूपसे होना चाहिए यह भी बतलाया गया है। इस प्रकार महाकाव्यका स्वरूप केवल बाह्य दृष्टिसे ही वर्णित नहीं है अपितु उसकी आत्मापर भी प्रकाश डाला गया है।

काव्य-हेतुओंका कथन भी स्पष्ट रूपसे अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागमें उपलब्ध नहीं होता। पर अलंकारचिन्तामणिमें काव्य-हेतुओंका स्पष्ट वर्णन आया है।

अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागमें नाटक-सम्बन्धी तथ्य निरूपित हैं, पर अलंकारचिन्तामणिमें इनका अभाव है। रसकी परिभाषा, रसके भेद, उनके रूप-रंग, श्रेयता आदिका जितना और जैसा वर्णन अलंकारचिन्तामणिमें उपलब्ध होता है वैसा अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागमें नहीं।

१. संक्षेपाङ्गाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली ।

काव्यं स्फुरदलंकारं गुणयुक्तमिति ।

यो निर्देशश्च लोकरच सिद्धमर्थविधौतिजम् ॥— अग्निपुराणका काव्यशास्त्रीय भाग, प्रथम अध्याय, (११७ अध्याय) पृष्ठ ६, ७ ।

२. मही, १/३० ।

अग्निपुराणमें नाट्यशास्त्रके समान ही चार रसोंको कारण और चारको कार्य माना गया है। यह सन्दर्भ अलंकारचिन्तामणिमें भी प्राप्त है। अग्निपुराणमें यों तो नव-रसोंकी चर्चा आयी है पर शान्तरसको वह स्थान प्राप्त नहीं है जो स्थान अलंकारचिन्तामणिमें प्राप्त है। स्थायी भावोंकी आठ ही संख्या मानी गयी है। लिखा है—

स्थायिनीऽष्टौ रतिमुखाः स्तम्भाद्या व्यभिचारिणः ।

मनोज्जुकूलेऽनुभवः सुखस्य रतिरिष्यते ॥

अर्थात् रत्यादि आठ स्थायी भाव कहलाते हैं और स्तम्भादि आठ व्यभिचारी भाव। सुखके मनोज्जुकूल अनुभवको रति कहते हैं। शान्तरसके स्थायी भावका स्पष्ट उल्लेख इस ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं होता है। इसमें सन्देह नहीं कि अलंकारचिन्तामणिका रस प्रकरण अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागकी अपेक्षा अधिक समृद्ध है।

रीति और वृत्तिका निरूपण दोनों ही ग्रन्थोंमें प्रायः समान है। अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागमें नाटक और नृत्यसम्बन्धी उल्लेख विशिष्ट हैं। सत्वाश्रय, आगाश्रय, अंगाश्रय और आरहणाश्रय, ये चार प्रकारके अभिनय भी अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागमें विशिष्ट रूपमें प्राप्त होते हैं। शृंगारके भेद-प्रभेद एवं शृंगार-सम्बन्धी अन्य बातें तीनों ग्रन्थोंमें प्रायः वृत्तः हैं।

अनुप्रास अलंकारका जितना विस्तृत विवरण अलंकारचिन्तामणिमें पाया जाता है उतना विस्तृत विवरण अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागमें उपलब्ध नहीं होता है। इसी प्रकार यमकके चारह भेदोंका सोदाहरण निरूपण, अलंकारचिन्तामणिमें आया है। अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागमें भी यमकके मूलतः दो भेद बतलाये हैं—अव्यपेत और व्यपेत। अव्यपेतके आठ भेद और व्यपेतके भी आठ भेद बतलाये गये हैं। पादभेदकी अपेक्षा पादादि, पादमध्य, पादान्त, कांचीयमक, संसर्गयमक, चिक्रान्तयमक, पादादि-यमक, आश्लेषित, चतुर्व्यञ्जित, तथा मालायमक आदि दस प्रकारके भेद बताये गये हैं। यों तो यमकके अनेक भेद हो जाते हैं। अजितसेनने भी अलंकारचिन्तामणिमें यमककी इसी प्रकार मीमांसा प्रस्तुत की है।

अर्थालंकारके प्रकरणमें प्रधान रूपसे आठ अर्थालंकारोंका ही निर्देश आया है : स्वरूप, सादृश्य, उत्प्रेक्षा, अतिशय, विभाजना, विरोध, हेतु और सम। अलंकारचिन्तामणिमें बहुतर अर्थालंकारोंका स्वरूप विवेचन आया है। अर्थालंकारोंके स्वरूप विवेचनकी दृष्टिसे अलंकारचिन्तामणि विशेष महत्त्वपूर्ण है। उपमाके भेद-प्रभेद, दोनों ही ग्रन्थोंमें वर्णित हैं।

गुण और दोष प्रकरण भी दोनों ग्रन्थोंमें आये हैं। अग्निपुराणमें शब्दगुण, अर्थगुण और शब्दार्थगुण ये तीन भेद सामान्य गुणके किये हैं। शब्दगुणके श्लेष, लालित्य, गाम्भीर्य, सुकुमारता, उदारता, सत्य और यौगिकी ये सात भेद किये गये

हैं। इस प्रकार गुणोंकी वर्णन-प्रणाली अग्निपुराणके काव्यशास्त्रीय भागकी, अलंकार-चिन्तामणिकी अपेक्षा भिन्न है। अलंकारचिन्तामणिमें चौबीस गुणोंका विवेचन आया है। गुणोंकी परिभाषा और उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं।

दोष प्रकरण दोनों ही ग्रन्थोंमें वर्णित हैं पर अलंकारचिन्तामणिका दोष-प्रकरण अग्निपुराणके दोष-प्रकरणकी अपेक्षा अधिक विस्तृत और स्पष्ट है। अजितसेनने पद, वाक्य और अर्थ-दोषोंका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। अलंकारचिन्तामणिमें अग्निपुराणके समान ही कविसमयका भी निरूपण आया है।

भामहका काव्यालंकार और अलंकारचिन्तामणि

उपलब्ध काव्यनिबन्ध ग्रन्थोंमें नाट्यशास्त्र और अग्निपुराणके पश्चात् अलंकार शास्त्रपर लिखा गया आचार्य भामहका काव्यालंकार ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ छह परिच्छेदोंमें विभक्त है और लगभग चार सौ पद्य हैं। प्रथम परिच्छेदमें काव्य-प्रशंसा, काव्य-साधन, काव्यलक्षण, काव्यभेद और काव्यदोषोंका निरूपण आया है। द्वितीय परिच्छेदमें शब्दालंकार और अर्थालंकारोंका निरूपण है। इस परिच्छेदमें अनुप्रास, लाटानुप्रास, यमकके भेद, यमककी विशेषताएँ, रूपक, एकदेश विवर्ति, दीपक, उपमा, उपमाके भेद, उपमाके दोष, आक्षेप, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, समासोक्ति, अतिशयोक्ति, वक्रोक्ति, हेतु-सूक्ष्म, यथासंख्य, उत्प्रेक्षा और स्वभावोक्तिका स्वरूप प्रतिपादित हुआ है।

तृतीय परिच्छेदमें प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्वी, पर्यायोक्ति, समाहित, उदात्त, श्लिष्ट, अपहृति, विशेषोक्ति, विरोध, तुल्ययोगिता, अप्रस्तुत-प्रशंसा, व्याजस्तुति, निदर्शना, उपमा रूपक, सहोक्ति, परिवृत्ति, सन्देह, अनन्वय, संसृष्टि, भाविक और आशी अलंकारोंके स्वरूप वर्णित हैं। द्वितीय और तृतीय परिच्छेदमें अनुप्राससे आशी अलंकार तक मड़तीस अलंकारोंके स्वरूप आये हैं। भामहने लाटानुप्रास और प्रतिवस्तूपमाको उपमाके भेदोंमें परिगणित किया है। यदि इनकी पृथक् गणना की जाये तो चालीस अलंकारोंका स्वरूपविवेक्षण इस अलंकारशास्त्रमें आया है।

चतुर्थ परिच्छेदमें अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, वृत्तिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसम्बि, देशविरोधि, कालविरोधि, कलाविरोधि, न्यायविरोधि, और अगम-विरोधी दोषोंका सोदाहरण लक्षण आया है। पंचम परिच्छेदमें प्रतिज्ञाहीन आदि दोषोंके निरूपणका प्रयोजन, प्रमाणकी आवश्यकता, भेद, तथा विषय, प्रतिज्ञाके दोष, काव्यहेतुके दोष और दोषोंकी त्याज्यताका विवेचन आया है।

षष्ठ परिच्छेदमें शब्द-शुद्धि विषयक शिक्षाका निरूपण है। इस प्रकरणमें अपोहवादका खण्डन और काव्योपयोगी शब्दोंपर विचार किया गया है।

उपर्युक्त विषय-वर्णनसे यह स्पष्ट है कि भामहने भी अपने काव्यालंकारमें अलंकारशास्त्र सम्बन्धी समस्त विषयोंका समावेश किया है। जिस प्रकार अलंकार-

चिन्तामणिमें नाटक और ध्वन्यर्थको छोड़ दिया गया है, उसी प्रकार इस काव्यालंकारमें भी। दोनों ग्रन्थोंकी काव्य-परिभाषापर विचार करते हैं तो इस काव्यालंकारमें निरूपित काव्य-परिभाषाकी अपेक्षा अलंकारचिन्तामणिकी काव्य-परिभाषा अधिक स्पष्ट और व्यापक है। काव्यालंकारमें 'शब्दार्थी सहितौ काव्यं'^१ अर्थात् शब्द और अर्थ इन दोनोंके साहित्य—सहभावको काव्य कहा है। भाषाकी यह परिभाषा सूत्र रूपमें है। अतः इसे समझना साधारण पाठकके लिए सुसाध्य नहीं है। अजितसेनने काव्यकी परिभाषा बहुत ही स्पष्ट और व्यापक रूपमें प्रस्तुत की है। इस परिभाषासे काव्यका कोई भी उपकरण छूटता नहीं है।

काव्यहेतुओंका वैसा स्पष्ट चित्रण काव्यालंकारमें नहीं उपलब्ध होता है, जैसा अलंकारचिन्तामणिमें। काव्यालंकारमें 'काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभायतः'^२ से प्रतिभाहेतु निःसृत होता है। प्रतिभा त्रिकालदर्शिनी है और है नवनवोन्मेषशालिनी। प्रतिभाहेतुके अनन्तर अध्ययनीय विषयोंकी गणना की गयी है जिससे व्युत्पत्ति हेतु निःसृत होता है। अग्यासहेतुका उल्लेख भी किया है।^३ भाषाहने विषयके अनुसार काव्यके चार भेद किये हैं, १. देव या राजाओंके इतिवृत्तपर आश्रित, २. कल्पित, ३. कलाश्रित और ४. शास्त्राश्रित। पुनः काव्यके पाँच भेद बसलाये हैं, १. महाकाव्य, २. नाटक, ३. आख्यायिका, ४. कथा और मुक्तक। काव्योंका यह वर्गीकरण अलंकार-चिन्तामणिके प्रायः तुल्य ही है। अलंकारचिन्तामणिमें काव्यभेदोंके निम्नलिखित आधार वर्णित हैं—

१. छन्दके सद्भाव और अभाव-सम्बन्धी आधार।
२. भाषाका आधार।
३. विषयका आधार।
४. स्वरूप विधानका आधार।

छन्दके सद्भाव और अभावके आधारपर काव्यके गद्य और पद्य ये दो भेद होते हैं। भाषाके आधारपर संस्कृत, प्राकृत, वैशाची और अपभ्रंश ये चार भेद हैं। विषयके आधारपर क्वातिवृत्त, कल्पितवस्तु, कलाश्रित और शास्त्राश्रित ये चार भेद हैं। स्वरूप-विधानके अनुसार महाकाव्य, रूपक, आख्यायिका, कथा और मुक्तक ये पाँच भेद हैं। इस प्रकार काव्योंके भेद-प्रभेद प्रायः दोनों अलंकार ग्रन्थोंमें तुल्य हैं। महाकाव्यका स्वरूपविधान अलंकारचिन्तामणिका काव्यालंकारकी अपेक्षा विशिष्ट है। काव्यालंकारमें प्रथम परिच्छेदकी उधोसवीं कारिकासे बाईसवीं कारिका तक महाकाव्यका स्वरूप आया है। इस स्वरूपमें बताया है कि कथानक सर्गोंमें विभक्त हो और विषय किसी महान् चरित्रसे सम्बद्ध हो, पंचसन्धि समन्वित, एवं मन्त्रणा, वृत सम्प्रेषण, युद्ध आदिका

१. काव्यालंकार, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६१।

२. वही, ११५।

३. वही, ११६ तथा ११७।

वर्णन भी महाकाव्यमें आवश्यक है। अलंकारचिन्तामणिमें सर्ग-बन्धत्वका कथन नहीं है, पर जिन वर्ण्य-विषयोंका निर्देश किया गया है उनके अध्ययनसे सर्ग-बद्धता सिद्ध हो जाती है। इसी प्रकार सन्धि-समन्वयका कथन नहीं आया है। किन्तु उसके प्रतिपाद्य विषयोंका जैसा वर्णन है उसका सद्भाव सन्धि-समन्वयके बिना सम्भव नहीं है। यह सत्य है कि अलंकारचिन्तामणिके महाकाव्य स्वरूपमें स्थापत्य-सम्बन्धी तथ्योंकी कमी है। वर्ण्य-विषयोंकी चर्चा विस्तारपूर्वक आयी है, पर रूपगठनके सम्बन्धमें विचार नहीं किया है। भामहू और अग्निपुराण दोनों ही ग्रन्थ इस दिशामें अलंकारचिन्तामणिसे आगे हैं। जहाँ तक प्रतिपाद्य विषयोंका प्रश्न है वहाँ तक अजितसेनको कोई भी अलंकार-शास्त्री स्पर्धा नहीं कर सका है।

कविसमयोंका वर्णन भी अलंकारचिन्तामणिका भामहूके काव्यालंकारकी अपेक्षा विस्तृत है। शब्दालंकारके स्वरूप निर्धारण और विवेचनमें अलंकारचिन्तामणि भामहूके काव्यालंकारसे बहुत आगे है। भामहूने शब्दालंकार और अर्थालंकार मिलाकर कुल बालीसका ही स्वरूप विवेचन किया है। पर अलंकारचिन्तामणिमें शब्दालंकारके भेदोंकी जोड़ दिया जाये तो दोनों प्रकारके कुल सौ अलंकारोंका स्वरूप निर्धारण आया है। इस प्रकार अलंकार विवेचनकी दृष्टिसे अलंकारचिन्तामणिमें काव्यालंकारकी अपेक्षा कई विशेषताएँ हैं। सादृश्य और साधर्म्यका शास्त्रीयकथन अलंकारचिन्तामणिमें पाया जाता है, भामहूके काव्यालंकारमें नहीं।

गुण निरूपण सन्दर्भ भी अलंकारचिन्तामणिका काव्यालंकारकी अपेक्षा अधिक पुष्ट है। अलंकारचिन्तामणिमें चौबीस गुणोंका स्वरूप विश्लेषण आया है। अजितसेनने गुणोंके स्वरूपनिर्धारणमें भी पदोंकी सार्थकतापर पूरा ध्यान रखा है। भामहूने द्वितीय परिच्छेदके प्रारम्भमें केवल तीन कारिकाओं द्वारा गुणोंका कथन किया है। यह चर्चा इतनी अपर्याप्त है कि इससे उनकी गुणसम्बन्धी धारणाका परिज्ञान नहीं होता। गुणका क्या स्वरूप है, उसकी काव्यमें क्या उपयोगिता है तथा काव्यके अन्य तत्त्वोंके साथ उसका क्या सम्बन्ध है आदि जिज्ञासाएँ अपूर्ण ही रह जाती हैं। इन्होंने ओज, माधुर्य और प्रसाद इन तीन गुणोंका विश्लेषण किया है। संक्षेपमें यह कहा जा सकता है कि भामहूके काव्यालंकारमें गुणसम्बन्धी सूक्ष्मता और गम्भीरताका अभाव है, जब कि अलंकारचिन्तामणिमें गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है।

कविता ह्रस्वग्राही और प्रभावोद्पादक दोषोंके अभावसे ही हो सकती है। भामहूने चतुर्थ और पंचम परिच्छेदमें दोषोंका व्यापक वर्णन किया है। इन दोनों परिच्छेदोंमें रमारहू दोषोंका कथन किया गया है। अलंकारचिन्तामणिके दोष प्रकरणके साथ तुलना करनेपर प्रतीत होता है कि अलंकारचिन्तामणिका यह प्रकरण अधिक वैज्ञानिक और व्यापक है। यों तो काव्यालंकारमें प्रतिपादित दोष प्रकरण भी सांगोपांग है। इसमें ध्वनिविरोधी दोषोंका भी निरूपण किया गया है। पर अलंकारचिन्तामणिमें पदगत और वाक्यगत दोषोंके विवेचनसे वाक्यशुद्धिपर पूरा प्रकाश डाला गया है। अर्थ-

दोषोंकी पृथक् चर्चा कर दोष प्रकरणको सांगोपांग बनाया है। अलंकारचिन्तामणिमें शब्दशक्तिदोषोंका भी निरूपण है। भामहने अपने काव्यालंकारमें इन शक्तियोंपर विचार नहीं किया है।

दण्डीकृत काव्यादर्श और अलंकारचिन्तामणि

दण्डीने काव्यादर्श नामक ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थमें तीन परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें काव्यपरिभाषा, काव्यभेद, महाकाव्य लक्षण, गद्यके प्रभेद, कथा, आख्यायिका, मिश्रकाव्य, भाषाप्रभेद, वैदर्भी आदि मार्ग, अनुप्रास, गुण और काव्यहेतुओंका विवेचन है। द्वितीय परिच्छेदमें पैंतीस अर्थालंकार सोदाहरण निरूपित हैं। तृतीय परिच्छेदमें यमक, गोमूत्र आदि चित्रबन्ध काव्य, प्रहेलिका और दस दोषोंका निरूपण आया है। तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेपर ज्ञात होता है कि भामहका न्यायदोष प्रकरण यदि दण्डीसे अधिक महत्त्वपूर्ण है तो दण्डीका अलंकार, रीति और गुण विवेचन भामहकी अपेक्षा अधिक परिष्कृत और उपयोगी है। दण्डी ऐसे प्रधान अलंकारशास्त्री है जिन्होंने अपने समस्त पूर्ववर्तियोंसे अधिक अलंकारोंके उपभेदोंका एवं गुण और रीतिको विस्तृत निरूपण किया है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि दण्डीने अलंकारोंके उपभेदोंके वर्णनमें अपने पूर्ववर्ती आचार्योंका अनुसरण नहीं किया है। दण्डीकी मौलिकता कई दृष्टियोंसे है। इन्होंने चम्पूकाव्यकी परिभाषा भी लिखी है।

दण्डी द्वारा निरूपित काव्यहेतुओं और अलंकारचिन्तामणिके काव्यहेतुओंपर तुलनात्मक दृष्टिसे विचार किया जाये तो अवगत होगा कि दण्डीने प्रतिभा, श्रुतज्ञान और अभ्यासको काव्यहेतु माना है। अलंकारचिन्तामणिमें भी उक्त तीनों काव्यहेतुओंका निरूपण आया है। पर अन्तर यह है कि दण्डी प्रतिभाके अभावमें भी केवल निपुणता और अभ्यासको काव्यरचनाका हेतु मानते हैं। उन्होंने लिखा है—

न विद्यते यद्यपि पूर्वभासना
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥
तदस्ततन्त्रैरनिशं सरस्वती
श्रमाद्रुपास्या खलु कीर्तिमीधुभिः ।
कुक्षी कवित्वैऽपि जनाः कुतश्चमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्षुमीशते ॥^१

दण्डीका अभिप्राय यह है कि काव्याकृतिमें मौलिकताका निर्माण आहार्यप्रतिभा द्वारा होता है। यह प्रतिभा काव्यशास्त्र श्रवण, काव्यशास्त्र चिन्तन एवं काव्यशास्त्र

भावनाके द्वारा सम्भाव्य है। यदि नैसर्गिक प्रतिभाकी उपलब्धि न भी हो, तो भी उसमें काव्य और काव्यविद्याके श्रवण, मनन एवं निदध्यासनकी साधनासे कविताकी शक्ति प्राप्त की जा सकती है। नैसर्गिक प्रतिभाका स्थान उन्नत रहनेपर भी आहार्य प्रतिभाकी भूला नहीं जा सकता है। शब्द और अर्थको सुन्दर बनानेके लिए काव्य उपकरणोंका प्रयोग आहार्य, प्रतिभा द्वारा भी किया जा सकता है। लौकरंजक तत्त्व जो कि किसी भी काव्यकृतिके लिए परमावश्यक धर्म है, शास्त्रोंके अध्ययन-मनन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। पर अजितसेनने अलंकारचिन्तामणिमें प्रतिभाको काव्यनिर्माणके लिए आवश्यक हेतु माना है। उन्होंने लिखा है—

व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कार्या शब्दार्थवटनाघटा ।

प्रज्ञा नवनवोत्प्लेखपालिनी प्रतिभास्य धीः ॥^१

अर्थात् काव्यरचनाके व्युत्पत्ति, प्रज्ञा और प्रतिभा ये तीन कारण हैं। निपुणता या अभ्यास प्रज्ञाके अन्तर्गत समाहित है। अतएव दण्डीकी अपेक्षा अजितसेन काव्य-हेतुओंके निरूपणकी दृष्टिसे अधिक स्पष्ट हैं। दण्डीकी मान्यताका अनुसरण परवर्ती किसी भी आचार्यने नहीं किया है।

दण्डीने काव्यका रक्षण निम्न प्रकार लिखा है—

शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली^२

अर्थात् इष्टार्थक अलंकारसहित और मृण्युक्त पदावली काव्य है। इस प्रकार दण्डीने काव्यके शरीरका तो कथन किया है, पर काव्यकी आत्माको छोड़ दिया है। अतः यह काव्य परिभाषा अपूर्ण है। अजितसेनने अलंकारचिन्तामणिमें रसको काव्यकी आत्मा माना है। इन्होंने काव्य परिभाषामें काव्यशरीरके साथ काव्यकी आत्माका भी निरूपण किया है। अलंकारचिन्तामणिकारका अभिमत है—

रसं जीवितभूतं तु प्रबन्धानां ब्रुवेऽधुना ।

विभावादिचतुष्केण स्थायीभाक्ः स्फुटो रसः ॥^३

अर्थात् काव्यकी आत्मा रस है। बड़े-बड़े प्रबन्धकाव्योंका आनन्द रससे ही प्राप्त होता है। रसके अभावमें कोई भी कृति काव्यका स्थान प्राप्त नहीं कर सकती है। स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव और संचारीभावों द्वारा रसकी निष्पत्ति होती है। जिस प्रकार परिपाकको प्राप्त हो जानेसे नवनीत ही घूतरूपमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार स्थायीभाव ही विभाव, अनुभाव और संचारीभावके संयोगसे रसरूपमें परिणत हो जाता है। अजितसेनके इस वर्णनसे स्पष्ट है कि वे काव्यमें शब्दार्थशरीरके साथ रसरूप आत्माका अस्तित्व भी स्वीकार करते हैं।

१. अलंकारचिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, १।६।

२. काव्यादर्श, चौखम्बा संस्करण, १।१०।

३. अलंकारचिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, ५।८३।

दण्डीने काव्यमूल्यांकनके सिद्धान्तमें वैदर्भ और गौडीय मार्गोंका निरूपण किया है। श्लेष, प्रसाद, समता, माधुर्य, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, उदारता, ओज, कान्ति और समाधि ये दस गुण वैदर्भ मार्गके प्राण हैं। गौडी मार्गमें प्रायः इनका विपर्यय लक्षित होता है। दण्डीने निम्नान्त शब्दोंमें रीतिमें व्यक्तित्वकी सत्ता स्वीकार की है। इन्होंने रीति और गुणका सम्बन्ध स्थापित कर वैदर्भकाव्यको सत्काव्य माना है। इनकी दृष्टिमें अर्थव्यक्ति—अर्थकी स्फुट प्रतीति करानेकी शक्ति^१, आन्दार्य, प्रतिपाद्य अर्थों पर अर्थका समावेश^२ और समाधि—एक वस्तुके धर्मका दूसरी वस्तुमें सम्यक् रूपसे आधान,^३ ये तीन गुण काव्यके लिए अनिवार्य धर्म हैं। क्योंकि अर्थव्यक्तिहीन काव्य हृदयंगम नहीं हो सकता। औदार्यरहित होकर वह इतिवृत्त मात्र रह सकता है, पर हृदयाह्लादक, सत्काव्य नहीं। समाधि तो दण्डीकी दृष्टिसे काव्यसर्वस्व है। दण्डी काव्यकी परिभाषामें दोषको उपेक्षणीय नहीं मानते। उनका कथन है—

तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।
स्याद्वपुः सुन्दरमपि भ्रित्रणेकेन दुर्भगम् ॥

स्पष्ट है कि दण्डी दोषरहित और अलंकारसहित शब्दार्थको काव्य मानते हैं। इनकी दृष्टिमें रसका उतना महत्त्व नहीं है, जितना अलंकारचिन्तामणिकारकी दृष्टिमें है। यों तो काव्यादर्शमें—“कामं सर्वोऽप्यलंकारो रसमर्थे निपिञ्चति।”^४ अर्थात् अलंकारोंको रसके उत्कर्ष कहकर काव्यमें रसका अस्तित्व स्वीकार किया है। अतएव संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि अलंकारचिन्तामणिका काव्यस्वरूप, काव्यादर्शके काव्यस्वरूपकी अपेक्षा अधिक व्यापक और स्पष्ट है।

अलंकार विवेचनकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थोंकी तुलना करनेपर अवगत होता है कि दण्डीने अलंकारका कोई विशेष लक्षण प्रतिपादित नहीं किया है। अलंकार निरूपणके प्रारम्भमें लिखा है—“काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते”^५ यहाँ काव्यशोभाकर धर्मको अलंकार कहा है। और शृंगारादि रसयुक्त रचनाको मधुर गुणवाली बतलाकर अलंकार और रसका सम्बन्ध स्थापित किया है। पर अजितसेनने अलंकारचिन्तामणिके

१. श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।

अर्थव्यक्तिरुदाररथ-ओजःकान्तिसमाधयः ॥

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दश गुणाः स्मृताः ।— काव्यादर्श, अजरप्रकाश अनुवित, काशी, १९२५ संवत्, १९४९-४२ ।

२. वही, ११४२ ।

३. वही, ११७३ ।

४. वही, ११७६ ।

५. वही, ११६३ ।

६. वही, ११०० ।

७. वही, ११७ ।

८. वही, ११६२ ।

९. वही, २१९ ।

चतुर्थ परिच्छेदमें शब्दार्थसौन्दर्यके कारणको अलंकार कहा है। अलंकारचिन्तामणिमें बतलाया है कि चास्ताका हेतु अलंकार है। लिखा है—

चास्ताहेतुना येन वस्त्वलंक्रियतेऽङ्गवत् ।

हारकाव्यविभिः प्रोक्तः सोऽलंकारः कवीशभिः ॥^१

अतएव स्पष्ट है कि अलंकारचिन्तामणिमें अलंकारके स्वरूपके साथ उनके वर्गीकरणका आधार भी निश्चय किया गया है। काव्यादर्शके समान रसवत् और प्रेयस अलंकारकी गणना भी अलंकारचिन्तामणिमें की गयी है।^२ दण्डीने समस्त अलंकारोंको मूल अतिशयोक्तिकी माना है। पर अलंकारचिन्तामणिमें वैभिन्न अलंकारोंके मूलमूर्त आधारका पृथक्-पृथक् विवेचन किया है। काव्यादर्शमें लिखा है—

अलंकारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम् ।

वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम् ॥^३

स्पष्ट है कि दण्डी अतिशयोक्तिको सम्पूर्ण अलंकार वर्गका एकमात्र परम आश्रयस्थान मानते हैं। अलंकारचिन्तामणिमें अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षामें अध्यवसाय-मूलक सादृश्य विषम, विशेषोक्ति, विभावना, चित्र, असंगति, अन्योन्य, व्याघात, तद्गुण, भाविक और विशेषालंकारोंमें विरोधमूलक सादृश्य, परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, यथासंख्य और समुच्चय अलंकारोंमें वाक्यन्यायमूलत्व, उदात्त, किनोक्ति, स्वभावोक्ति, सम, समाधि, पर्याय, परिवृत्ति, प्रत्यनीक और तद्गुणमें लोक व्यवहारमूलत्व, अर्थान्तर-न्यास, काव्यलिङ्ग और अनुमानमें तर्कन्यायमूलत्व, दीपक, सार, कारणमाला, एकावली और मालामें शृङ्खलावैचित्र्यमूलत्व एवं मीलन, वक्रोक्ति, व्याजोक्ति अलंकारोंमें अपह्लावमूलत्व प्रतिपादित किया गया है। परिकर और समासोक्तिमें विशेषण-वैचित्र्य-हेतुकता मानी गयी है। उपमा, अनन्वय, सन्वेह, भ्रान्तिमान्, अपह्लाति और उल्लेखमें भेद-साधर्म्यहेतुकता तथा प्रतीप, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, निदर्शना, दृष्टान्त, दीपक और तुल्ययोगितामें अभेद, साधर्म्यहेतुकता स्वीकार की है। अलंकारोंका पारस्परिक भेद भी सहेतुक और स्पष्ट रूपमें वर्णित है।^४ दण्डीने अलंकार और गुणका समावेश मार्गके अन्तर्गत किया है। इन्होंने गुण और अलंकारमें भेदका निरूपण नहीं किया है।^५ अलंकारचिन्तामणिमें गुण और अलंकारमें परस्पर भेद माना है। अजितसेनने लिखा है—“गुणः संघटनाश्रित्या शब्दार्थाश्रित्यलंक्रिया”^६ अर्थात् संघटनाका आश्रय लेकर गुण काव्यकी शोभाको वृद्धिगत करता है और शब्दार्थका आश्रय लेकर अलंकार।

१. अलंकारचिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, ४११।

२. काव्यादर्श, काशी संस्करण, २२७५।

३. वही, २१२०।

४. अलंकारचिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, चतुर्थ परिच्छेद, पृ. सं. ११३ से ११५ तक।

५. काव्यादर्श काशी संस्करण, १४४२, १४७२, २१३।

६. अलंकारचिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, ४१२।

अलंकारचिन्तामणिकी इस उक्ति से यह स्पष्ट है कि गुण काव्यमें अत्यन्त शोभाका उपवृंहण करता और अलंकार शब्द एवं अर्थको चमत्कृत करता है । केवल गुण काव्यके शोभाकारक हो सकते हैं, पर केवल अलंकार नहीं । दण्डीने न तो गुणकी परिभाषा ही निर्धारित की है और न गुण और अलंकारका भेद ही बतलाया है । दण्डी द्वारा निरूपित गुणोंका क्रम और लक्षण भी अलंकारचिन्तामणिकी अपेक्षा भिन्न है । अजितसेनने चौबीस गुण बतलाये हैं और इन गुणोंका सोदाहरण स्वरूप अंकित किया है ।

अलंकारचिन्तामणिका दोष प्रकरण भी काव्यादर्शके दोष प्रकरणकी अपेक्षा अधिक और विशिष्ट है । दोषोंकी संख्या, उनकी परिभाषाएँ भी भिन्न रूपमें आयी हैं । रीतियोंका निरूपण दोनों ग्रन्थोंमें समान रूपसे पाया जाता है । रीतिकी परिभाषा काव्यादर्शमें उपलब्ध नहीं है, पर अलंकारचिन्तामणिमें रीतिकी परिभाषा स्पष्ट रूपमें आयी है । अजितसेनने रीतिके सम्बन्धमें लिखा है—‘गुणसंहितशब्दौघसंदर्भो रीतिरिष्यते’^१ अर्थात् गुणसहित सुगठित शब्दावलीयुक्त सन्दर्भको रीति कहते हैं । अजितसेनने रीतिकी इस परिभाषामें दो तत्त्वोंको आधार माना है—

१. गुण, और २. समास ।

वैदर्भी रीतिमें काल्पित्यरहित छोटे-छोटे समासवाली पदावलीको प्रमुखता दी है । गौडीमें ओजगुण और कान्तिगुणको महत्त्व दिया गया है तथा पांचालीमें कीमल समासो युक्त और अधिक संयुक्ताक्षरोंके अभावको महत्त्व दिया है । इस प्रकार रीतिके सम्बन्धमें दण्डीसे अथवा सामर्थ्य अजितसेनने उपस्थित की है ।

उद्भटका काव्यालंकारसारसंग्रह और अलंकारचिन्तामणि

उद्भटका एक लघुकाय ग्रन्थ काव्यालंकारसारसंग्रह उपलब्ध है । इस ग्रन्थका प्रकाशन भण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना द्वारा हुआ है । उद्भटने रसका अधिक विवेचन नहीं किया और न रसको काव्यकी आत्मा ही माना है । उन्होंने रसवत् अलंकारकी परिभाषामें रसोंका केवल नामोल्लेख मात्र किया है । उद्भटने गुण और अलंकारमें एक ही स्वभाव स्वीकार किया है । वे दोनों ही काव्यसौन्दर्यके बर्द्धक हैं और दोनोंका ही सम्बन्ध शब्द और अर्थ दोनोंके साथ है । इनमें भेद केवल यही है कि ये काव्यके भिन्न-भिन्न अंग हैं । इसी कारणसे इनका पृथक्-पृथक् निर्देश किया जाता है । उद्भटने न काव्यहेतुओंपर विचार किया है न रीति, वृत्ति आदिपर ही । अतः काव्यालंकारसारसंग्रहकी अपेक्षा अलंकारचिन्तामणिमें विषय तो अधिक निरूपित है ही, साथ ही वैज्ञानिक दृष्टिसे काव्य उपकरणोंपर विचार किया गया है । अलंकारोंके वर्गीकरणका आधार उनके स्वरूप, उदाहरण और पारस्परिक भेद निश्चयतः अलंकारचिन्तामणिके विशिष्ट हैं । रसोंका जैसा स्पष्ट और संक्षिप्त विवेचन अलंकारचिन्तामणिमें पाया जाता है, वैसा अलंकारसारसंग्रहमें नहीं ।

१. अलंकारचिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, १९३४ ।

उद्धमटने उदाहरण स्वरचित दिये हैं और अपने उदाहृत ग्रन्थका नाम कुमारसम्भव बतलाया है। यह कुमारसम्भव महाकवि कालिदास विरचित कुमारसम्भवसे भिन्न है। यद्यपि दोनों रचनाओंमें पर्याप्त साम्य है। श्री पी. बी. काणेने संस्कृत काव्यशास्त्रका इतिहास शीर्षक ग्रन्थमें लिखा है—'दोनों रचनाओंमें पर्याप्त साम्य है। शब्दों और भावोंमें ही नहीं किन्तु घटनाओंमें भी वे एक-दूसरे से मिलते हैं।'

उद्धमटके काव्यालंकारसारसंग्रहमें कोई नया मौलिक तथ्य उपलब्ध नहीं होता है। जिन तथ्योंका विवेचन भामह, दण्डी आदिने किया है तथा अग्निपुराण और नाट्यशास्त्रमें जो अलंकारसम्बन्धी तथ्य उपलब्ध होते हैं उन्हीं तथ्योंका समावेश काव्यालंकारसारसंग्रहमें पाया जाता है। अलंकारचिन्तामणिमें मौलिकता अधिक है, इसमें शास्त्रीय चिन्तन भी उपलब्ध होता है।

वामनका काव्यालंकारसूत्रवृत्ति और अलंकारचिन्तामणि

वामनने सूत्रशैलीमें काव्यालंकारसूत्रवृत्ति नामक ग्रन्थकी रचना की है। इस ग्रन्थमें पाँच अधिकरण, बारह अध्याय और तीन सौ उन्नीस सूत्र हैं। प्रथम अधिकरणमें काव्यलक्षण, काव्यप्रयोजन, अत्रिकारी, रीति और काव्यके अंग; द्वितीयमें दोष; तृतीयमें गुण; चतुर्थमें अलंकार और पंचममें काव्यसमय तथा शब्दशुद्धि प्रकरण है। शब्दशुद्धि प्रकरणमें भामहके षष्ठ परिच्छेदके साथ अधिक साम्य है। इन्होंने तीस अलंकारोंका निरूपण किया है, जिनमें इकतीस इनके पूर्ववर्ती भामह और दण्डी द्वारा निरूपित हैं। वक्रोक्ति एवं व्याजोक्ति ये दो अलंकार इनके द्वारा नवीन आविष्कृत हैं।

वामनने काव्यालंकारसूत्रवृत्तिमें काव्यहेतुके लिए काव्यांग शब्दका प्रयोग किया है। इन्होंने काव्यके तीन हेतु माने हैं—१. लोक, २. विद्या और ३. प्रकीर्ण। लोकका अर्थ है लोक-व्यवहार। विद्यासे शब्दशास्त्र, कोश, छन्दशास्त्र, कला, दण्डनीति आदि विषयोंका ग्रहण होता है। प्रकीर्णके अन्तर्गत लक्ष्यज्ञान, अभियोग, वृद्धसेवा, अवेक्षण, प्रतिभान और अवधान आते हैं। लक्ष्यज्ञानका अर्थ है दूसरोंके काव्यसे परिचय; अभियोगसे तात्पर्य है काव्यरचनामें प्रयास तथा काव्यकलाकी शिक्षा देने योग्य गुरुजनोंकी सेवा, वृद्धसेवा है; उपयुक्त पदोंका चयन और अनुपयुक्त पदोंका त्याग अवेक्षण कहलाता है; प्रतिभान तो कवित्तका बीज है। यह एक जन्मान्तरगत संस्कारविशेष है जिसके बिना काव्यसम्भव नहीं होता।

वामनके काव्यालंकारसूत्रवृत्ति और अलंकारचिन्तामणिके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट होता है कि वामनका उक्त विवेचन विचित्र है। अलंकारचिन्तामणिमें लोक और शास्त्रको पृथक्-पृथक् ग्रहण न कर व्युत्पत्तिके अन्तर्गत स्थान दिया गया है। इसीको अन्यत्र निपुणता कहा है। वामनके मतानुसार लोक-व्यवहार ज्ञान और

शास्त्रज्ञान पृथक्-पृथक् काव्यके हेतु नहीं हैं अपितु इन दोनोंके समवेत प्रभावरूप निपुणता ही कविकर्ममें सहायक हो सकती है। अलंकारचिन्तामणिमें अजितसेनने अभ्यासके साथ व्युत्पत्ति, प्रज्ञा और प्रतिभाको काव्यरचनाका हेतु माना है। जहाँ तक प्रतिभाका प्रश्न है वहाँ तक अलंकारचिन्तामणि और काव्यालंकारसूत्रवृत्ति दोनों ही एकमत हैं। वस्तुतः अलंकारचिन्तामणिमें कविकी योग्यताके अन्तर्गत प्रतिभा, वर्णन-क्षमता, शास्त्राभ्यास एवं व्युत्पत्तिको परिगणित किया है। वामनने भी प्रकीर्ण, लोक और विद्याके अन्तर्गत अलंकारचिन्तामणिमें निरूपित कवियोग्यताको ही विवेचित किया है। लोकानुभव और शास्त्रज्ञान वर्णनक्षमता और शास्त्राभ्यासके तुल्य हैं। इस प्रकार काव्यहेतुओंके सम्बन्धमें विचार-विनिमय प्राप्त होता है।

वामनकी मौलिक उद्भावनाओंमें 'रीतिरात्मा काव्यस्य',^१ अर्थात् काव्यकी आत्मा रीतिको बतलाना है। वामनके पूर्व भरत, मामह, दण्डी किसी भी आचार्यने रीतिको काव्यकी आत्मा नहीं माना है। दण्डीने रीतिके लिए मार्ग शब्दका प्रयोग किया है और वैदर्भी एवं गौडीया ये दो रीतियाँ मानी हैं। वामनने पांचाली रीतिकी उद्भावना की है। इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वाचार्योंकी अपेक्षा वामनका रीति-विवेचन अधिक साहित्यिक है। इसकी परिधिमें शब्दचमत्कार, अलंकारसम्पदा और अर्थ-स्वारस्यका भी समावेश हो जाता है। इन्होंने रीतिको शब्द सौन्दर्य, उक्ति सौन्दर्य और अर्थसौन्दर्यका संपुवत पर्याय स्वीकार किया है।

वामनने शब्दगुण और अर्थगुणकी पृथक् उद्भावना की है। गुणोंकी परिभाषाएँ भी इनकी नूतन हैं। अर्थगुणोंके अन्तर्गत अर्थकी प्रौढ़ि, उचित-वैचित्र्य तथा रसदीप्तिवा भी समावेश कर गुणोंका स्वरूप अधिक समृद्ध और व्यापक कर दिया है।

अलंकारचिन्तामणिके साथ रीति और गुणोंकी तुलना करतेपर अवगत होता है कि अजितसेन रीति-विवेचनमें वामनसे प्रभावित हैं। यद्यपि इन्होंने रीतिको काव्यकी आत्मा नहीं माना, पर वैदर्भी, गौडी और पांचाली रीतियोंके लक्षण इन्हींके तुल्य हैं। रीतिकी सामान्य परिभाषा भी काव्यालंकारसूत्रवृत्तिसे प्रभावित है। वामनने वैदर्भी रीतिको जहाँ समयगुणयुक्त बताया है, वहाँ अलंकारचिन्तामणिमें 'मुक्तसंदर्भपाठ-प्यानतिदीर्घसमासिको' सन्दर्भके पाठ्य-काठिन्यसे रहित छोटे-छोटे समासवाली तथा कर्कश शब्दावलीसे रहित रीतिको वैदर्भी रीति कहा है। काव्यालंकारसूत्रवृत्तिमें युद्ध वैदर्भी रीतिकी यही परिभाषा बतलायी गयी है, अतः रीति-विवेचनके लिए अलंकार-चिन्तामणिपर वामनका ऋणभार प्रतीत होता है।

गुण-विवेचनमें अलंकारचिन्तामणिकी पद्धति काव्यालंकारसूत्रवृत्तिकी पद्धतिसे भिन्न है। अलंकारचिन्तामणिमें अर्थगुण और शब्दगुणका पार्थक्य स्वीकार नहीं किया गया है। यतः शब्दगुण और अर्थगुणकी परिभाषाओंमें परस्पर संक्रमण होता है।

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १२२।

२. अलंकारचिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, १९३५।

अलंकारचिन्तामणिमें चौबीस गुणोंका वर्णन किया है। अलंकार और गुणका भेद वामनने स्थापित किया है। इनके पूर्व अलंकार और गुणोंका भेद स्थापित नहीं हो सका था। भरत, भामह और दण्डीने गुणोंको भी अलंकारके समान शोभाकारक माना है। दण्डीने काव्यचमत्कारके सभी रूपोंको अलंकार कहा है। इनके अनुसार माधुर्य, ओज आदि गुण भी अलंकारके अन्तर्गत हैं। वामन, गुणोंको भावात्मक तथा दोषोंको उनका विपर्यय मानते हैं।

अलंकारचिन्तामणिमें भी अलंकार और गुणोंका भेद प्रतिपादित हुआ है। दोषोंका निरूपण करनेके पूर्व लिखा है—“गुणानां भेदं सूचयन्तो दोषाः कथ्यन्ते”^१ अर्थात् गुणोंके भेद कहते हुए दोषोंका वर्णन किया जा रहा है। दोष और गुणकी परिभाषा पृथक्-पृथक् रूपमें अलंकारचिन्तामणिमें आयी है।^२

अलंकारप्रसंगमें वामनका वैशिष्ट्य मूलतः दो उद्भावनाओंपर आधृत है। एक तो उन्होंने उपमाको समस्त अलंकारोंका मूल माना है और समस्त अप्रस्तुत विधानका उपमा प्रबंधके रूपमें वर्णन किया है। दूसरे वक्रोक्तिको लक्षणासादृश्यगर्भा कहा है। वक्रोक्तिके सम्बन्धमें यह इसीलिए महत्त्वपूर्ण उद्धावना है कि इससे ध्वनिसिद्धान्तका संकेत प्राप्त होता है। इन्होंने कान्तिगुणके विवेचनमें प्रकारान्तरसे रसको कान्तिका आधार बताया है।

अलंकारचिन्तामणिकः अलंकार प्रकरण नामसे अधिक विस्तृत है। शब्दालंकारोंका हलना विशद वर्णन काव्यालंकारसूत्रवृत्तिमें नहीं आया है। अलंकारोंके वर्गीकरणका आधार भी अलंकारचिन्तामणिमें मनोवैज्ञानिक है। अजितसेनकी दृष्टिमें भिन्न-भिन्न अलंकार वर्गोंके पीछे विभिन्न प्रवृत्तियोंकी प्रेरणा सन्निहित रहती है। अतएव अलंकारचिन्तामणिकी स्थापनाएँ अधिक तर्कसंगत हैं। अलंकारचिन्तामणिमें काव्यके मूल और शौण तत्त्वोंका स्पष्ट विवेचन हुआ है। इतना ही नहीं अलंकारचिन्तामणिमें नायक-नायिकाके भेदोंकी मीमांसा भी विशिष्ट है। कवि, गमक, वादी और वाग्मीका स्वरूपनिर्धारण भी अलंकारचिन्तामणिका अपना निजी है। अलंकारोंके पारस्परिक भेदोंका निरूपण भी अलंकारचिन्तामणिमें आया है। इस तरहके कथनका काव्यालंकार-सूत्रवृत्तिमें नितान्त अभाव है।

छन्दका काव्यालंकार और अलंकारचिन्तामणि

छन्दका अलंकार शास्त्रमें प्रतिष्ठित और उच्च स्थान है। इन्होंने काव्यालंकार नामक ग्रन्थमें काव्यके सभी तत्त्वोंपर प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ सोलह अध्यायोंमें विभक्त है। प्रथम अध्यायमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-हेतु, द्वितीयमें काव्य-लक्षण, रीति, भाषा-भेद, वक्रोक्ति आदि शब्दालंकार, तृतीयमें एककालंकार, चतुर्थमें श्लेषालंकार,

१. अलंकारचिन्तामणि. ज्ञानपीठ संस्करण, १९६०।

२. यही, चतुर्थ परिच्छेद, पृष्ठ सं. १२ तथा गद्यांश, पृष्ठ ११२।

पंचममें चित्रकाव्य, षष्ठमें शब्द-दोष, सप्तम, अष्टम, नवम तथा दशम अध्यायोंमें अर्थ-लंकार, एकादशमें अर्थलंकारदोष, द्वादश, त्रयोदश, चतुर्दश और पंचदश अध्यायोंमें रस और नायिकाभेदादिका निरूपण है और षोडश अध्यायमें महाकाव्य, प्रबन्ध आदिका लक्षण आया है।

रुद्रटने वैज्ञानिक सिद्धान्तपर अलंकारोंका वर्गीकरण किया है। इन्होंने पाँच शब्दालंकार और अष्टावन अर्थालंकारोंका निरूपण किया है। रुद्रटने अर्थालंकारोंको चार वर्गोंमें विभक्त किया है—

१. वास्तव वर्ग—इस वर्गमें तेईस अलंकार प्रतिपादित हैं।
२. औपम्य वर्ग—इस वर्गमें द्वादश अलंकार निरूपित हैं।
३. अतिशय वर्ग—इस वर्गमें बारह अलंकार आये हैं।
४. श्लेष वर्ग—इस वर्गमें एक श्लेषालंकार आया है।

इस प्रकार सत्तावन और एक संकर, सब मिलाकर अष्टावन अलंकारोंमें सात अलंकार ऐसे हैं जो दो-दो वर्गोंमें एक ही नामसे दिखलाये गये हैं जैसे सहोक्ति, समुच्चय और उत्तर। ये तीनों वास्तव और अतिशय दोनों वर्गोंमें सम्मिलित हैं। इसी प्रकार उत्प्रेक्षा एवं पूर्व, औपम्य और अतिशय दोनों वर्गोंमें हैं। श्लेषको भी अर्थालंकार और शब्दालंकार दोनोंमें पृथक्-पृथक् गिनाया गया है। इस प्रकार उक्त आठ अलंकारोंको कम कर देनेपर पचास अर्थालंकार और पाँच शब्दालंकार; कुल पचपन अलंकारोंका नामोल्लेख हुआ है। रुद्रटने अपने पूर्ववर्ती भामह और दण्डी आदिसे केवल छब्बीस अलंकार ही ग्रहण किये हैं। शेष उन्तीस अलंकार रुद्रट द्वारा निरूपित हैं। और उनमें बहुतेरे महत्त्वपूर्ण अलंकार रुद्रटके उत्तरकालीन आचार्योंने स्वीकार किये हैं। रुद्रटने भी अर्थालंकारोंमें वक्रोक्तको विशेष अलंकार स्वीकार किया है और इसकी परिभाषा सादृश्य लक्षणके आश्रित मानी है। इस प्रकार रुद्रटने कई नवीनताएँ प्रस्तुत की हैं।

अलंकारचिन्तामणिके साथ तुलना करनेपर ज्ञात होगा कि रुद्रटके काव्यालंकारमें शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीनोंको काव्यका हेतु स्वीकार किया है। काव्यालंकारमें लिखा है—

तस्यासारनिरासारसारग्रहणाच्च चारुणकरणे ।

त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिव्युत्पत्तिरभ्यासः ॥^१

अलंकारचिन्तामणिमें भी काव्यहेतु प्रायः इसी प्रकार वर्णित हैं। रुद्रटने काव्यउत्पत्तिके लिए प्रतिभापर उतना बल नहीं दिया है, जितना अलंकारचिन्तामणिमें दिया गया है। अलंकारचिन्तामणिके रचयिता अजितसेन, प्रजा और प्रतिभाको काव्यसृजनके लिए आवश्यक मानते हैं।

रुद्रटने काव्यपरिभाषामें भामहका अनुसरण किया है। उन्होंने 'ननु शब्दार्थौ

काव्यम्^१ अर्थात् दोषरहित और अलंकारसहित शब्दार्थको काव्य कहा है। रुद्रट काव्यमें रसकी स्थिति भी परमावश्यक मानते हैं। उन्होंने लिखा है—

तस्मात्तत्कर्तव्यं यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।^२

अलंकारचिन्तामणिकी काव्यपरिभाषामें भी अलंकार, रस, रीति, व्यंग्यार्थ, दोषशून्यत्व और गुणयुक्तताको काव्य कहा है। अतएव काव्य-परिभाषाकी दृष्टिसे अलंकारचिन्तामणिमें निरूपित काव्यकी परिभाषा काव्यालंकारकी अपेक्षा अधिक स्पष्ट और व्यापक है। अलंकारचिन्तामणिमें रीतिकी परिभाषा अंकित की गयी है और तीन प्रकारकी रीतियोंके स्वरूप एवं उदाहरण आये हैं। पर रुद्रटके काव्यालंकारमें रीतिकी परिभाषा अंकित नहीं है और रीतिके चार भेद बतलाये हैं—१. वैदर्भी, २. पांचाली, ३. लाटी और ४. गौड़ी। काव्यालंकारमें काव्यमें प्रयुक्त होनेवाली प्राकृत, संस्कृत, मागधी, पेशाची, शौरसेनी और अपभ्रंश इन छह भाषाओंका उल्लेख आया है, पर अलंकारचिन्तामणिमें संस्कृत, प्राकृत, पेशाची और अपभ्रंश इन चार भाषाओंका ही उल्लेख है। अलंकारचिन्तामणिमें चित्रालंकारके बयालीस भेद बतलाये हैं और इन समस्त भेदोंका स्वरूपनिर्धारण उदाहरणसहित आया है। जहाँ काव्यालंकारमें चक्रबन्ध, मुरजबन्ध, अर्धभ्रम, सर्वतोभद्र, मात्राच्युतक और प्रहेलिकाका निरूपण किया है, वहाँ अलंकारचिन्तामणिमें चित्रालंकारके अनेक भेद वर्णित हैं। चक्रबन्ध, पद्यबन्ध, काकपद-ध्वज, गोभूत्रिकाबन्ध, सर्वतोभद्र, शृंगलाबन्ध, नागपाशबन्ध, मुरजबन्ध, पादमुरज-बन्ध, इष्टपादमुरजबन्ध, अर्धभ्रम, दर्पणबन्ध, पट्टबन्ध, निःशालबन्ध, परशुबन्ध, भृंगार-बन्ध, छत्रबन्ध और हारबन्ध जैसे अनेक बन्धोंका कथन आया है। इसमें सन्देह नहीं कि काव्यालंकारकी अपेक्षा अलंकारचिन्तामणिका चित्रालंकार अनेक दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है।

जहाँ काव्यालंकारमें वक्रोक्ति, यमक, अनुप्रास और श्लेषका सामान्य वर्णन आता है, वहाँ अलंकारचिन्तामणिमें इन अलंकारोंका विशेष वर्णन उपलब्ध होता है। यमकालंकारके ग्यारह प्रमुख भेद निरूपित हैं। काव्यालंकारमें अनुप्रासकी सधुरा, ललित, प्रौढ़ा, परुषा और भद्रा ये पाँच वृत्तियाँ वर्णित हैं, पर अलंकारचिन्तामणिमें इन वृत्तियोंका उल्लेख नहीं आया है। अर्थालंकारोंका निरूपण समान होते हुए भी कतिपय भिन्नताएँ प्राप्त होती हैं। काव्यालंकारमें अट्टात्रय अलंकारोंके स्वरूप उदाहरणमें आये हैं। पर अलंकारचिन्तामणिमें बहत्तर अर्थालंकारोंके स्वरूप आये हैं।

काव्यालंकारमें दस रसोंका निरूपण किया गया है। अलंकारचिन्तामणिमें नौ रस ही वर्णित हैं। रुद्रटने प्रेयस नामक दसवाँ रस माना है। इसे अलंकारचिन्तामणि-में अलंकारमें परिगणित किया है। शृंगारका लक्षण और उसके सम्भोग एवं विप्रलम्भ नामक दो प्रकार नायकके गुण और उसके सहायकोंका वर्णन एवं नायक-नायिका भेद

१. काव्यालंकार, २।१, पृ. ८।

२. वही, १२।२, पृ. १५०।

दोनोंमें समान हैं। इसी प्रकार विप्रकम्भ शृंगार, स्रष्टिता आदि नायिकाओंके स्वरूप भी वर्णित किये गये हैं।

इसी प्रकार रुद्रटका व्याजश्लेष, अलंकारचिन्तामणिमें व्याजस्सुति, रुद्रटका जाति अलंकार, अलंकारचिन्तामणिमें स्वभावोक्ति एवं रुद्रटका पूर्व अलंकार, अलंकारचिन्तामणिमें अतिशयोक्तिके रूपमें आया है। दोषोंका वर्णन प्रायः सुलभ है। अलंकारचिन्तामणिमें दोषोंका वर्णन निस्तार है। काव्यालंकारमें केवल नौ अर्थदोष और चार उपमादोष वर्णित हैं।

संक्षेपमें काव्यालंकार और अलंकारचिन्तामणिमें निम्नलिखित विशेषताएँ उपलब्ध हैं—

१. काव्यालंकारमें रीतियोंको महत्त्व नहीं दिया है पर अलंकारचिन्तामणिमें रीतियोंका महत्त्व वर्णित है।

२. काव्यालंकारमें गुणोंका विवेचन नहीं आया है जब कि अलंकारचिन्तामणिमें चौबीस गुणोंका विवेचन किया गया है।

३. काव्यालंकारमें भाव नामक अलंकारका प्रतिपादन किया है जो अर्थार्थके सिद्धान्तके समीप है। अलंकारचिन्तामणिमें भाविक अलंकारका स्वरूप आया है। यह स्वरूप प्रायः भाव अलंकारके स्वरूपके तुल्य है। जहाँ अत्यन्त विचित्र चरित्र-वर्णनसे अतीत और अनागत वस्तुओंकी वर्तमानके समान प्रतीति हो वहाँ भाविक अलंकार होता है। भावनातिरेकके कारण वस्तुके अदृश्य रहनेपर भी उसकी प्रत्यक्षके समान प्रतीति होती है।

४. काव्यालंकारमें काव्यकी परिभाषा अपूर्ण और अविकसित है।

५. महाकाव्यके स्वरूप-निर्धारणमें काव्यालंकारसे अलंकारचिन्तामणि अधिक आये है।

६. दोष-विवेचन भी अलंकारचिन्तामणिका अधिक समृद्ध है।

७. शब्दालंकारोंका अलंकारचिन्तामणिमें अनूठा निरूपण आया है।

राजशेखर कृत काव्यमीमांसा और अलंकारचिन्तामणि

काव्य-मीमांसा अठारह अध्यायोंमें विभक्त है। काव्यके समस्त वर्णनीय विषयोंका अत्यन्त सारगर्भित आलोचनात्मक शैलीमें प्रतिपादन हुआ है। प्रथम अध्यायमें पूर्वाचार्योंकी परम्पराका निर्देश करनेके पश्चात् अठारह अध्यायोंके नाम दिये गये हैं। नामानुसार ही इन अध्यायोंमें विषयोंका वर्णन आया है। नाम निम्न प्रकार हैं—

१. शास्त्र संग्रह।
२. शास्त्र निर्देश।
३. काव्य-पुरुषकी उत्पत्ति।
४. पद-वाक्य विवेक।

५. पाठ-प्रतिष्ठा ।
६. अर्थानुशासन ।
७. वाक्य विवेक ।
८. कवि विशेष ।
९. कविचर्या ।
१०. राजचर्या ।
११. काकु प्रकार ।
१२. शब्दार्थहरणोपाय ।
१३. कवि समय
१४. देश-काल विभाग ।
१५. भुवन कोश ।

इन विषयोंका अठारह अध्यायोंमें निरूपण आया है । द्वितीय अध्यायमें वाङ्मय के दो प्रकार बतलाये हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय । पौरुषेय वाङ्मयमें चौदह विद्याएँ वर्णित हैं । इनके निर्देशानुसार साहित्य विद्या भी पन्द्रहवीं विद्या है । इसमें चौदह विद्याओंका सार तत्त्व निहित है । प्रसंगवश सूत्र, भाष्य, वार्तिक, टीका, विवृति, कारिका एवं पंजिका आदिकी सरल सुन्दर व्याख्याएँ प्रस्तुत की गयी हैं । तृतीय अध्यायमें काव्यपुरुषकी उत्पत्ति, उसका विकास, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति आदिका सरस बर्णन पौराणिक रूपसे करते हुए काव्यकी दर्शनशास्त्रके समान परम पुरुषार्थ मोक्षका साधन सिद्ध किया है । काव्य दो प्रकारके हैं—दृश्य और श्रव्य । दृश्य काव्योंकी प्रामाणिकता भरतके नाट्यशास्त्र द्वारा सिद्ध होती है । नाट्यके तीन प्रधान अंग हैं—वेश-विन्यास, विलास विन्यास और वचन विन्यास । इन तीनोंका नाम प्रवृत्ति, वृत्ति और रीति है । इनमें वेश विन्यास और नृत्यगीत, हाव-भाव आदि विलास विन्यास मुख्य रूपसे दृश्य काव्यके उपयोगी होते हैं । परन्तु रीति या रचना शैली दृश्य और श्रव्य दोनों काव्योंमें समान रूपसे उपलब्ध होती है । रीतिके देशोंकी काव्यरचना पद्धतिके आधार पर गौड़ी, पांचाली और वैदर्भी, ये तीन भेद बतलाये गये हैं ।

चतुर्थ अध्यायमें अधिकारी या काव्यविद्याके शिष्योंकी मीमांसा की गयी है । काव्यअधिकारियोंके तीन भेद बतलाये गये हैं । एक वे हैं जो पूर्वजन्मके संस्कारवश स्वभावतः बुद्धिमान् होते हैं । दूसरे वे हैं जो गुरूपदेश, शास्त्राम्भ्यास एवं परिश्रम द्वारा कविताशक्ति प्राप्त करते हैं । इन्हें आहार्यबुद्धि कहा जाता है । तीसरे वे दुर्बुद्धि शिष्य हैं, जिन्हें विरचिसम गुरुके प्राप्त होनेपर भी जानोपलब्धि नहीं होती । इन्हें मन्त्र, तन्त्र या देवाराधनसे कवित्वशक्ति उपलब्ध होती है ।

प्रतिभाके सम्बन्धमें राजशेखरने विचार करते हुए इसके दो भेद किये हैं । एक कारयित्री और दूसरी भावयित्री । जिसके द्वारा निर्माण या रचना की जाती है वह कारयित्री प्रतिभा है और काव्यके गुण-दोषोंका विवेचन करनेवाली भावयित्री प्रतिभा

हैं। राजशेखरने समालोचकोंके चार भेद बतलाये हैं—१. अरोचकी २. सतृणाम्यवहारी ३. मत्सरी और ४. तत्त्वाभिवेशी। अरोचकीको कोई भी रचना अच्छी नहीं लगती। जिनमें गुण-दोष विवेचनकी क्षमता नहीं होती वे सतृणाम्यवहारी कहे जाते हैं। मत्सरीके लिए तो उत्तमोत्तम रचना भी क्षुण्ण प्रतीत होती है। ऐसे समालोचक विरले ही होते हैं जो निष्पक्ष भावसे दूसरोंकी रचनाओंपर विचार प्रकट करते हैं। इस श्रेणीके आलोचक तत्त्वाभिवेशी कहे जाते हैं। पंचम अध्यायके आरम्भमें प्रतिभा और व्युत्पत्तिकी सूक्ष्म मीमांसा की गयी है। आगे चलकर तीन प्रकारके कवि बताये गये हैं। शास्त्रकवि, काव्यकवि और उभयकवि। शास्त्रकवि तीन प्रकारके होते हैं और काव्यकवि आठ प्रकार के। नामानुसार ही इनका स्वरूप स्पष्ट होता है।—

१. रचनाकवि।
२. शब्दकवि।
३. अर्थकवि।
४. अलंकारकवि।
५. उक्तिकवि।
६. रसकवि।
७. मार्गकवि।
८. शास्त्रार्थ कवि।

इस अध्यायका अन्तिम प्रकरण पाक प्रकरण है। पाकके सम्बन्धमें मीमांसा करते हुए इन्होंने अनेक आचार्योंके मतोंकी समीक्षा की है। राजशेखरने नौ प्रकारके काव्यपाक माने हैं। षष्ठ अध्यायमें पदों और वाक्योंकी व्याख्या, उनके लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। स्थूल रूपसे पदके पाँच और वाक्यके दस भेद बतलाये हैं। वाक्यके व्यापार अभिधाके तीन भेद हैं। इसी अध्यायमें काव्यका लक्षण भी दिया गया है तथा काव्यकी उपादेयता और अनुपादेयतापर भी विचार किया गया है। सप्तम अध्यायमें तीन प्रकारके वाक्य और काकुका विशिष्ट वर्णन किया है। अष्टम अध्यायमें काव्यार्थके स्रोतोंका वर्णन करते हुए मुख्य रूपसे श्रुति, स्मृति, इतिहास, दर्शन, अर्थ-शास्त्र, धनुर्वेद और कामशास्त्र आदि बारह स्रोत बतलाये गये हैं। नवम अध्यायमें अनेक विषयोंकी सूक्ष्म आलोचना करते हुए अर्थकी व्यापकता और उसके अन्तर सूक्ष्मतम विषयोंकी दार्शनिक एवं वैज्ञानिक मीमांसा की गयी है। काव्यरचनामें सरसता और नीरसता कविके शब्दों द्वारा होती है अर्थ द्वारा नहीं। कवि अपनी अलौकिक शक्ति द्वारा कठोर और नीरस विषयको भी कोमल एवं कमनीय बना देता है। इसके अनन्तर मुक्तक और प्रबन्ध भेदसे दो प्रकारके काव्यार्थ बताये हैं।

दशम अध्यायमें कविचर्या और राजचर्याका वर्णन आया है। कविताकी संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पेशाची भाषाएँ प्रधान मानी गयी हैं। कवियोंके रहन-सहन, आचरण-व्यवहार, लेखन-सामग्री आदिका विस्तृत निरूपण है। एकादश अध्यायमें

अपहरण सम्बन्धी सूक्ष्म मीमांसा की है। शब्दका अपहरण किस-किस स्थितिमें कैसा किया जाता है, किस प्रकारका शब्दहरण लभ्य और उचित है, कौन सा अलभ्य और अनुचित है, आदि बातोंपर विचार किया गया है। शब्दहरणके पाँच भेद हैं—
१. पदहरण २. पादहरण ३. अर्थहरण ४. वृत्तहरण और ५. प्रबन्धहरण। इसी अध्यायमें चार प्रकारके कवि बतलाये हैं—१. उत्पादक कवि २. परिवर्तक कवि ३. आच्छादक कवि और ४. संवर्गक कवि।

द्वादश अध्यायमें अर्थ-हरण सम्बन्धी मीमांसा है। इस अध्यायमें अर्थके तीन भेद बतलाये हैं—१. अन्ययोनि, २. निह्युतयोनि और ३. अयोनि।

अन्ययोनि अर्थके दो भेद हैं—प्रतिबिम्बकल्प और आलेख्यप्रख्य। निह्युतयोनि अर्थ भी दो प्रकारका है—तुल्यदेहि तुल्य और परपुरप्रवेशसदृश। इन चार प्रकारके अर्थोंका निबन्धन करनेवाले कवि भी चार प्रकारके होते हैं—१. भागक २. तुल्यक ३. कर्षक और ४. द्रावक। पाँचवाँ अयोनि या मौलिक अर्थरचना करनेवाला कवि चिन्तामणि है। चिन्तामणि कवि भी तीन प्रकारका होता है—लौकिक, अलौकिक और मिश्र। त्रयोदश अध्यायमें आलेख्य, प्रख्य, तुल्य, देहितुल्य और परपुरप्रवेश-सदृश अर्थपहरणोंका भेद-प्रभेद सहित निरूपण किया है। अर्थहरणके बत्तीस भेद बतलाये गये हैं। इनके त्याग और ग्रहणका भली-भाँति ज्ञान होना ही कवित्व है। चतुर्दश, पञ्चदश और षोडश अध्यायोंमें कविसमयका वर्णन आया है। कविसमय, कवियोंका परम्परागत साम्प्रदायिक नियम है। राजशेखरने प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानोंके नियमोंका निर्देश किया है। कविसमय तीन प्रकारके बतलाये गये हैं—(१) स्वर्गीय (२) भौम और (३) पातालीय। इनमें भौम या पार्थिव कविसमय चार प्रकारका है—(१) जातिरूप (२) गुणरूप (३) क्रियारूप और (४) द्रव्यरूप। इन चारोंमें प्रत्येकके तीन-तीन भेद हैं—(१) असत् (२) सत् और (३) नियम। इस प्रकार चतुर्दश और पंचदश अध्यायोंमें भौम कवि-समयकी विस्तृत विवेचना और षोडश अध्यायमें स्वर्गीय एवं पातालीय कविसमयोंका वर्णन किया है। सप्तदश और अष्टादश अध्यायोंमें क्रमशः देश और कालके परिज्ञानका कथन आया है।

काव्यमीमांसाका यह उपलब्ध अंश 'कवि रहस्य'के नामसे प्रसिद्ध है। 'काव्य-मीमांसा'की पूर्वोक्त विषय सामग्रीका अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'काव्यमीमांसा' और 'अलंकारचिन्तामणि' इन दोनों ग्रन्थोंकी विषय-वस्तु भिन्न है। काव्यमीमांसामें रस, गुण, दोष और अलंकारोंके प्रतिपादनको प्रमुखता नहीं दी गयी है, जब कि 'अलंकारचिन्तामणि'में उक्त विषयोंकी मीमांसाकी मुख्यता दी गयी है। काव्यमीमांसामें शास्त्रसंग्रह, शास्त्रनिर्देश आदि आधारभूत तथा गम्भीर विषयोंका प्रधान रूपसे वर्णन किया गया है। प्रसंगवश रस, अलंकार आदिका विश्लेषण होता गया है, पर प्रमुखता इन विषयोंकी नहीं है।

काव्यमीमांसामें प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों संयुक्त रूपसे काव्यरचनामें

उपकारिणी मानो गयी हैं । लिखा है—

“प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ” इति यायावरीयः^१ ।

अलंकारचिन्तामणिमें भी प्रतिभा और व्युत्पत्तिको काव्यनिर्माणका हेतु बताया है । यद्यपि इस ग्रन्थमें अन्यास और वर्णनक्षमताको भी स्थान दिया है, पर इन दोनोंको शक्तिके अन्तर्गत माना जा सकता है । शक्ति पतृरूप है और प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति कर्मरूप । शक्तिशालीमें ही प्रतिभा उत्पन्न होती है तथा शक्तिसम्पन्न ही व्युत्पन्न होता है । प्रतिभा शब्दोंके समूहको, अर्थोंके समुदायको, अलंकारों एवं सुन्दर उक्तियोंको तथा अन्यान्य काव्य सामग्रीको हृदयके भीतर प्रतिभासित करती है । जो प्रतिभाहीन है, वह अप्रत्यक्ष पदार्थकी कल्पना नहीं कर सकता । प्रतिभासम्पन्न कवि ही अतीव और अनागतको प्रत्यक्षवत् अभिव्यक्त करता है । अतः अलंकारचिन्तामणिमें वर्णनक्षमता द्वारा शक्तिकी उद्भावना की गयी है । अजितसेनने लिखा है—

प्रतिभोज्जीवन्तो नामावर्णनानिपुणः कृती ।

नानाम्यासकुवाश्रीयमतिव्युत्पत्तिमान् कविः^२ ॥

यह विषय काव्यमीमांसाके तुल्य है । अलंकारचिन्तामणिमें ‘अन्यास’को भी उल्लेख्यक माना है, पर काव्यमीमांसामें अन्यासको उतना महत्त्व नहीं दिया है । दोनों ग्रन्थोंमें निम्नलिखित समताएँ विद्यमान हैं—

१. काव्यपाक्षोंका निरूपण ।
२. रीतियोंका वर्णन ।
३. अलंकार और गुणोंकी काव्यमें स्थिति ।
४. कविसमय ।

विषयमताएँ

१. काव्यमीमांसामें शारङ्गचिन्तनकी प्रधानता है, पर अलंकारचिन्तामणिमें अलंकार, रस, गुण, दोष, वृत्ति आदिके वर्णन की ।

२. काव्यमीमांसामें आलोचकों, कवियों एवं शब्द-अर्थाहरणका विषय आया है, अलंकारचिन्तामणिमें इसका सर्वथा अभाव है ।

३. कविचर्या और राजचर्याका काव्यमीमांसामें समावेश है, पर अलंकारचिन्तामणिमें इसका अभाव है ।

४. काव्यमीमांसामें कविसमयोंका विस्तारपूर्वक वर्णन आया है, पर अलंकारचिन्तामणिमें केवल निर्देशमात्र ही मिलता है ।

५. काव्य परिभाषा के अन्तर्गत काव्यमीमांसामें अलंकार और गुणयुक्त वाक्य-रचनाको स्थान दिया है, पर अलंकारचिन्तामणिमें रसका भी समावेश किया गया है ।

१. काव्यमीमांसा—विहारी राट्टभाषा परिषद् संस्करण, पंचम अध्याय, पृ. ३६ ।

२. अलंकारचिन्तामणि—१५ ।

भोजका सरस्वतीकण्ठाभरण एवं अलंकारचिन्तामणि

भोज के सरस्वतीकण्ठाभरणमें ध्वनि और दृश्य काव्यके विषयको छोड़कर काव्यके रस, अलंकारादि सभी विषयोंका विस्तृत निरूपण आया है। ग्रन्थ पाँच परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेद दोष-गुण विवेचन नामक है। इसमें पदके सोलह, वाक्यके सोलह, वाक्यार्थके सोलह दोष निरूपित हैं। पुनः शब्दके चौबीस तथा अर्थके चौबीस गुण भी प्रतिपादित हुए हैं। द्वितीय परिच्छेदमें चौबीस शब्दालंकारोंका स्वरूप विवेचन आया है। तृतीय परिच्छेदमें चौबीस अर्थालंकार और चतुर्थ परिच्छेदमें चौबीस उभयालंकारोंका स्वरूप प्रतिपादित है। पंचम परिच्छेदमें रस, भाव और नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरणमें शब्दालंकारोंका प्रकरण बहुत विस्तृत है। इसमें छाया, मुद्रा, उक्ति, यृक्ति, गुम्फना, वाकोवाच्य आदि चौबीस शब्दालंकार प्रतिपादित हैं। अलंकारोंका वर्गीकरण भी इस ग्रन्थका मौलिक है। अर्थालंकारोंके अन्तर्गत जैमिनिके षट्प्रभाषणोंका निवेदन अलंकारोंके अन्तर्गत इस ग्रन्थमें आया है। वेदर्थों आदि रीतियोंको शब्दालंकारोंके अन्तर्गत रखा गया है। इस प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरणका वर्ध-विषय अलंकारचिन्तामणिके समान ही निबद्ध हुआ है।

तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेपर अकगत होता है कि सरस्वतीकण्ठाभरणमें सोलह पद-दोष वर्णित हैं, पर अलंकारचिन्तामणिमें सत्रह पद-दोषोंका स्वरूप विश्लेषण आया है। इन दोषोंमें दोनों ग्रन्थोंमें नेयार्थ, अपुष्टार्थ, निरर्थ, अन्वयार्थ, गूढपदपूर्वार्थ, विरुद्धाशय, ग्राम्य, श्लिष्ट, संशय और अप्रतीति तो समान रूपमें वर्णित हैं। अलंकारचिन्तामणिमें अयुक्त, अदलील, च्युतसंस्कार, परुष, द्विमृष्टकरणीघांश और अयोजक नये रूपमें विवेचित हैं। पददोषोंकी तुलना करनेसे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दोनों ग्रन्थोंका लक्ष्य प्रायः तुल्य है। अलंकारचिन्तामणिमें दोषकी परिभाषा अंकित की गयी है पर सरस्वतीकण्ठाभरणमें दोषकी परिभाषा नहीं आयी है।

सरस्वतीकण्ठाभरणमें सोलह वाक्यदोष प्रतिपादित हैं। पर अलंकारचिन्तामणिमें चौबीस वाक्यदोषोंका कथन आया है। इन दोषोंमें शब्दच्युत, क्रमच्युत, सन्धिच्युत, पुनरुक्ति, व्याकीर्ण, वाक्याकीर्ण, भिन्नलिङ्ग, भिन्नवचन, न्यूनपद, अधिकपद, छन्दश्च्युत, यतिच्युत दोष तो समान हैं। इनके लक्षण भी प्रायः तुल्य हैं। पर शेष वाक्यदोष अलंकारचिन्तामणिमें विशिष्ट हैं। अजितसेनने रीतिच्युत, कमच्युत, सम्बन्धच्युत, अर्धच्युत, विसर्गलुप्त, अस्थिति-समास, सुत्राक्यगमित, पतत्रोत्कृष्टता, उपमाधिक, समास और अपूर्ण दोषोंके लक्षण अधिक लिखे हैं। संख्या अधिक होनेके साथ दोषोंका वैज्ञानिक कथन भी आया है।

सरस्वतीकण्ठाभरणमें सोलह वाक्यार्थ दोष आये हैं, पर अलंकारचिन्तामणिमें अठारह अर्थदोषोंका स्वरूप प्रतिपादित है। इनमें एकार्थ, अपार्थ, परुष, अलंकारहीनता,

अहिमात्र, विरस, विसदृश, अदलील, विरुद्ध और संशयाख्य ये दोष दोनों ग्रन्थोंमें समानरूपसे वर्णित हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणमें विरुद्ध दोषके प्रत्यक्षविरुद्ध, आगमविरुद्ध, अनुमानविरुद्ध, देश-काल-लोकविरुद्ध, युक्तिविरुद्ध, धर्मशास्त्रविरुद्ध, अर्थशास्त्रविरुद्ध आदि कई भेद किये हैं। अलंकारचिन्तामणिमें इस प्रकारके दोषभेदोंका अभाव है।

इस प्रकार दोष वर्णनकी दृष्टिसे सरस्वतीकण्ठाभरण और अलंकारचिन्तामणिमें पर्याप्त साम्य है। दोनों अलंकारग्रन्थोंकी कथन-शैली भी तुल्य है।

सरस्वतीकण्ठाभरणमें शब्दगुण और अर्थगुणोंका पृथक्-पृथक् उल्लेख आया है और इन दोनों ही प्रकारके गुणोंके चौबीस-चौबीस भेद किये हैं। अलंकारचिन्तामणिमें शब्दगुण और अर्थगुणका भेद न कर सामान्यतया गुणके चौबीस भेद बतलाये हैं। गुणोंके नाम, परिभाषा एवं प्रतिपादन शैली तुल्य है। अन्तर इतना ही है कि सरस्वतीकण्ठाभरणमें शब्दगुण और अर्थगुणों की परिभाषाएँ शब्द और अर्थको दृष्टिमें रखकर निबद्ध की गयी हैं, पर अलंकारचिन्तामणिमें सामान्य दृष्टिसे ही निरूपण किया है।

सरस्वतीकण्ठाभरणका यह प्रकरण अलंकारचिन्तामणिसे अधिक समृद्ध है। विस्तारके साथ सूक्ष्म भीमांसा भी उपलब्ध है। दोष किस सन्दर्भमें किस प्रकार गुणत्वको प्राप्त करते हैं, यह भी इस ग्रन्थमें प्रतिपादित है। भोजने प्रत्येक दोषके गुणत्वपर चिन्तन किया है, ऐसा चिन्तन अलंकारचिन्तामणिमें नहीं पाया जाता है।

सरस्वतीकण्ठाभरणके द्वितीय परिच्छेदमें शब्द, अर्थ और शब्द-अर्थके आश्रयसे अलंकारोंके स्वरूपका निर्धारण किया गया है। शब्दालंकारके चौबीस भेदोंमें जाति, गति, रीति, वृत्ति, छया, रुद्धा, उचित, युक्ति, भणिति, गुम्फना, दृश्या, पठिति, यमक, श्लेष, अनुप्रास, वृत्ति, चित्र, गूढ, प्रश्नोत्तर, काव्यादिभ्युत्पत्ति, श्रव्यकाव्य, दृश्यकाव्य, चित्राभिनयकी गणना की है। अलंकारचिन्तामणिमें इतने उपभेद नहीं किये गये हैं, पर मूल चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमकके विवेचन प्रसंगमें सरस्वतीकण्ठाभरणके सभी भेद सम्मिलित हो गये हैं। इस अलंकार ग्रन्थमें चित्रालंकारके अनेक भेदोंमें ४२ भेदोंको प्रमुखता दी गयी है और इन सभीका सोदाहरण निरूपण किया गया है।

शब्दालंकारका प्रकरण अलंकारचिन्तामणिका सरस्वतीकण्ठाभरणसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें अलंकारोंके उपभेदोंकी संख्या इतनी अधिक वर्णित है जिससे सरस्वतीकण्ठाभरणके चौबीस भेद उनके अन्तर्भूत हो जाते हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणमें वृत्ति, रीति, दृश्यकाव्य, अभिनय आदिको भी शब्दालंकारके अन्तर्गत रखा है, पर यह उचित प्रतीत नहीं होता। वृत्ति और रीतियोंका अपना पृथक् अस्तित्व है, उसी प्रकार अभिनय, दृश्य काव्य, श्रव्य काव्य आदिको भी शब्दालंकारोंके अन्तर्गत रखना उचित नहीं है। अलंकारचिन्तामणिमें रीतिके तीन भेद हैं और सरस्वतीकण्ठाभरणमें रीतिके छह भेद वर्णित हैं—वैद्यर्भी, पांचाली, गौडी, ब्रह्मिणिका, लाटीया, और मागधी। वृत्तिके भी छह भेद आये हैं—कैशिकी, आरभटी, भारती, सात्वती, मध्यमा कैशिकी और मध्यमा आरभटी। इस प्रकार सरस्वतीकण्ठाभरणमें अलंकारचिन्तामणिकी अपेक्षा अर्धा-

तहाँ भिन्नता पायी जाती है। सरस्वतीकण्ठाभरणके तृतीय परिच्छेदमें चौबीस अर्थालंकारोंका निरूपण किया गया है। और चतुर्थ परिच्छेदमें चौबीस उभयालंकार वर्णित हैं। इस प्रकार अर्थालंकारके अड़तालीस भेदोंका निरूपण किया गया है। दोनों ग्रन्थोंमें अलंकारोंकी नामावली समान है तथा परिभाषाएँ भी प्रायः समान रूपमें निबद्ध हैं। अलंकारचिन्तामणिमें अलंकारोंकी संख्या बहत्तर है, अतः सरस्वतीकण्ठाभरणके उपभेदोंको मिला देनेपर कोई विशेष अन्तर दिखलाई नहीं पड़ता है।

सरस्वतीकण्ठाभरणके पंचम परिच्छेदमें रस, भाव और विभावादिका विवेचन आया है। इस विवेचनमें दोनों ग्रन्थोंकी समान पद्धति है। तथा रस-भावोंका निरूपण भी मुख्य रूपमें हुआ है। अलंकारचिन्तामणिमें रसकी परिभाषा जैन दर्शनकी दृष्टिसे अंकित की गयी है। सरस्वतीकण्ठाभरणमें रसकी स्पष्ट रूपमें कहीं परिभाषा नहीं आयी है। भोजने शृंगार रसको सबसे प्रमुख रस माना है और इसीके सद्भावसे काव्यको सरस बतलाया है—

शृङ्गारी चेतकविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।

स एव नेश्शृङ्गारी नीरसं सर्वश्रेष्ठ तन् ॥

शृंगारका विस्तारपूर्वक वर्णन सरस्वतीकण्ठाभरणमें आया है। अलंकारचिन्तामणिमें शृंगार रसका वर्णन तीन-चार पद्योंमें किया गया है तथा इसी सन्दर्भमें नायिकाओंके स्वकीया, परकीया, अनूढा, और वारांगना, ये चार भेद किये गये हैं। अन्य रसोंका निरूपण प्रायः समान रूपमें हुआ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अजितसेनने अलंकारचिन्तामणिके प्रणयनमें सरस्वतीकण्ठाभरणसे सहायता अवश्य ग्रहण की है। विषयवस्तुकी दृष्टिसे दोनों ग्रन्थ मुख्य हैं।

मम्मट का काव्यप्रकाश और अलंकारचिन्तामणि

आचार्य मम्मटके काव्यप्रकाशकी व्यापक प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस ग्रन्थके प्रकाशके समक्ष पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के ग्रन्थ निष्प्रभ हो गये हैं। काव्यप्रकाशमें १४२ कारिकाएँ दस उल्लासों में विभक्त हैं। प्रथम उल्लासमें काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्यका सामान्य लक्षण और उसके तीन भेद, सौदाहरण वर्णित हैं। द्वितीय उल्लासमें शब्दके वाचक, लक्ष्य और व्यंग्य इन तीनों अर्थोंका तथा चौथे तात्पर्यार्थका स्पष्टीकरण किया गया है। इसके पश्चात् लक्षणा और व्यंजनाका विस्तारपूर्वक निरूपण है। तृतीयमें पूर्वोक्त, वाच्य आदि तीनों अर्थोंकी व्यंजकताका निदर्शन है। चतुर्थमें ध्वनिके भेद, रस, स्थायीभाव, विभाव एवं व्यभिचारी भावोंकी स्पष्टता और ध्वनिभेदोंका निरूपण आया है। पंचममें काव्यके द्वितीय भेद गुणोभूत व्यंग्यका विषय और व्यंजनाका प्रतिपादन हुआ है। इस उल्लासमें महिमभट्टके ध्वनि विषयक मतकी मोमांसा भी की गयी है। षष्ठ उल्लासमें शब्दके भेद और अलंकारोंका विभाजन है। सप्तम दोष प्रकरण है।

अष्टममें गुण और अलंकारोंके स्वल्प एवं गुण और रीतिके विवेचनमें अन्य आचार्योंके मतोंकी समालोचना है। नवममें शब्दालंकारके वक्रोक्ति आदि आठ विशेष भेद निरूपित हैं। दशममें उपमा आदि षासठ अलंकारोंके विशेष भेद निरूपित हैं। सम्भवतः मम्मटने अतद्गुण, मालादीपक, विनोक्ति, सामान्य और सम इन पाँच अलंकारोंकी नवीन उद्भावना की है।

मम्मटकी विशेषता इस बातमें है कि उन्होंने रस, अलंकार, गुण और रीतिका काव्यमें क्या स्थान है और उन की क्या उपयोगिता है। इस पर विचार किया है। उन्होंने ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और अलंकारोंको उत्तम, मध्यम और अधम काव्यकी संज्ञासे निदिष्ट किया है। उन्होंने ध्वनिकारों द्वारा व्यंग्यार्थ और व्यंजनाके आधार पर प्रतिपादित ध्वनिसिद्धान्तका पुनर्मुल्यांकन उपस्थित किया।

अलंकारचिन्तामणिकी काव्यप्रकाशके साथ तुलना करनेपर अवगत होता है कि काव्यप्रकाशमें निरूपित काव्यहेतु और काव्यस्वरूप अलंकारचिन्तामणिके तुल्य है। काव्यप्रकाशमें—“तद्दोषी शब्दार्थो सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि” अर्थात् शब्दों और अर्थोंमें दोषाभाव, गुणोंका सद्भाव अवश्य हो, चाहे अलंकार कहीं-कहीं पर न भी हों। इस परिभाषामें रसका अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है। अलंकारचिन्तामणिमें काव्यपरिभाषा उपर्युक्त काव्य परिभाषासे अधिक स्पष्ट आयी है। इसमें काव्यके सभी अंगोंका समावेश किया गया है। यह सत्य है कि काव्यप्रकाशमें प्रतिपादित काव्यहेतु अलंकारचिन्तामणिकी तुलनामें अधिक सुस्पष्ट और तर्कसंगत है।

काव्यप्रकाशमें लक्षणा और व्यंजनाका विस्तारपूर्वक विवेचन आया है, किन्तु अलंकारचिन्तामणिमें संक्षेपमें ही कथन किया है। सात्पर्यार्थिकी मान्यता भी काव्यप्रकाशकी अलंकारचिन्तामणिमें उपलब्ध नहीं होती। सांकेतिक अर्थ एवं लक्ष्यार्थकी तर्कपूर्वक सिद्धिका भी अलंकारचिन्तामणिमें अभाव है।

ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यका विवेचन अलंकारचिन्तामणि में नहीं पाया जाता है, काव्यप्रकाशमें इसका विस्तार है। गुण और अलंकारके भेदका प्रतिपादन दोनों ग्रन्थोंमें आया है। गुणोंका जिसना विस्तृत निरूपण अलंकारचिन्तामणिमें उपलब्ध है, उतना काव्यप्रकाशमें नहीं।

काव्यप्रकाशके सप्तम उल्लासमें वर्णित दोष अलंकारचिन्तामणिके तुल्य है, पददोष, वाक्यदोष और अर्थदोषोंकी भीमांसा भी प्रायः तुल्य है।

शब्दालंकारोंका जितना विस्तृत और स्पष्ट चित्रण अलंकारचिन्तामणिमें पाया जाता है, उतना काव्यप्रकाशमें नहीं। काव्यप्रकाशमें वक्रोक्ति, अनुप्रास, यमक, चित्र और पुनरुक्तवदाभासकी गणना शब्दालंकारके अन्तर्गत की गयी है। अलंकारचिन्तामणिमें शब्दालंकारके चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक ये चार भेद बतलाये गये हैं।

चित्रालंकारके व्यस्त, समस्त, द्विव्यस्त, द्विसमस्त, व्यस्त-समस्त, द्विःव्यस्त-समस्त; द्विसमस्तक-सुव्यस्तक, एकालाप, प्रभिन्नक, भेद्यभेदक, प्रस्तोत्तर, भग्नोत्तर आदि बयालीस भेद बताये हैं और इन सभीकी परिभाषाएँ अंकित की हैं। चित्रालंकारके अन्तर्गत ही चक्रबन्ध, पद्मबन्ध, सर्वाशोभन, श्रृंगलाबन्ध, नागपाश, मुरजबन्ध, अनन्तरपादमुरजबन्ध, दृष्टपादमुरजबन्ध, गोमूत्रिकाबन्ध, अर्धभ्रम आदि बन्धोंका स्वरूप विवेचन आया है। प्रहेलिका, अर्थप्रहेलिका, शब्दप्रहेलिका, स्पष्टान्यक प्रहेलिका, अन्तरालापक, बहिरालापक तथा विविध प्रकारके प्रस्तोत्तरोंका समावेश भी चित्रालंकारमें किया है। काव्यप्रकाशमें इस प्रकारके विवेचनका अभाव है।

अलंकारचिन्तामणिके तृतीय परिच्छेदमें दक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक इन तीनों अलंकारोंकी भेद-प्रभेद सहित भीमांसा की गयी है। यह भीमांसा बहुत कुछ अंशोंमें काव्यप्रकाशके तुल्य है।

अलंकारचिन्तामणिके प्रथम परिच्छेदमें कविशिक्षाका जैसा विस्तृत वर्णन आया है वैसा काव्यप्रकाशमें नहीं है। महाकाव्यके वर्ण्य-विषयोंका ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है।

काव्यप्रकाशके दशम उल्लासमें अर्थालंकारोंका निरूपण आया है। सम्मटने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंकी अपेक्षा अर्थालंकारोंकी संख्याकी वृद्धि की है और इकसठ अर्थालंकारोंके स्वरूप निरूपित हैं। अलंकारचिन्तामणिमें बृहत्तर अर्थालंकारोंके स्वरूप और उदाहरण आये हैं। इस ग्रन्थमें अलंकारोंके वर्गीकरणका आधार भी प्रतिपादित किया गया है जब कि काव्यप्रकाशमें आधारका उल्लेख नहीं है। रस-प्रकरण दोनों ग्रन्थोंका प्रायः समान है। स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंका निरूपण भी समान रूपमें प्राप्त है। अलंकारचिन्तामणिमें रसाभास, भावाभास, भाव-शान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलताका जहाँ अभाव है वहाँ काव्यप्रकाशमें इनका विवेचन उपलब्ध होता है।

वाग्भटालंकार और अलंकारचिन्तामणि

वाग्भट प्रथमने वाग्भटालंकारकी रचना की है। इस ग्रन्थमें पाँच परिच्छेद हैं। प्रथम तीन परिच्छेदोंमें काव्यलक्षण, काव्यहेतु, कविशिक्षा, कविसमय, काव्योपयोगी संस्कृतादि चार भाषाएँ, काव्यका गद्य-पद्यमय विभाग, पद-काव्य-श्लेष-गुणोंके वर्णन करनेके पश्चात् चतुर्थ परिच्छेदमें अलंकारोंका विवेचन किया गया है। पंचम परिच्छेदमें नवरस, नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं।

वाग्भटालंकारकी अलंकारचिन्तामणिके साथ तुलना करनेपर ज्ञात होता है कि वाग्भटालंकारकी काव्यपरिभाषा अलंकारचिन्तामणिकी काव्यपरिभाषाके समकक्ष है। वाग्भटने लिखा है—

साधुशब्दार्थसन्दर्भं गुणालंकारभूषितम् ।

स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये ॥^१

अर्थात् यज्ञ प्राप्तिके लिए कविको ऐसे काव्यकी रचना करनी चाहिए, जो साधु शब्द और अर्थसे परिपूर्ण हो। इतना ही नहीं उस काव्यमें प्रसादादिगुण, उपमादि अलंकार, वैदर्भी आदि रीतियाँ, और शृंगार आदि नव रसोंको भी स्पष्ट रूपसे विद्यमान रहना चाहिए।

इस परिभाषाकी तुलना अलंकारचिन्तामणिके साथ करनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि अलंकारचिन्तामणिमें शब्दान्तरके साथ यही प्रतिपादित है।

काव्य उत्पत्तिके हेतु भी दोनों ग्रन्थोंमें प्रायः तुल्य हैं। वाग्भटालंकारमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अम्यासको काव्योत्पत्तिका हेतु माना है। लिखा है—

प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु त्रिभूषणम् ।

भृशोत्पत्तिकृदम्यास इत्याद्यकविसंक्षया ॥^२

समस्यापूर्तिको दोनों ही ग्रन्थोंमें काव्य माना गया है तथा इसकी परिभाषाएँ और समस्यापूर्ति करनेके विधिनिषेधात्मक नियम भी वर्णित हैं। कविशिक्षाका कथन वाग्भटालंकारमें भी आया है, पर यह अत्यन्त संक्षिप्त है। अलंकारचिन्तामणिमें कविशिक्षाका विस्तार पूर्वक निरूपण आया है। काव्य-भाषाओंकी व्यवस्था, दोनों ही ग्रन्थोंमें तुल्य है। दोष-प्रकरण, अलंकारचिन्तामणिका वाग्भटालंकारको अपेक्षा विशेष विस्तृत है। वाग्भटालंकारमें आठ प्रकारके पद-दोष, नौ प्रकारके वाक्यदोष, आये हैं। अलंकारचिन्तामणिमें पद-दोष, वाक्यदोष और अर्थदोषोंका विस्तारपूर्वक विवेचन आया है।

वाग्भटालंकारमें भागह और दण्डीके सभान उदारता, समता, कान्ति, अर्थ-व्यक्ति, प्रसन्नता, समाधि, श्लेष, ओज, माधुर्य और सुकुमारता ये दस गुण वर्णित हैं। पर अलंकारचिन्तामणिमें चौबीस गुणोंका निरूपण किया गया है। अतः वाग्भटालंकारकी अपेक्षा अलंकारचिन्तामणिका गुण-दोष प्रकरण पर्याप्त समृद्ध है। वाग्भटालंकारमें त्रिष, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक, इन चार शब्दालंकारोंका कथन आया है जो अलंकारचिन्तामणिके शतांशके तुल्य भी नहीं हैं। अलंकारचिन्तामणिमें शब्दालंकारोंका बहुत ही स्पष्ट और विस्तृत निरूपण आया है। वाग्भटालंकारमें पैंतीस अर्थालंकारोंके स्वरूप आये हैं। वाग्भटालंकारका रस-प्रकरण भी अलंकारचिन्तामणिको अपेक्षा बहुत संक्षिप्त है। दोनों ही ग्रन्थोंमें शृंगार रसके सन्दर्भमें नायक-नायिकाओंके भेद भी आये हैं। इस प्रकार वाग्भटालंकार और अलंकारचिन्तामणि इन दोनों ग्रन्थोंकी विषय-वस्तु प्रायः तुल्य है। जहाँ अलंकारचिन्तामणिमें तीन रीतियाँ वर्णित हैं वहाँ वाग्भटालंकारमें गौडी और वैदर्भी ये दो रीतियाँ ही निरूपित हैं। ध्वनि और नाटकके

१. वाग्भटालंकार, चौदहमा संस्करण, १८२५, १२।

२. वही, १३।

सम्बन्धमें इन दोनों ही ग्रन्थोंमें विचार नहीं किया गया है। इतना ही नहीं अलंकार-चिन्तामणिमें वाग्भटालंकारके कई पद्य भी सिद्धान्त कथनके लिए उद्धृत किये हैं। अलंकारचिन्तामणिके प्रणयनमें वाग्भटालंकारसे सहायता अवश्य ली गयी है।

हेमचन्द्राचार्यका काव्यानुशासन और अलंकारचिन्तामणि

आचार्य हेमचन्द्रने सूत्रशैलीमें काव्यानुशासन नामक ग्रन्थकी रचना की है। इसपर अलंकारचूडामणि नामक वृत्ति और विवेक नामक टीकाएँ भी उन्हीके द्वारा लिखी गयी हैं। काव्यानुशासन में आठ अध्याय-हैं जिनमें शब्द, अर्थके लक्षण, लक्ष्यादि भेद, रस-भेद, तीन गुण, उद्देश्य-शब्दार्थका, अतीस अर्थलंकार एवं नायिकादि भेद निरूपित किये गये हैं।

प्रथम अध्यायमें काव्यकी परिभाषा, काव्यके हेतु, काव्य-प्रयोजन आदिपर समुचित प्रकाश डाला गया है। प्रतिभाके सहायक व्युत्पत्ति और अभ्यास, शब्द तथा अर्थका रहस्य, मुख्यार्थ, गौणार्थ, लक्ष्यार्थ तथा व्यंग्यार्थकी तात्त्विक विवेचना की गयी है। प्रतिभा और प्रज्ञाको आचार्य हेमने तुल्यार्थक माना है। नयी-नयी कल्पना करने-वाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। काव्यकी परिभाषा निबद्ध करते हुए लिखा है—

अदोषो समुणो सालंकारो च शब्दार्थो काव्यम् ।

अर्थात् दोषरहित गुणसहित सालंकार कृतिको काव्य कहते हैं। हेमकी यह परिभाषा मम्मटके काव्यप्रकाशका अनुसरण करती है।

द्वितीय अध्यायमें रस, स्थायीभाव, व्यभिचारीभाव तथा सात्त्विकभावोंका वर्णन आया है। इसमें काव्यकी श्रेणियाँ, उत्तम, मध्यम तथा अधम बतलायी गयी हैं। इसी अध्यायमें रस, भाव, रसाभास, भावाभास भी वर्णित हैं। रसके सम्बन्धमें आचार्य हेमने गहरा विचार किया है। इन्होंने काव्यके गुण-दोष, अलंकार आदिका अस्तित्व रसकी कसौटीपर ही बतलाया है। रसके जो अपकर्षक हैं वे दोष हैं, जो उत्कर्षक हैं वे गुण हैं और जो रसाश्रित हैं वे अलंकार हैं। अलंकार यदि रसोपकारक हैं तभी उनकी काव्यमें गणना हो सकती है। रस-बाधक अथवा उदासीन होनेपर उनकी गणना दोषोंके अन्तर्गत आती है। हेमका रस-विवरण बहुत ही सोपपत्तिक है।

तृतीय अध्यायमें शब्द, काव्य, अर्थ तथा रसके दोषों पर प्रकाश डाला गया है। आरम्भमें काव्य-दोषोंका वर्णन किया है। चतुर्थ अध्याय काव्यगुणोंसे सम्बन्धित है। योज, साधुर्म, एवं प्रसाद इन तीनों गुणोंका उदाहरणसहित स्वरूप बतलाया है। इनके अनुसार काव्यके तीन ही गुण होते हैं, पाँच अथवा दस नहीं। चतुर्थ अध्यायमें अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेष, वक्रोक्ति और पुनरुक्तवदाभास, इन छह शब्दालंकारोंका वर्णन आया है। यमकके भेद-प्रभेद भी निरूपित हुए हैं। श्लेषालंकारका स्वरूप तो बतलाया ही गया है साथ ही उसके उपभेद भी निरूपित हैं।

षष्ठ अध्यायमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति, व्याजस्तुति, इलेष, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, सन्देह, अपह्नुति, परिवृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्रान्ति, विषम, सभ, समुच्चय, परिसंख्या, कारणमात्रा और संकर, इन उनतीस अर्थालंकारोंका वर्णन आया है। रस और भावसे सम्बन्धित रसवत्, प्रेयस्, उजस्वि, समाहित अलंकारोंको छोड़ दिया गया है। इन्होंने स्वभावोक्तिके लिए जाति तथा अपस्तुत प्रशंसाके लिए अन्योक्ति शब्द प्रयुक्त किये हैं।

सप्तम अध्यायमें नायक एवं नायिका-भेद-प्रभेदोंपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। नायकके गुण और प्रतिनायककी परिभाषा दी गयी है। नायिकाओंके स्वाधीनपतिका, प्रोषितभर्तृका, खण्डिता, कलहान्तरिता, वासकसज्जा, विरहोत्कण्ठिता, विप्रलब्धा एवं अभिसारिका नायिकाओंका भी वर्णन आया है।

अष्टम अध्यायमें काव्यको प्रेक्ष्य तथा श्रव्य दो भागोंमें विभाजित किया है। गद्य-पद्यके आधारपर काव्य-विभाजन नहीं किया है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंशके साथ ग्राम्य-भाषाको भी काव्यभाषा कहा है। प्रेक्ष्यके पाठ्य और श्रव्य दो वर्ग किये गये हैं। श्रव्यके महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू और अनिबद्ध ये पाँच-भेद किये हैं। कथाके आख्यान, निदर्शन, प्रचलिका, मन्थलिका, मणिकुल्या, परिकथा, खण्डकथा, सकलकथा, उपकथा तथा बृहत्कथा ये दस भेद बताये हैं।

पाठ्यके बारह भेद बताये हैं—१. नाटक, २. प्रकरण, ३. नाटिका, ४. समवकार, ५. ईहाभुग, ६. डिम, ७. व्यायोग, ८. उत्सृष्टिकांक, ९. प्रहसन, १०. भाण, ११. वीथी और १२. सटुक। श्रव्यके १. शीम्बिका, २. भाण, ३. प्रस्थान, ४. शिगक, ५. भाणिक, ६. प्रेरण, ७. रामक्रीडि, ८. हल्लीसक, ९. रासक, १०. श्रीगदित और ११. रागकाव्य, ये ग्यारह भेद बताये हैं। इनका वर्णन अलंकार-चूडामणि वृत्तिमें किया गया है। महाकाव्यकी परिभाषा भी इसी अध्यायमें अंकित की गयी है।

काव्यानुशासन और अलंकारचिन्तामणिके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि काव्यानुशासन प्रायः संग्रह ग्रन्थ है और अलंकारचिन्तामणि मौलिक। काव्यानुशासनपर मम्मटके काव्यप्रकाशका पूरा प्रभाव है। काव्यके कारणोंका विवेचन करते हुए आचार्य हेमने केवल प्रतिभाको ही काव्यका हेतु कहा है। व्युत्पत्ति और अभ्यासको छोड़ दिया गया है। शक्ति अथवा प्रतिभाको दोनों ग्रन्थोंमें हेतु माना गया है, यतः प्रतिभा नैसर्गिकी होती है, इसके अभावमें काव्यरचना सम्भव नहीं है। आचार्य हेमने "लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः"—लोक-शास्त्र तथा काव्यमें प्रावीण्य प्राप्त करना व्युत्पत्ति बताया है। अलंकारचिन्तामणिमें छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, गणित, कामशास्त्र, व्यकरण-शास्त्र, शिल्पशास्त्र, तर्कशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्रोंमें निपुणता प्राप्त करना व्युत्पत्ति कहा है। अजितमेन काव्यरचनाके लिए तीनों हेतुओंको आवश्यक मानते हैं। काव्यपरिभाषा-

में जिस प्रकार आचार्य हेम गुण, दोष, अलंकारका अस्तित्व रसकी कसौटीपर स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार अजितसेन भी। इनकी काव्यपरिभाषामें रसका समावेश किया गया है।

गम्मटने ध्वनिको महत्त्व दिया है और हेम एवं अजितसेन रसको महत्त्व देते हैं। अतएव रसवादीकी दृष्टिसे काव्यानुशासन और अलंकारचिन्तामणि दोनों तुल्य हैं।

अलंकार प्रकरणमें हेमचन्द्रने उन्तीस अलंकारोंका प्रतिपादन किया है जब कि अलंकारचिन्तामणिमें बहत्तर अलंकार प्रतिपादित हैं। अलंकारोंके पारस्परिक भेदोंका निरूपण भी अलंकारचिन्तामणिमें विशिष्ट है। उपमालंकारका लक्षण काव्यानुशासनके उपमालक्षणको अपेक्षा विशिष्ट है। काव्यानुशासनमें "हृद्यं साधर्म्यमुपमा" अर्थात् सौन्दर्यांग हृद्य रूपसाधर्म्यपर जोर दिया गया है। पर अलंकारचिन्तामणिमें—“स्वतो भिन्नेन स्वतः सिद्धेन विद्वत्संमतेन अप्रकृतेन सह प्रकृतस्य यत्र धर्मतः सादृश्यं सोपमा” अर्थात् स्वतःसे भिन्न, स्वतः सिद्ध विद्वत्संमत, अप्रकृतके साथ प्रकृतका जहाँ धर्मरूपसे सादृश्य रहे वहाँ उपमालंकार होता है। यहाँ स्वतः सिद्धेन पदसे उत्प्रेषणमें और 'स्वतो भिन्नेन' पदसे अनन्वयमें उपमाके लक्षणकी व्यावृत्ति सिद्ध की है। धर्मतः पद द्वारा श्लेषालंकार और सूर्यमिष्टेन पद द्वारा हीनोपमाका निराकरण किया है। अतः उपमाका लक्षण काव्यानुशासनकी अपेक्षा अधिक व्यापक है। हेमचन्द्रने अनन्वयका समावेश उपमामें, और तुल्ययोगिताका समावेश दोषकमें किया है।

शब्दालंकारोंकी दृष्टिसे तो अलंकारचिन्तामणि अनूठा ग्रन्थ है। इतना स्पष्ट और विस्तृत विवरण काव्यानुशासनकी तो बात ही क्या, अलंकारशास्त्रके किसी एक ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं होता। काव्यानुशासनमें दृश्यकाव्यका विवेचन अलंकारचिन्तामणिकी अपेक्षा अधिक है। इसी प्रकार कथाकाव्यके भेद भी काव्यानुशासनमें अधिक वर्णित हैं।

वाग्भट द्वितीयका काव्यानुशासन और अलंकारचिन्तामणि

यह काव्यानुशासन पाँच अध्यायोंमें विभक्त है। इन अध्यायोंमें काव्यप्रयोजन, कविसमय, काव्यलक्षण, दोष, गुण, रीति, चौंसठ अर्थालंकार, छह शब्दालंकार, नवरस और उनके विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव एवं नायक-नायिकादि भेद निरूपित हैं। विषयसामग्रीकी दृष्टिसे यह काव्यानुशासन अलंकारचिन्तामणिके तुल्य है। जितने विषयोंका समावेश इस काव्यानुशासनमें किया गया है, प्रायः उतने ही विषय अलंकारचिन्तामणिमें भी पाये जाते हैं। अलंकारचिन्तामणिमें काव्यानुशासनकी अपेक्षा निम्नलिखित विशेषताएँ प्राप्त होती हैं—

१. त्रिशालंकारका विशेष वर्णन आया है।

२. त्रिशालंकारके बयालीस भेदोंका काव्यानुशासनमें अभाव है।

१. अलंकारचिन्तामणि. ज्ञानगुरु संस्करण, चतुर्थ परिच्छेद, पृ. १२०, २३ १२ के आगेका गद्य।

३. यमक अलंकारका स्पष्ट स्वरूप और उसके भेद-प्रभेद अलंकारचिन्तामणिमें विशिष्ट है।

४. कविशिक्षाका विशेष वर्णन अलंकारचिन्तामणिमें समाविष्ट है।

५. महाकाव्यके वर्ण्य-विषयोका प्रतिपादन विशेष रूपमें आया है।

६. अर्थालंकारोंके वर्गीकरणका आधार काव्यानुशासनमें नहीं है जब कि अलंकारचिन्तामणिमें पाया जाता है।

७. रसी,—रसवत्, प्रेम्स्, सूक्ष्म, आदि अलंकारोंका विशेष विवेचन आया है।

विश्वनाथका साहित्यदर्पण और अलंकारचिन्तामणि

आचार्य विश्वनाथका साहित्यदर्पण अत्यन्त लोकप्रिय और अलंकार शास्त्रकी दृष्टिसे समृद्ध है। यह ग्रन्थ दस परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-लक्षण आदि हैं। द्वितीयमें वाक्य-लक्षण एवं अभिधा, लक्षणा और व्यंजना, तृतीयमें रस-भाव और नायक-नायिका भेद, चतुर्थमें ध्वनि और गुणीभूत वर्ण्यके भेद, पंचममें व्यंजनाकी स्थापना, षष्ठमें दृश्य-काव्य, नाटकादिका विस्तृत विवेचन, सप्तममें दोष निरूपण, अष्टममें तीन गुण, नवममें वैदर्भी आदि रीतियाँ एवं दशममें बारह शब्दालंकार, सत्र अर्थालंकार और सात रसवदादि अलंकार, इस प्रकार नवासी अलंकारोंका निरूपण है।

इस एक ही ग्रन्थमें काव्यके दृश्य और श्रव्य दोनों भेदोंका विस्तृत निरूपण हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि विश्वनाथके इस साहित्यदर्पणमें मौलिकता कम है और संग्रहकी प्रवृत्ति अधिक है। दृश्य काव्यका विषय नाट्यशास्त्र और धर्मजयके दशरूपकेपर अवलम्बित है। इसी प्रकार रस, ध्वनि और गुणीभूत वर्ण्यका विषय ध्वन्यालोक और काव्यप्रकाशसे प्रभावित है। अलंकार प्रकरण विशेषतया काव्यप्रकाश और रुच्यकके अलंकारसर्वस्वसे अनुप्राणित है। अलंकारोंकी संख्या एवं उनका पूर्वपरिक्रम भी रुच्यकके तुल्य है। शब्दालंकारोंमें श्रुत्यनुप्रास अन्त्यानुप्रास और भाषासम, ये तीन नये अलंकार लिखे हैं। अर्थालंकारोंमें निदधय और अनुकूल ये दो नवीन अलंकार आये हैं। साहित्यदर्पणमें काव्यप्रकाश द्वारा निरूपित काव्य-परिभाषाका स्रष्टन किया है। इन्होंने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' द्वारा काव्यकी आत्मा रसको कहा है।

अलंकारचिन्तामणिमें भी काव्यकी आत्मा रसको स्वीकार किया गया है। लिखा है 'रसं जीवितभूतम्'^१ अर्थात् काव्यका जीवनभूत-आत्मा रस है। काव्यकी परिभाषामें भी 'नवरसकलितम्'^२ कहा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि अलंकार-चिन्तामणिमें निरूपित काव्यपरिभाषामें गुण, अलंकार, दोषाभाव, रीति एवं रसको यथोचित स्थान दिया गया है। यह परिभाषा एकांगी नहीं है, सर्वांगपूर्ण है। साहित्य-

१. अलंकार चिन्तामणि, ज्ञानपीठ संस्करण, १९२५।

२. वही, ११०।

दर्पणमें रसात्मक वाक्यको काव्य लिखा है, पर कहीं-कहीं, शब्दचमत्कार युक्त भी काव्य देखा जाता है। अलंकारको काव्य-परिभाषामें समाविष्ट न करनेके कारण चमत्कारशून्यतापत्ति आ सकती है। अतः तुलनात्मक दृष्टिसे विचार करनेपर अलंकार-चिन्तामणिकी काव्य-परिभाषा अधिक व्यापक है। साहित्य दर्पणमें रसात्मक वाक्यको काव्य कहकर रसाभास, गुणीभूत व्यंग्य, काव्य-परिभाषामें कठिनाईसे ही समाविष्ट हो सकेंगे।

साहित्य-दर्पणमें निरूपित अभिधा, लक्षणा और व्यंजनाका अलंकारचिन्तामणिमें उल्लेखमात्र आया है : रस, भाव, और नायक-नायिकादि भेदोंका निरूपण दोनों ही ग्रन्थोंमें समान रूपसे वर्णित है। ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यके भेदोंका निरूपण साहित्य-दर्पणमें विशिष्ट है। इसी प्रकार दृश्य-काव्यका विवेचन भी साहित्य-दर्पणमें विशिष्ट है।

दोष-निरूपण और गुण-विवेचन प्रकरण अलंकारचिन्तामणिमें साहित्य दर्पणकी अपेक्षा कम समृद्ध नहीं है। साहित्यदर्पणमें अहाँ तीन गुणोंका निर्देश आया है वहाँ अलंकारचिन्तामणिमें चौबीस गुणोंकी सीमांसा की गयी है।

शब्दालंकारोंका प्रकरण साहित्यदर्पणकी अपेक्षा अलंकारचिन्तामणिमें अधिक समृद्ध और विकसित है। चित्रालंकारसीमांसा तो अत्यन्त मौलिक है। अर्थालंकारोंके वर्गीकरणका आधार एवं अर्थालंकारोंके पारस्परिक भेद, अलंकारचिन्तामणिमें बहुत ही स्पष्ट रूपमें प्रतिपादित है। अलंकार प्रकरण साहित्यदर्पणसे कम उपादेय नहीं है। अर्थालंकार प्रायः दोनों ग्रन्थोंमें समान है और परिभाषाओंमें भी विशेष अन्तर नहीं है। गुण, रीति आदिकी स्थापनाकी दृष्टिसे अलंकारचिन्तामणिकी मौलिकता अक्षुण्ण है। शब्दकार जिस विषयकी सीमांसा आरम्भ करता है, उस विषयकी सांगोपांग विवेचना करता है। अतः संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि साहित्य दर्पणमें ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, दृश्य काव्य, अलंकारचिन्तामणिकी अपेक्षा विशिष्ट है।

महाकाव्यकी परिभाषामें साहित्यदर्पणकारने महाकाव्यके रूपगठन, और प्रगमनप्रक्रियापर विशेष विचार किया है। कथावस्तुका सानुबन्ध होना आवश्यक माना है। अलंकारचिन्तामणिमें प्रतिपाद्य विषयोंकी रूपरेखा तो दी गयी है, पर महाकाव्यके गिल्पपर विचार नहीं किया है। अतः साहित्यदर्पणकी महाकाव्य परिभाषा अधिक व्यापक है।

विजयवर्गीकी शृंगारार्णवचन्द्रिका और अलंकारचिन्तामणि

शृंगारार्णवचन्द्रिका दस परिच्छेदोंमें विभक्त है। प्रथम परिच्छेदमें वर्णगणफलका विचार किया है। इसमें गणनिर्माणकी विधिके साथ गणोंका शुभाशुभ फलदेश भी प्रतिपादित है। इस परिच्छेदमें ६३ पद्य हैं। वर्णोंका फलदेश बतलाते हुए लिखा है—

अकारादिक्षकारान्ता वणस्तिषु शुभावहाः ।

केचित् केचित् अनिष्टास्यं त्रिसरन्ति फलं नृणाम् ॥

ददात्यवर्णः संप्रीतिभिवर्णो मुदमुद्रहेत् ।

क्रुयादिवर्णो द्रविणं ततः स्वरचतुष्टयम् ॥

अपख्यातिफलं दद्यादेजः सुखफलावहाः ।

ह्रस्वबिन्दुविसर्गास्तु पदादौ संभवन्ति नो ॥^१

अर्थात् सामान्यतः अकारसे लेकर क्षकार पर्यन्त सभी वर्ण शुभ हैं; पर इनमें कुछ वर्ण अनिष्टफल देते हैं। काव्यादिमें प्रयुक्त अवर्ण प्रीतिप्रद, इषर्ण आनन्दप्रद, उवर्ण घनप्रद, ऋ, ॠ, लृ और लृ अपख्यातिप्रद और ए ऐ, ओ, औ सुखप्रद हैं। ङ, ञ, बिन्दु और विसर्गका पदादिमें अस्तित्वाभाव रहता है। क, ख, ग, घ लक्ष्मीप्रद, चकार अयशप्रद, छ प्रीति-सौख्यप्रद, जकार मित्रलाभकृत्, झ भयप्रद, ट-ठ दुःखप्रद, ड शोभाप्रद, ढ अशोभाप्रद, ण भ्रमणप्रद, त सुखदायक, थ युद्धप्रद, द-ध सुखप्रद, न घनागप्रद, प भयप्रद, फ सन्तोषप्रद, ब मृत्युप्रद, भ क्लेशकारक, म दाहकारक, य शीप्रद, र-रि दाहकृत्, ल-व व्यसनदायक, श सुखप्रद, ष खेददायक, स सुखप्रद, ह दाहप्रद और क्षवर्ण सर्व समृद्धिदायक है।

इस प्रकार वर्ण और गण सम्बन्धी कविशिक्षा इस परिच्छेदमें निरूपित है। कविशिक्षाकी दृष्टिसे यह परिच्छेद उपादेय है।

द्वितीय परिच्छेदमें काव्यगत शब्दार्थका निश्चय किया गया है। काव्यहेतुओंमें प्रतिभा-शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यासका कथन किया गया है। रौचिक, वाचिक, आर्थ, शिल्पिक, मार्दवानुग, विवेकी और भूषणार्थी ये सात प्रकारके कवि बतलाये गये हैं। इसके पश्चात् चार प्रकारका अर्थ निरूपित है—(१) मुख्यार्थ (२) लक्ष्यार्थ (३) शौणार्थ और (४) व्यंग्यार्थ। इन सभी अर्थोंकी भीमांसा भी की है। इस परिच्छेदमें ४२ पद्य हैं।

तृतीय परिच्छेद रसभाष निश्चय है, इसमें १३० पद्य हैं। नौ स्थायीभाव, तैत्तीस संचारी भाव, आठ सात्त्विक भाव एवं नव रसोंकी भीमांसा की गयी है। वियोगशृंगार-के पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण ये चार भेद बतलाये हैं। संयोगशृंगारके सन्दर्भमें प्रीति, शक्ति, संकल्प, आगरण आदि दस अवस्थाओंका निरूपण आया है। इस परिच्छेदमें नौ रसोंका विस्तारपूर्वक स्वरूप निरूपण आया है।

चतुर्थ परिच्छेद नायकभेदनिश्चय नामक है। इनमें नायकके गुण और धीरोदात्त, धीरललित, धीरशान्त एवं धीरोदात्त भेदोंका स्वरूप अंकित है। इसी परिच्छेदमें नायिकाओंके भेद निरूपित हैं। १६३ पद्योंमें नायक-नायिकाओंके भेदोंका स्वरूप निर्धारित किया गया है।

पञ्चम परिच्छेद 'दशगुणनिश्चय' है। इसमें सुकुमारत्व, औदार्य, श्लेष, कान्ति, प्रसन्नता, सहाधि, ओज, माधुर्य, अर्थव्यक्ति और साम्यक इन दस गुणोंका स्वरूप निरूपित है। इसमें ३१ पद्य हैं।

पष्ठ परिच्छेद 'रीतिनिश्चय' है। इसमें १७ पद्योंमें वेदभी, गौड़ी, लाटी और पांचाली रीतियोंका स्वरूप वर्णित है। सप्तम परिच्छेद 'वृत्तिनिश्चय' है। इसमें १६ पद्य हैं। और कैशिकी, आरभटी, भारती और सात्वती इन चार वृत्तियोंका स्वरूप निर्धारित किया गया है। अष्टम परिच्छेद 'शय्यापाक निश्चय' है। इसमें दस पद्य हैं। इस परिच्छेदमें शय्या और द्राक्षापाक तथा नालिकेरपाक आदि पाकोंका स्वरूप प्रतिपादित है।

नवम परिच्छेद 'अलंकारनिर्णय' है। इसमें ३१० पद्य हैं। इसमें यमक, चित्र, वक्रोक्ति और अनुप्रास ये चार शब्दालंकार और स्वभासोक्ति, फगक, हेतु, दीगक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, व्यतिरेक, विभावना, आर्धेय, अतिशयोक्ति, सूक्ष्म, समास, उदात्त, अपह्नुति, प्रेयस्, रसवत्, ऊर्जस्व, तुल्ययोगिता, पर्यायोक्ति, सहोक्ति, परिश्रुति, श्लेष, निदर्शन, व्याजस्तुति, आशी, समुच्चय, वक्रोक्ति, अनुमान, विषम, अवसर, प्रतिवस्तूपमा, सार, भ्रान्तिमान्, संशय, एकावली, परिकर, परिसंख्या, प्रश्नोत्तर, संकर आदि अर्थालंकारोंके लक्षण और उदाहरण निबद्ध हैं।

दशम परिच्छेद 'गुणदोषनिर्णय' है। इसमें पददोष, वाक्यदोष, अर्थदोष और गुणोंका निरूपण आया है। इसमें १९७ पद्य हैं।

अलंकारचिन्तामणि और शृंगारार्णवचन्द्रिकाकी विषय सामग्रियोंका तुलना करनेसे अवगत होता है कि इन दोनों ग्रन्थोंमें वर्णित विषय प्रायः समान हैं। पर अलंकारचिन्तामणिमें विषय प्रतिपादनकी पद्धति आचार्य की है। अजितसेन सिद्धान्त स्थापना करते समय स्वतः विषय मीमांसा करते चलते हैं। अलंकारचिन्तामणिके अलंकार प्रकरण शृंगारार्णवचन्द्रिकाकी अपेक्षा कई दृष्टियोंसे विशेष है। इसमें अलंकारोंका वर्गीकरण निश्चित आधार पर किया गया है तथा स्वरूप निर्धारणमें लक्षणके पदोंकी सार्थकता पर भी विचार किया है। प्रत्येक लक्षणको अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव दोषसे रहित निबद्ध किया है। अलंकारोंका पारस्परिक भेद इस रचनामें विश्रामान है, पर शृंगारार्णव चन्द्रिकामें इस प्रकारकी मीमांसाका अभाव है।

महाकाव्यका वर्ण्य विषय, काव्यकी परिभाषा, चित्रालंकारका निरूपण, यमकके भेद-प्रभेद, गुणालंकारमें पारस्परिक भेद, दोषोंका सोदाहरण तर्क पूर्वक निरूपण अलंकारचिन्तामणिमें आया है, पर शृंगारार्णवचन्द्रिकामें इन बातोंका अभाव है।

अलंकारचिन्तामणिके प्रत्येक विषय विज्ञानके घरातल पर प्रतिष्ठित है। विचार करने की पद्धति मौलिक है। भामह, भोज, मम्मट आदिके ग्रन्थोंमें सामान्य सिद्धान्त ग्रहण कर भी आचार्यमें मौलिकताका पूरा निबद्ध किया है। अलंकार प्रकरणके प्रारम्भमें शास्त्रीय चर्चाएँ निबद्ध हैं। यों ही अलंकारोंके लक्षणोंका कथन नहीं किया है। इसमें सन्देह नहीं कि अजितसेन इस ग्रन्थकी रचनामें भोजके सरस्वतीकण्ठाभरणसे प्रभावित है। शब्दालंकारोंका विस्तृत विवेचन भी भोजके आधारपर किया गया प्रतीत होता है। महाकाव्योंके वर्ण्यविषयोंका निरूपण आचार्य अजितसेनकी प्रतिभाका फल

है। प्रथम परिच्छेदका विषय अभी तक प्राप्त आर्ष अलंकारके किसी ग्रन्थमें उपलब्ध नहीं है। सम्भवतः इस प्रकारके विषयका प्रतिपादन साहित्यदर्पणके किसी संस्करणके पादटिप्पणोंमें प्राप्त है।

रसगी परिभाषा जैनदर्शनके आलोकमें अंकित की गयी है। विभाव, अनुभाव, संचारी और स्थायीभावोंका स्वरूप सामान्यतः अन्य अलंकार ग्रन्थोंके तुल्य है। रीतिकी परिभाषा इस ग्रन्थकी बहुत ही स्पष्ट और व्यापक है।

निष्कार्य

संस्कृतके अलंकारशास्त्रियोंने काव्यके नव्वों एवं उपकरणों पर विस्तारपूर्वक विचार किया है। अग्निपुराणकी काव्य-परिभाषामें छन्दार्थ, संश्लिष्ट वाक्य, अलंकार, गुण और दोष ये पाँच बातें समाविष्ट हैं। इस परिभाषा द्वारा काव्यकी बाह्य रूपरेखा स्पष्ट होती है, अन्तरंग स्वरूपपर प्रकाश नहीं पड़ता है। भामहने शब्द, अर्थका संयोग काव्य कहा है। यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है। इसके क्षेत्रमें काव्यके अतिरिक्त शास्त्र, इतिहास, भूगोल, विज्ञान आदि सभी समाविष्ट हो जाते हैं। अतएव यह अतिव्यापित दोषसे दूषित है। दण्डोंने शब्द अर्थको प्रकट करनेवाली पदावलीको काव्य कह कर उसके शरीर मात्रपर प्रकाश डाला, आत्माका स्पर्श न किया। यही भाव ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धनाचार्यका भी था। वामनेने काव्यके भीतर समस्त सौन्दर्यको समाविष्ट करनेका प्रयत्न किया। इन्होंने काव्यके लिए अलंकारको काव्यत्व माना तथा रीतिकी काव्यकी आत्मा प्रतिपादित किया। मम्मटने काव्यको दोषहीन, गुणयुक्त और कभी-कभी अलंकारसे रहित शब्दार्थ कहा। इस लक्षणके भीतर ही विशेषताएँ निषेधात्मक हैं और उनमें भी एक अनिदिचन है। अदोष शब्दार्थ क्या है? सम्भवतः ऐसा काव्य कोई न हो जिसमें दोष न मिल सके। अनेक गुणोंसे युक्त काव्यमें भी कोई न कोई दोष निकाला जा सकता है। कहीं-कहीं अलंकारसे रहित होना लक्षणकी कोई विशेषता नहीं हो सकती। मगुण शब्द भी काव्यकी कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता प्रकट नहीं करता क्योंकि गुण बड़ा व्यापक अर्थ देने वाला शब्द है, और काव्यगुणोंसे युक्त हीना काव्य है। यह परिभाषा अपने ही अंगसे अंगोंको स्पष्ट करनेवाली है। काव्यको एक निदिचन क्षेत्रमें बाँधती हुई भी यह परिभाषा काव्यका तार्किक और मार्मिक स्वरूप स्पष्ट नहीं कर पाती।

हेमचन्द्रने दोषहीनता गुण और अलंकारकी अनिवार्यता काव्य-परिभाषाके अन्तर्गत रखे है। यह परिभाषा एक सीमित अंत्रको ही अपने भीतर समाविष्ट कर पाती है। अलंकार, गुण और दोष ये स्वयं साम्प्रदाय शब्द हैं। अतः इस लक्षणके द्वारा काव्यकी धारणा स्पष्ट नहीं हो पाती है। शब्दार्थ काव्य है, यह माननेपर कविका उद्देश्य हलका और शब्दार्थके चमत्कार तक ही सीमित रह जाता है, कोई गम्भीर उद्देश्य पूर्ण नहीं हो पाता है। विश्वनाथ रसयुक्त वाक्यको काव्य मानते हैं। इसका

एक अर्थ तो यह हो सकता है कि जिस वाक्यमें रस निहित हो वह काव्य है। इस अवस्थामें रसकी काव्यमें अनिवार्यता सिद्ध होती है। इससे काव्यका क्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है। अनेक ऐसी काव्यकृतियाँ जिनमें रसकी पूर्ण निष्पत्ति नहीं है पर अलंकार और उक्ति वैचित्र्यका चमत्कार विद्यमान है, काव्यक्षेत्रीमें परिगणित नहीं की जा सकेंगी।

इन सभी काव्य-परिभाषाओंको अपने भीतर समाविष्ट कर अलंकारचिन्तामणिमें जो काव्य-परिभाषा उक्ति की गयी है वह अतिप्रधान और अव्यभिची क्षेत्रोंमें रहित है। इस ग्रन्थमें शब्दालंकार और अर्थालंकारोंमें युक्त शृंगारादि नवरसोंसे रहित, वैदर्भी इत्यादि रीतियोंके सम्यक् प्रयोगसे सुन्दर, व्यंग्यादि अर्थोंसे समन्वित, धृति-कटु इत्यादि दोषोंसे शून्य, गुणयुक्त, नायकके चरित्र-वर्णनसे संपृक्त, अथवा किसी विषयसे सम्बद्ध सभ्यलोक हितकारी एवं सुस्पष्ट काव्य कहा है। यह परिभाषा सभी प्रकारकी काव्य-कृतियोंमें वदित होती है। अलंकारचिन्तामणिमें शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति, वृत्ति, गुणदोषशून्यता, रसोंकी स्थिति एवं चमत्कारको काव्यस्वरूपके अन्तर्गत परिगणित किया है।

काव्यकारणोंके विवेचनमें भी प्रज्ञा और प्रतिभा इन दोनोंको स्थान देकर अजितसेनेने अपनी मौलिकताका परिचय दिया है। अलंकारचिन्तामणिके अध्ययनसे यह ज्ञात होता है कि शास्त्रीय कारणोंके अतिरिक्त आत्माभिव्यक्ति, सौन्दर्यके प्रति आकर्षण और कौतुकको भी काव्य-रचनाका प्रेरक माना है। काव्यके तीन प्रकारके कारण हैं—
१. प्रेरक २. निमित्त और ३. उपादान। प्रेरक कारण कविकी सामाजिक, पारिवारिक या वैयक्तिक परिस्थितियाँ तथा उसकी प्रकृति हैं, जिससे उसे काव्यरचनाकी प्रेरणा प्राप्त होती है। निमित्त कारण कविकी प्रतिभा है। यह प्रतिभा कविकी उर्वर कल्पना, सूक्ष्म सौन्दर्यानुभूति, संवेदनशीलता, शब्द और अर्थ तत्त्वकी सूक्ष्म परत और सहज स्वतः अभिव्यंजनीलताके रूपमें देखी जाती है। उपादान कारण लोकशास्त्रके व्यापक ज्ञान, सरसता, श्रवण, मनन और अभ्यासके रूपमें माना गया है। ये तीनों कारण अलंकार-चिन्तामणिमें संकेतित हैं।

अलंकारचिन्तामणिमें अलंकारोंका प्रयोग नितान्त स्वाभाविक माना है। किसी तथ्य, अनुभूति, घटना या चरित्रकी प्रभावपूर्ण अभिव्यक्तिके लिए अलंकारोंका उपयोग अपेक्षित है। अलंकार, वाणीके साधारण कथन न होकर चमत्कारपूर्ण उक्ति है। ये कथनकी ललित भंगिमा हैं। जिन उक्तिमें कोई बाँकापन मिलता है, वही उक्ति अलंकार बन जाती है। उक्ति-वैचित्र्यके अनेक रूप हो सकते हैं। ये ही विभिन्न अलंकार हैं। यही कारण है कि अलंकारचिन्तामणिमें अलंकारोंके वर्गीकरणका आधार निरूपित किया गया है। साम्य, विरोध, शृंखला, न्याय, कारण-कार्य-सम्बन्ध, निषेध और मूढार्थ प्रतीतिमूलक ये चमत्कारके आधार हैं। इन आधारोंपर ही अलंकारोंके विभिन्न वर्ग निरूपित किये गये हैं। अलंकारचिन्तामणिमें प्रतिपादित अलंकारोंकी परिभाषाएँ

पद-सार्यकतापूर्वक अंकित की गयी हैं और उनके पारस्परिक अन्तरोका भी प्रतिपादन हुआ है। रस, गुण, रीति, वृत्त आदिका विवेचन भी संक्षिप्त और तर्कसंगत है। चित्रालंकार सम्बन्धी धारणाएँ नितान्त मौलिक हैं।

प्रस्तुत सम्पादन

अलंकारचिन्तामणिका सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियों और एक मुद्रित प्रतिके आधारपर किया गया है। मुद्रित प्रति सन् १९०७ में सोलापुरसे प्रकाशित हुई थी। यह प्रति अनेक स्थानोंपर अशुद्ध और त्रुटिपूर्ण थी। येप दो हस्तलिखित प्रतियोंका विवरण निम्न प्रकार है—

'क' प्रति—यह कन्नड़ लिपिमें अंकित ताड़पत्रीय प्रति है। ताड़पत्रकी लम्बाई और चौड़ाई १२" X २१" है। प्रतिमें कुल सत्तर पत्र हैं। प्रतिपत्र आठ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्तिमें गिरसठ-बीसठ अक्षर हैं। प्रतिके लेखनका समय नहीं दिया गया है। अनेक स्थानोंपर पाद-टिप्पणियाँ कन्नड़ भाषामें लिखी गयी हैं। यह प्रति पर्याप्त शुद्ध और प्रामाणिक है। यह प्रति मूढ़बिद्मोंके ग्रन्थागारमें प्राप्त की गयी है। प्रतिकी स्थिति साधारण है। बीच-बीचमें कुछ अक्षर उखड़े हुए हैं। मार्जिनमें टिप्पणियाँ भी जहाँ-तहाँ उपलब्ध हैं। इन टिप्पणियोंमें कन्नड़ भाषामें कठिन शब्दोंके अर्थ अंकित किये गये हैं।

'ख' प्रति—मूढ़बिद्मोंकी अन्य ताड़पत्रीय प्रतिमें प्रतिलिपि की गयी है। इसकी पृष्ठसंख्या २११ है। प्रतिपृष्ठ लम्बाई और चौड़ाई १२½" X ७½" है। प्रतिपत्र द्वादश पंक्तियाँ और प्रति पंक्ति दस अक्षर हैं। यह प्रतिलिपि शक-संवत् १७३० की पाण्डुलिपिके आधारपर की गयी है। जिस प्रति से यह प्रति लिखी गयी है उसमें शक-संवत्का उल्लेख आया है। लिखा है—

शकब्दे तमसूपभाजि विभवे माघे सिते चारुणि,
सप्तम्यामृषपत्रपण्डितिरिदं मे शान्तराजो लिखं ।
शकस्यं सत्कविचक्रवर्षमिधयाख्यातोप्रजन्मार्हतो,
भारहाजकुलो ह्यदोधियसतात् सद्वृत्कुमारकन्दुमम् ॥

यह प्रति शक सं. १७३०, विभव संवत्सर माघ शुक्ला मप्तमीको शान्तराजने लिखी है। इसमें स्पष्ट है कि 'ख' प्रतिकी आधारभूत ताड़पत्रीय प्रति शक-संवत् १७३० में प्रतिलिपि की गयी है। सोलापुर द्वारा प्रकाशित प्रति इसी प्रतिके आधारपर सम्भवतः मुद्रित की गयी है। यद्यपि इस प्रतिमें भी कई महत्त्वपूर्ण पाठान्तर प्राप्त हैं। यह प्रति श्री पं. के. मजबलीजीके सहयोग से उपलब्ध हुई है।

'ग' प्रति—सोलापुर द्वारा मुद्रित प्रतिकी संज्ञा 'ग' है। इस प्रति से भी सम्पादनमें सहयोग प्राप्त हुआ है। इसका प्रकाशन सन् १९०७ ईसवीमें हुआ है। 'क' और 'ख' प्रतियोंकी अपेक्षा 'ग' प्रतिमें कोई विशेषता उपलब्ध नहीं है।

शुद्ध पाठोंकी दृष्टिसे 'क' प्रति सबसे अधिक उपयोगी है। अतएव सम्पादन कार्यमें उक्त दोनोंकी अपेक्षा 'क' प्रतिसे विशेष सहायता प्राप्त हुई है।

अनुवाद

प्रस्तुत ग्रन्थका अनुवाद-कार्य सबसे प्रथम सम्पन्न किया गया है। अनुवादके लिए न तो कोई संस्कृत टिप्पण ही उपलब्ध हुआ और न संस्कृत व्याख्या ही। अर्थके स्पष्टीकरणके हेतु गार्हिक अनुवाद देनेका प्रयास किया गया है। कहीं-कहीं भावानुवाद भी किया गया है। मूलानुगामी अनुवाद देनेकी पूर्णतया चेष्टा की गयी है।

आत्म-निवेदन

अलंकारचिन्तामणिके सम्पादन और अनुवादमें अनेक व्यक्तियोंसे प्रेरणा एवं सहयोग प्राप्त हुआ है। सर्वप्रथम मैं ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक आदरणीय डॉ. हीरालालजी जैन एवं आदरणीय डॉ. ए. एन. उपाध्येके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। इन दोनों विद्वानोंकी उदार नीतिके कारण ही यह ग्रन्थ पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत हो रहा है।

इस ग्रन्थका प्राक्कथन हिन्दी और संस्कृत साहित्यके मुख्य विद्वान् आचार्य श्री देवेन्द्रनाथ शर्मा, प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटनाने लिखनेकी कृपा की है, इसके लिए मैं आचार्य प्रवरके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। मेरी धारणा है कि उनका प्राक्कथन इस ग्रन्थको समझनेमें सहायक होगा।

अलंकारचिन्तामणि का अनुवाद-कार्य सम्पन्न होनेके पश्चात् मेरे निजी पुस्तकालयसे पुस्तकोंकी चोरी हुई जिसमें अनुवाद सम्बन्धी एक रजिस्टर भी चोरी चला गया। फलतः यह ग्रन्थ जितना शीघ्र पाठकोंके समक्ष प्रस्तुत हो सकता था, नहीं हो सका। पुनः अनुवाद-कार्य सम्पन्न करनेमें मुझे पर्याप्त समय लगा।

अलंकारचिन्तामणिका शब्दालंकार सम्बन्धी प्रकरण अत्यन्त गूढ़ है। अतः इस प्रकरणके कई श्लोकोंके अर्थ मुझे स्पष्ट नहीं हो सके। मैंने इन पद्योंके स्पष्टीकरण के लिए श्री पं. पद्मालालजी साहित्याचार्य, सागरसे पत्राचार द्वारा सहयोग प्राप्त किया। पं. जीने मेरी शंकाओंका पूर्णतया समाधान किया अतः मैं उनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

पाण्डुलिपि तैयार करनेमें प्रिय शिष्य डॉ. कछेशीलाल, एम. ए. पी-एच. डी., साहित्याचार्यसे सहयोग प्राप्त हुआ है। अतएव उन्हें भी मैं साधुवाद देता हूँ।

ग्रूफ-संशोधनमें मेरे सहयोगी विद्वान् डॉ. रामनाथ पाठक 'प्रणयी', एम. ए., पी-एच. डी., साहित्य-व्याकरण-आयुर्वेदाचार्य, श्री पं. कमलाकान्त जी उपाध्याय, साहित्य-व्याकरण-वेदान्ताचार्य, श्री महादेव चतुर्वेदी, व्याकरणाचार्य एवं उनके सहयोगियोंने सहयोग प्रदान किया है, इसके लिए मैं उक्त विद्वानोंका हृदयसे आभारी हूँ।

इस ग्रन्थके सम्पादन एवं अनुवादकी प्रेरणा श्री डॉ. दरबारीलालजी कांडिया, एम. ए., पी-एच. डी., जैन-दर्शन-शास्त्राचार्य, वाराणसीसे निरन्तर प्राप्त होती रही और उन्हींकी प्रेरणाके फलस्वरूप यह कार्य सम्पन्न हुआ है। अतएव उनके तथा अन्य प्रेरक श्री डॉ. गोकुलचन्द्रजी, एम. ए., पी-एच. डी., जैनदर्शनाचार्य के प्रति भी मैं आभार व्यक्त करना अपना पुनोत्त कर्तव्य समझता हूँ।

भारतीय ज्ञानपीठके सन्धी श्री बाबू लक्ष्मीचन्द्रजी के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनकी कृपासे यह ग्रन्थ ज्ञानपीठ-द्वारा प्रकाशित हो रहा है।

अन्य मित्र और शिष्य वर्गने भी प्रेरणा देकर मेरे शैथिल्यको दूर कर मुझसे यह कार्य कराया अतएव उनका भी मैं आभार स्वीकार करता हूँ। इस वर्गमें डॉ. शिवभारामण प्रसाद भगत, एम. बी. बी. एस., डी. टी. एम. (कलकत्ता), डॉ. मुरली मनोहर प्रसाद, एम. ए., पी-एच. डी., डॉ. गदाचर सिंह, एम. ए., पी-एच. डी., श्री डॉ. जगन्नाथ पाठक और डॉ. के. एन. बहादुरी प्रधान हैं।

प्रस्तावना लिखनेमें जिन आचार्योंके ग्रन्थोंका उपयोग किया गया है उन के प्रति भी आभार व्यक्त करता हूँ।

प्रतियाँ उपलब्ध करनेमें श्री पं. के. भुजबलीजी शास्त्री मुद्रविद्वासे सहयोग प्राप्त हुआ है। अतएव शास्त्रीजीके प्रति नतमस्तक हूँ आभार प्रकट करता हूँ।

चित्रालंकारके अन्तर्गत विभिन्न ग्रन्थोंके नक्शे पटना कलमके अन्तिम धनी श्री महाश्रीप्रसाद वर्माने तैयार किये हैं। अतएव मैं उनका भी आभार स्वीकार करता हूँ।

विषय-सूची

प्रथम परिच्छेद

....

१-२६

मंगलाचरण १, शान्तिनाथ भामवान्की नमस्कार १, सरस्वतीको नमस्कार १, समन्तभद्रादि कवियोंकी नमस्कार १, ग्रन्थप्रणयनकी प्रतिज्ञा १, ग्रन्थके स्तोत्रत्वकी सिद्धि २, मञ्जन-प्रशंसा और जात्मलघुता २, काव्यका स्वरूप २, कविकी योग्यता ३, काव्यरचनाके हेतु ३, व्युत्पत्तिका स्वरूप ३, अभ्यासका स्वरूप और उदाहरण ४, 'ष' अव्ययकी व्यवस्था ५, यति च्युति और इच्छ-उच्चारण व्यवस्था और उदाहरण ५, उपसर्ग विच्छेदकी व्यवस्था ५, यति भाधुर्यकी व्यवस्था ६, माधुर्यका महत्त्व ६, महाकाव्यके वर्ण्य विषय ६, राजाके वर्णनीय गुण ७, देवी—महिषीके वर्णनीय गुण ७, राजपुरोहितके वर्णनीय गुण ८, राजकुमारके वर्णनीय गुण ८, राजमन्त्रीके वर्णनीय गुण ८, सेनापतिके वर्णनीय गुण ८, देशके वर्णनीय विषय ८, ग्रामके वर्णनीय विषय ९, नगरके वर्णनीय विषय ९, सरोवरके वर्णनीय विषय ९, समुद्रके वर्णनीय विषय ९, नदीके वर्णनीय विषय ९, उद्यानके वर्णनीय विषय १०, पर्वतके वर्णनीय विषय १०, वनके वर्णनीय विषय १०, मन्त्रके अन्तर्गत वर्णनीय १०, दूतके वर्णनीय विषय १०, विजय यात्राके वर्णनीय विषय ११, मृगयाके वर्णनीय विषय ११, घोड़ेके वर्णनीय विषय ११, गजके वर्णनीय विषय ११, वसन्त ऋतुके वर्णनीय विषय ११, ग्रीष्म ऋतुके वर्णनीय विषय ११, वर्षा ऋतुके वर्णनीय विषय १२, शरद्वर्षाके वर्णनीय विषय १२, हेमन्तके वर्णनीय विषय १२, शिशिर ऋतुके वर्णनीय विषय १२, सूर्यके वर्णनीय विषय १२, चन्द्रमाके वर्णनीय विषय १३, आश्रमके वर्णनीय विषय १३, युद्धके वर्णनीय विषय १३, अन्मकल्याणकके वर्णनीय विषय १३, विवाहके वर्णनीय विषय १३, विरहके वर्णनीय विषय १४, सुरतके वर्णनीय विषय १४, सत्रयंवरके वर्णनीय विषय १४, मदिरापानके वर्ण्य विषय १४, पुष्पावचयके वर्ण्य विषय १४, जलक्रीड़ाके वर्ण्य विषय १५, वर्ण्य विषयोंका उपसंहार १५, अन्य आचार्योंके मतानुसार काव्यके वर्ण्य विषय १५, कवि समयके भेद १५, असत्में सत्त्वर्णन सम्बन्धी कवि समयका उदाहरण १६, असद् वर्णन रूप कवि समयका अन्य उदाहरण १६, मद्बस्तुओंकी अनुपलब्धि-सम्बन्धी कवि समयका उदाहरण १७, नियमेन उल्लेखरूप कवि समयका

उदाहरण १७, यमक श्लेष और चित्रकाव्य सम्बन्धी व्यवस्था १८, यमकका उदाहरण १८, उपमा और श्लेषका उदाहरण १९, चित्रालंकारके उदाहरण १९, काव्यरचनाके नियम २०, वर्णोंका सुभाषुभाव २०, गणोंके श्रुतिता और उनका फल २०, गणदेशता और फलबोधक चक्र २१, पदारम्भमें त्याज्य वर्ण २१, काव्यके प्रारम्भमें स्वर वर्णोंके प्रयोगका फल २१, काव्यादिमें व्यंजन वर्णोंके प्रयोगका फल २२, गणोंके प्रयोग और उनका फलादेश २२, वाक्यके तीन भेद और रचना करनेकी विधि २३, काव्यारम्भका नियम २३, समस्या-पूर्ति करनेका औचित्य २४, समस्यापूर्तिका उदाहरण २४, समस्यापूर्तिका अन्य उदाहरण २५, समस्यापूर्तिका अन्य उदाहरण २५, महाकाविका स्वरूप २६, मध्यमादि कवि २६।

द्वितीय परिच्छेद

....

२७-२६

शब्दालंकारके भेद २७, चित्रालंकार २७, चित्रालंकारके अनेक भेद २७, व्यस्त और समस्त चित्रालंकारके लक्षण २८, व्यस्त चित्रालंकारका उदाहरण २८, समस्त चित्रालंकारका उदाहरण २९, द्विव्यस्त और द्विःसमस्त चित्रालंकारके लक्षण २९, द्विव्यस्त जाति चित्रालंकारका उदाहरण २९, द्विःसमस्त जाति चित्रालंकारका उदाहरण २९, व्यस्तक समस्तक चित्रालंकारका लक्षण ३०, व्यस्तक समस्तक चित्रालंकारका उदाहरण ३०, द्विव्यस्तक-समस्तक और द्विःसमस्तक-व्यस्तक चित्रालंकारके लक्षण ३०, द्विव्यस्तक-समस्तक और द्विःसमस्तक-व्यस्तक चित्रालंकारके उदाहरण ३०, एकालापक चित्रालंकारका लक्षण ३१, एकालापक चित्रालंकारका उदाहरण ३१, अन्य उदाहरण ३१, प्रभिन्नक चित्रालंकार ३२, शब्दार्थलिङ्गभिन्न चित्रालंकारका उदाहरण ३२, शब्दार्थभिन्न चित्रालंकारका उदाहरण ३२, शब्दार्थलिङ्गविभक्तभिन्न चित्रालंकारका उदाहरण ३३, प्रभिन्नक चित्रालंकारके सम्बन्धमें अन्य विचारणीय ३३, प्रभिन्नकके विषयमें अन्य आवश्यक तथ्य ३४, भेद-भेदक चित्रालंकारका लक्षण ३४, उदाहरण ३४, ओजस्वी जाति—चित्रालंकारका लक्षण ३४, उदाहरण ३५, सालंकार चित्रका लक्षण ३५, उदाहरण ३५, रूपक अलंकारजन्य चित्रका उदाहरण ३६, कौतुक चित्रालंकारका लक्षण ३६, उदाहरण ३६, प्रश्नोत्तर सम चित्रका लक्षण ३७, उदाहरण ३७, पृष्ठ प्रश्न-जाति चित्रका लक्षण ३७, उदाहरण ३७, भग्नोत्तर चित्रका लक्षण ३८, उदाहरण ३८, आदि-मध्य-उत्तर जाति चित्रका लक्षण और उदाहरण ३८, अन्तोत्तरका उदाहरण ३९, कथितापह्नुत चित्रका लक्षण ३९, उदाहरण ३९, वृत्त एवं विषम वृत्त नामक चित्रका लक्षण ४०, उदाहरण ४०, इन्द्रमाला

वृत्तजातिका उदाहरण ४१, नामाख्यात चित्रका लक्षण ४१, उदाहरण ४१, ताक्य-सौत्र-शाब्द-शास्त्रवाक्य चित्रके लक्षण ४२, उदाहरण ४२, वर्षोत्तर एवं वाक्योत्तर चित्रोके लक्षण ४४, उदाहरण ४४, श्लोकार्द्धपाद पूर्व चित्रका लक्षण और उसके भेद ४५, उदाहरण ४५, उपसंहार ४६, अन्य उदाहरण ४६, पादोत्तर जाति चित्रका उदाहरण ४७, चक्रबन्ध लिखनेकी विधि ४९, पद्मबन्धका लक्षण ४९, काकपाद चित्रका लक्षण ५१, गोमूत्रिका चित्रका लक्षण और उदाहरण ५२, सर्वतोभद्र चित्रका लक्षण ५३, गत-प्रत्यागतका लक्षण ५५, वर्धमानाशरका लक्षण ५६, हीयमानाशर चित्रका लक्षण ५८, उदाहरण ५८, शृंगलाबन्ध चित्रका लक्षण ६०, उदाहरण ६०; नागपाश चित्रणका लक्षण ६१, नागपाश रचनाकी विधि ६२, चित्रका लक्षण ६२, उदाहरण ६३, काव्यरचनाके लिए भाषा विषयक नियम ६३, प्रहेलिकाका स्वरूप और भेद ६७, अर्थप्रहेलिकाका उदाहरण ६७, छन्द-प्रहेलिकाका उदाहरण ६७, स्पष्टान्धक प्रहलिकाका उदाहरण ६८, अन्तरालापक प्रश्नोत्तरका उदाहरण ६८, बहिरालापक अन्तर्विषम प्रश्नोत्तरका उदाहरण ६९, मात्राच्युतक प्रश्नोत्तरका उदाहरण ७१, व्यंजन-च्युतकका उदाहरण ७२, अक्षरच्युत प्रश्नोत्तरका उदाहरण ७२, निहनुतैका-लापकका उदाहरण ७४, मुरजबन्धका उदाहरण ७५, मुरजबन्धकी प्रक्रिया ७५, अनन्तरपाद मुरजबन्धका उदाहरण ७६, इष्टपाद मुरजबन्धका उदाहरण ७७, गूढतृतीयचतुर्थान्तराशरद्वयविरचितयमकानन्तरपादमुरजबन्धका उदाहरण ७८, मुरज और गोमूत्रिका पौडशदल पद्यका उदाहरण ७८, गुम-क्रियामुरजका उदाहरण ७९, अर्द्धभ्रम गूढपञ्चार्द्ध चित्रका उदाहरण ८०, अर्द्धभ्रम गूढ-द्वितीयपादका लक्षण ८१, अर्द्धभ्रमनिरोध्यगूढ चतुर्थपादका उदाहरण ८२, एकाक्षर विरचित चित्रालंकारका उदाहरण ८३, एकाक्षर विरचितैकपाद चित्रका उदाहरण ८४, द्व्यक्षर चित्रका उदाहरण ८५, गतप्रत्यागतार्द्ध चित्रका उदाहरण ८६, गतप्रत्यागतेक चित्रका उदाहरण ८६, गतप्रत्यागतपादयमकका उदाहरण ८७, बहुक्रियापद ...स्वर-गूढ...सर्वतो-भद्रका उदाहरण ८७, गूढस्वेष्टपाद चक्रका उदाहरण ८८, दर्पणबन्धका उदाहरण ८९, दर्पणबन्धका स्वरूप ९०, पट्टकबन्धका स्वरूप ९०, उदाहरण ९०, सालवृन्तका स्वरूप ९१, उदाहरण ९१, निःसालबन्धका स्वरूप ९१, उदाहरण ९१, त्रहादीपिकाका स्वरूप ९२, उदाहरण ९२, परशुबन्ध चित्रका स्वरूप ९२, उदाहरण ९३, यानबन्धका स्वरूप ९३, उदाहरण ९३, चक्र-वृत्तकका स्वरूप ९४, भुंजारबन्धका स्वरूप ९४, उदाहरण ९८, निगूढपादका स्वरूप ९५, उदाहरण ९५, छत्रबन्ध ९५, हारबन्ध ९६ ।

तृतीय परिच्छेद

... ९७-११०

वक्रोक्ति अलंकारका लक्षण ९७, उदाहरण ९७, अनुप्रासका लक्षण ९८, उदाहरण ९८, अनुप्रासके भेद ९८, लाटानुप्रासका उदाहरण ९९, छेकानुप्रासका उदाहरण ९९, उदाहरण ९९, वृत्त्यनुप्रासका लक्षण १००, उदाहरण १००, अनुप्रास और यमकालंकारमें भेद १००, यमकालंकारका लक्षण १००, यमकालंकारके प्रमुख भेद १०१ ।

चतुर्थ परिच्छेद

.... १११-२२३

अलंकारका लक्षण १११, गुण और अलंकारमें भेद १११, अलंकारके भेद १११, अर्थालंकारोंके भेदोंका निर्देश १११, अलंकारोंमें प्रतीयमानकी व्यवस्था ११२, साधर्म्यके भेद ११३, सादृश्यभेद की व्यवस्था ११३, अलंकारोंके मूलत्वका निरूपण ११४, अलंकारोंमें परस्पर भेद : परिणाम और रूपकमें भेद ११४, उल्लेख और रूपकमें भेद ११४, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति और सन्देहमें अन्तर ११५, उपमा अनन्वय और उपमेयोपमामें अन्तर ११५, उपमेयोपमा और प्रतिवस्तूपमामें अन्तर ११५, प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्तमें परस्पर भेद ११५, दीपक और तुल्ययोगितामें परस्पर अन्तर ११६, उत्प्रेक्षा और उपमामें अन्तर ११६, उपमा और इलेपमें अन्तर ११६, उपमा और अनन्वयमें अन्तर ११६, उपमा और उपमेयोपमामें द्विधियोग ११६, समासोक्ति और अपस्तुत प्रशंसामें अन्तर ११७, पर्यायोक्ति और अपस्तुत प्रशंसामें भिन्नता ११७, अनुमान और काव्यलिंगमें भिन्नता ११७, सामान्य और मिलन अलंकारमें भिन्नता ११७, उदात्त और परिसंख्या अलंकारमें भेद ११८, रामायि और रामकथ्य अलंकारमें भेद ११८, व्याजस्तुति और अपह्नुतिमें भेद ११८, मौलन, सामान्य और व्याजोक्तिकी व्यवस्था ११८, अलंकार चिन्तामणिके अनुसार अलंकार ११९, उपमालंकारका लक्षण १२०, उपमाका उदाहरण १२१, इलेप और उपमाके स्पष्टीकरणका उदाहरण १२१, उदाहरण १२२, उदाहरण १२३, उपमाके भेद १२४, पूर्णोपमाका लक्षण १२४, लृप्तोपमाका लक्षण १२४, पूर्णोपमाके भेद १२५, श्रौती और आर्थीके लक्षण १२५, पूर्णोपमाके भेदोंका निरूपण १२५, वाक्यगता श्रौती उपमाका उदाहरण १२५, श्रौती समासगताका उदाहरण १२५, तद्धितगता श्रौती उपमाका उदाहरण १२६, वाक्यगता आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण १२६, समासगता आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण १२६, तद्धितगता आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण १२६, वाक्यगता अनुक्तधर्मा श्रौती लृप्तोपमाका उदाहरण १२७, समासगता अनुक्तधर्मा श्रौती लृप्तोपमाका उदाहरण १२७, वाक्यगता अनुक्तधर्मा आर्थी लृप्तोपमाका उदाहरण १२७, समासगता अनुक्तधर्मा

आर्थी लुप्तोपमाका उदाहरण १२०, तद्धितगता अनुक्तधर्मा आर्थी लुप्तोपमा
 १२८, अनुक्तधर्म और लुप्तोपमाका उदाहरण १२८, कर्मणमा अनुक्तधर्मा
 लुप्तोपमाका उदाहरण १२८, कर्तृणमा अनुक्तधर्मा लुप्तोपमाका उदाहरण
 १२८, विषया अनुक्तधर्मा लुप्तोपमाका उदाहरण १२९, कर्मकयन् अनुक्तधर्मा
 लुप्तोपमाका उदाहरण १२९, ययन् अनुक्तधर्मा लुप्तोपमाका उदाहरण १२९,
 अकथित उपमान लुप्तोपमाका उदाहरण १३०, समासगा लुप्तोपमाका १३०,
 वाक्य धर्मोपमानिका समासगा लुप्तोपमा १३०, अनुक्तधर्मा इवादि सामान्य-
 वाचक लुप्तोपमा १३१, समासस्थित... लुप्तोपमा १३१, एकवार साधर्म्य निर्देश-
 का उदाहरण १३१, वस्तु प्रतिवस्तुभावका उदाहरण १३२, बिम्बप्रतिबिम्बभाव
 का उदाहरण १३२, समस्त विषयाका उदाहरण १३२, एक देश विद्वसिनीका
 उदाहरण १३३, मालोपमाका उदाहरण १३३, धर्मोपमाका उदाहरण १३३,
 वस्तुपमाका उदाहरण १३४, विपर्ययोपमालंकार १३४, अन्योन्योपमालंकार
 १३४, नियमोपमालंकार १३४, अनियमोपमा १३४, समुच्चयोपमा १३५,
 अतिशयोपमा १३५, मोहोपमा १३५, संशयोपमा १३५, निश्चयोपमा १३५,
 श्लेषोपमा १३६, सन्तानोपमा १३६, निन्दोपमा १३६, प्रशंसोपमा १३६,
 आचिख्यासोपमा १३६, विरोधोपमा १३७, प्रतिषेधोपमा १३७, चाटूपमा
 १३७, तत्त्वाख्यायोपमा १३७, असाधारणोपमा १३७, अभूतोपमा १३७,
 असम्भावितोपमा १३८, विक्रियोपमा १३८, प्रतिवस्तूपमा १३८, उपमा
 और अर्थान्तरन्यासमें अन्तर १३८, तुल्ययोगोपमा १३९, उदाहरण १३९,
 हेतूपमा १३९, निर्दोष उपमाका औचित्य १३९, सादृश्यवाचक शब्द १४०,
 अतन्व्यालंकार १४१, उदाहरण १४१, उपमेयोपमाका लक्षण १४२,
 उपमेयोपमाका उदाहरण १४२, स्मरणालंकारका लक्षण १४२, स्मरणालंकार
 का उदाहरण १४२, रूपकालंकारकी परिभाषा और उसकी व्यवस्था १४३,
 उदाहरण १४४, एकदेशवर्ती रूपक १४४, मालानिरवयवका उदाहरण १४५,
 केवलश्लिष्ट परम्परितका उदाहरण १४६, श्लिष्टमाला परम्परितका उदाहरण
 १४६, केवल अश्लिष्ट परम्परितका उदाहरण १४७, अश्लिष्टमाला परम्परित-
 का उदाहरण १४७, सादृश्यके न होनेपर भी अश्लिष्टमालाका परम्परित होना
 १४७, व्यस्तरूपक या वाक्यगत रूपकका उदाहरण १४८, समासगत रूपक
 १४८, अयुक्तरूपक १४९, युक्तरूपक १४९, हेतुरूपक १४९, तत्त्वापह्नुक्ति
 रूपक १४९, रूपक-रूपक १४९, समाधानरूपक १५०, परिणामालंकार
 स्वरूप और भेद १५०, सन्देहालंकार १५१, सन्देहालंकारके भेद
 १५१, शुद्धा सन्देहालंकारिका उदाहरण १५१, निश्चयगर्भा सन्देहा-
 लंकारिका उदाहरण १५२, निश्चयान्ता सन्देहालंकारिका उदाहरण १५२,
 भ्रान्तिमान् अलंकारका स्वरूप १५२, भ्रान्तिमान्का उदाहरण १५३, अप-

क्लृप्तिका स्वरूप और उसके भेद १५३, आरोप्याह्व और अपह्वारोपके उदाहरण १५४, छलादि शब्दों द्वारा असत्य प्रलाप—कैतवापह्वृतिका उदाहरण १५४, उल्लेखालंकारका स्वरूप १५४, उल्लेखका उदाहरण १५४, बलेयप्रयोगस्य उल्लेखका उदाहरण १५५, उत्प्रेक्षालंकारका स्वरूप १५५, उदाहरण १५६, जातिफलोत्प्रेक्षाका उदाहरण १५६, जात्यभाव फलोत्प्रेक्षाका उदाहरण १५७, क्रियास्वरूपगा उत्प्रेक्षाका उदाहरण १५७, क्रियास्वरूपता उत्प्रेक्षाका उदाहरण १५७, क्रियाहेतुत्प्रेक्षाका उदाहरण १५७, क्रियाफलोत्प्रेक्षाका उदाहरण १५८, क्रियाभावफलोत्प्रेक्षाका उदाहरण १५८, गुणस्वरूपगा उत्प्रेक्षाका उदाहरण १५८, अतिशयोक्तिअलंकारका स्वरूप १५८, अतिशयोक्तिके भेद १५९, भेदमें अभेद वर्णनारूप अतिशयोक्तिका उदाहरण १५९, अभेदमें भेद वर्णनारूप अतिशयोक्तिका उदाहरण १५९, सम्बन्धमें अराम्बन्ध वर्णनारूप अतिशयोक्तिका उदाहरण १६०, असम्बन्धमें सम्बन्ध वर्णनारूप अतिशयोक्तिका उदाहरण १६१, अन्य उदाहरण १६१, कार्यकारणभावनियम विपर्यय-वर्णनारूप अतिशयोक्तिका स्वरूप १६२, उदाहरण १६२, सहोक्तिका स्वरूप १६२, सहोक्ति अलंकारके भेद १६३, प्रथम भेदका उदाहरण १६३, द्वितीय भेदका उदाहरण १६३, विनोक्ति का स्वरूप और भेद १६४, अरम्यता या अशोभन-विनोक्तिका उदाहरण १६४, रम्यताविशिष्ट—शोभन विनोक्तिका उदाहरण १६४, समासोक्ति अलंकारका स्वरूप १६५, भेद १६५, रिक्तविशेषणसाम्या समासोक्तिका उदाहरण १६५, समासोक्तिका उदाहरण १६६, वक्रोक्ति अलंकारका स्वरूप १६७, वक्रोक्तिका उदाहरण १६७, स्वभावोक्ति अलंकारका स्वरूप १६७, उदाहरण १६८, व्याजोक्ति अलंकारका स्वरूप १६८, उदाहरण १६८, मीलनालंकारका स्वरूप १६९, महजवस्तुसे आगन्तुकका तिरोधानरूप मीलनका उदाहरण १६९, आगन्तुकसे सहज तिरोधानका लक्षण १७०, सामान्यालंकारका स्वरूप १७०, सामान्य अलंकारका उदाहरण १७०, तद्गुण अलंकारका स्वरूप १७१, तद्गुण अलंकारका उदाहरण १७१, अतद्गुणका लक्षण १७२, उदाहरण १७२, विरोधके भेद १७२, जातिसे जातिका विरोधाभास १७३, जातिसे क्रियाका विरोधाभास १७३, जातिका गुणसे विरोधाभास १७३, जातिका द्रव्यके साथ विरोधाभास १७४, अन्विचय क्रिया विरोधका उदाहरण १७४, गुणसे क्रियाका विरोध १७४, द्रव्यके साथ क्रियाका विरोधाभास १७५, गुणके साथ क्रियाका विरोध १७५, द्रव्यसे गुणका विरोध १७५, द्रव्यसे द्रव्यका विरोध १७५, विशेष अलंकारका स्वरूप और भेद १७६, प्रथम विशेषका लक्षण एवं उदाहरण १७६, द्वितीय विशेषका लक्षण एवं उदाहरण १७६, तृतीय विशेषका स्वरूप एवं उदाहरण १७७, अधिक अलंकारका स्वरूप और भेद १७७, आधेयकी

बहुलताका उदाहरण १७७, आधारकी अधिकता और आवेयकी अल्पतारूप अधिक अलंकार १७८, विभावना अलंकारका स्वरूप १७८, विशेषोक्ति अलंकारका स्वरूप १७९, विभावना अलंकारका उदाहरण १७९, विशेषोक्ति अलंकारका उदाहरण १७९, असंगति अलंकारका लक्षण १७९, असंगति अलंकारका उदाहरण १८०, विचित्रालंकारका लक्षण १८०, विचित्रालंकारका उदाहरण १८०, अन्योन्यालंकारका लक्षण १८१, अन्योन्यालंकारका उदाहरण १८१, विरोधमूलक विषमालंकारका लक्षण १८१, विषमालंकारका उदाहरण १८२, तृतीय विषमालंकारका उदाहरण १८२, सम अलंकारका स्वरूप और उदाहरण १८२, तुल्ययोगिता अलंकारका स्वरूप १८३, तुल्ययोगिताका उदाहरण १८३, अप्रस्तुतोंके सम्बन्धमें तुल्ययोगिताका उदाहरण १८३, अन्य उदाहरण १८४, अन्य द्वारा कथित प्रकारान्तरसे तुल्ययोगिताका उदाहरण और लक्षण १८३, दीपक अलंकारका स्वरूप और भेद १८४, आदि दीपकका उदाहरण १८५, मध्यदीपकका उदाहरण १८५, बन्धुदीपकका उदाहरण १८५, प्रतिबस्तूपमाका स्वरूप १८६, अन्वय प्रतिबस्तूपमाका उदाहरण १८६, व्यतिरेक प्रतिबस्तूपमाका उदाहरण १८७, अन्य उदाहरण १८७, दृष्टान्तालंकारका स्वरूप और भेद १८७, उदाहरण १८८, निदर्शनालंकारका स्वरूप और भेद १८९, उदाहरण १८९, व्यतिरेकालंकारका स्वरूप और भेद १९०, व्यतिरेक अलंकारका उदाहरण १९०, अन्य उदाहरण १९१, प्रथम श्लेषका उदाहरण १९१, द्वितीयश्लेषका उदाहरण १९१, परिकर अलंकार का स्वरूप और उदाहरण १९२, परिकरांकुर अलंकारका स्वरूप और उदाहरण १९२, आक्षेपालंकारका स्वरूप १९२, आक्षेपालंकारके भेद १९२, प्रथमाक्षेपालंकारका उदाहरण १९३, द्वितीयाक्षेपालंकार १९३, तृतीयाक्षेपालंकारका उदाहरण १९३, चतुर्थाक्षेपालंकारका उदाहरण १९४, अन्य उदाहरण १९४, अन्याचार्य द्वारा प्रणीत आक्षेपका लक्षण १९५, उदाहरण १९५, व्याजस्तुति अलंकारका लक्षण और भेद १९५, प्रथम व्याजस्तुतिका उदाहरण १९६, द्वितीय व्याजस्तुतिका उदाहरण १९६, अप्रस्तुत प्रशंसाका स्वरूप १९६, अप्रस्तुत प्रशंसाका उदाहरण १९७, पर्यायोक्ति अलंकारका स्वरूप १९८, प्रतीप अलंकारका स्वरूप और उसके भेद १९९, प्रथम प्रतीपका उदाहरण १९९, द्वितीय प्रतीपका उदाहरण १९९, काव्यालिंग अलंकारका स्वरूप २००, अनुमानालंकारका उदाहरण २००, काव्यालिंगका उदाहरण २००, अर्थान्तरन्यासका स्वरूप २०१, सामान्यसे विशेषका समर्थनरूप अर्थान्तरन्यासका उदाहरण २०१, विशेष द्वारा सामान्य समर्थनरूप अर्थान्तरन्यासका उदाहरण २०१, विशेषसे विशेषका कथनरूप अर्थान्तरन्यासका उदाहरण २०२, कार्यकारणभाव अर्थान्तरन्यासका उदाहरण

उदाहरण २०२, यथासंख्य अलंकारका स्वरूप २०३, यथासंख्यका उदाहरण २०३, अर्थापत्ति अलंकारका स्वरूप २०३, अर्थापत्तिका उदाहरण २०३, अन्य उदाहरण २०४, परिसंख्याका स्वरूप २०४, शाब्दवर्ज्या प्रश्नपूर्वक परिसंख्याका उदाहरण २०४, अर्थवर्ज्या प्रश्नपूर्वा परिसंख्याका उदाहरण २०४, अप्रश्नपूर्वा शाब्दवर्ज्या परिसंख्याका उदाहरण २०५, अर्थवर्ज्या अप्रश्नपूर्वा परिसंख्याका उदाहरण २०५, श्लेषजन्य चाकृत्वातिशयरूपा परिसंख्या २०५, उत्तरालंकारका लक्षण २०६, उदाहरण २०६, विकल्पालंकारका लक्षण २०७, उदाहरण २०७, समुच्चयका लक्षण २०७, उदाहरण २०८, गुण और क्रियाके समूहसे युक्त उदाहरण २०८, समाधि अलंकारका लक्षण २०९, उदाहरण २०९, भाषिक अलंकारका लक्षण २१०, उदाहरण २१०, प्रेयस् और रसवद् अलंकारोंके लक्षण २११, प्रेयस्का उदाहरण २११, रसवद् अलंकारका लक्षण २११, ऊर्जस्वी और प्रत्यनीक अलंकारोंके लक्षण २१२, उदाहरण २१२, व्याघात अलंकारका स्वरूप २१३, उदाहरण २१३, पयसि अलंकारका स्वरूप और भेद २१३, उदाहरण २१४, सूक्ष्म अलंकारका स्वरूप २१४, उदाहरण २१४, उदात्त अलंकारका स्वरूप २१५, उदाहरण २१५, परिवृत्ति अलंकारका स्वरूप २१५, सम्परिवृत्तिका उदाहरण २१६, न्युनाधिक परिवर्तका उदाहरण २१६, कारणमालालंकारका स्वरूप २१६, उदाहरण २१६, एकावली अलंकारका स्वरूप २१७, उदाहरण २१७, अपोह अर्थात्—निषेधका उदाहरण २१७, मालादोषकालंकारका स्वरूप २१७, उदाहरण २१७, सारालंकारका स्वरूप और उदाहरण २१८, संसृष्टि अलंकारका स्वरूप और भेद २१९, शब्दालंकार संसृष्टिका उदाहरण २१९, अर्थालंकार संसृष्टिका उदाहरण २१९, शब्दार्थोभय संसृष्टिका उदाहरण २२०, संकर अलंकारका स्वरूप २२०, संकरके भेद २२०, उदाहरण २२१ ।

पंचम परिच्छेद

.... २२४-३३८

समवेदन या इन्द्रियज्ञानका स्वरूप २२४, स्थायीभावका स्वरूप २२४, स्थायीभावके भेद २२५, स्थायीभावोंका स्वरूप २२५, विभावका स्वरूप २२६, आलम्बन विभावका स्वरूप २२७, उद्दीपन विभावका स्वरूप २२७, उद्दीपनकी चार प्रकारकी स्थिति २२७, आलम्बनके गुण २२८, नायिकाओंके अलंकार २२८, अनुभावका स्वरूप २२९, रात्व और सात्त्विका स्वरूप २२९, सात्त्विक भावके भेद २२९, सात्त्विक भावके भेदोंका स्वरूप २३०, संचारी भावका स्वरूप २३१, संचारी भावोंके भेद २३१, संचारी भावोंके स्वरूप और उदाहरण २३२, भय, शंका, ग्लानि २३२, चिन्ता, श्रम, धृति, जाड्य २३३, गर्क, निर्वेद, कार्पण्य और दैन्य २३४,

क्रीड, ईर्ष्या, हर्ष, उन्नता २३५, स्मृति, मृति और मरण, मद्र २३६, उद्बोध,
 निद्रा, जवहिरथा, तर्क, श्रौडा २३७, आवेग २३८, मोह, मति, आलस्य,
 उन्माद २३९, अपस्मार, व्याधि, सुप्ति २४०, औत्सुक्य, विपाद, चापत्य
 २४१, रसकी स्थिति २४२, कामकी रस अवस्थाएँ २४२, चक्षु प्रीति और
 आसक्ति २४३, संकल्प और जागरण २४३, कृशता और विषय विद्वेषण २४४,
 लज्जानाश और उन्माद २४५, मूर्च्छा और मृति २४५, प्रलाप और संज्वर
 २४६, रसका स्वरूप २४७, रसके भेद २४७, सम्भोग शृंगार २४७,
 सम्भोग शृंगारके भेद २४८, नायिकाओंके चार भेद २४८, स्वकीया नायिका
 २४८, परकीया और अनुहा २४९, परकीयाके भेद २४९, वारांगना २४९,
 विप्रलम्भ शृंगार २४९, हास्यरस २४९, हास्यरसकी अन्य सामग्री २५०,
 कण्ठरस २५१, रीदरस २५१, रीदरसके आलम्बन और उद्दीपन २५२,
 रीदरसके अनुभाव और सात्त्विक भाव २५२, वीररसका स्वरूप और उसके
 भेद २५२, वीररसके आलम्बन और उद्दीपन विभाव २५३, वीररसके
 अनुभाव २५३, भयानक रस २५४, भयानक रसके आलम्बन और उद्दीपन
 विभाव २५४, भयानक रसके अनुभाव और व्यभिचारी भाव २५४, वीभत्स
 रस २५४, वीभत्स रसके आलम्बन और उद्दीपन विभाव २५५, वीभत्स
 रसके सात्त्विक और व्यभिचारी भाव २५५, अद्भुतरस २५५, अद्भुत रसके
 आलम्बन और उद्दीपन विभाव २५६, अद्भुत रसके अनुभाव और व्यभिचारी
 भाव २५६, शान्तरस २५७, शान्तरसके आलम्बन और उद्दीपन विभाव २५७,
 शान्तरसके अनुभाव और सात्त्विक भाव २५७, शान्तरसके व्यभिचारी भाव
 २५७, रसोंका परस्पर विरोध २५८, रसोंकी निष्पत्तिका हेतु २५८, रसोंके
 वर्ण और देवता २५८, रीतिका स्वरूप और उसके भेद २५९, वैदर्भी रीति
 २५९, गौड़ी रीति और उसका उदाहरण २५९, पांचाली रीति और उसका
 उदाहरण २६०, द्राव्या और पाक २६१, द्राव्यापाक और नारिकेल पाकका
 स्वरूप २६१, काव्य सामग्री २६२, रूढ़ २६३, यौगिक २६४, अर्थप्रकार एवं
 वृत्तियोंका स्वरूप २६६, जहलक्षणका उदाहरण २६७, अजहलक्षणका
 उदाहरण २६७, साध्यवसाया लक्षणाका स्वरूप और उदाहरण २६८,
 व्यंजना वृत्तिका स्वरूप और उसके भेद २६८, वृत्तिका स्वरूप और उसके
 भेद २७०, रसोंके स्वभाव २७०, कौशिकी वृत्तिका स्वरूप २७०, उदाहरण
 २७१, आरभटी वृत्तिका स्वरूप २७१, सात्वती वृत्तिका स्वरूप २७१,
 उदाहरण २७२, भारती वृत्तिका स्वरूप और उदाहरण २७२, वृत्तियोंका
 साधारणत्व २७२, मध्यमा आरभटी और मध्यमा कौशिकीका स्वरूप २७३,
 मध्यमा कौशिकीका उदाहरण २७३, मध्यमा आरभटीका उदाहरण २७३,
 शोभा और उसका उदाहरण २७४, काव्यके भेद २७४, गुणोभूत वा मध्यम

काव्यका उदाहरण २७५, ध्वनि काव्य २७५, शब्दचित्रका उदाहरण २७६,
 अर्थचित्रका उदाहरण २७६, शब्दार्थ चित्रका उदाहरण २७६, व्यंजनाका
 स्वरूप २७७, अर्थविशेषके कारण २७७, उदाहरण २७७, दोषकी परिभाषा
 और उसका भेद २७९, नेयार्थका स्वरूप और उदाहरण २७९, अगुष्टार्थका
 स्वरूप और उदाहरण २७९, निरर्थकका स्वरूप और उदाहरण २८०,
 अन्यार्थका स्वरूप और उदाहरण २८०, गूढार्थ दोषका स्वरूप और
 उदाहरण २८०, त्रिरुद्राजका स्वरूप और उदाहरण २८०, ग्राम्यदोषका
 स्वरूप और उदाहरण २८१, क्लिष्टार्थदोष और उसका उदाहरण
 २८१, सन्दिग्धत्व और उसका उदाहरण २८१, अश्लीलत्व दोष
 और उसके भेद २८२, अप्रतीतित्व दोष और उसका उदाहरण २८२,
 च्युतसंस्कारका स्वरूप और उदाहरण २८२, परुषत्व दोषका स्वरूप और
 उदाहरण २८३, अविमृष्ट विधेयांशदोष २८३, अप्रयोजक दोष २८३,
 असमर्थत्व दोष २८३, चौबीस वाक्यदोष २८४, (१) छन्दश्च्युत (२)
 रीतिच्युत (३) यतिच्युत २८४, (४) क्रमच्युत (५) अंगच्युत (६) शब्दच्युत
 २८५, (७) सम्बन्धच्युत (८) अर्थच्युत (९) सन्धिच्युत (१०) व्याकीर्ण २८६
 (११) पुनरुक्तदोष (१२) अस्थिति समाप्त (१३) विसर्गलुप्त २८७, (१४)
 वाक्याकीर्ण (१५) सुवाक्यगमित (१६) पतत्रकर्षता २८८, (१७) प्रक्रमभंग
 (१८) न्यूनोपमदोष (१९) उपमाधिक २८९, (२०) अधिकपद (२१-२२)
 भिन्नोक्ति और भिन्नलिङ्ग (२३) समाप्तपुनरात (२४) अपूर्णदोष २९०,
 जर्ब दोष २९१, (१) एकार्थ (२) अपार्थ (३) व्यर्थ २९१, (४) भिन्नार्थ
 (५) अक्रमार्थ दोष (६) परुषार्थ दोष (७) अलंकार हीनार्थ दोष (८)
 अप्रसिद्धोपमार्थ दोष २९२, (९) हेतुशून्यदोष (१०) विरस दोष (११) राहचर
 भ्रष्ट २९३, (१२) संशयाकाक्ष (१३) अश्लील (१४) अतिमात्र दोष (१५)
 विसदृश (१६-१७) समताहीन और सामान्य साम्य २९४, (१८) विरुद्ध २९५,
 देयाविरुद्ध और लोकविरुद्ध २९५, आगम-स्ववचन-प्रत्यक्ष विरोध २९५, अवस्था
 विरोध २९५, नाम दोष २९५, गुण २९९, (१) वल्लेपके गुण २९९, (२-३)
 भाविक और सम्मितत्व ३००, (४) समता (५-६) सामर्थ्य और रीति
 ३०१, (७) उक्ति (८) माधुर्य (९) गुकुमारता ३०२, (१०) गति (११)
 समाधि (१२) कान्ति ३०३, (१३) औजित्य (१४) अर्थव्यक्ति (१५)
 औदार्य ३०४, (१६) प्रसाद ३०५, (१७-१८) रौदम्य और ओज (१९)
 विस्तर ३०६, (२०) सूक्ति (२१) प्रौढ़ि (२२) उदात्तता ३०७, (२३) प्रेषान्
 (२४) संक्षेपक ३०८, नायकके गुण ३०९, नायकके भेद ३०९, श्रीरोदान्तका
 स्वरूप ३०९, उदाहरण ३०९, धीरललित ३०९, उदाहरण ३१०,
 धीरमान्त ३१०, उदाहरण ३१०, धीरोद्धत ३१०, उदाहरण ३११,

रसानुसार नायकोंकी व्यवस्था ३११, शृंगार रसानुसार नायकोंके उभेद ३११, नायकोंके अन्य भेद ३१३, विदूषक और विद् ३१३, पीठमर्द और प्रतिनायक ३१३, सत्त्वोत्पन्न मुवावस्थाके गुण सात्त्विक गुण ३१३, मग्भीरता ३१३, स्थैर्य, माधुर्य और तेज ३१४, शोभा और विलास ३१४, औदार्य और ललित ३१४, नायिकाओंके भेद ३१४, स्वकीया ३१५, उदाहरण ३१५, परकीयाके भेद ३१५, उदाहरण ३१५, मणिका ३१६, स्वकीयानायिकाके भेद और मुग्धाका स्वरूप ३१६, उदाहरण ३१६, मध्याका स्वरूप ३१६, प्रगल्भाका स्वरूप ३१७, उदाहरण ३१७, मध्यानायिकाके भेद ३१७, धीरा-मध्याका उदाहरण ३१७, धीराधीराका उदाहरण ३१८, अधीराका उदाहरण ३१८, मध्या अधीराका उदाहरण ३१८, प्रगल्भा नायिकाके भेद ३१९, प्रौढ़ा-अधीराका उदाहरण ३१९, प्रगल्भा धीरा-धीराका उदाहरण ३१९, प्रगल्भा अधीरा ३२०, मध्या और प्रगल्भा नायिकाके भेद ३२०, स्वाधीनपतिका और वासकसज्जिका ३२१, उदाहरण ३२१, कलहान्तरिता और क्षण्डिता नायिका ३२२, कलहान्तरिताका उदाहरण ३२२, खण्डिताका उदाहरण ३२२, विप्रलब्धा और प्रीवितभर्तृका ३२२, विप्रलब्धाका उदाहरण ३२३, प्रीवितभर्तृकाका उदाहरण ३२३, विरहोत्कण्ठिता और अभिसारिका ३२३, विरहोत्कण्ठिताका उदाहरण ३२३, अभिसारिकाका उदाहरण ३२४, दूतियाँ ३२४, स्त्रियोंके सात्त्विक भाव ३२४, सत्त्व और भावका स्पष्टीकरण ३२५, हाव-भाव ३२५, हेला ३२६, उदाहरण ३२६, शोभा ३२६, उदाहरण ३२६, कान्ति ३२७, उदाहरण ३२७, दीप्ति ३२७, उदाहरण ३२७, प्रागल्भ्य ३२७, उदाहरण ३२८, माधुर्य ३२८, उदाहरण ३२८, धैर्य ३२८, उदाहरण ३२८, औदार्य ३२९, उदाहरण ३२९, लीला ३२९, उदाहरण ३२९, विलास ३२९, उदाहरण ३२९, ललित ३३०, उदाहरण ३३०, किलकिञ्चित ३३०, उदाहरण ३३०, विभ्रम ३३१, उदाहरण ३३१, कुट्टमित ३३१, उदाहरण ३३१, मोट्टायित ३३१, बिम्बोक ३३२, उदाहरण ३३२, विच्छिन्ति ३३३, उदाहरण ३३३, व्याहृत ३३३, उदाहरण ३३३ ।

| | | |
|----------|------|---------|
| प्रशस्ति | | ३३५ |
| परिशिष्ट | | ३३७-३८७ |

[General Editorial on Page 1-6]

अलंकारचिन्तामणिः

प्रथमः परिच्छेदः

श्रीमते सर्वविज्ञानसाम्राज्यपदशालिने ।
धर्मचक्रेशिने सिद्धशान्तयेऽस्तु नमो नमः ॥१॥
जगदानन्दिनीं तापहारिणीं भारतीं सतीम् ।
श्रीमतीं चन्द्ररेखाभां नमामि विबुधप्रियाम् ॥२॥
श्रीमत्समन्तभद्रादिकविकुञ्जरसंचयम् ।
मुनिवन्द्यं जनानैन्दं नमामि वचनश्रिये ॥३॥
अलंकारमलंकारचिन्तामणिसमाह्वयम् ।
इष्टालंकारदं सूरिचेतोरञ्जनदं ब्रुवे ॥४॥

हिन्दी अनुवाद

संगलाचरण—शान्तिनाथ भगवान्को नमस्कार—

सम्पूर्ण विज्ञानरूपी साम्राज्यपदको सुशोभित करनेवाले केवलज्ञानी, धर्मचक्रके स्वामी, धर्मोपदेष्टा, धर्मचक्रप्रवर्तक एवं अनन्तचतुष्टयरूपी अन्तरंग और समवसारण, दिव्यध्वनि आदि बहिरंग लक्ष्मीवान् श्रीमान् शान्तिनाथ भगवान्को नमस्कार हो ॥१॥

सरस्वती—जिनवाणीको नमस्कार—

संसारको आनन्द प्रदान करनेवाली, जगत्-सन्तापको दूर करनेवाली, विद्वानोंकी प्रिय, चन्द्रमाकी रेखाके समान स्वच्छ प्रकाशमान—श्वेत वर्णवाली और सभी प्रकारकी शोभासे युक्त भगवती सरस्वती—जिनवाणीको नमस्कार करता हूँ ॥२॥

समन्तभद्रादि कवियोंको नमस्कार—

वाणीकी समृद्धि-प्राप्ति करनेके हेतु—कवित्व-सिद्धिके लिए मैं मुनिसमूहसे वन्दनीय सम्पूर्ण मानव-समाजको आनन्दित करनेवाले एवं ज्ञानादि लक्ष्मीयुक्त समन्त-भद्रादि श्रेष्ठ कविवृन्दको नमस्कार करता हूँ ॥३॥

ग्रन्थप्रणयनकी प्रतिज्ञा—

दृष्ट—अभोष्ट अलंकार ज्ञानको प्राप्त करानेवाले और विद्वानोंके चित्तको अनुरजित करनेवाले अलंकारचिन्तामणि नामक इस अलंकार ग्रन्थकी रचना करता हूँ ॥४॥

अत्रोदाहरणं पूर्वपुराणादिसुभाषितम् ।

पुण्यपुरुषसंस्तोत्रपरं स्तोत्रमिदं ततः ॥५॥

सन्तः सन्तु मम प्रसन्नमनसो वाचां विचारोद्यताः

सूतेऽम्भः कमलानि तत्परिमलं बाला विलम्बित्यः अत् ।

किं वाभ्यर्थनयानया यदि गुणोऽस्त्यासां ततस्ते स्वयं

कर्तारः प्रथमं न चेदथ यशःप्रत्यर्थिना तेन किम् ॥६॥

शब्दाश्लिङ्कतीदं नवरसकलितं रीतिभावाभिरामम्

व्यंग्याद्यर्थं विदोषं गुणगणकलितं नेतृसद्वर्णनाद्धम् ।

लोको द्वन्द्वोपकारि स्फुटमिह तनुतात् काव्यमग्र्यं सुखार्थी

नानाशास्त्रप्रवीणः कविरतुलमतिः पुण्यधर्मोऽहेतुम् ॥७॥

ग्रन्थके स्तोत्रश्लोकी सिद्धि—

इस अलंकार ग्रन्थमें अलंकारोंके उदाहरण प्राचीन पुराण ग्रन्थ, सुभाषित-ग्रन्थ एवं पुण्यपुरुष शलाकापुरुषोंके स्तोत्रोंसे उपस्थित किये गये हैं, अतः यह ग्रन्थ भी एक प्रकारसे स्तोत्र ग्रन्थ है ॥५॥

सज्जन-प्रशंसा और आत्मलघुता—

वाणीके विचार करनेमें तत्पर—काव्यके गुण-दोषोंके विचार करनेमें समर्थ सज्जन विद्वान् मुझपर प्रसन्न हों; क्योंकि जल र पत्तियोंको उत्पन्न करता है और पवन उन कमलोंकी सुगन्धको दूर-दूर तक व्याप्त कर देता है । आशय यह है कि कवि काव्य-रचना करता है और सहृदय आलोचक उसके गुणोंका विस्तार करते हैं ।

अथवा सज्जनोंसे इस प्रकारकी प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं, यतः मेरी इस वाणीके विलासमें यदि गुण हैं, तो वे स्वयं ही मेरे इस अलंकार ग्रन्थका विस्तार करेंगे । यदि मेरे इस अलंकार ग्रन्थमें कोई गुण नहीं है, तो अपकोति फैलानेवाले इस अलंकार ग्रन्थके विस्तारसे—प्रसारसे क्या लाभ ? ॥६॥

काव्यका स्वरूप—

सुख चाहनेवाला, अनेक शास्त्रोंका ज्ञाता और अत्यन्त प्रतिभाशाली कवि शब्दा-लंकार और अर्थालंकारोंसे युक्त, शृंगारादि नव रसोंसे सहित, वैदर्भी इत्यादि रीतियोंके सम्यक् प्रयोगसे सुन्दर, व्यंग्यादि अर्थोंसे समन्वित, श्रुतिकणु इत्यादि दोषोंसे शून्य, प्रसाद, माधुर्य आदि गुणोंसे युक्त, नायकके चरित्रवर्णनसे सम्पृक्त, उभयलोक हितकारी एवं सुस्पष्ट काव्य ही उत्तम काव्य होता है । तात्पर्य यह है कि कवियोंको पूर्वोक्त लक्षणोंसे युक्त काव्यका प्रणयन करना चाहिए ॥७॥

प्रतिभोज्जीवनो नानावर्णनानिपुणः कृती ।
 नानाभ्यासकुशाग्रोयमतिव्युत्पत्तिमान् कविः ॥८॥
 व्युत्पत्त्यभ्याससंस्कार्या शब्दार्थघटनाघटा^३ ।
 प्रज्ञा नवनबोल्लेखशालिनी प्रतिभास्य घीः ॥९॥
 छन्दोऽलंकारशास्त्रेषु गणिते कामतन्त्रके ।
 शब्दशास्त्रे कलाशास्त्रे तर्कध्यात्मादितन्त्रके ॥१०॥
 पारम्पर्योपदेशेन निपुण्यपरशालिनी ।
 प्रतिपत्तिविशेषेण व्युत्पत्तिरभिधीयते ॥११॥

कविकी योग्यता—

प्रतिभाशाली, विविध प्रकारकी घटनाओंके वर्णन करनेमें दक्ष, सभी प्रकारके व्यवहारमें निपुण, नानाप्रकारके शास्त्रोंके अध्ययनसे कुशाग्रबुद्धिकी प्राप्त एवं व्याकरण, न्याय आदि ग्रन्थोंके अध्ययनसे व्युत्पत्तिमान् कवि होता है। आशय यह है कि कविकी योग्यतामें आचार्यने प्रतिभा, वर्णनकमता, अनेक शास्त्रोंका अभ्यास एवं व्युत्पत्तिकी परिगणित किया है ॥८॥

काव्यरचनाके हेतु—

ग्रन्थोंके अभ्यास—अध्ययनसे संस्कृत—उत्पन्न व्युत्पत्ति, शब्द और अर्थयुक्त रचनाके गुणनकी क्षमतारूपी प्रज्ञा एवं प्रतिक्षण नये-नये विषयोंको कल्पित करनेकी शक्तिरूपी बुद्धि प्रतिभा कहलाती है। काव्यरचनामें व्युत्पत्ति, प्रज्ञा और प्रतिभा ये तीन कारण हैं। यही यह ध्यातव्य है कि मम्मट आदि आचार्योंने जिसे निपुणताको संज्ञा दी है, उसे ही प्रकारान्तरसे प्रज्ञा कहा है। निपुणता शब्दका अभिप्राय शब्द और अर्थयुक्त काव्यरचना करनेकी क्षमता से है। प्रज्ञा और निपुणता में अन्तर है; प्रज्ञामें निपुणतासे अधिक भाव निहित है। कल्पनाजन्य सभी प्रकारके चमत्कारोंका समावेश प्रज्ञामें होता है ॥९॥

व्युत्पत्तिका स्वरूप—

छन्दशास्त्र, अलंकारशास्त्र, गणित, कामशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, शिल्पशास्त्र, तर्कशास्त्र—न्यायशास्त्र एवं अध्यात्मशास्त्रोंमें गुरुपरम्परासे प्राप्त उपदेश द्वारा अर्जित निपुणता—बहुज्ञताको व्युत्पत्ति कहते हैं ॥१०-११॥

१. लौकिकव्यवहारेषु निपुणता व्युत्पत्तिः—'ख'प्रती टिप्पण्यम् । २. घटनास्फुटा—क ।
 ३. परिशालिनी—क । ४. काव्यविलिख्यया पुनः पुनः प्रवृत्तिरभ्यासः । ५. लोकव्यवहारेषु निपुणता व्युत्पत्तिः । ६. त्रैकालिकी बुद्धिः प्रज्ञा ।

गुण्णामन्तिके नित्यं काव्ये यो रचनापरः ।

अभ्यासो भण्यते सोऽयं तत्कामैः कश्चिदुच्यते ॥१२॥

जनानां दृष्टव्यापारैश्छन्दोऽभ्यासो यथा—

अम्भोभिः संभूतः कुम्भः शोभते पश्य भो सखे ।

शुभः शुभ्रपटो भ्राति सितिमानं प्रपश्य भोः ॥१३॥

वधू रमेव भातीयं नरो भाः ३ स्मरो यथा ।

उखा भात्यन्नपूर्णेयं सखा भ ३ विधूपमः ॥१४॥

शय्योत्थितः कृतस्नानो वराक्ष १ समन्वितः ।

गत्वा देवार्चनं कृत्वा श्रुत्वा शा ३ गृहं गतः ॥१५॥

एवमत्रैव छन्दांस्यभ्यसेत् ॥

मनश्छन्दोऽन्तरे यथा—

सा भासते चन्द्रमसः कलेयं, जिनेशिनो वागिव मन्मनोज्ञा ।

प्रत्यधिपृथ्वीभूदनेकदन्तिकण्ठीरवोऽभूद्भूरतेशचक्री ॥१६॥

अभ्यासका स्वरूप और उदाहरण—

प्रतिदिन काव्यज्ञ गुरुओंके समीपमें रहकर काव्यरचना करनेकी साधना करना अभ्यास कहलाता है । काव्यरचना सम्बन्धी कार्यविशेषमें संलग्न या प्रवृत्त रहना अभ्यासके अन्वर्गत है ॥१२॥

मनुष्योंके देखे हुए कार्यकलापसे छन्दका अभ्यास बिना किसी अर्थविशेषके किया जा सकता है । यथा—

हे मित्र, जलसे अच्छो तरह भरा हुआ बड़ा सुशोभित हो रहा है, इसे देखो । पतला स्वच्छ वस्त्र चमक रहा है, हे मित्र ! इसकी उज्ज्वलताको ठीक तरहसे देखो ॥१३॥

यह वधू लक्ष्मीके समान शोभित हो रही है और यह मनुष्य कृष्णदेवके समान प्रतीत हो रहा है । अन्नसे भरी हुई बड़ली शोभा पा रही है । चन्द्रमाके समान मित्र शोभित हो रहा है ॥१४॥

शय्यासे उठा हुआ मानव स्नान कर सुन्दर अक्षतोंसे युक्त पात्र लेकर देवपूजा सम्पन्न कर और शास्त्रोंका श्रवण कर घर आ गया ॥१५॥

इस प्रकार उपर्युक्त विधियोंसे अर्थका विशेष विचार किये बिना केवल छन्दोंका अभ्यास करना चाहिए ।

यह वह चन्द्रमाको कला मेरे मनको सुन्दर प्रतीत होनेवाली जिन भगवान्की वाणीके समान सुशोभित हो रही है । भरतचक्रवर्ती शत्रुराजाओंके असह्य हाथियोंके लिए सिंहके समान मानमर्दक हुआ ॥१६॥

१. तत्कामैः—क । २. छन्दांस्यभ्यसेत्—क । ३. पुनश्छन्दोऽन्तरे—क ।

चादयो न प्रयोक्तव्या विच्छेदात्परतो यथा ।
 नमो जिनाय शास्त्राय 'कुकर्मपरिहारिणे ॥१७॥
 घातूनामविभक्तीनां ऋचिद्भेदे यतिच्युतिः ।
 मुक्ताक्षरपरत्वेऽपि श्लथोच्चार्याः ऋचिद्यथा ॥१८॥
 जिनेशपदयुगं^१ वन्दे भक्तिभरसन्मतः ।
 समस्तावविनाशं स्वामिनं धर्मोपदेशितम् ॥१९॥
 मुनये सर्वविद्येशाय नमो धर्मशालिने ।
 सुरासुरार्च्यश्रीशाय प्रायः सर्वं न तद्भवेत् ॥२०॥
 विकस्वरोपसर्गेण विच्छेदः श्रुतिसौख्यकृत् ।
 यथाऽर्हत्पदयुगं प्रणमामि सुरपूजितम् ॥२१॥

'च' अव्ययकी व्यवस्था—

विच्छेद हो जानेके अनन्तर 'च' आदि अव्ययोंका प्रयोग नहीं करना चाहिए । जैसे—कुकर्म—अक्षुभ कर्मोंको दूर करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् और जिनवाणोंको नमस्कार है । इस पद्यमें 'शास्त्राय'के पश्चात् 'च' प्रयोग किया जाना चाहिए; किन्तु 'विच्छेदात् परतो' नियमके अनुसार 'च' का प्रयोग नहीं हुआ । अतएव 'जिनाय शास्त्राय' का अर्थ जिनप्रणीत शास्त्र भी सम्भव है ॥१७॥

यतिच्युति और श्लथ-उच्चारण व्यवस्था और उदाहरण—

अविभक्तिक घातुओं के भेद—मध्यमें कहीं-कहीं यतिच्युति दोष होता है । कहीं संयुक्ताक्षरके परमें रहनेपर भी उच्चारणकी शिथिलता रहती है अर्थात् यतिभंग होता है ॥१८॥

भक्तिके आधिक्यसे विनम्र में सम्पूर्ण पापोंको नष्ट करनेवाले, धर्मोपदेशक भगवान् जिनेन्द्रके दोनों चरणोंकी वन्दना करता है ।

इस पद्यमें 'वन्दे' इस क्रियापदके मध्यमें 'वं' पर यति है, अतः यहाँ यतिच्युति नामक दोष है और इस पद्यके तृतीय चरणमें 'शां,' 'स्वा' पर शिथिलतापूर्वक उच्चारण किया जाता है, अतः उच्चारण-शैथिल्य यहाँ पर है ॥१९॥

देव और दानवांसि पूज्य, अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मोंके अधिपति, धर्मनिष्ठ और समस्त विद्याओंके स्वामी मुनिराजकी नमस्कार है । प्रायः सब कुछ वह नहीं हो सकता । इस पद्यमें प्रथम चरणमें 'विद्येशाय' पदमें 'शा' वर्णपर प्रथम चरणकी समाप्ति होनेसे 'यतिच्युति' तथा 'सुरासुरार्च्य' पदमें संयुक्ताक्षर रहनेसे श्लथोच्चारण है ॥२०॥

उपसर्गविच्छेदकी व्यवस्था—

प्रादि उपसर्गका विच्छेद कर्णसुखद होता है । जैसे देवताओंसे पूजित जिनेश्वर

१. शास्त्राय च कर्मपरिहारिणे—क । २. युगं—क । ३. भरतसन्मतः—क । ४. एकस्वरोपसर्गेण—क ।

पदं^१ यथा यथा तोषः सृष्टियामुपजायते ।
 तथा लक्षणं यत्तिरुच्यते ॥२२॥
 भारती मधुराऽल्पार्थसहितार्थिपि मनोहरा ।
 तमस्समूहसंकाशा पिकीव मधुरध्वनिः ॥२३॥
 तानि वर्णयन्ति कथ्यन्ते महाकाव्यादिषु स्फुटम् ।
 कविवृन्दारकैर्यानि प्रबन्धेषु बबन्धिरे ॥२४॥
 भूभुवपत्नी पुरोधः कुलवरतनुजामात्यसेनेशदेश-
 ग्रामश्रीपत्तनाब्जाकरशरधिनदोद्यानशीलाटवीद्धाः ।
 मन्त्रो दूतः प्रयाणं समुगयतुरगेभस्त्विनेन्द्राश्रमाजि-
 श्रीवीवाहा वियोगास्सुरतवरसुरापुष्कला नर्मभेदाः^२ ॥२५॥

भगवान्के चरणयुगलको नमस्कार करता है । इस पद्यमें 'प्रणमामि' क्रियापदमें-से 'प्र' उपसर्गका विच्छेद करने पर 'नमामि' कर्णसुखद है ॥२१॥

यतिमाधुर्यकी व्यवस्था—

जैसे-जैसे पदकी समाप्तिपर यति रहनेसे विद्वानोंकी आनन्द प्राप्त होता है, वैसे-वैसे यतिकी माधुर्यका कारण माना जाता है । आशय यह है कि यतिसौम्य ही यतिमाधुर्यका कारण है ॥२२॥

माधुर्यका महत्त्व—

अल्प अर्धशाली भी मधुरवाणी अत्यन्त कृष्ण कर्णशाली मधुर ध्वनि करनेवाली कोयलके समान मतका हरण करनेवाली हांती है ॥२३॥

महाकाव्यके वर्णविषय—

महाकवियोंने अपने बड़े-बड़े प्रबन्धग्रन्थोंमें जिन वर्णनीय विषयोंका निर्देश किया है, महाकाव्योंमें उन वर्णनीय विषयोंका अत्यन्त स्पष्ट रीतिसे वर्णन किया जाता है ॥२४॥

राजा, राजपत्नी—महिषी, पुरोहित, कुल, श्रेष्ठपुत्र या ज्येष्ठपुत्र, अमात्य, सेनापति, देश-ग्राम-सौन्दर्य, नगर, कमल-सरोवर, वनूप, नद, वाटिका, वनोद्दीप्त पर्वत, मन्त्र—शासन सम्बन्धी परामर्श, दूत, यात्रा, भूगया—आखेट, अश्व, भज, ऋतु, सूर्य, चन्द्र, आश्रम, युद्ध, कल्याण, जन्मात्सव, दाहन, वियोग, सुरत—रति-क्रोडा, सुरापान, नाना प्रकारके क्रीडा-विनोद आदि महाकाव्यके वर्ण्य विषय हैं ॥२५॥

१. एवं—क । २. पुष्पवत्नर्मभेदाः—क ।

नृपं यक्षः प्रतापाज्ञेऽसत्सन्निभहृद्यालने ।
 सन्धिविग्रहयानादिशस्त्राभ्यासनयक्षमाः ॥२६॥
 अरिषड्वर्गजेतृत्वं धर्मरागो दयालुता ।
 प्रजारागो जिगोषुत्वं धैर्यौदार्यगभीरताः ॥२७॥
 अत्रिरुद्धत्रिवर्गत्वं सामादिविनियोजनम् ।
 त्यागसत्यसदाशीचशौर्यैश्वर्योद्यमादयः ॥२८॥
 देव्यां त्रपा विनोतत्वग्रताचारसुशीलताः ।
 प्रेमचतुर्गदाक्षिण्यलावण्यकलनिस्वना ॥२९॥
 दयाशृङ्गारसीभार्यमानमन्मथविभ्रमाः ।
 पत्तलोपरितद्गुल्फनखजङ्घासुजानुभिः ॥३०॥
 ऊरुश्रोणोसुरोमालीवलित्रितयनाभयः ।
 मध्यवक्षःस्तनश्रोवाबाहुसाङ्गुलिपाणयः ॥३१॥
 रदनाधरगण्डाक्षिभ्रभालश्रवणानि च ।
 शिरोवेणीकवर्षादिगतिजात्यादिरेव च ॥३२॥

राजाके वर्णनीय गुण—

कीर्ति, प्रताप, आज्ञापालन, दुष्टनिग्रह—दुष्टोंको दण्ड, शिष्ट-पालन—सज्जनोंकी रक्षा, सन्धि—मेल-बिलाप, विग्रह—युद्ध, यान—आक्रमण, शस्त्र इत्यादिका पूर्ण अभ्यास, नीति, क्षमा, काम-क्रोधादि षड्रिपुओंपर विजय, धर्मप्रेम, दयालुता, प्रजाप्रीति, शत्रुओंको जीतनेका उत्साह, धीरता, उदारता, गभीरता, धर्म-अर्थ-काम प्राप्तिके अनुकूल उपाय, साम-दाम-दण्ड-विभेद इत्यादि उपायोंका प्रयोग, त्याग, सत्य, सदा पवित्रता, शूरता, ऐश्वर्य और उद्योग आदिका वर्णन राजाके विषयमें करना चाहिए । आशय यह है कि महाकाव्यमें राजाका वर्णन आवश्यक है । कवि राजाके वर्णनमें उपर्युक्त बातोंका समावेश करता है ॥२६-२८॥

देवी—महिषीके वर्णनीय गुण—

लज्जा, नम्रता, व्रताचरण, सुशीलता, प्रेम, चतुराई, व्यवहारनिपुणता, लावण्य, मधुरालाप, दयालुता, शृंगार, सीभार्य, मान, काम-सम्बन्धी विविध चेष्टाएँ, पैर, तलवा, गुल्फ (एड़ी), नख, जंघा, सुन्दर घुटना, ऊरु, कटि, सुन्दर रोमपंक्ति, त्रिवलि, नाभि, मध्यभाग, वक्षस्थल, स्तन, गर्दन, बाहु, अंगुलि, हाथ, दाँत, ओष्ठ, कपोल, आँख, भौंह, ललाट, कान, मस्तक, वेणो इत्यादि अंग-प्रत्यंगों तथा गमनरीति एवं जाति आदिका वर्णन देवी—महिषीके सम्बन्धमें करना चाहिए ॥२९-३२॥

पुरोहिते निमित्तादिः, स्ववेदित्वमार्जवम्
 विषयां प्रति कर्तृत्वं सत्यभाष्यशुद्धितादयः ॥३२॥
 कुमारै राजभक्तिश्रोकलाबलविनीतताः ।
 शस्त्रशास्त्रविवेकित्ववाह्याङ्गविहृतादयः ॥३४॥
 मन्त्री शुचिः क्षमी शूरोऽनुद्धतो बुद्धिभक्तिमान् ।
 आन्वीक्षिक्यादिविद्वत्स्वदेशजहितोद्यमी ॥३५॥
 सेनापतिरभीरस्त्रशस्त्राभ्यासे च बाहने ।
 राजभक्तो जितायासः सुधीरपि जयो रणे ॥३६॥
 देशे मणिनदीस्वर्णधान्याकरमहाभुवः ।
 ग्रामदुर्गजनाधिक्यनदीमातृकतादयः ॥३७॥

राजपुरोहितके वर्णनीय गुण—

शक्यता और निमित्तशास्त्रका ज्ञाता, सरलता, आपत्तियोंको दूर करनेकी शक्ति, सत्यवाणी, पवित्रता प्रभृति गुणोंका वर्णन पुरोहितके विषयमें करना अपेक्षित है ॥३३॥

राजकुमारके वर्णनीय गुण—

राजाकी भक्ति, सौन्दर्ययुक्त, अनेक प्रकारकी कलाओंका ज्ञान, बल, नम्रता, शस्त्रप्रयोगका ज्ञान, शास्त्रका अभ्यास, सुडौल हाथ, पैर आदि अंग एवं क्रीडा-विनोद प्रभृतिका राजकुमारके सम्बन्धमें वर्णन करना चाहिए ॥३४॥

राजमन्त्रीके वर्णनीय गुण—

राजमन्त्री पवित्र विचारवाला, क्षमाशील, वीर, मम, बुद्धिमान्, राजभक्त, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओंका ज्ञाता, व्यवहारनिपुण एवं स्वदेशमें उत्पन्न वस्तुओंके उद्योगमें प्रयत्नशील अथवा स्वदेशमें उत्पन्न और उद्योगशील राजमन्त्रीको हीना चाहिए ॥३५॥

सेनापतिके वर्णनीय गुण—

निर्भय, अस्त्र-शस्त्रका अभ्यास, शस्त्रप्रयोग, अश्वदिकी सवारीमें पटु, राजभक्त, महान् परिश्रमी, विद्वान् एवं युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला इत्यादि बातोंका सेनापतिके विषयमें वर्णन करना चाहिए ॥३६॥

देशके वर्णनीय विषय—

देशमें पशुरागाधि मणियाँ, नदी, स्वर्ण, अन्नमण्डार, विशाल भूमि, गाँव, किला, जनबाहुल्य, नहर इत्यादि सिंघाईके साधनोंका वर्णन करना चाहिए ॥३७॥

ग्रामे धान्यसरोवल्लोत्सुगोपुष्टि-चेष्टितम्
ग्राम्यमौग्ध्यघटोयन्त्रे केदारपरिशोभनम् ॥३८॥

पुरे प्राकारतच्छोषंवप्राट्टालकखातिकाः ।
तोरणध्वजसौधाध्ववाप्यारामजिनालयाः ॥३९॥

सरोवरेऽब्जभङ्गाम्बुलहरीगजकेलयः ।
हंसचक्रद्विरेफाद्यास्तीरोद्यानलतादयः ॥४०॥

अब्धौ विद्रुममुक्तोर्मिपोतेभमकरादयः ।
सरित्प्रवेशसंक्षोभकृष्णाब्जाध्मायितादयः ॥४१॥

नद्यामम्बुधियायित्वं हंसमीनाम्बुजादयः ।
विरुतं तटवल्लर्यो नलिन्युत्पलिनीस्थितिः ॥४२॥

ग्रामके वर्णनीय विषय—

ग्राममें अन्न, सरोवर, लता, वृक्ष, गाय, बैल इत्यादि पशुओंकी अधिकता अथवा मस्ती तथा उनको घेष्टाएँ, ग्रामीणोंकी सरलता, अज्ञानता, घटोयन्त्र एवं क्यारी आदिकी शोभाका वर्णन करना चाहिए ॥३८॥

नगरके वर्णनीय विषय—

नगरमें परकोटा—चहारदीवारी, उसका उपरिभाग, दुर्गप्राचीर, अट्टालिका, खाई, तोरण, ध्वजा, चूनेसे पोते गये बड़े-बड़े महल, राजपथ, बावड़ी, बगोचा और जिनालय इत्यादिका वर्णन करना चाहिए ॥३९॥

सरोवरके वर्णनीय विषय—

सरोवरमें कमल, तरंग, कमलपुष्प तोड़ना, गजक्रीडा, हंस-हंसी, चक्रवाक, भ्रमर इत्यादि एवं तीरप्रदेशमें स्थित उद्यान, लता, पुष्पादिका वर्णन करना चाहिए ॥४०॥

समुद्रके वर्णनीय विषय—

समुद्रमें विद्रुम, मणि, मुक्ता, तरंग, जलपोत, जलहस्ति, मगर, नदियोंका प्रवेश और संक्षोभ—चन्द्रोदयजन्य हर्ष, कृष्ण कमल, गर्जन इत्यादिका वर्णन करना चाहिए ॥४१॥

नदीके वर्णनीय विषय—

नदीके वर्णनमें समुद्रगमन, हंसमिथुन, मल्लि, कमल, पक्षियोंका कलरव, तटपर उत्पन्न हुई लताएँ, कमलिनी, कुमुदिनी इत्यादिकी स्थितिका वर्णन कवियोंको करना चाहिए ॥४२॥

उद्याने कलिकापुष्पफलवल्लीकृताद्वयः ।
 पिकालिकेकिचक्राद्याः पथिकक्रीडनस्थितिः ॥४३॥
 अद्रो शृङ्गगुहारत्नवनकिन्नरनिर्झराः ।
 साधुघातुसुसूक्ष्मशुभुनिर्धेशुभोच्चथाः ॥४४॥
 अरण्येऽहिहरिव्याघ्रवराहहरिणादयः ।
 द्रुमा भल्लूकधूकाद्या गुल्मवलमीकपर्वताः ॥४५॥
 मन्त्रे^१ पञ्चाङ्गतोपायशक्तिनैपुण्यनीतयः^२ ।
 दूते स्वपरपक्षश्रीदोषवाक्कौशलादयः ॥४६॥

उद्यानके वर्णनीय विषय—

उद्यानमें कलिका, कुसुम, फल, लताओंसे युक्त कृत्रिम पर्वतादि तथा कोयल, भ्रमर, मयूर, चक्रवाक एवं पथिकक्रीडाका वर्णन करना चाहिए ॥४३॥

पर्वतके वर्णनीय विषय—

पर्वतके वर्णन प्रसंगमें शिखर, गुफा, बहुमूल्य रत्न, वनवासी किन्नर, सरना, सानु, गैरकादि धातु, उच्च शिखर पर निवास करने वाले मुनि, कुसुमोंकी अधिकता आदिका वर्णन करना अपेक्षित है ॥४४॥

वनके वर्णनीय विषय—

वन-वर्णनके प्रसंगमें सर्प, सिंह, व्याघ्र, सूअर, हरिण तथा विविध तरुओं के साथ भालू, उल्लू इत्यादि का और कुञ्ज, वल्मीक एवं पर्वत इत्यादिका वर्णन करना आवश्यक है ॥ ४५ ॥

मन्त्रके अन्तर्गत वर्णनीय विषय—

मन्त्रमें (१) कार्यारम्भ करनेका उपाय, (२) पुरुष और द्रव्य-सम्पत्ति, (३) देश-कालका विभाग, (४) विघ्न-प्रतीकार और (५) कार्यसिद्धि इन पाँचों अंगोंका; साम, भेद, दान और दण्ड इन चार उपायोंका; प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन तीन शक्तियोंका; कुशलता तथा नीतिका वर्णन करना चाहिए । मन्त्र शक्तिको ज्ञानबल, प्रभु-शक्तिको क्रोधबल और सेनाबल एवं उत्साहशक्तिको विक्रमबल कहा गया है ॥४५१॥

दूतके वर्णनीय विषय—

दूतका वर्णन करते समय उसकी स्व-पर पक्षके वैभव तथा दोष आदिकी जानकारी एवं वाणीका चातुर्य आदिका वर्णन करना आवश्यक है ॥ ४६ ॥

१. वल्लिक-ख । २. तुंधे-ख । ३. शक्तिषाङ्गुप्यनीतयः—क तथा ख ।

प्रयाणेऽश्वसुरोद्भूतरजोवाद्यरवध्वजाः ।
 भूकम्पो रथहस्त्यादिसंघट्टः पूतनागतिः ॥४७॥
 मृगयायां मृगत्राससञ्चारादि-कुट्टृष्टिभिः ।
 कृतं संसारभीरुत्वजननाय ददेत् क्वचित् ॥४८॥
 अश्वे वेगित्वसल्लक्षेगतिजात्युच्चतादयः ।
 गजेऽरिष्यहभेदित्वकुम्भमुक्तामदालयः ॥४९॥
 मधो दोलानिलालिश्री-क्षङ्कार-कलिकोदगमाः ।
 सहकारविटप्यादि-सुमनोमञ्जरोलताः ॥५०॥
 निदाघे मल्लिकातापसरःपथिकशोषिताः ।
 मरीचिकामृगभ्रान्तिः प्रया सत्रत्ययोषितः ॥५१॥

विजययात्राके वर्णनीय विषय—

शत्रु विजयके लिए की जानेवाली यात्राके लिए घोड़ोंके खुरोंसे उठी हुई धूलि, रणभेरी, कोलाहल, ध्वज-कम्पन या ध्वजाओंका लहराना, पृथिवी-कम्पन, रथ, हाथी, उष्ट्र आदिके समूह-संघर्ष एवं सेनाकी गमनरीतिका वर्णन करना अपेक्षित है ॥ ४७ ॥

मृगयाके वर्णनीय विषय—

हरिणोंका भय, पलायन तथा दूरो दृष्टिसे चितवन आदिके द्वारा जगत्में भय उत्पन्न करनेके लिए वर्णन किया जा रहा है । अतः मृगयाके वर्णन-प्रसंगमें उक्त तथ्योंका वर्णन करना अपेक्षित है ॥४८॥

घोड़के वर्णनीय विषय—

घोड़ाका वर्णन करते समय उसके तीव्र वेग, देवमणि आदि शुभ लक्षण; रेचक आदि पाँच प्रकारकी गतियाँ; बाल्हीक, कम्बोज आदि जातियाँ एवं उच्चता आदिका वर्णन अपेक्षित है ।

गजके वर्णनीय विषय—

गजका वर्णन करते समय गज-द्वारा शत्रुनिर्मित व्यूहका तोड़ना, गण्डस्थल, गज-मुक्ता, मद एवं मदसे आकृष्ट भमरोंका वर्णन करना चाहिए ॥ ४९ ॥

वसन्त ऋतुके वर्णनीय विषय —

वसन्त ऋतुमें दोला, मलयानिल, भ्रमर-वैभवकी झंकार, कुड्मलकी उत्पत्ति, आम्र, मधूक आदि वृक्ष, पुष्प, मञ्जरी एवं लता आदिका वर्णन करना चाहिए ॥ ५० ॥

ग्रीष्म ऋतुके वर्णनीय विषय—

ग्रीष्म ऋतुका वर्णन करते समय मल्लिका, उष्मा-गर्भी, सरोवर, पथिक,

वर्षासु घनकेकिश्रीक्षन्सानिलसुवाःकणाः ।

हंसनिर्गतिकेतक्यः कदम्बमुकुलादयः ॥५२॥

शरदीन्द्रितसुव्यवितहंसपुङ्गवहृष्टयः ।

शुभ्राभ्रस्वच्छवाः पद्मसप्तच्छदजलाशयाः ॥५३॥

हेमन्ते हिमसंलानलतामनितपैःप्रभा ।

शिशिरे च शिरीषाब्जदाहशैत्यप्रकृष्टयः ॥५४॥

द्युमणावहृणत्याब्जचक्रवाकाक्षिहृष्टयः ।

तमःकुमुदतारेन्दुप्रदीपकुलटार्तयः ॥५५॥

धुलकता, मृगतृष्णा, मृगमरीचिका, प्रपा-प्य, कशाला तथा कूप या सरोवरसे जल भरनेवाली नारियोंका चित्रण करना चाहिए ॥ ५१ ॥

वर्षा ऋतुके वर्णनीय विषय—

वर्षा ऋतुमें मेघ, मयूर, वर्षाकालीन सौन्दर्य, अंशादात, वृष्टिके जलकण-फुहार और बौछार, हंसोंका निर्गमन, केतकी-कदम्बादिकी कलिकाएँ और उनके विकासका चित्रण करना चाहिए । अर्थात् उक्त तप्योंका चित्रण वर्षा ऋतुके वर्णनमें करना अपेक्षित है ॥ ५२ ॥

शरद् ऋतुके वर्णनीय विषय—

शरद् ऋतुका चित्रण करते समय चन्द्रमा और सूर्य की स्वच्छ किरणोंका, हंसोंके आगमनका, वृषभादि पशुओंकी प्रसन्नताका, श्वेत घनका, स्वच्छ जलका, कमल-सप्तपर्ण आदि पुष्पोंका एवं जलाशय आदिका वर्णन करना चाहिए ॥ ५३ ॥

हेमन्तके वर्णनीय विषय—

हेमन्त ऋतुके वर्णनमें हिमयुक्त लताओं, मुनियोंकी तपस्या एवं कान्ति आदिका चित्रण करना चाहिए ॥ ५३ ॥

शिशिर ऋतुके वर्णनीय विषय—

शिशिर ऋतुमें शिरीष और कमलका विनाश एवं अत्यधिक शैत्यका विस्तृत वर्णन करना आवश्यक है ॥ ५४ ॥

सूर्यके वर्णनीय विषय—

सूर्यका वर्णन करते समय उसकी अरुणिमा, कमलका विकास, चक्रवाकोंकी आँखोंकी प्रसन्नता, अन्धकारका नाश, कुमुदिनीका संकोचन, तारा-चन्द्रमा-दीपककी प्रभावहीनता एवं कुलटाओंकी पीड़ाका चित्रण अपेक्षित है ॥ ५५ ॥

चन्द्रेऽध्रकुलटाचक्रचोरध्वान्तवियोगिताम् ।
 आर्तिरज्ज्वलता-वार्धिकैरवेन्द्रश्महृष्टयः ॥५६॥
 आश्रमे मुनिपादान्ते सिंहेभैणादिशान्तता ।
 सर्वर्तुफलपुष्पादिश्रीरङ्गीकृतपूजनम् । ५७॥
 युद्धे तूर्यनिनादासिस्फुल्लङ्गशरसंघयः ।
 छिन्नात्पत्रवर्मेभरथध्वजभटादयः ॥५८॥
 जनमे नामकल्याणैर्गर्भावतरणादिकम् ।
 तत्रेन्द्रदन्तिभैर्विधध्रेणीसुररवादयः ॥५९॥
 विवाहे स्नानशुभ्राङ्गभूषाशोभनगीतयः ।
 विवाहमण्डपो वेदी नाट्यवाद्यरवादयः ॥६०॥

चन्द्रमाके वर्णनीय विषय—

चन्द्रमाके वर्णनमें मेष, कुलटा, चक्रवा-चक्रवी, चोर, अन्धकार और वियोगियों-की मर्मस्थथा तथा उज्ज्वलता, समुद्र, जैंग और अन्धकान्तमणिकी प्रशान्तताका वर्णन अपेक्षित है ॥ ५६ ॥

आश्रमके वर्णनीय विषय—

आश्रमके चित्रणमें मुनियोंके समीप सिंह, हाथी और हिरण आदिकी शान्तता, सभी ऋतुओंमें प्राप्त होनेवाले फल-पुष्प आदिकी शोभा एवं इष्टदेवके पूजन आदिका चित्रण करना अपेक्षित है ॥ ५७ ॥

युद्धके वर्णनीय विषय—

युद्धका वर्णन करते समय तूर्य आदि वाद्योंकी ध्वनि, तलवार आदिकी चमक, घनुषकी प्रत्यक्षापर बाण चढ़ाना, छत्रभंग, कवचभेदन, गज, रथ एवं सैनिकोंका वर्णन करना चाहिए ॥ ५८ ॥

जन्मकल्याणकके वर्णनीय विषय—

जन्मकल्याणकका वर्णन करते समय गर्भावतरणादिका वर्णन और जन्माभिषेकके समय ऐरावत हाथी, सुमेरु पर्वत, समुद्र, देवों-द्वारा जयत-जयध्वनि एवं विवाधर आदिका जन्मोत्सवमें सम्मिलित होना आदि बातोंका चित्रण करना चाहिए ॥ ५९ ॥

विवाहके वर्णनीय विषय—

विवाहका वर्णन करते समय स्नान, शरीरकी स्वच्छता, अलंकार, सुमधुर गीत, विवाह-मण्डप, वेदी, नाटक, नृत्य एवं वाद्योंकी विविध ध्वनिका निरूपण करना आवश्यक है ॥ ६० ॥

विरहे तापनिःश्वासमनश्चिन्ताकुशाङ्गताः ।
 शिशिरोष्णनिशादैर्घ्यं जागराहासहानयः ॥६१॥
 सुरते सीत्कृतिग्रीवानखदन्तक्षतादयः ।
 काञ्चीकङ्कणमञ्जीररवमर्त्यायितादयः ॥६२॥
 स्वयंवरं सुसन्नाहो मञ्चमण्डपकन्यकाः ।
 तस्या भूपान्वयव्याति-सम्पदाकारवेदनम् ॥६३॥
 मधुपानेऽलिमाश्रित्य भ्रमप्रेमादिरुच्यताम् ।
 महान्तो न सुरां दूष्यां पिबन्ति पुरुदोषतः ॥६४॥
 पुष्पावचयने पुष्पावचयो वक्रसूक्तयः ।
 गोत्रस्खलनमाश्लेषः परस्परविलोकनम् ॥६५॥

विरहके वर्णनीय विषय—

विरहका वर्णन करते समय उष्ण निःश्वास, मानसिक चिन्ता, शरीरकी दुर्बलता, शिशिर ऋतुमें मर्माकी अधिकता, रात्रिकी दीर्घता, रात्रि-जागरण, हँसो और प्रसन्नताके अभावका चित्रण करना चाहिए ॥ ६१ ॥

सुरतेके वर्णनीय विषय—

सीत्कार, कंठालिगन, नखक्षत, दन्तक्षत, करधनी-कंकण-मंजीरकी ध्वनि और स्त्रीका पुरुषके समान आचरण अर्थात् विपरीत रति आदिका वर्णन सुरत वर्णनके प्रसंगमें करना चाहिए ॥ ६२ ॥

स्वयंवरके वर्णनीय विषय—

स्वयंवर वर्णनके अवसरपर सुन्दर नगाड़ा, मञ्च, मण्डप, कन्या तथा स्वयंवरमें पधारे हुए राजाओंके वंश, प्रसिद्धि, यश, सम्पत्ति, रूप-लावण्य, आकृति प्रभृतिका चित्रण करना चाहिए ॥ ६३ ॥

मदिरापानके वर्णनीय विषय—

मदिरापानके अवसरपर भ्रमरको लक्ष्य कर भ्रान्ति और प्रेमादिका स्पष्ट वर्णन करना चाहिए । महापुरुष मदिराको रागादि दोषके उत्पादक होनेके कारण उसे नहीं पीते हैं । मदिरापानके वर्णन प्रसंगमें व्यंग्य और सूच्य द्वारा प्रेम, रति एवं अन्य क्रियाव्यापारोंका उल्लेख करना आवश्यक है ॥ ६४ ॥

पुष्पावचयके वर्णनीय विषय—

पुष्पावचयके अवसरपर पुष्पचयन, परस्पर वक्रोक्ति, गोत्रस्खलन—कहना कुछ चाहते हैं, पर मुखसे कुछ और ही निकलता है, परस्पर आलिगन एवं रागभावपूर्वक अवलोकन इत्यादिका वर्णन करना अपेक्षित है ॥ ६५ ॥

अम्भः केलौ जलक्षोभो^१ हंसचक्रापसर्पणम् ।

भृषाच्युतिपयोविन्दुलम्नास्य जलजश्रमाः ॥६६॥

वर्ण्यदिङ्मात्रता प्रोक्ता यथा लङ्कारतन्त्रकम् ।

वर्णनाकुशलैश्चिन्त्यमनेकविधमस्ति तत् ॥६७॥

चन्द्रार्कोदयमन्त्रदूतसलिलक्रीडाकुमारोदयो-

द्यानाम्भोधिपुरर्तुशैलसुरताजीनां प्रयाणस्य च ।

वर्ण्यत्वं मधुपाननायकपदव्योविप्रलम्भस्य च

काव्येऽष्टादशसङ्ख्यकं युतविवाहस्यापि केचिद्विदुः ॥६८॥

कवीनां समयस्त्रेधा निबन्धोऽप्यसतस्सतः ।

अनिबन्धस्सजात्यादेर्नियमेन समासतः ॥६९॥

जलक्रीडाके वर्ण्य विषय—

जल-क्रीडाके अक्षर पर जलसंक्षोभ-जलमन्थन, हंस और चक्रवाकका वहाँसे हटना, घारण किये हुए हारादि अलंकारोंका गिर पड़ना, जलकण, जलसीकरयुक्त मुख, एवं थम हस्तादिका वर्णन करना चाहिए ॥ ६६ ॥

वर्ण्य विषयोंका अपसंहार—

यहाँ अलंकारशास्त्रके अनुसार वर्णनीय विषय अत्यन्त संक्षेप रूपमें उपस्थित किये गये हैं । इनके वर्णन करनेके अनेक भेद हैं । वर्णन करनेमें निपुण कविवरोंको स्वर्य विचार कर इनका चित्रण करना चाहिए ॥ ६७ ॥

अन्य आचार्योंके मतानुसार काव्यके वर्ण्यविषय—

कुछ आचार्य, (१) चन्द्रोदय, (२) सूर्योदय, (३) मन्त्र, (४) दूत, (५) जलक्रीडा, (६) राजकुमारका अभ्युदय, (७) उद्यान, (८) समुद्र, (९) नगर, (१०) वसन्तादि ऋतुएँ, (११) पर्वत, (१२) सुरत, (१३) समर-युद्ध, (१४) यात्रा, (१५) मदिरापान, (१६) नायक-नायिकाकी पदवी, (१७) वियोग, (१८) और विवाह; इन अठारह विषयोंको काव्यका वर्ण्यविषय मानते हैं ॥ ६८ ॥

कवि समयके भेद—

कविसमय तीन प्रकारका है—(१) जो वस्तु संसारमें नहीं है, उसका उल्लेख, (२) जो वस्तु संसारमें है, उसका अनुल्लेख (३) और समान जातिवाले पदार्थोंका संक्षेपमें नियमानुसार वर्णन करना कविसमयके अन्तर्गत है ॥ ६९ ॥

असतोऽपि निबन्धो यथा—

गिरौ रत्नादि-हंसादि-स्तोकपञ्चाकरादिषु ।

नीरे भाद्यं खगज्जायां जलजाद्यं नदीष्वपि ॥७०॥

तमसः सूक्ष्मभेद्यत्वं मुष्टिग्राह्यत्वमुच्यते ।

अञ्जलिप्राह्यता चन्द्रविषःकुम्भोपवाह्यता ॥ १॥

प्रतापे रक्ततोष्णत्वे कीर्त्तौ हंसादिशुभ्रता ।

कृष्णत्वमपकीर्त्यादौ रक्तत्वं कोपरागयोः ॥७१॥

चतुष्टयं^१ समुद्रस्य वियोगः कोकयोनिश्च ।

चकोराणां सुराणां च ज्योत्स्नावासो^२ निगद्यते ॥७२॥

रमायाः पद्मवासित्वं राज्ञो वक्षसि च स्थितिः ।

समुद्रमन्थनं तत्र सुरेन्द्रं श्रीसमुद्भवः ॥७४॥

असत्में सत्वर्णन सम्बन्धी कविसमयका उदाहरण—

सभी पर्वतोपर रत्नादिकी उपलब्धि, छोटे-छोटे जलाशयोंमें भी हंसादि पक्षियोंका वर्णन, अलमें तारकावलीका प्रतिबिम्ब, आकाशगंगा एवं अन्य नदियोंमें भी कमल आदिकी उत्पत्तिका वर्णन लोक या शास्त्रमें देखा या सुना न जानेके कारण कवियोंका असत् निबन्ध—असत् पदार्थोंका वर्णन कहलाता है ॥ ७० ॥

अन्धकारको सुईसे भेदन करने योग्य, उसका मुष्टिग्राह्यत्व, ज्योत्स्ना—चन्द्र-किरणोंको अञ्जलिमें पकड़ने योग्य अथवा घड़ोंमें भरने योग्य इत्यादि तथ्योंका वर्णन करना असत् वस्तुओंका वर्णन करना ही कहा आयेगा ॥ ७१ ॥

असद् वर्णन रूप कविसमयका अन्य उदाहरण—

प्रतापके वर्णनमें उसे रक्त या उष्ण कहना, कीर्त्तिमें हंसादिकी शुक्लता, अपयशमें कालिमा, क्रोध और प्रेमकी अवस्थामें रक्तिमाका वर्णन करना असत् वर्णन कवि समय है । कवि समयके अनुसार प्रतापको रक्त, कीर्त्तिको शुक्ल, अपयशको कृष्ण एवं क्रोध-प्रेमको अरुण माना जाता है ॥ ७२ ॥

समुद्रकी चार संख्या, चकवा-चकवीका रात्रिमें वियोग, चकोर पक्षी और देवताओंका चन्द्रिकामें निवासका वर्णन, असद् वर्णनके अन्तर्गत है । कविसमयानुसार रात्रिमें चकवा-चकवीका वियोग, चकोर पक्षी द्वारा ज्योत्स्नाका पान एवं चन्द्रमामें देवोंका निवास माना गया है ॥ ७३ ॥

लक्ष्मीका कमल तथा राजाके वक्षःस्थलपर निवास, समुद्र-मन्थन एवं समुद्र-मन्थनसे चन्द्रकी उत्पत्तिका वर्णन असद् वस्तुवर्णन कविसमय है ॥ ७४ ॥

१. कीर्त्तिः—ख । २. चतुष्कत्वम्—क, ख । ३. ज्योत्स्नापानम्—ख । ४. सुधेन्दुश्री—क, ख ।

सतोऽप्यनिबन्धो यथा—

चन्दने फलपुष्पे च सुरभौ मालतीसुमम् ।

शुक्ले पक्षे तमोऽशुक्ले ज्योत्स्नाफलमशोकके ॥७५॥

रक्तिमा कामिदन्तेषु हरितत्वं च कुन्दके ।

दिवानिशोत्पलाब्जानां विकसित्वं न वर्णयताम् ॥७६॥

नियमेन निबन्धो यथा—

सामान्येन तु धावलयं पत्रपुष्पाम्बुवाससाम् ।

चन्दनं मलयेष्वेव मघावेव पिकञ्चनिम् ॥७७॥

अम्बुदाम्बुधिकाकाहिकेशभृङ्गेषु कृष्णताम् ।

बिम्बबन्धूकनीरेषु^१ सूर्यबिम्बे च रक्तताम् ॥७८॥

सद्वस्तुओंकी अनुपलब्धि सम्बन्धी कविसमयका उदाहरण—

चन्दन वृक्षमें फल और पुष्पके होनेपर भी उसका वर्णन नहीं करना, वसन्त ऋतुमें मालती कुसुमके होनेपर भी उसका वर्णन नहीं करना, शुक्ल पक्षमें अश्वकारके रहनेपर भी उसका वर्णन नहीं करना, कृष्णपक्षमें चन्द्र-ज्योत्स्नाके रहनेपर भी उसका वर्णन न करना एवं अशोकवृक्षमें फलके होनेपर भी उसका वर्णन नहीं करना सद्वस्तुके अनुल्लेख सम्बन्धी कविसमय है ॥ ७५ ॥

कामी नर-नारियोंके दंतोंमें लाली, कुम्ह-कुसुममें हरीतिमा और रात्रिमें विकसित होनेवाले कुमुद इत्यादिके दिनमें विकसित होनेपर भी वर्णन न करना सद्वस्तुका अनुल्लेख होनेसे कविसमय है ॥ ७६ ॥

अनेक स्थानोंमें प्रचलित व्यवहारोंका किसी विशेष स्थानमें वर्णन करना और अन्यत्र रहनेपर भी वर्णन नहीं करना । यथा—

नियमेन उल्लेखरूप कविसमयका उदाहरण—

अन्य वस्तुओंके ध्वेत होनेपर भी सामान्यतया पत्र, पुष्प, जल और वस्त्रकी शुक्लता, अन्य पर्वतोंपर चन्दनकी उपलब्धि होनेपर भी मलयाचलपर चन्दनका वर्णन, अन्य ऋतुओंमें कोयलकी ध्वनि होनेपर भी वसन्त ऋतुमें ही उसका वर्णन करना नियमेन उल्लेखरूप कविसमय है ॥ ७७ ॥

मेघ, समुद्र, काक, सर्प, केश, भ्रमरमें ही कृष्णता एवं बिम्बाफल, बन्धूकपुष्प, मदिरा और सूर्यके बिम्बमें रक्तताका वर्णन सद्वस्तुओंका नियमेन उल्लेखरूप कविसमय है ॥ ७८ ॥

१. नीरेज—ख ।

रवं नाटयं मधूराणां वर्षास्वेव विवर्णयेत् ।
 नियमस्य विशेषोऽन्यः कश्चिदत्र प्रकाशयते ॥७९॥
 शुभ्रमिन्द्रद्विपं ब्रूयात्त्रोणि सप्त चतुर्दश ।
 भुवनानि चतस्रोऽष्टौ दश वा ककुभो मताः ॥८०॥
 वक्रौ डलौ रली चैते यमके श्लेषचित्रयोः ।
 न भिद्यन्ते विसर्गानुस्वारौ चित्राय न मता ॥८१॥
 यमकस्योदाहरणम्—
 वल्लोद्धो भरतश्चक्रौ बलोशां विबभां भुवि ।
 मडम्भादिकमायत्नमलम्बादिपतिः पुरुः ॥८२॥

यद्यपि अन्य ऋतुओंमें भी मयूर बोलते और नृत्य करते हैं, तो भी वर्षा ऋतुमें ही उनके बोलने और नृत्य करनेका उल्लेख करना; अन्य ऋतुओंमें नहीं; नियमेन उल्लेखकी दूसरी बिलक्षणता कही जायेगी ॥ ७९ ॥

ऐरावत हाथीको एवैत वर्णित करना, भुवन तीन, सात या चौदह मानना; विशाएँ चार, आठ या दस मानना; सद्बस्तुका नियमेन उल्लेखरूप कविसमय है ॥ ८० ॥

यमक, श्लेष और चित्रकाव्य सम्बन्धी व्यवस्था—

यमक, श्लेषालंकार और चित्रकाव्यमें व क, ड ल और र ल वर्णोंकी परस्परमें एकता मानी जाती है, भिन्नता नहीं । चित्रकाव्यमें विसर्ग और अनुस्वार परिगणित नहीं होते हैं । अर्थात् अनुस्वार और विसर्गकी अधिकता होनेपर भी चित्रालंकार नष्ट नहीं होता ॥ ८१ ॥

यमकका उदाहरण—

बलि अर्थात् नाभिके नीचे स्थित रेखा-विशेषोंसे शोभित और बली-बलवान् मनुष्योंका स्वामी भरतचक्रवर्ती पृथिवीपर सुशोभित हुआ था । यही 'वलीद्धः'—'वलभिः इडः' और 'बलोशः'—'बलिनां बलवतामीशः' इन दोनों पदोंमें व तथा ब में भेद होते हुए भी यमकालंकार बनता है; क्योंकि 'व' और 'ब' में यमकमें भेद नहीं लिया जाता । दूसरी पंक्तिमें 'ड' और 'ल' के अभेदका दृष्टान्त दिया गया है । 'वादिपतिः'—'वादिनां पतिः'—वादियोंके स्वामी गुरु—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवने; 'आपन्न'—प्राप्त हुए, 'मडम्ब'—खेट, खर्वट, मडम्ब, पत्तन आदिमें 'अलम्'—अत्यधिक विहार किया था । 'विजहार' क्रियाकी योजना ऊपरसे करनी चाहिए । अथवा "आपन्न प्राप्तं मडम्बं विहरन् वादिपतिः पुरुः विबभौ" पाठमें 'विहरन्' क्रियाकी योजना करनी पड़ती है ।

१. मडम्बादिकमापन्ना मडम्बादिपतिः—ख । २. मडम्बाधिपतिः—क; मलम्बादिपतिः—ख ।

त्रिवलिशोभितः अलं वादिपतिर्विवभावित्थत्रापि संबध्यतेऽस्य विपरि-
णमनमिदम् । विषमपदानामेवं सर्वत्र द्रष्टव्यम् ।

उपमाश्लेषस्योदाहरणम्—

जडात्मा स्यात्सदाक्षोभी समुद्रो वा पुमान् लोके ॥८२३॥

चित्रस्योदाहरणम्—

इलापाला सुलातीला कलामालाकुलामिलाम् ॥८३॥

गोमूत्रिकाबन्धः । अष्टदलपदम् च । भूपालनशीला ईडा जिनस्तुतिः ।
इला इरा वाक् दिव्यध्वनिरिति वा । कलादियुतामिलां भुव् वा^१ वाचं च ददाति ।
इलापाला इला, (ईला वा) कलानालाकुलाम्, इलां सुलातीत्यन्वयः^२ ।

तीसरे चरणमें 'मडम्ब' और चौथे चरणमें 'मलम्ब' है, इस प्रकार ड और ल का भेद होनेपर भी यमकालंकार बन जाता है । इसी पंक्तिमें 'मडम्ब' और 'मलम्ब'में भी व और ब का अभेद मानकर यमकयोजना की गयी है ॥ ८२ ॥

उपमा और श्लेषका उदाहरण—

समुद्रपक्षमें—'जलम् आत्मा यस्य सः'—'जलात्मा'—जल सहित और पुरुष पक्षमें—'जडः आत्मा यस्य स जडात्मा'—जिसकी आत्मा जड है अर्थात् मूर्ख । मूर्ख व्यक्ति सदा क्षुब्ध रहता है और समुद्र भी सदा क्षुब्ध—तरंगयुक्त रहता है ।

यहाँ ड और ल में अभेद मानकर श्लेष द्वारा यमककी योजना की गयी है । वस्तुतः प्रत्यक्षमें यहाँ श्लेष ही है, पर व्याख्यानानुसार यमक भी घटित हो जाता है ।

उपमालङ्कारमें यमक घटित करनेके लिए 'वा' का 'क्त्' लेना होगा और यह अर्थ निष्पन्न होगा—

समुद्रके समान जडात्मा व्यक्ति सदा क्षुब्ध—चंचल रहता है ॥ ८२३ ॥

चित्रालंकारके उदाहरण—

र और ल तथा ड और ल का अभेद बताया गया है । ड और ल के अभेद सम्बन्धी उदाहरणमें 'सुलातीला'के स्थानमें 'सुलातीडा' पाठ मानना पड़ता है । ड और ल में अभेद होनेके कारण गोमूत्रिका और अष्टदल बन्धमें अन्तर नहीं होता ।

'इलापाला—भूपालनशीला ईडा—जिनस्तुतिः—कलामालाकुलामिराम् कला-
मालया आकुलाम् इराम् दिव्यवाचंम् सुलाति सुददाति' इस व्याख्यानमें 'कलामालाकुला-
मिराम्' में र और ल में अभेद होनेसे चित्रालंकार बनता है । 'कलामालाकुलामिराम्'
यह (विसर्गानुस्वारी चित्राय तो मती) का उदाहरण है । यतः अनुस्वारकी विशेषता रहते हुए भी अलंकार स्वीकृत है । ल और र के दृष्टान्तमें—'इलापाला सुलातीरा—

१. विवरणमिदम्—क-ख । २. क-ख नास्ति । ३. क-ख नास्ति ।

वर्णभेदं विजानीयात्कविः काव्यमुखे पुनः ।
 सद्वर्णं सद्गणं^१ कुयत्सिंपत्संतानसिद्धये ॥८४॥
 वण्यवर्णकयोर्लक्ष्मीः शीघ्रमेवोपजायते ।
 अन्यथैतद्द्वयस्यापि दुःखसंततिरञ्जसा ॥८५॥
 झाज्जाच्चोच्छादृठाभ्यां ढणधपबभमैराल्लवात्पाद्^३लाभ्याम्,
 संयुक्तेऽक्षं^४ विना स्यादशुभमितरतो वर्णतोभद्रमिद्धम् ॥८५३॥
 मोभूर्त्नोमौयंभौवाः शशधय्युगलं मङ्गलं तोऽशुभः खं-
 जोरस्सो भासुरग्निः पवन इदमभद्रं त्रयं चादिकानाम् ॥८६॥

कुलामाला कुलाभिलाम्' पाठ रहेगा । इलापालनशीला—पृथ्वीपाल; इरा वाणी कला-
 माला कुलामिलां भूमि सुलाति—ददाति' व्याख्यान हीगा ।

जिनेन्द्र भगवान्की स्तुति दिव्यवाणी प्रदान करती है । जो व्यक्ति भक्ति-विभोर
 होकर जिन भगवान्की स्तुति करता है—गुणस्तवन करता है, उसे दिव्यवचन शक्ति
 प्राप्त होती है ॥ ८३ ॥

काव्य रचनाके नियम—

कविको काव्य-रचनाके प्रारम्भमें ही वर्णों के स्वरूप भेदको सम्पक् प्रकार जान
 लेना चाहिए । सम्पत्ति और सन्तानके इच्छुक कवि काव्यके प्रारम्भमें शुभ वर्ण और
 शुभ गणोंका प्रयोग करें ॥ ८४ ॥

काव्यके प्रारम्भमें उक्त वर्ण और उत्तम गणका प्रयोग करनेसे पाठक और
 काव्यनिर्माता कविको शीघ्र ही सम्पत्तिकी प्राप्ति होती है तथा जो कवि सद्वर्ण और
 शुभगणका काव्यके प्रारम्भमें प्रयोग नहीं करता, उसकी तथा काव्यपाठकी सम्पत्ति
 और सन्ततिकी क्षति होती है ॥ ८५ ॥

वर्णोंका शुभाशुभत्व—

स, ज, च, छ, ट, ठ, ड, ण, घ, फ, ब, भ. म, र, ल, व और द में ये
 वर्ण अ और क्ष के विना अन्य वर्णोंके साथ संयुक्त रहनेपर काव्यादिमें इनका प्रयोग
 अशुभ माना जाता है तथा उक्त वर्णोंके अतिरिक्त अन्य वर्णोंका संयोग काव्यारम्भमें
 शुभकारक होता है ॥ ८५३ ॥

गणोंके देवता और उनका फल—

मगणके देवता भूमि, नगणके स्वर्ग, भगणके जल और मगणके देवता चन्द्रमा
 हैं । इन चारों गणोंको माङ्गलिक माना गया है । इनका काव्यारम्भमें प्रयोग शुभ-
 कारक है ।

१. सद्वर्णं—अ वर्तते । २. अल्लु चाज्जा—ख । ३. क्षाद्घलाभ्याम्—क ।
 ४. संयुक्तैः क्षं—क-ख प्रती । ५. भानुरग्निः—क ।

मगणादीनां भूरित्यादयोऽधिदेवताः—

बिन्दुसर्गो पदादी न कदाचन जत्री पुनः ।

भवान्तावपि विद्येते काव्यादौ न कदाचन ॥८७॥

आभ्यां संप्रीतिरोभ्यामुद्भवेद्भ्यां घनं पुनः ।

ऋलृचतुष्टयतोऽकीतिरेचः सौख्यकरा स्मृताः ॥८८॥

तगणके देवता आकाश, जगणके सूर्य, रगणके अग्नि और सगणके देवता पवन हैं । ये चारों अशुभ हैं, अतः काव्यारम्भमें इनका प्रयोग वर्जित है । तगणको मुख्यस्थ—
अर्थात् सामान्य माना गया है ॥ ८६ ॥

गणदेवता और फलबोधक पद्य—

| नाम | स्वरूप | देवता | फल | शुभाशुभत्व |
|-----|--------|----------|---------|------------|
| यगण | I S S | जल | आयु | शुभ |
| भगण | S S S | पृथ्वी | लक्ष्मी | शुभ |
| तगण | S S I | आकाश | शून्य | अशुभ |
| रगण | S I S | अग्नि | दाह | अशुभ |
| जगण | I S I | सूर्य | रोग | अशुभ |
| भगण | S II | चन्द्रमा | यश | शुभ |
| नगण | III | स्वर्ग | सुख | शुभ |
| सगण | II S | वायु | विदेश | अशुभ |

पदारम्भमें स्थाज्य वर्ण—

पद्यके प्रारम्भमें बिन्दु, विसर्ग, ज और व का व्यवहार नहीं करना चाहिए । इसी प्रकार काव्यके प्रारम्भमें भ और ष वर्णका प्रयोग सर्वथा त्याज्य है ॥ ८७ ॥

काव्यके प्रारम्भमें स्वरवर्णोंके प्रयोगका फल—

काव्यके प्रारम्भमें 'अ' या 'आ' के होनेसे अत्यन्त प्रसन्नता; इ या ई के होनेसे आनन्द; उ या ऊ के होनेसे धनलाभ; ऋ, ॠ, लृ, लृ के होनेसे अपयश एवं ए, ऐ ओ, औ के रहनेसे कवि, नायक तथा पाठकको महान् सुख होता है ॥ ८८ ॥

१. डजी—ख । २. भवान्तावपि—ख । ३. भ्यामुद्भवेद्भ्याम्—ख ।

कादिवर्णचतुष्कोच्छ्वोरपकीर्तिश्चकारतः ।
 छकारात्प्रोतिसौख्ये द्वे मित्रलाभो जकारतः ॥८९॥
 झार्द्धीमृत्यु ततः^३ खेदष्ठाद्दुःखं शोभनं तु डात् ।
 ङोऽशो भादो भ्रमो णात्तु सुखं तात्थाद्रणं दघो ॥९०॥
 मुखदौ नात्प्रतापो भीः^३ सुखान्तवलेषदाहदः ॥
 पवर्गो याद्रमा रेफाद्दाहो व्यसनदौ लवी ॥९१॥
 शषाभ्यां सुखखेदौ च सहौ च सुखदाहदौ ।
 लस्तु व्यसनदः क्षस्तु सर्ववृद्धिप्रदो भवेत् ॥९२॥
 एवं प्रत्येकमुक्तास्ते वर्णास्सत्यफलप्रदाः ।
 त्याज्यः स्याद्वर्णसंयोगस्तैलकर्पूरयोगवत् ॥९३॥
 प्रत्येकं तु गण्य ज्ञेयास्मत्सत्यफलदाः यथाः ।
 यादधनं राच्चभीदाही तः शून्यफलदो मतः ॥९४॥

काव्यादिमें व्यंजनवर्णोंके प्रयोगका फल—

काव्यके प्रारम्भमें क, ख, ग, घ के रहनेसे लक्ष्मी; चकार रहनेसे अयशा, छकार रहनेसे प्रीति और सुख दोनोंकी प्राप्ति तथा जकारके रहनेसे मित्रलाभ होता है ॥८९॥

काव्यादिमें झ के रहनेसे भय तथा, त के रहनेसे कष्ट; ठ के रहनेसे दुःख; ड के रहनेसे शुभ फल; ढ के रहनेसे शोभाहीनता; द के रहनेसे भ्रान्ति; ण के रहनेसे सुख; त और थ के रहनेसे युद्ध एवं द और ध के रहनेसे सुखकी प्राप्ति होती है ॥ ९० ॥

काव्यके प्रारम्भमें न के रहनेसे प्रतापकी वृद्धि; पवर्गके रहनेसे भय, सुखकी समाप्ति, कष्ट और जलन; य के होनेसे लक्ष्मीकी प्राप्ति; रेफके रहनेसे जलन एवं ल और व के रहनेसे अनेक प्रकारकी आपत्तियोंकी उपलब्धि होती है ॥ ९१ ॥

काव्यारम्भमें श के रहनेसे सुख, ष से कष्ट, स के रहनेसे सुख, ह से जलन, ल से नाना प्रकारके क्लेश और ण के रहनेसे सभी प्रकारकी वृद्धि होती है ॥ ९२ ॥

इस प्रकार सत्य फलके प्रदान करनेवाले सभी वर्णोंका विवेचन किया गया है। तैल और कर्पूरके सम्मिश्रणके समान अशुभाशरोंका संयोग काव्यादिमें सर्वथा त्याज्य है ॥ ९३ ॥

गर्गोंके प्रयोग और उनका फलारेश—

अभीष्ट और अनिष्टफल देनेवाले प्रत्येक गणके फलको अवगत कर लेना चाहिए। काव्यारम्भमें यगणका प्रयोग होनेसे धनकी प्राप्ति, रगणके रहनेसे भय और जलन तथा तगणके होनेसे शून्य फलकी प्राप्ति होती है अर्थात् सुख और दुःख प्राप्त नहीं होते, सर्वथा फलाभाव रहता है ॥ ९४ ॥

भात्सुखं जाद्रुजा सात्तु क्षयो रेशुभदौ नमो ।
 वदन्ति देवतां शब्दाः भद्रादीनि च ये तु ते ॥९५॥
 गणाद्वा वर्णसोऽवाऽपि नैव निन्द्याः कवीश्वरैः ।
 एतद्वर्णाभिविन्यासं काव्यं पद्यादितस्त्रिवा ॥९६॥
 सच्छन्दोऽच्छन्दसो पद्यगद्यं मिश्रं तु तद्युगम् ।
 निबद्धमनिबद्धं वा कुर्यात्काव्यमुखं कविः ॥९७॥
 आशीरूपं नमोरूपं वस्तुनिर्देशनं च वा ।

स्वकाव्यमुखे स्वकृतं पद्यं निबद्धं परकृतमनिबद्धम् ।

अन्यकाव्यमुखशब्दार्थच्छायां नो रचयेत्कविः ॥

स्वकाव्ये सोऽन्यथालोके पश्यतोहरतामटेत् ॥९८॥

काव्यादिमें भगणके होनेसे सुख, जगणके प्रयोगसे रोग, सगणसे विनाश, नगणके प्रयोगसे धनलाभ और मगणके प्रयोगसे शुभफलकी प्राप्ति होती है ।

देवता, भद्र या मंगल प्रतिपादक शब्द कवियों द्वारा निन्द्य नहीं माने गये हैं । आशय यह है कि अशुभ और निन्द्य वर्ण या गण भी देवता, भद्र और मंगलवाचक होने-पर त्याग्य नहीं हैं ॥ ९५ ॥

प्रवर कवियोंके द्वारा गण अथवा वर्णसे भी भद्र, मंगल इत्यादि अर्थके प्रतिपादन करनेवाले शब्द अशुभ फलप्रद नहीं माने गये । अतः वे काव्यादिमें निन्द्य नहीं हैं ।

काव्यके भेद—

इस प्रकार वर्णोंकी रचनासे सुन्दर काव्य पद्य, गद्य और मिश्रके भेदसे तीन प्रकारका होता है ॥ ९६ ॥

काव्यके तीन भेद और रचना करनेकी विधि—

काव्यके तीन भेद हैं—(१) छन्दोमय, (२) अनिबद्धोमय, (३) और गद्य-पद्य मिश्रित । कवि काव्यका प्रारम्भ निबद्ध—स्वरचित और अनिबद्ध—पर रचित गद्य, पद्य या मिश्रित रूप—चम्पूसे करता है । आशय यह है कि पद्य, गद्य और चम्पूके भेदसे काव्य तीन प्रकारका होता है । कवि काव्य रचनाका प्रारम्भ अपने द्वारा रचित छन्द या गद्यसे अथवा अन्य कवियों द्वारा रचित छन्द या गद्यसे करता है ॥ ९७ ॥

काव्यारम्भका नियम—

काव्यका आरम्भ आशीर्वादात्मक, नमस्कारात्मक और वस्तु निर्देशात्मक रूप मंगलसे करना चाहिए ।

काव्यका प्रारम्भ स्वरचित छन्द या गद्यसे करना निबद्ध और अन्य कवियों द्वारा रचित छन्द या गद्यसे करना अनिबद्ध कहलाता है ।

कविको अपनी रचनामें दूसरेके काव्यके सुन्दर शब्द या अर्थको छायाको प्रहृण-

समस्यापूरणं कुर्यात्परशब्दार्थगोचरम् ।
पराभिप्रायवेदित्वास्तु कविर्दोषमृच्छति ॥९९॥

अस्ति स्तः सन्ति तस्याः कुचकलशतटे नास्ति न स्तो न सन्ति ।

एतत्समस्यापूरणं यथा—

शुभ्रश्रीहारयष्टिः शिशिरकैरकलाकान्तिदीप्तिद्विरेफा-
स्सारामोदाब्जशङ्काजठरगवृषभप्राभवात्कालिमास्याः ।
श्रीमन्नाभिप्रियाया नखरहृतिकरोन्मर्दने धर्मपाथा-
स्यस्ति स्तः सन्ति तस्याः कुचकलशतटे नास्ति न स्तो न सन्ति ॥१००॥

कर काव्यरचना नहीं करनी चाहिए; ऐसा करनेसे वह लोकमें पर्यतोहर—चोर कह-
लाता है ॥ ९८ ॥

समस्यापूर्तिकरनेका औचित्य—

कवि दूसरे कवियोंके शब्द और अर्थ लेकर समस्यापूर्ति कर सकता है । समस्या
पूर्तिमें पराभिप्राय—अन्य कवियोंके भावकी अभिज्ञता होनेसे दोष नहीं माना जाता है ।
तात्पर्य यह है कि अन्य कवियोंके शब्द या अर्थका आचार ग्रहण करनेपर भी समस्यापूर्ति
में कविको चोर नहीं माना जा सकता है । समस्यापूर्ति करना कविकर्ममें शामिल है
॥ ९९ ॥

समस्यापूर्तिका उदाहरण—

गर्भस्थ आदि तीर्थंकर पुरुदेवके प्रभावसे श्रीमान् नाभिराजकी प्रिया इस मरु-
देवीके कुचकलशके प्रान्तभागमें शुभ्रहार यष्टिकी कान्ति व्याप्त है अर्थात् शुभ्रहारकी
कान्तिसे कुचकलश शोभित हो रहे है । कुचकलशोंकी अत्यन्त सुगन्धके कारण कमलकी
भ्रान्ति होनेसे भ्रमर एकत्र हो गये है । यहाँ कविने कृष्ण चूचुकका वर्णन करते हुए
कुचकलशको सुगन्धियुक्त और कृष्ण वर्णके चूचुकोंको भ्रमर कहा है तथा भ्रान्तिमान्का
आरोप किया है ।

नाभिप्रिया मरुदेवीके कुचकलशतटमें कालिमा नहीं है । गर्भावस्थामें स्तन
कृष्णवर्णके हो जाते है, पर आदि तीर्थंकरके गर्भमें रहनेके कारण मरुदेवीके स्तनमें
कालिमाका अभाव है और न नखशत और करोन्मर्दन सम्बन्धी पीड़ा ही है । गर्भावस्था
की भ्रान्तिके कारण उत्पन्न होनेवाले स्वेदबिन्दु भी नहीं है । "यहाँ अस्ति स्तः सन्ति
तस्याः कुचकलशतटे नास्ति स्तो न सन्ति" द्वारा समस्या पूर्ति की गयी है ॥ १०० ॥

मानस्तम्भो नटति नितरां, सूर्यबिम्बस्य मूर्ध्नि-
 कान्त्या दोषद्या जिनवरमहाबिम्बवृत्त्याचितेऽस्य^१
 मूलं गत्वा महयति रवीं बिम्बवृन्दं जितानाम् ।
 मानस्तम्भः पुरुजिनपतेः संसदीति स्तुतोऽभू-
 न्मानस्तम्भो नटति नितरां सूर्यबिम्बस्य मूर्ध्नि ॥१०१॥

नभसि नलिनपत्रे दन्तिनः संचरन्ति—
 पुरुजिनवरवाणी सर्वभाषास्वभावा
 प्रगसन्निखिलदोषानन्तसीक्यप्रदा सा ।
 सकलनयगभौरा स्था-मृषा^२ स्याद्यदीति ।
 नभसि नलिनपत्रे दन्तिनः संचरन्ति ॥१०२॥

इस प्रकारकी समस्या-पूति करनेसे कविको मौलिकतामें न्यूनता नहीं आती है और न कवि चोर ही कहलाता है । नवीन अर्थको योजना कर समस्याको पूति करना कवि-कर्ममें समादरणीय माना गया है ॥

समस्यापूर्तिका अन्य उदाहरण—

अन्य समस्या—“मानस्तम्भो नटति नितरां सूर्यबिम्बस्य मूर्ध्नि”—‘सूर्य बिम्बके ऊपर मानस्तम्भ नृत्य कर रहा है’ की पूति की गयी है ।

मानस्तम्भके मूलमें जिन प्रतिमाएँ होती हैं । सूर्यनामक ज्योतिष्क देव जब उन प्रतिमाओंको पूजा करनेके लिए मानस्तम्भके मूलमें गया, तब उन प्रतिमाओंकी कान्ति और दीप्ति उस सूर्य देवपर पड़ी, जिससे वह आकाशस्थित सूर्यके समान ही चमकने लगा । उस समय उस मानस्तम्भकी इस तरह स्तुति की गयी कि सूर्य बिम्बके मस्तकपर मानस्तम्भ अच्छी तरह नृत्य करता हुआ विद्यमान है ॥ १०१ ॥

इस प्रसंगमें की गयी समस्यापूर्ति में कल्पनाजन्य अपूर्व चमत्कार है । कविने सूर्य बिम्बके मस्तकपर मानस्तम्भके नृत्य करनेका सहेतुक निरूपण किया है । वस्तुतः इस पद्यमें समस्या-पूति रहनेपर भी मौलिकता प्राप्त होती है ।

समस्यापूर्तिका अन्य उदाहरण—

अन्य समस्या—“नभसि नलिनपत्रे दन्तिनः संचरन्ति”—‘आकाशमें कमलपत्र-पर हाथी घूम रहे हैं—की पूति निम्न प्रकार की है ।

सर्वभाषामयी, सभी प्रकारके दोषोंसे शून्य, असीम सुख प्रदान करनेवाली, समस्त नयोंसे युक्त गम्भीर आदि तीर्थकरकी स्याद्वाद-वाणी यदि असत्य हो जाये तो आकाशमें कमलपत्रपर हाथी घूमने लगे ॥ १०२ ॥

१. चित्तेऽस्य—ख । २. स्यान्तपास्याद्य—ख ।

एवमेकैकत्र द्वित्राणि पंचषाणि वा पद्यानि कृत्वाऽभ्यसेत् ॥

इति शिक्षानुमः सर्वरसभावविशारदः ।

शब्दाद्यशेषपंप्रीतो महाकविरतोऽपरे ॥१०३॥

मध्यमादयः—

केचित्सौशब्दमिच्छन्ति केचिदर्थस्य संपदम् ।

केचित्समासभूयस्त्वं परे व्यस्तां पदावलीम् ॥१०४॥

मृदुबन्धार्थिनः केचित् स्फुटबन्धेषिणः परे ।

मध्यमाः केचिदन्येषां रुचिरत्यैव लक्ष्यते ॥१०५॥

कावित्वमातनोति यस्त्रिषांष्टपूरुषांश्रितम् ।

त्रिषष्टिधाममण्डितं त्रिविष्टपोद्यमेष्यति ॥१०६॥

इत्यलंकारचिन्तामणौ न विशिक्षाप्ररूपणौ नाम

प्रथमः परिच्छेदः ॥ ॥

इसी प्रकार दो-तीन या पाँच-छः पदोंकी रचना करके काव्य-प्रणयनका अभ्यास करना चाहिए ।

महाकविका स्वरूप —

उपर्युक्त काव्य शिक्षाका अनुकरण करनेवाला; सम्पूर्ण शृंगार, हास्यादि रस और भाव इत्यादिका विशेषज्ञ; पद-अर्थ इत्यादि समस्त काव्यांगोंकी जानकारीसे प्रसन्न चित्तवाला महाकवि होता है और उन्नत लक्षणोंसे भिन्न लक्षणवाला मध्यम या जघन्य कवि होता है ॥ १०३ ॥

मध्यमादि कवि —

कोई कवि शब्दसौन्दर्य, कोई अर्थसौन्दर्य, कोई अधिक समास-युक्त पद और कोई समासरहित पदसमूहकी अभिलाषा करते हैं ॥ १०४ ॥

कोई कवि कोमल रचनाको पसन्द करते हैं; कोई स्फुट-प्रसाद गुण विशिष्ट रचना करना चाहते हैं; कोई मध्यम ढंगकी रचनाकी अभिलाषा करते हैं और अन्य कवि किसी दूसरी प्रकारकी ही इच्छा रखते हैं ॥ १०५ ॥

जो महाकवि त्रिषष्टि शलाकापुरुषोंसे सम्बद्ध अपनी कविताका प्रणयन करता है, वह त्रेक पदलोंसे युक्त स्वर्गको प्राप्त करता है । १०६ ॥

अलंकार चिन्तामणिमें कवि शिक्षा प्ररूपण नामक

प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः परिच्छेदः

अथ तावद्ब्रुवे शब्दालंकारं तं चतुर्विधम् ।
चित्रवक्रोक्त्यनुप्रासयमकाश्रितभेदतः ॥१॥
धीरोष्ठ्यबिन्दुमद्बिन्दुच्युतकादित्वतोऽद्भुतम् ।
करोति यत्तदत्रोक्तं चित्रं चित्रविदा यथा ॥ २ ॥
तच्च बहुविधम्—
उभे व्यस्तसमस्ते च द्विव्यस्तद्विः समस्तके ।
उक्तं व्यस्तसमस्तं च द्विव्यस्तकसमस्तकम् ॥३॥
द्विः समस्तकसुव्यस्तमेकालापं प्रभिन्नकम् ।
भेद्यभेदकमोजस्वि सालंकारं च कौतुकम् ॥४॥
प्रश्नोत्तरसमं पृष्टप्रश्नभग्नोत्तरं तथा ।
आदिमध्योत्तराभिख्येऽन्तोत्तरमपह्लुतम् ॥५॥

शब्दालंकारके भेद—

कविशिक्षाके अनन्तर चित्र, वक्रोक्ति, अनुप्रास और यमक भेदवाले चार प्रकारके शब्दालंकारका निरूपण करता है ॥ १ ॥

चित्रालंकार—

धीरोष्ठ्य, बिन्दुमद्, बिन्दुच्युतकादि अनेक ऐसे अलंकार हैं, जिन्हें देखसुनकर आश्चर्य होता है, अतः इस प्रकारके अलंकारको चित्रालंकार कहते हैं ॥ २ ॥
चित्रालङ्कारके अनेक भेद हैं—

चित्रालंकारके अनेक भेद—

(१) व्यस्त (२) समस्त (३) द्विव्यस्त (४) द्विः समस्त (५) व्यस्त-
समस्त (६) द्विः व्यस्त-समस्त (७) द्विः समस्तक-सुव्यस्त (८) एकालापम् (९)
प्रभिन्नक (१०) भेद्य-भेदक (११) ओजस्वी (१२) सालङ्कार (१३) कौतुक
(१४) प्रश्नोत्तर (१५) पृष्टप्रश्न (१६) भग्नोत्तर (१७) आद्युत्तर (१८)

१. निरोष्ठ्य-ख । २. त्वतोऽद्भुतम्-क; त्वतोच्युतम्-ख । ३. उक्तं व्यस्तसमस्त
क-क ।

विषमं वृत्तनामापि नाभाख्यातं च ताश्चर्यकम् ।
 सौत्रं शाब्दिकशास्त्रार्थं^१ वर्णवाक्योत्तरे तथा ॥६॥
 श्लोकवाक्योत्तरं खण्डं पादोत्तरसुचक्रके ।
 पद्यं काकपदं चापि गोमूत्रं सर्वतो^२ भद्रम् ॥७॥
 गतप्रत्यागतं चापि वर्द्धमानाक्षरं तथा ।
 ह्रीयमानाक्षरं चापि शृङ्खलं नागपाशकम् ॥८॥
 चित्रं संशुद्धमन्यत्तु सप्रहेलिकमीरितम् ॥८^३॥
 पृथक् पृथक् पदैः पृष्ठं यत्तद्व्यस्तं निगद्यते ॥९॥
 समस्तं मेलनेनात्र पदानां पृष्ठमुच्यते ॥९^३॥
 कः^३ पूजावाचकः शब्दः कर्मभूतं विधिं वर्द्ध ॥१०॥
 मेदिनीवाचकः शब्दः कः पद्मवदनेऽम्बिके ॥१०^३॥
 स्वयम्भूः । व्यस्तजातिः ॥

मध्योत्तर (१९) अन्तोत्तर (२०) अपह्लुत (२१) विषम (२२) वृत्त (२३)
 नामाख्यातम् (२४) तार्किक (२५) सौत्र (२६) शाब्दिक (२७) शास्त्रार्थ
 (२८) वर्णोत्तर (२९) वाक्योत्तर (३०) श्लोकोत्तर (३१) खण्ड (३२) पादोत्तर
 (३३) सुचक्रक (३४) पद्य (३५) काकपद (३६) गोमूत्र (३७) सर्वतोभद्र
 (३८) गत-प्रत्यागत (३९) वर्द्धमान (४०) ह्रीयमानाक्षर (४१) शृङ्खल और
 (४२) नागपाशक ये शुद्ध चित्रालंकार हैं । इनके अतिरिक्त अर्थप्रहेलिका तथा
 अर्थप्रहेलिका भेदसे और भी अनेक भेद सम्भव हैं ॥ ३-८^३ ॥

व्यस्त और समस्त चित्रालंकारके लक्षण—

पृथक्-पृथक् पदोंसे जो प्रश्न किया जाय उसे व्यस्त, एकमें मिले हुए पदोंसे जो
 प्रश्न किया जाये उसे समस्त चित्रालंकार कहते हैं ॥ ९^३ ॥

व्यस्त चित्रालंकारका उदाहरण—

पूजावाचक शब्द कौन है ? कर्म होनेवाले विधिका पर्याय कौन है ? पृथिवी-
 वाचक शब्द कौन है ? पद्मवदन—कमलमुख और अम्बिक अर्थवाले कौन शब्द हैं ?
 ॥ १०^३ ॥

उत्तर—स्वयम्भू—

१. शास्त्रोत्थे—ख । २. सर्वतोभद्रम्—इति टिप्पण्याम्—ख । ३. पूजार्थं वर्द्धतीति
 द्वितीयाविभक्त्यन्तम् । ४. विधिपर्यायम्—विदलेषणं—ख ।

कल्याणेषु सुरैः कोऽर्च्यः कमनीयेषु देवि भोः ।
स्मर्तॄणामपि कर्तॄणां मुक्तिसौख्यप्रदो महान् ॥११३॥
तीर्थकरः । समस्तजातिः ।

समासपदभङ्गेन द्विःपृष्टं व्यस्तमेव वा ।
समस्तं यत्तदाख्यातं द्विव्यस्तं द्विः समस्तकम् ॥१२३॥
नारायणसुसंवृद्धिः का चन्द्रमसि को वसेत् ।
मुक्तिकान्तापरिष्वक्तः किं पदं कीदृशो धरेत् ॥१३३॥

अकलङ्कः । आकलङ्कः । अकलं अशरीरपदम् । कः परमात्मा ।

द्विव्यस्तजातिः

जिनमानप्रनाकीको नायकाजितसत्क्रमम् ।

कमाहुः करिणं चोद्धलक्षणं कीदृशं विदुः ॥१४३॥

समस्त चित्रालंकारका उदाहरण—

हे देवि ! मनोहर गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाण कल्याणकोमें देवोंके द्वारा कौन पूज्य है ? स्मरण करनेवाले और कार्य करनेवालोंको महान् मुक्तिसुख प्रदान करने वाला कौन है ? ॥ ११३ ॥

उत्तर—तीर्थकर ।

द्विव्यस्त और द्विःसमस्त चित्रालंकारके लक्षण—

समस्त पदोंका विभाग कर दो बार पूछा जाय तो उसे द्विव्यस्त चित्रालंकार और समस्त पदोंमें ही दो बार पूछा जाये तो उसे द्विःसमस्त चित्रालंकार कहते हैं ॥१२३॥

द्विव्यस्त जाति चित्रालंकारका उदाहरण—

नारायणमें सुसंवृद्धि क्या है ? चन्द्रमामें कौन रहता है ? मुक्ति कान्तासे समा-
लिङ्गित किस प्रकारके पदको धारण करता है ? ॥ १३३ ॥

उत्तर—अकलङ्कः । आकलङ्कः । अकलं अशरीरपदम् । कः परमात्मा । अर्थात् कलंक रहित । आकलङ्कः—बहुत बड़ा कलंक-चिह्न । अकलम्—अशरीम्, पदम्—अभाव शरीराभाव—निकलंक (सिद्ध परमात्मा निकलंक - शरीर रहित है ।)

द्विःसमस्तजाति चित्रालंकारका उदाहरण—

इन्द्रादि देवों द्वारा नञ्जीभूत हो नमस्कार किये गये और पुण्यका अर्जन करने-
वाले जिनेन्द्रको क्या कहा गया है ? उद्धत हाथीको कैसा कहा गया है ॥ १४३ ॥

१. पुरैः—ख । २. विभागेन व्यवच्छेदेन च—ख । ३. भवेत्—ख । ४. प्रनाकीको—ख ।

५. नायकाजितसत्क्रमम्—ख ।

सुरवरदम् । सुरेभ्यो वरमभीष्टं ददाति । शोभना रवा रदा यस्य । द्विः-
समस्तजातिः ॥

उभयार्थप्रदं पृष्ठं^१ पदं पदविभागतः ।

समुदायेन च प्रोक्तं तद्व्यस्तकसमस्तकम् ॥१५३॥

आतपोत्तप्तपान्थानां किं तृष्णां विच्छिनत्ति भोः ।

त्यजन्ति मुनयो धीराः किं किं पापकरं मतम् ॥१६३॥

कन्दर्परञ्जनम् । कं गर्वरागद्वयम्^२ । व्यस्तसमस्तजातिः ॥

व्यासद्वयसमासाभ्यां द्विव्यस्तैकसमस्तकम् ।

स्याद् द्विसमस्तकव्यस्तं द्विःसमासेतरैकतः ॥१७३॥

निस्स्वतोषाय को मूढं भ्रान्तेः का किं शुभ्रं^३ रणे ।

सार्वा का किं कुलं स्तुत्यं किं सदस्तीर्थकारिणाम् ॥१८३॥

उत्तर—सुरवरदम्—देवताओंकी अभिलाषित पदार्थ देनेवाला । पुन्दर शब्द और दाँतवाला अर्थात् उद्धलक्षण गज भी सुरवरदम्—‘शोभना रवा रदा यस्य’ कहलाता है ।

व्यस्तक-समस्तक चित्रालंकारका लक्षण—

पदके विभागेसे पूछा गया पद यदि दो अर्थोंका प्रतिपादक हो अथवा समुदायसे भी पूछा गया पद दो अर्थोंका प्रतिपादक हो तो उसे व्यस्तक-समस्तक चित्रालंकार कहते हैं ॥ १५३ ॥

व्यस्तक-समस्तक चित्रालंकारका उदाहरण—

आतपसे पीड़ित पथिकोंकी तृष्णाको कौन दूर करता है ? धीर मुनीश्वर किसका त्याग करते हैं ? पापकारक क्या माना गया है ? ॥ १६३ ॥

उत्तर—कन्दर्परञ्जनम्—कामदेवकी प्रसन्न करनेवाला । कं गर्वरागद्वयम्—
गर्व-स्मर-राग-द्वेष । कम्—जलम्—जल (पथिकोंकी तृष्णाको जल शान्त करता है)

द्विव्यस्तक-समस्तक और द्विःसमस्तक-व्यस्तक चित्रालंकारके लक्षण—

दो व्यस्तपद और एक समस्तपदसे जिसे कहा जाये उसे द्विव्यस्तक-समस्तक तथा दो समस्त और एक व्यस्तपदसे जिसे कहा जाय, उसे द्विःसमस्तक-व्यस्तक चित्रालंकार कहते हैं ॥ १७३ ॥

द्विव्यस्तक-समस्तक और द्विःसमस्तक-व्यस्तक चित्रालंकारके उदाहरण—

निर्वन्तोंके सन्तोषके लिए क्या है ? मस्तकमें भ्रान्तिका कारण क्या है ? युद्धमें

१. प्रदं पृष्ठं पदम्—क । २. गर्वरागद्वयम्—स्मररागः—इति क-ख । ३. व्यस्तपदद्वयम्, समस्तपदमेकम्—ख । ४. भ्रान्तये—क-ख । ५. का शुभ्रं रणम्—क-ख । ६. सर्वेभ्यो हितः—इति विश्लेषणम् ।

राजराजविराजितम् । रा वित्तम् । जरा । जविभिरश्वैः शोभितम् ।
राजराजं चक्रिणम् । विराति विशेषेण अनुगृह्णातीति राजराजविरा
दिव्यभाषा । अजितम् । दिव्यस्तसमस्तजातिः ॥

एकश्रुतिप्रकारेण भिन्नार्थकथकं वचः ।

द्विः समस्तप्रभेदेन तदेकालापकं मतम् ॥१९३॥

किमाहुः सरलोत्तुङ्गः सञ्छायतहसंकुलम् ।

कलभाषिणि किं कान्तं तवाङ्गे सालकाननम् ॥२०३॥

सालवनम् । अलकसहितमुखम् ॥

वव कीदृक् शस्यते रेखा तवाणुभ्रूः सुविभ्रमे ।

करिणीं च वदान्येन पर्यायेण करेणुका ॥२१३॥

सुभप्रद क्या है ? सभोका हितकारक कौन है ? कौन कुल प्रशंसनीय है ? तीर्थङ्करोकी
सभा कैसी है ? ॥ १८३ ॥

उत्तर—राजराजविराजितम् । रा—धन. जरा—वृद्धावस्था, जविभिः—वेग—
शाली अश्वैः—शोभिते शोभित । राजराजम्—विष्णु अथवा सम्राट् ।

विराति—विशेषेण—अनुगृह्णाति इति राजराजविरा—दिव्यभाषा । अजितम्—
अजेय । अर्थात् उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर “राजराजविराजितम्” पद है, किन्तु इसका
अर्थ प्रसंगानुकूल ग्रहण करना पड़ेगा ।

एकालापक चित्रालंकारका लक्षण—

एक सुननेके क्रिया-भेदसे तथा दो बार समासके रूपमें परिणत भेदसे भिन्न-
भिन्न अर्थको कहनेवाले वचनको एकालापक चित्रालंकार कहा गया है ॥ १९३ ॥

एकालापक चित्रालंकारका उदाहरण—

सीधे और ऊँचे अधिक छायावाले वृक्षोंसे व्याप्त क्या है ? हे मधुर बोलनेवाली
तेरे अंगमें मनोरम—प्रिय क्या है ? ॥ २०३ ॥

उत्तर—सालकाननम्—अर्थात् साल-वृक्षका जंगल । (२) सुन्दर केशोंसे
युक्त मुख ।—यह एकालापकका उदाहरण है ।

अन्य उदाहरण—

हे लघु भौंहवाली तथा सुन्दर विलासवाली, तुम्हारी रेखा कहीं और कैसी
प्रशंसनीय है ? यह पद ऐसा होना चाहिए, जिसके अन्य पर्यायवाचक शब्दका अर्थ
करिणी हो ? ॥ २१३ ॥

१. अग्ने—लक्ष्मीहस्तोऽम्बुजानां को निलयः कोऽङ्घ्रिनिन्दरा । का मयूखोऽपि को ब्रुहि
चित्रकव्यविदारदे ॥ क-ख । पञ्चाकरः पद्मायाः हस्तः पद्मानामाकरो निलयः ।
पद्—अङ्घ्रिः । मा—लक्ष्मीः । करो मयूखः द्विस्तमस्तव्यस्तजातिः ।

एतदप्येकालापकम् ॥

शब्दार्थलिङ्गवाग्भिश्च विभक्त्या यत्समासतः

व्यस्तं विभिन्नमाख्यातं तत्प्रभिन्नं मनोविभिः ॥ २२३ ॥

आमन्व्यतां महार्थंरिवृन्दं शब्दोऽपराधवाक ।

कोऽमराणां प्रजायेत तीर्थनाथसमुद्भवे ॥ २२३ ॥

महारागः । महार अरीणां वृन्दमारम् ॥ आगः शब्दार्थलिङ्गभिन्नम् ॥

शब्दार्थलिङ्गभिन्नम् ॥

संबुद्धिं विप्रकृष्टार्थं कुरु ब्रह्मोच्यते च कः ।

प्रजानां घातकः को वा भूपतिः परिभाष्यते ॥ २४३ ॥

दूराजः । शब्दार्थभिन्नम्

कीदृशं नन्दनं मेरोस्सप्तम्या मेघवाचकम् ।

किं पदं सुस्पृहां कस्मै कुर्वते वद कामुकाः ॥ २५३ ॥

उत्तर—“करेणु” अर्थात् करे—हस्ते णु—रेखा—हाथमें रेखा प्रशंसनीय होती है । इसका दूसरा अर्थ करेणुका—पुवती हस्तिनी ।

प्रभिन्नक चित्रालंकार—

शब्द, अर्थ लिङ्ग, पञ्चन और चिन्तितरे, इत्यादि, जो संक्षेपसे पृथक्-पृथक् अनेक प्रकारकी बातें कही गयी हों, उन्हें विद्वानोंने प्रभिन्नक चित्रालंकार कहा है ॥ २२३ ॥

शब्दार्थलिङ्गभिन्न चित्रालंकारका उदाहरण—

प्रबल शत्रु समूहको कौन आमन्त्रित करता है ? अपराधवाली वाणीका कौन शब्द है ? तीर्थकरोंके उत्पन्न होनेपर देवताओंमें कौन सा भाव उत्पन्न होता है ? ॥ २२३ ॥

उत्तर—महारागः—अत्यधिक रागवाला । अरीणां—शत्रुओंके, वृन्दम्—समूहको आरम्—शस्त्रम्—शस्त्र और शत । आगः । यही शब्द, अर्थ और लिङ्ग भिन्न-भिन्न हैं ।

शब्दार्थभिन्न चित्रालंकारका उदाहरण—

ब्रह्माका वाचक ऐसा कौन सा शब्द है, जो दूरार्थ सम्बोधनमें प्रयुक्त होता है ? प्रजाओंका घातक कौन राजा कहा जाता है ? ॥ २४३ ॥

उत्तर—दूराज । सम्बोधनं दूरार्थं हे दूर । अजः ब्रह्मा । दुष्टश्चासौ राजा च दूराजः । दुष्ट राजा । यही शब्द और अर्थ भिन्न-भिन्न हैं ॥

शब्दार्थ लिङ्गविभक्तसिन्न-चित्रालंकारका उदाहरण—

सुमेरुका नन्दन वन कैसा है ? सप्तमीका मेघवाचक पद कौन है ? कामुक व्यक्ति किसकी इच्छा करते हैं ? ॥ २५३ ॥

१. संबोधनं दूरार्थं हे दूर । अजः ब्रह्मा । दुष्टश्चासौ राजा च दूराजः—विश्लेषणम् ।

महासुरतद्वचये^१ । शब्दार्थलिङ्गविभक्तिभिन्नम् ।
शोभमानं नभः कीदृक् कस्तापयति देहिनम् ।
के जिनेशसमुत्पत्तिसमये कृतसंभ्रमाः ॥२६॥

सुरविभवः । शब्दार्थवचनभिन्नम् ।
एकेनैवार्थभेदेन रचयन्ति प्रभिन्नकम् ।
केचिन्मृदुधियस्ते च नदृत्तं सूरिभिर्यथा ॥२७॥
कः कम्पयति चेतांसि सर्वेषां वैरिणां भृशम् ।
सुरासुरनरादीनां कस्तोषयति मानसम् ॥२८॥

वीरोदयः ॥

उत्तर—महासुरतद्वचये—बड़े-बड़े कल्प वृक्ष समूहवाला नन्दन वन है । कल्पवृक्ष पक्षमें चये सप्तम्यन्त है । कामुक पक्षमें अत्यधिक निधुवन—मैथुनकी लचि है ।—“महश्च तत् सुरतंच निधुवनं तस्य हचये प्रीतये”—व्युत्पत्ति सम्भव है ।

शब्दार्थवचन चिन्नालंकारका उदाहरण—

कैसे आकाशकी शोभा होती है ? शरीर धारियोंको कौन कष्ट देता है ? जिनेश्वरके जन्म समयमें विशेष उत्साहवाले कौन हुए हैं ? ॥ २६ ॥

उत्तर—सुरविभवः—‘नभः पक्षे शोभनश्लासी रविश्च सुरविस्तेन शोभनम् ।’ सूर्योदय विशिष्ट आकाशकी शोभा होती है । ‘प्राणिपक्षे—संसारस्तापयति’ संसार प्राणियोंको कष्ट देता है । ‘जिनोत्पत्तिपक्षे सुराणां विभवो नाथाः देवेन्द्राः’ इन्द्रोंको जिनोत्पत्तिके समय विशेष उत्साह होता है । यह शब्दार्थ वचन भिन्नका उदाहरण है ।

प्रभिन्नक चिन्नालंकारके सम्बन्धमें अन्य विचारणीय—

कोई सुकोमल बुद्धिकाले कवि एक ही प्रकारके अर्थभेदसे प्रभिन्नक चिन्नालंकारकी रचना करते हैं, पर आचार्योंने इस पक्षको मान्यता नहीं दी है ॥ २७ ॥

समस्त शत्रुओंके अन्तःकरणको कौन अत्यधिक कम्पित करता है ? देव, दानव और मानवोंके अन्तःकरणको कौन सन्तुष्ट करता है ? ॥ २८ ॥

उत्तर—वीरोदयः—शत्रुपक्षे—‘वीराणामुदयः शूरोत्पत्तिः’ शूरपुरुषोंकी उत्पत्ति शत्रुओंके अन्तःकरणको कम्पित करती है । देव-दानवपक्षे—‘वीरस्योदयः वर्धमान-स्वामिन उत्पत्तिः’—महावीर स्वामीका जन्म देव-दानव-मानवको आनन्दित करनेवाला है ।

१. नन्दनवनपक्षे महान्तः सुरतरवो यस्य तत् । कल्पवृक्षपक्षे सप्तम्यन्तं चये इति । कामुकानां पक्षे महश्च तत् सुरतं च निधुवनं तस्य हचये प्रीतये ।

शब्दार्थभेदतोऽवश्यं प्रभिन्नं सुविरच्यताम् ।
वचोलिङ्गविभक्तीनां भेदस्तुच्येत^१ शक्तितः ॥२९॥

यत्र प्रश्ने निबध्येते विशेषणविशेष्यके^२ ।
भेद्यभेदकमाख्यातं तदिदं सूरिभिर्यथा ॥३०॥

केशेषु प्रसितः कायतलव्यपगमस्पृहः ।
कः क्लेशमेति कस्तुष्टः प्रासादतलनिष्ठितः ॥३१॥

कुमज्जनः । कुत्सितस्नानः । भूसहितो राजा । भेद्यभेदकजातिः ।
यत्पृष्टं दीर्घवृत्तेन युताल्पाक्षरमुत्तरम् ।
तदोजस्वीति भाषन्ते पण्डिताः खण्डितार्थयः ॥३२॥

प्रभिन्नकके विषयमें अन्य आशङ्क्यक तथ्य—

शब्द और अर्थके भेदसे प्रभिन्नककी रचना अवश्य करनी चाहिए । वचन, लिंग और विभक्तियोंके भेदको भी यथाशक्ति कहना चाहिए ॥ २९ ॥

भेद्य-भेदक चित्रालङ्कारका लक्षण—

जिस प्रश्नमें विशेषण और विशेष्यका निबन्धन किया गया हो, विद्वानोंने उसे भेद्य-भेदक कहा है ॥ ३० ॥

उदाहरण—

केशोंके संवारनेमें संलग्न, शरीरके निचले भागमें स्पृहा रहित कौन व्यक्ति क्लेश प्राप्त करता है और प्रासाद-भवनके उपरिभागमें बैठा हुआ कौन सन्तुष्ट होता है ? ॥ ३१ ॥

उत्तर—कुमज्जन,—“पुरुषपक्षे कुत्सितं स्नानं यस्य सः कण्ठस्थानः”—
कुत्सित स्नान—कण्ठस्नान करनेवाला पुरुष क्लेश प्राप्त करता है और ‘राजपक्षे कुरस्यास्तीति कुमान् कुमाश्चासौ जनश्च पृथिव्या सहितो राजा’—पृथ्वी सहित राजा प्रासादोपरि स्थित होनेसे सन्तुष्ट होता है ॥

ओजस्वी जाति—चित्रालङ्कारका लक्षण—

उन्हे समासवाले पदसे प्रश्न किया गया हो और अल्पाक्षरपदसे उत्तर दिया गया हो तो उसे दुःख दूर करनेवाले पण्डितोंने ओजस्वी अलंकार कहा है ॥ ३२ ॥

१. भेदस्तु उच्येत-ख । २. विशेष्यते-ख ।

तेजः सङ्क्षोभकारि स्फुटतरवनितापाङ्गबाणैर्न विद्ध-
स्तेद्वाम्बज्ज्वप्रबद्धो मनसि वचसि चाङ्गे तदासङ्गदूरः ।
को मूर्खः प्राणचित्तभ्रमणकरमहाश्वभ्रदुःखप्रदायी
कस्माज्जातः सवोषः सकलजनततिप्राणहारी च वेदः ॥३३॥

असुरतः ॥ न विद्यते सुष्टु तदभिलाषमात्रं रतं यस्य सः
शालासुरात् ओजस्विजातिः ।

यत्रोपमादयो नानाऽलंकारास्सन्ति च स्फुटम् ।
कविभिः कथ्यते तद्धि सालंकारसमाह्वयम् ॥३४॥

प्रियकारिणि का देवि त्वमेवै प्रियकारिणी
विवेकिनोव काडम्बै (त्वं) सार्वा का त्वमिवाम्बिके ॥३५॥

उदाहरण—

तेजको नष्ट करनेवाले नारीके कटाक्ष बाणसे कौन घायल नहीं होता ? नारीकी बाणीरूपी रस्सीसे कौन नहीं बन्धनमें पड़ता ? मन, वचन और शरीरसे नारीकी संगतिसे कौन दूर रहता है ? प्राणियोंके चित्तको भ्रमित करनेवाला महानरकके समान कष्टप्रद कौन मूर्ख है ? समस्त मानव समूहके प्राणको हरण करनेवाला वेद दोषयुक्त क्यों हुआ ? ॥ ३३ ॥

उत्तर—असुरतः—'पुरुषपक्षे सुरतकीडारहितः'—इच्छानुसार सुरत—मैथुन कीडसे रहित । वेदपक्षे—'शालासुराज्जातः'—शालासुर या शंखासुर से उत्पन्न । यह ओजस्विजातिका उदाहरण है ।

सालंकारचित्रका लक्षण—

जिसमें उपमा, रूपक आदि अनेक अलङ्कारोंकी स्पष्ट प्रतीति हो, विद्वान् कवियों-ने उसे सालङ्कार चित्र कहा है ॥ ३४ ॥

उदाहरण—

हे प्रियकारिणी देवि । तुम कौन हो, तुम ही प्रिय करनेवाली हो । हे अम्ब ! विवेकशालिनीके समान तुम कौन हो ? हे अम्बिके ! तुम्हारे समान सभीकी हितकारिणी कौन है ? ॥ ३५ ॥

१. चेतः कप्रती तथा खप्रती । २. तद्वाम्बज्ज्वप्रबद्धो खप्रती । ३. पुरुषपक्षे सुरतकीडारहितः, वेदपक्षे शालासुराज्जातः (?) शंखासुराज्जातः इति बोध्यम् । ४. कागासुरात् इति कप्रती, कालासुरात् इति ख । ५. त्वमिव कप्रती, त्वमिव इति ख । ६. कापि त्वं इति ख ।

सामग्री । सा लक्ष्मीः । अमगो । अमति जानातीत्यमा सा चासी
गी सरस्वतीति भावः । सामोक्तिः । उपमा ॥

प्राहुः^१ क्षमारूपमुनीशमूर्तिं कां वीरदिव्यध्वनिशोतभानोः ।

अग्रे कवीनां वचनं किमहो गणं महावीरहरेः कमाहुः ॥३६॥

कुम्भं । कुं भुवं, भं नक्षत्रं । करिपिण्डं । रूपकं ॥ सालंकारजातिः ॥

वृत्तेन लघुना पृष्टं प्रचुराक्षरमुत्तरम् ।

यत्तद्वेदिनः प्राहुः कौतुकं कौतुकावहम् ॥३७॥

केऽनिलाः श्रीहरेर्लज्जा देहसंबोधनं कथम् ।

भक्षणार्थं च कः शब्दः कीदृग् रत्नत्रयं वद ॥३८॥

कामास्त्रपातनोदनं । काः । अनिलाः । मा श्रीः । अः विष्णुः । त्रपा ।
तनो । अदनम् । कौतुकजातिः ।

उत्तर—सामग्री । सा लक्ष्मीः—वह लक्ष्मी । जाननेवाली अर्थात् सरस्वती ।
सामोक्तिः—प्रियवचः—मधुरवाणी । यहाँ उपमालंकार रहनेसे सालङ्कार चित्र है ।

रूपक आलंकारजन्य चित्रका उदाहरण—

वीरप्रभुकी दिव्यध्वनि स्वरूप चन्द्रमाकी क्षमारूप मुनीशमूर्ति किसे कहा गया
है ? कवियोंके समक्ष पापरूप वचन क्या है ? महावीरकी हरिका गण किसे कहा गया
है ? ॥ ३६ ॥

उत्तर—कुम्भम्—कुं भुवं—पृथिवीको । भम्—नक्षत्रं—ताराओंको । करि-
पिण्डम्—गजगण्डस्थल । यहाँ रूपक अलङ्कार होनेसे सालङ्कारचित्र है ।

कौतुक चित्रालंकारका लक्षण—

लघुवृत्त द्वारा प्रश्न किये जानेपर अधिक अक्षरों द्वारा जो उत्तर हो, विषयज्ञ
विद्वानोंने कुतूहल उत्पन्न करनेवाले उस पदको कौतुकचित्र कहा है ॥ ३७ ॥

उदाहरण—

अनिल कौन है ? हरिकी लज्जा क्या है ? देहका सम्बोधन कैसा होता है ?
भक्षण अर्थमें कौन शब्द है ? रत्नत्रय कैसा है ? बतलाइए ॥ ३८ ॥

उत्तर—कामास्त्रपातनोदनम् । काः अनिलाः; मा—श्रीः, अः—विष्णुभगवान्
त्रपा तनो । अदनम्—भोजन । यहाँ प्रश्नाक्षरपद अल्प विस्तारवाला है और उत्तरपद
अधिक अक्षरवाला है ।

१. सा च लक्ष्मीनिगद्यते । एत विष्णुना सहिता सा लक्ष्मीः ॥ २. प्रियवचः ।
३. रूपमुनीशमूर्तिं कां (क) । ४. श्री हरिर्लज्जा (ख) ।

प्रश्नाक्षरसदृशत्वमुत्तरे यत्र गद्यते ।
 प्रश्नोत्तरसमं प्रोक्तं^१ न देवकविकुञ्जरैः ॥३९॥
 शोभा भवति कीदृक्षे खे सरस्वति विद्रुमाः ।
 क्व सन्तीत्यादिकप्रश्ने विचिन्त्योत्तरमुच्यताम् ॥४०॥
 भानि नक्षत्राणि अस्मिन् भवतीत्युत्तरम् ॥ भोः सरस्वति, उत्तरवचन-
 पक्षे (सरस्वति^३) समुद्रे ॥ प्रश्नोत्तरसमजातिः ॥
 उत्तरं यत्र सूच्यार्यं प्रश्नस्तस्यानुयुज्यते ।
 पृष्ठप्रश्नं समाख्यातं प्रश्नोत्तरविशारदैः ॥४१॥
 श्रोः स्मरो भूर्युधश्चेति प्रोक्तमुत्तरमत्र तु ।
 प्रत्येकं पृच्छतां चक्रितेजोदग्धाः बवकाः स्थिताः ॥४२॥
 केकिराजयः । का ई । कः इः । इरा । अजयः । के जले । अरिराजयः ।
 पृष्ठप्रश्नजातिः ।

प्रश्नोत्तरसम चित्रका लक्षण—

जिस उत्तरमें प्रश्नाक्षरके समान ही अक्षर हों, उसे श्रेष्ठ कवियोंने प्रश्नोत्तरसम चित्र कहा है ॥ ३९ ॥

उदाहरण—

कैसे आकाशमें शोभा होती है ? हे सरस्वति । विद्रुममणि कहाँ प्राप्त होती है ? अच्छी तरह विचारकर उत्तर दीजिए ॥ ४० ॥

उत्तर—भानि नक्षत्राणि अस्मिन्भवतीत्युत्तरम्—नक्षत्र जिसमें हो, वह आकाश शोभित होता है । समुद्रे—विद्रुममणि समुद्रमें प्राप्त होते हैं । यह प्रश्नोत्तर समजातिका उदाहरण है ।

पृष्ठ प्रश्नजाति चित्रका लक्षण—

जिसमें उत्तरका अच्छी तरहसे उच्चारण कर उसका प्रश्न भी पीछेसे जोड़ा जाता है, उसे प्रश्नोत्तर विशारद पृष्ठ प्रश्न कहते हैं ॥ ४१ ॥

उदाहरण—

लक्ष्मी, कामदेव, पृथिवी और युध ये उत्तर दिये जायें तथा इनके पीछे चक्रि, तेज, दग्ध, धव और का भी जोड़े जायें ॥ ४२ ॥

उत्तर—केकिराजयः—का + ई = के—लक्ष्मी कौन । कः + इः = काम कौन । इरा = भूमि । अजयः = पराजय अथवा अजेय । के = जले—पीनमें । अरिराजयः = शत्रुश्रेणी । पृष्ठ-प्रश्नजाति चित्रका उदाहरण है ।

१. तदेव कवि ... । २. सरस्वति इति भागो क नास्ति । ३. केकिराजयः क-क्ष ।

४. अजयः ख ।

इदं वदेति संप्रोक्ते भङ्क्त्वा यत्रोत्तरं वदेत् ।
तद्भग्नोत्तरमाख्यातं काकुवाच्यैव गोपितम् ॥४३॥

^१केभ्यो ^२हितकरो भोस्त्वमिदामन्वयतां कवे ।

^३प्रशस्ताभ्यहितत्वाद्यः को भवानिव सज्जनः ॥४४॥

सज्ज । भोः शब्दशासन । जैत्रे जः प्रतिपत्तव्यः । शम्बरे शब्दशासने
इत्यभिधानात् । नः अस्मभ्यं कविभ्यः । भग्नोत्तरजातिः ।

पृष्ठं यत्प्रश्नवाक्ये स्यादादिमध्यान्तसुस्थितम् ।

उत्तरं त्रिविधं तत्स्यादादिमध्यान्तपूर्वकम् ॥४५॥

मुदितो देवलोकस्य का^१तीर्थकरजन्मतः ।

रागान्धीकृतचित्तानां चेतो व्याधिः कुतः सदा ॥४६॥

मुत् आनन्दः इतः स्मरात् । आद्युत्तरजातिः ।

भग्नोत्तरचित्रका लक्षण—

यह कही इस प्रकार पूछनेपर पद-विच्छेदकर उत्तर दिया जाये और काकुब्बनिसे जो गुप्त रखा जाये, उसे विद्वानोंने भग्नोत्तरचित्र कहा है ॥ ४३ ॥

उदाहरण—

कौन किनके लिए हितकारी है । हे कवि ! तुम्हारे समान किसे आमन्त्रित किया जाय ? प्रशंसनीय और पूजनीय होनेके कारण सज्जनोंके समान आप कौन हैं ? ॥४४॥

उत्तर—सज्जः—हे शब्दशासन । ज शब्दका प्रयोग जैत्र (विजयशील)
शम्बर—काम और शब्दशासनके अर्थमें होता है । ऐसा अभिधान—शब्दकोशमें कहा गया है । यह भग्नोत्तर जातिका उदाहरण है ।

आदि-मध्य-उत्तरजाति चित्रका लक्षण और उदाहरण—

जिस प्रश्नवाक्यमें पूछा हुआ प्रश्न आदि, मध्य और अन्तमें सुस्थित हो, उसका उत्तर भी आदि, मध्य और अन्त रूप हो सकता है ॥ ४५ ॥

तीर्थकर भगवान्के जन्म लेनेसे प्रसन्न देवलोकको क्या हुआ ? सर्वदा रागान्ध
चित्तवालोंको मानसिक रोग क्यों होता है ? ॥ ४६ ॥

उत्तर—मुदितः—मुद् = आनन्द । इतः = स्मरात्—कामदेवसे । यह आद्युत्तर जातिका उदाहरण है ।

१. वाच्यैव क्ल । २. तेभ्यो ख । ३. हितकरः को भो त्वमीवा इति ख । ४. प्रशस्ता-
भ्यहितत्वाद्यः ख ।

वनं पुष्पादिभो रम्यं कुर्यात् को मधुरेणदृक् ।
 अपाङ्गवोक्षितैः कामिजनं तोषयतीह का ॥४७॥
 मधुः मधुमासः । एणदृक् एणाक्षी । मध्योत्तरजातिः ॥
 किं किमश्त्रो द्वितीयायां रूपं को भूमिपालकः ।
 कामिनी संगतो नित्यं के तु तुष्यन्ति कामिनः ॥४८॥
 अन्तोत्तरजातिः ।
 मृस्थितं प्रश्नवान्येषुपि पादान्तरवियोगिनि ।
 कथितापहृतं यत्र मोत्तरं सद्धिभाषितम् ॥४९॥
 अभ्यते शमिना किं भोः केन मोमुह्यते जगत् ।
 मुक्तिकान्तापरिष्वङ्गे घाम केनाप्यते वद ॥५०॥
 शं सुखं । इना कामेन । मिलित्वा व्रतिना ।

कौन पुष्पादिके द्वारा वनको सुन्दर बना सकता है ? इस संसारमें कटाक्षालोकनसे कौन कामियोंको सन्तुष्ट करती है ॥ ४७ ॥

उत्तर—मधुः—मधुमासः—वैश्र । एणदृक्—मृगनयनी । मध्योत्तर जातिका उदाहरण है ।

अन्तोत्तरका उदाहरण—

'किम्' शब्दके स्त्रीलिंगके द्वितीया विभक्ति में कौन रूप होता है ? राजा कौन है ? तथा सर्वदा स्त्रीसङ्गसे कौन सन्तुष्ट होते हैं ? ॥ ४८ ॥

उत्तर—काम् + इनः = कामिनः । अन्तोत्तर जातिका उदाहरण है ।

कथितापहृत श्वित्रका लक्षण—

अन्य पादसे रहित होनेपर भी जिस प्रश्नवान्यमें अच्छी तरहसे स्थित उत्तर वैकल्पिक न हो उसे कथितापहृत कहते हैं ॥ ४९ ॥

उदाहरण—

इन्द्रिय निग्रही होनेसे किसकी प्राप्ति होती है ? यह सारा संसार किससे मोहित हो रहा है ? मुक्तिरभाकी प्राप्ति हो जानेसे कौन स्थान मिलता है ? हे महानुभाव ! बतलाइये ॥ ५० ॥

उत्तर—घाम्—शान्ति या सुख । इना—कामदेव द्वारा । शमिना—प्रशान्त स्थान द्वारा या व्रतीद्वारा ।

यह कथितापहृत जातिका दृष्टान्त है, जिस जातिमें उत्तर कथित रहता है, परन्तु स्पष्ट लक्षित नहीं होता, उसे कथितापहृत जाति कहते हैं ।

१. पुष्पादिभो ख । २. पादान्तरसुयोगिनी क-ख । ३. लभ्यते ख । ४. भो ख । ५. परिष्वङ्ग ख ।

वायुपक्षे हरिश्मासु स्मरे संबुद्धयः कवौ ।

का ब्रूहि विस्रशून्याङ्ग नो भात्यपि विकस्वरे ॥५१॥

विस्रशून्याङ्ग । भो आमगन्धिवन् । तनुरहित । पक्षे विकस्वरे । इत्यत्र विस्र' विशब्दसकाररेफमात्रत्रयं त्यजन् । तथा च । कवे इति स्थितम् । क । वे । अ । को । ए । कवे (?) इत्युत्तरं । कथितापह्लुतजातिः ॥

वैषम्यं यत्र बन्धस्य विषमं तन्निरूप्यते ।

वृत्तनाम भवेत्प्रश्नवृत्तनामोत्तराद्धि यत् ॥५२॥

विनश्यन्ति जना लोके के नेष्टगुणसञ्चयाः ।

तदुत्तरसमुद्भूतः शब्दः कः पशुवाचकः ॥५३॥

यहाँ प्रश्न है कि हे विस्रशून्याङ्गे ! हे सड़ी गन्धवाले शरीरसे रहित ! कहे तो वायु, पक्षि, विष्णु, पृथ्वी, काम और कवि शब्दमें सम्बुद्धि—सम्बोधनके एक वचनका क्या रूप होता है । विकस्वरे—स्पष्ट होनेपर भी समझमें नहीं आ रहा है ।

एक बार विस्रशून्याङ्गे—इस पदको भगवान्की माताका सम्बोधन मान लिया जाय—विस्रगन्धेन आमगन्धेन शून्यमङ्गम् यस्यास्तत्सम्बुद्धौ, समास किया जाय और दूसरी बार उसे विकस्वरेका विशेषण समम्यन्त मान लिया जाय और पुरु पक्षमें अर्थ किया जाय—विस्लेष—विसकाररेफेण रहिते विकस्वरे अर्थात् विकस्वर शब्दमेंसे वि, स और र को छोड़ देनेपर 'कवे!' शेष रहता है । श्लोकगत प्रश्नोंका उत्तर 'कवे' है । वायु शब्दका सम्बुद्धि क (क); पक्षि शब्दका वे (वि) और हरि—विष्णुका 'अ' अकारो वासुदेवे स्मात्—संधि करनेपर क + वे + अ—पूर्वरूप सन्धि होनेसे 'कवे' रूप शेष रहा । यही उत्तर है ॥ ५१ ॥

वृत्त पूर्वं विषम वृत्त नामक चित्रका लक्षण—

जिसमें रचनाकी विधमता प्रतीत हो उसे विषम और जिसमें प्रश्न वृत्तके नामसे ही उत्तरको प्रतीति हो जाय उसे वृत्त कहते हैं ॥ ५२ ॥

उदाहरण—

इस लोकमें अनुचित गुणोंका संशय करनेवाले कौन नष्ट होंगे ? अथवा उचित गुणोंका संशय करनेवाले कौन नष्ट नहीं होंगे ? इनके उत्तरमें उत्पन्न पशुवाचक शब्द कौन है ? ॥ ५३ ॥

१. वायुपक्षि ख । २. आमगन्धि क-ख । ३. कथितापह्लुतजातिः ख । ४. वृत्तनाम ख ।

५. वृत्तनामोत्तराद्धि ख । ६. विनश्यन्ति क-ख । ७. ते नेष्टगुण....ख ।

सावरागाः । अव समन्ताद् रञ्जनमवरागः तेन सहिताः ।^१ सो ओकार-सहिता । अरा रा इति शब्दरहिता । गा इत्यत्र विसर्जनीयः स्थित एव तथा सति गौरिति रूपसिद्धिः । विषमजातिः ॥

सम्बोधनं किं सुरलोकनाथे भ्रमद्विरेफा सुरभिस्फुटा का ।^२

का याति नाकाञ्जिनपूजनार्थं वृत्तं^३ किमाब्रूह्यपजातिलक्ष्म ॥५४॥

^४इन्द्रमालावृत्तजातिः ॥

सुसिद्धन्तप्रमेदेन सुयोगित्वाद्द्विवोत्तरम् ॥

एकमेव भवेद् यत्र तन्नामाख्यातमुच्यते ॥५५॥

^५सेविता विह्वलं कर्त्तुं का क्षमा सुचिरं घटः ।

नाम्भो धरति^६कीदृक्षं शास्त्रं कुरुथ धीधनाः ॥५६॥

उत्तर—सावरागाः । अच्छी तरहसे रञ्जनको अवराग कहते हैं तथा अवरागसे जो युक्त हो, उसे सावराग कहते हैं । सो = ओकारसहित । अरा—रा इति शब्दरहित—शब्दहीन । 'गाः' इस शब्दमें विसर्ग है ही और प्रथमा विभक्तिमें 'गौः' यह रूप बनता है । अर्थात् पूर्वतः रागी व्यक्ति नष्ट होते हैं । उत्तरसे पञ्चाक्षर 'गौः' शब्दकी उत्पत्ति होती है ।

इन्द्रमाला वृत्तजातिका उदाहरण—

सुरलोकनाथमें सम्बोधन क्या है ? सुगन्धिकी स्फुटतासे आकृष्ट हो भ्रमण करने-वाले भ्रमर किसपर आते हैं ? स्वर्गसे जिनपूजनके लिए कौन जाती है ? उपजाति लक्षण वाला वृत्त कौन है ? ॥ ५४^३ ॥

उत्तर—इन्द्र + माला = इन्द्रमाला । सुरलोकनाथका सम्बोधन इन्द्र है, मालाकी गन्धसे भ्रमर आकृष्ट होते हैं । स्वर्गसे जिनपूजनके लिए इन्द्रमाला—देवाङ्गनाएँ आती हैं अथवा इन्द्र—समूह पूजा करने आता है ।

नामाख्यात चित्रका लक्षण—

जिसमें एक ही 'सु' के सम्बन्धके कारण सुवन्त और तिङन्तके भेदसे दो प्रकार का उत्तर प्रतीत हो, उसे नामाख्यात चित्र कहते हैं ॥ ५५^३ ॥

उदाहरण—

सेवन करनेपर कौन चीज मनुष्यको विह्वल कर देती है ? कौसा घट अधिक समयतक जल-धारण नहीं कर सकता ? बुद्धिमान् कैसे शास्त्रको रचना करते हैं ? ॥ ५६^३ ॥

१. सा ओ (ऽण) कारसहिता—ख । २. ता—ख । ३. किमाब्रूह्यपजाति—ख ।

४. इन्द्रमालावृत्तनामजातिः—क-ख । ५. सेवित्वा विह्वलं । ६. कीदृक्षं क-ख ।

सुरामः । सुरा । आमः । सुरामः ददमः ।
 यामिनोप्रतिमायोगे कीदृशं यतिनां कुलम् ।
 कं वन्दन्ते सुरा नित्यं कामं किमकरोत्सुधीः ॥५७॥
 अभ्यभवं । अभि^१ भयरहितं । अभवं संसारहीनजनं^२ । अभ्यभवं
 निराकरोमि स्म । एवं सर्वलकारेषु बोद्धव्यम् ॥ नामाख्यातजातिः ।
 तर्कतः सूत्रतः शब्दाद्बुद्धवं^३ शास्त्रवाक्यतः ।
 तावद्यं सौत्रं च शब्दं च^४ शास्त्रार्थं चेति तद्भवेत् ॥५८॥
 मुनिसंबोधनं कीदृक् को वधूजनतोषकृत् ।
 जैनेभ्यो रोचते सर्वकुवादिभ्यो न को वद ॥५९॥
 अनेकान्तः । न विद्यते इः कामः यस्यासौ अनिः तस्य संबोधनम् ।
 ताक्यंजातिः ॥

उत्तर—सुरामः । सुरा—मदिरा सेबचसे मनुष्य विह्वल हो जाता है । आमः—
 कच्चा घटा अधिक समयतक जलको धारण नहीं कर सकता है । बुद्धिमान् व्यक्ति
 सभीका हित करनेवाले शास्त्रकी रचना करते हैं । सुरामः—ददमः ।

रात्रि प्रतिमायोग धारण करनेपर यतियोंका समूह कैसा रहता है ? देव निरन्तर
 किसकी पूजा करते हैं ? विद्वान् व्यक्तिने किसकी इच्छा की है ? ॥ ५७३ ॥

उत्तर—अभ्यभवं—अभि अर्थात् रात्रि प्रतिमायोग धारण करनेवाले यतियोंका
 समूह निर्भय रहता है । अभवम्—संसारहीनजनं—द्रव्यकर्म, भायकर्म और लोकर्म
 रहित सिद्धोंकी देव नित्य वन्दना करते हैं । अभ्यभवं—निराकरोमि—बुद्धिमान् व्यक्ति
 सन्देह निराकरण करनेकी इच्छा करते हैं । इस प्रकार सभी अलंकारोंमें समझना
 चाहिए । यह नामाख्यातजातिका उदाहरण है ।

ताक्यं-सौत्र-शब्द-शास्त्रवाक्य चित्रके लक्षण—

यदि तर्क, सूत्र, शब्द और शास्त्रवाक्यसे उद्भव—उत्पत्ति प्रतीत हो तो उन्हें
 क्रमशः ताक्यं, सौत्र, शब्द और शास्त्रार्थ चित्र कहते हैं ॥५८३॥

उदाहरण—

मुनियोंका सम्बोधन कैसा होता है ? वधूजनोंको कौन सन्तुष्ट करता है ?
 जैनियोंको अच्छा लगता है और समस्त कुवादियोंकी नहीं, ऐसा कौन है ? वत-
 लाइए ॥५९३॥

उत्तर—अनेकान्तः । जिसमें विषयवासना नहीं है, उसे 'अनि' कहते हैं और
 उसका सम्बोधनमें 'अने' होता है । यही मुनियोंके लिए सम्बोधनपद है । कान्त—प्रिय

१. भयहीन—क । २. जिनं—क । ३. शब्दाद्बुद्धवं—क । ४. शास्त्रार्थ—ख ।

उक्तस्य नुः परामृष्टी कः शब्दो भेदवाचि किम् ॥
अव्ययं केन नातोषि सूत्रं किं प्रक्रियास्थितम् ॥६०॥

सहार्थेन । सौत्रजातिः ॥

न श्लाघ्यते मुनिः कस्मै सुबन्तं किं निगद्यताम् ।

अकाराद्यनुबन्धानां घातूनां नाम किं वद ॥६१॥

परस्मैपदम् । मुनिः परस्मै न श्लाघते स्वगुणाधिकं धर्मं न जापयति
अपितु स्वनिन्दां परप्रशंसां च करोतीत्यर्थः । शाब्दीजातिः ॥

श्रावेण गमयेत्कालं कया वृक्षः पतत्यधः ।

कः कीदृशः सुधीं ग्राह्यो धर्मः सारतरो वद ॥६२॥

दयामूलः दयादानेन अमूलः ।

वधूजनोंको सन्तुष्ट करता है । जैनोंको अनेकान्त श्लिषकर होता है और कुवादियोंको नहीं । यह तात्पर्यजाति चित्रका उदाहरण है ।

कही हुई बातके विचारमें कौन शब्द है ? भेदवाचक अव्यय कौन है ? किससे सन्तोष नहीं हुआ ? प्रक्रियामें विद्यमान सूत्र कौन है ? ॥६०॥

उत्तर—सहार्थेन । कही हुई बातके विचारमें सहार्थ शब्द है । भेदवाचक अव्यय सह है । अर्थ—घन-सम्पत्तिसे सन्तोष नहीं होता । प्रक्रियामें विद्यमान सूत्र 'सह' है । यह सौत्रजातिका उदाहरण है ।

मुनि किससे आत्मप्रशंसा नहीं करता है ? सुबन्तको क्या कहते हैं ? अकारादि इत्संज्ञक घातुको क्या कहते हैं ? बतलाइए ॥६१॥

उत्तर—परस्मैपदम् । मुनि दूसरोंसे अपनी आत्मश्लाघा नहीं करते हैं । सुबन्तको पद कहते हैं । अकारादि अनुबन्धक घातुओंको परस्मैपद कहते हैं । यह शाब्दी-जातिका उदाहरण है ।

किस क्रियाको सुनकर समय व्यतीत करना चाहिए ? कौन वृक्ष नीचे गिर जाता है ? विद्वान्को कैसे अपनाना चाहिए ? धर्मका सार क्या है ? बतलाइए ॥६२॥

उत्तर—दयामूलः । दया—√दय् क्रियाको सुनकर अर्थात् दयाका आचरण करते हुए समय व्यतीत करना चाहिए । मूलरहित वृक्ष नीचे गिर जाता है । विद्वान्को दया और दान सम्मानपूर्वक अपनाना चाहिए । धर्मका सार दया और दान है ।

१. शब्दः—ख । २. श्लाघते—क-ख । ३. ख चकारो नास्ति । ४. आत्मनेपद-मिति वा पाठः तदनुसारेण अकारानुबन्धानामिति पाठः । आत्मने न श्लाघते मुनिः । स्वश्लाघां न करोतीत्यर्थः । क-ख अधिकः पाठः । ५. व्यावको क-ख । ६. ग्राह्यः—ख ।

दयामूलो भवेद्दुर्मो दयाप्राणानुकम्पनम् ।
 दयायाः परिरक्षार्थं गुणाः शोषाः प्रकीर्तिताः ॥६३॥
 इति शास्त्रोक्तत्वात् । शास्त्रजातिः ।
 वर्ण एवोत्तरं वाक्यमेवोत्तरमुदीर्यते ।
 वर्णोत्तरं भवेत्तत्तद्वाक्योत्तरमपि स्फुटम् ॥६४॥
 लक्ष्मीः का किं अलं विष्णुसंबुद्धिः कथमुच्यताम् ।
 कस्त्यागः कीदृशो देशः प्रावृट्काले वदाऽऽशु मे ॥६५॥
 सावारयः । सा । वाः । अ । यः ॥ यस्त्यागे निलये वायो यमे घातरि
 पातरि इत्यभिधानात् ॥ आ समन्तात् जलसहिताः ॥ वर्णोत्तरजातिः ॥
 मेरो लब्धं किमिन्द्राचं स्वामिनाऽङ्गेऽस्य का कृता ।
 शक्रेणाव्ययमप्यर्थं किं कृता पुरुणा च का ॥६६॥
 सुदोक्षाऽपि । सुत् सवनं । ईक्षा निरीक्षणं । अपि । सुदोक्षा । अपि
 प्राप्ता । वाक्योत्तरजातिः ।

दया मूलक धर्म होता है, प्राणियोंपर अनुकम्पा करना दया है । दयाकी रक्षा—
 दयाधर्मका पूर्णतया पालन करनेके लिए ही शोष—सरयता, पवित्रता, क्षमा आदि गुण
 कहे गये हैं ॥६३॥

यह बात शास्त्रोंमें कही गयी है, अतः यह शास्त्र जातिचित्रका उदाहरण है ।
 वर्णोत्तर और वाक्योत्तर चित्रोंके लक्षण—

वर्णमें ही जिसका उत्तर प्रतीत हो जाये, उसे वर्णोत्तर और वाक्यमें ही जिसका
 स्पष्ट उत्तर प्रतीत हो, उसे वाक्योत्तर कहते हैं ॥६४॥

उदाहरण—

लक्ष्मी कौन है ? जल क्या है ? विष्णुका सम्बोधन क्या है ? त्याग कौन है ?
 वर्षाकालमें देश कैसे हो जाते हैं, यह मुझे शीघ्र बतलाइए ॥६५॥

उत्तर—सावारयः । सा—लक्ष्मी । वाः—पानी । विष्णु सम्बोधन 'अ' ।
 यः—त्याग । त्याग, गृह, वायु, यम, ब्रह्म और रक्षक आदि अर्थोंमें 'यः' का प्रयोग
 होता है, यह कोषा में लिखा है । सावारयः—अच्छी तरह जलसे परिपूरित वर्षा वस्तुमें
 देश होते हैं । यह वर्णोत्तर जातिका उदाहरण है ।

इन्द्र इत्यादि देवताओंने मेरे पर्वतपर क्या किया ? स्वामीने इसके अंगमें क्या
 किया ? इन्द्रसे भी वय नहीं होनेवाला घन क्या है ? पुरुने क्या किया ? ॥६६॥

उत्तर—सुदोक्षापि । सुत्—सवनं—अभिषेक । इन्द्रादि देवोंने मेरेपर जिनेन्द्रका
 जन्माभिषेक किया अथवा सवनं—सोमरश्मिको चुलाया । स्वामीने इन्द्रादिके अंगोंका

श्लोकार्द्धपादपात्रं तु यत्रोत्तरमुदीर्यते ।
 श्लोकार्द्धपादपूर्वं तदुत्तरं त्रिविधं मतम् ॥६७॥
 का श्रद्धा मूढबृन्दं किमाभविधिमुत्प्रेष्ये^१ परं कि निषेध
 संपत्तिर्व्योम का कि गिरिरपि कुलिशं कोपपीडे पदं किम् ।
 युलज्जामन्त्रणं कि चरति खगणः कुत्र^२ चामन्यदावः
 कृष्णं^३ ब्रूहि च्युतांशुर्विधुरपि जलदेनोच्यतां कोदृशेन ॥६८॥
 कः पुमान् का च संबुद्धिः पदार्थे लेटि कि पदम् ।
 आवहेः को मुनिः कीदृग् दोषमुक्तो जिनेश्वरः ॥६९॥

ईशा—निरीक्षणं—निरोक्षण किया । इन्द्रसे भी व्यय नहीं होनेवाला धन—सुदीक्षा है ।
 पुरु—आदितीर्थंकर ऋषभदेवने दीक्षा धारण की ।

यह वाक्योत्तर जातिका उदाहरण है ।

श्लोकार्द्धपादपूर्वं चित्रका लक्षण और उसके भेद—

जिसमें केवल श्लोकका आधा पाद ही उत्तररूप प्रतीत हो, उसे श्लोकार्द्धपादपूर्वं कहते हैं और इसके तीन भेद माने गये हैं ॥६७३॥

उदाहरण—

श्रद्धा क्या है ? मूढ—मूर्खतमूह कौन है ? सम्मुख अर्थ और निषेध अर्थमें कौन शब्द है ? आकाश तथा पर्वत के अर्थमें कौन शब्द है ? षज्ज क्या है ? कोपसे पीड़ा अर्थमें कौन शब्द है ? लज्जासे युक्त आमन्त्रण क्या है ? पक्षियोंका समूह कहाँ विचरण करता है ? अमन्य दाव क्या है ? कृष्ण को क्या कहते हैं ? कैसे मेघसे चन्द्रमा भी च्युतांशु कहे जा सकते हैं ? ॥६८३॥

उत्तर—रुचिः—रुचि ही श्रद्धा है । बुद्धिहीन हो मूर्खसमूह है । सम्मुख अर्थमें 'आ' और निषेध अर्थमें 'न' अव्यय प्रयुक्त हैं । सम्पत्ति अर्थमें सम्पत्, आकाश अर्थमें नभ और पर्वत अर्थमें अग शब्द व्यवहृत हैं । षज्जके अर्थमें अपद्रव या अनार्द्र; कोपसे पीड़ित अवस्थामें आः; युक् वाचक शब्दका सम्बोधन रण; लज्जायुक्त आमन्त्रण—मन्दोक्ष—मन्द मूर्ख, उल्ल—बैल । खे—आकाशमें पक्षिसमूह विचरण करता है । अमन्य दाव—दावानल है । अम्—कृष्णको कर्मकारकमें अम् कहते हैं । छादिना—आच्छादित करनेवाले मेघसे चन्द्रमा भी च्युतांशु—तटकिरण कहा जाता है ।

पुरुष कौन है ? सम्बोधन-पद कौन है ? आ + √बह् का लेट्में कैसा रूप होता है ? मुनि कौन है ? दापोसे रहित जिनेश्वर कैसा है ? ॥६९३॥

उत्तर—'ना' पुरुष वाचक शब्द है । 'भाव' सम्बोधन है । आवह् लेट्का रूप है । मुनि तथा जिनेश्वर अनिकः—विषय-वासनासे रहित निष्काम होते हैं ।

रुचिरध्यानसंपन्नभोगोपद्रवमारण ।

मन्दाक्षखेदवाञ्छादिनाताभावावहानिकः ॥७०॥

रुचिः । अधि न विद्यते^१ धोर्यस्य तत् । आ । न । सम्पत् । नभः । अगः ।
अपद्रवम् अनार्द्रम् । भाः । रण । मन्दोक्ष^२ । खे । द्रव । अं । छादिना ।
ना । भाव । आवह । अनिकः निष्कामः । श्लोकात्तरजातिः ।

का शास्त्रेण भवत्यनेकजनताऽऽनन्दी च कः कोकिला-
सेव्यं किं कुरुते^३ च निर्गुणगणं किं किं शरत्कालगम् ।

संबोधयेत् मुनिर्मलां धरति कः^४ केयूरमत्युज्ज्वलं
कीदृक्षो वद रत्नदीप इह^५ भोः कीदृक् जिनः प्रोच्यताम् ॥७१॥

धीरानन्दनमालाति सुखदो रञ्जनातिगः ।

धीः । राः । नन्दनम् । आलाति । सुख^६ भोः शोभनाकाश । दोः बाहुः ।

अञ्जनातिगः कज्जलरहितः । खण्डोत्तरजातिः ।

उपसंहार—

रुचि, अध्यात, सम्पत्, नभ, अग, अपद्रव, भाः, रण, मन्दोक्ष, खे, द्रव, अं, छादिना, ना, भाव, आवह और अनिक, उपर्युक्त प्रश्नोंके उत्तर हैं ॥७०॥

उक्त श्लोकोत्तर जातिके उदाहरण है ॥७०॥

अन्य उदाहरण—

शास्त्रसे क्या होता है ? अनेक लोगोंको आनन्दप्रद क्या है ? कोयलसे सेवने योग्य क्या है ? गुणरहित मनुष्य क्या करता है ? शरत्कालिक स्वच्छ आकाशका सम्बोधन क्या है ? अत्यन्त सुन्दर केयूर (अंगद) को कौन धारण करता है ? रत्नदीप कैसा होता है ? तथा जिन कैसा होता है ॥७१॥

उत्तर—धीरानन्दनमालाति सुखदो रञ्जनातिगः । शास्त्रसे धी—बुद्धि उत्पन्न होती है । जनताको आनन्दप्रद 'राः' धन है । कोयलसे सेवनीय नन्दन—मन्दनवन है । गुणरहित मूर्ख 'आलाति' लोगोंको कष्ट देता है । शरत्कालिक आकाशके सम्बोधनमें सुख—शोभनाकाश शब्दका प्रयोग होता है । केयूर—अंगदको बाहु धारण करती हैं । रत्नदीप 'अञ्जनातिगः'—कज्जलरहित होता है । जिनेशका चरित्र 'अञ्जनातिगः'—अठारह दोषोंसे रहित होता है ।

यह खण्डोत्तरजातिका उदाहरण है ।

१. न विद्योतते—ख । २. रुचिः—ख । इत्यधिकोः पाठः । ३. मन्दाक्ष—क-ख । ४. कुरुते मुनिगुणगणं—क । ५. केयूरमत्युज्ज्वलं—ख । ६. भो—क । ७. आलातिः—ख । ८. भोः स्थाने भो कप्रत्ये सर्वत्र ।

कस्मादातीयते नीरं कुतस्तृष्णापरिच्युतिः ॥

प्रदाहोऽपि कुतो वीरः कौदृशः किं तपोऽकरोत् ॥७२॥

प्रहितो वारितो गतः । प्रहितः कूपात् । वारितः जलात् । अगतः पर्वतात् ॥ पादोत्तरजातिः ।

नयप्रमाणसंबुद्धिः शमः का श्रीमुखेऽपि सा ॥

किं निषेधेऽव्ययं लोकनाशिनो दुःखि किं कुलम् ॥७३॥

कः पूमानन्नसंबुद्धिः का च नश्वरनिस्वने ।

लेटि किं पद्मस्माकमित्यर्थे केन नाशयते ॥७४॥

पादोत्तरजाति चित्रका उदाहरण—

जल कहाँसे लाया जाता है ? तृषाको शान्ति कैसे होता है ? प्रदाह कैसे होता है ? वीर कैसा होता है ? तपस्या कैसी होती है ? ७२३॥

उत्तर—‘प्रहितः’—कुँआसे जल लाया जाता है । ‘वारितः’—जलसे तृषा शान्त होता है । अगतः—अग्निसे प्रदाह होता है । अडिग रहनेवाला वीर होता है और अनिचल भावसे तपस्या को जाती है ।

यह पादोत्तरजातिका उदाहरण है ।

नयप्रमाणका सम्बोधन क्या है ? शम—शान्ति क्या है ? वह श्रीमुखमें भी है । निषेध अर्थमें अव्यय कौन है ? लोगोंको नाश करनेवाला क्या है ? दुःखीकुल कौन है ? ॥७३३॥

उत्तर—नयमान—नय-प्रमाणका सम्बोधन । क्षमा—शम है । मा—लक्ष्मी है । निषेध अर्थमें ‘मा’ अव्यय है । मारी—वीमारी लोगोंको नाश करनेवाला है । आत्ति—थोड़ित कुल दुःखी है ।

पुरुष वाचक शब्द कौन है ? अन्नका सम्बोधन कौन है ? नश्वर और निस्वन अर्थमें लेट्में कौन पद है ? ‘अस्माकम्’ इस अर्थ में कौन पद है, किससे नष्ट किया जाता है ॥७४३॥

उत्तर—‘नः’ पुरुष वाचक शब्द है । अन्नका सम्बोधन अशन है । नशनाद—नश्यतोति नाशः—जो नष्ट होता है, तस्य नाद—उसकी ध्वनि । √ धो—अन्तकर्मणि धातुसे लेट्, लकारमें मध्यमपुरुष एकवचनमें ‘स्य’ । अस्माकम्—इस अर्थमें ‘नः’ पद आता है । येन-यमेन—यमसे लोग नष्ट किये जाते हैं ।

१. प्रदाहोऽपि -क । २. प्रहितः वारितः -ख । ३. कुं -ख । ४. नाशयते -क ।

वस्त्वंशो बुद्धयते केन वक्षश्चक्रं रमा च का ॥

^१संवत्सरार्द्धसंबुद्धिः का कथं जिन ईड्यते ॥७५॥

नयमानक्षमामाननमामार्यातिनाशन ॥

नशनादस्यनो येन नयेनोरोरिमायन ॥७६॥

नयमान । क्षमा । मानन लक्ष्मीमुख । मा । मारी । ^३आति आर्तध्यान-
मस्यास्तीति । ^३ना । अशन । नशनाद् नश्यतीति नशस्तस्थ नाद । स्य षो
अन्तकर्मणोति धातोर्मध्यमपुरुषः ॥ नः । येन यमेन । नयेन । उरः । अरि अराणि
सन्त्यस्मिन्निति । मा । अयन । कथं जिन ईड्यते इति प्रश्नस्य सर्वश्लोकार्थः ॥
नयमाना पूज्यमाना क्षमा यस्यासौ नयमानक्षमः तस्य संबोधनं हे नयमानक्षम ।
न विद्यते मानं उद्घृतिः परिमाणं वा यस्यासौ अमानः तस्य संबोधनं हे अमान ।
न प्रतिषेधवचनम् । मां अस्मदः इवन्तस्य रूपम् (?) आर्याणां साधूनाम् आतिः
पीडा तां नाशयतीत्यार्यातिनाशनः कर्तारि युट् बहुलवचनात् ततः हे आर्याति-
नाशन । नशनात् ^४विनाशनात् जातिजरामरणेभ्य इत्यर्थः । अस्य उत्सारथ ^५असू
क्षेपणे इत्यस्य धातोर्लोडन्तस्य रूपम् । नो प्रतिषेधे । येन कारणेन पूजाम् अहं
लभे ^६समाननेऽयं विधिः । न नो प्रतिषेधवचने अत्र संबन्धनीय । न नो नये ।
किं तु नये एव । द्वौ प्रतिषेधौ प्रकृतमर्थं गमयतः । न प्रतिषेधे । हे उरो महन् ।

किसी वस्तुका अंश कैसे जाना जाता है ? वक्षःस्थल वाचक शब्द कौन है ?
चक्रको क्या कहते हैं ? लक्ष्मी कौन है ? संवत्सरार्द्धका सम्बोधनपद कौन है ? जिन
वर्यो पूजे जाते हैं ? ॥७५॥

उत्तर—नयेन—तीतिसे वस्तुके अंशको जाना जाता है । वक्षःस्थल वाचक
शब्द 'उरः' है । अरि—अराणि सन्त्यस्मिन्निति—जिसमें चक्र हों, उसे अरि कहते हैं ।
लक्ष्मीवाचक शब्द 'रमा' है । संवत्सरार्द्धका सम्बोधनपद 'अयन' है ।

'जिनः कथं ईड्यते'—जिनकी स्तुति या पूजा क्यों की जाती है, इस प्रश्नका
उत्तर निम्नलिखित पद्यमें निहित है—

हे प्रशंसनीय क्षमायुक्त, मानरहित, सज्जनोंकी पीडा—जन्म, जरा और मरण-
रूपी दुःखोंके दूर करनेवाले जिन—जिनेन्द्र हमारी जागतिक दुःखोंसे रक्षा कीजिए,
जिससे हम पूजाको प्राप्त करें । दो प्रतिषेध-वाचक शब्द प्राकरणिक अर्थका प्रतिपादन
करते हैं ॥७६॥

जिसकी क्षमा पूज्यमान है, उसका सम्बोधनमें 'हे नयमानक्षम' रूप बनता है ।
उत्तम क्षमायुक्त, मान या परिमाणरहित । आर्य—सज्जनोंकी पीडाको नष्ट करनेवाले,
जन्म-जरा-मरणको नष्ट करनेवाले, ऐसा कीजिए जिससे हम लोग भी पूजाको प्राप्त कर

१. संवत्सरार्थ —ख । २. आतिः —ख । ३. न —ख । ४. विनाशनात् —ख ।

५. असू —ख । ६. नये —क्यन्थे अधिकः पाठः । ७. सम्मानने —क-ख ।

अरिमाय अरिहिंसक । अरीन् अन्तःशत्रून् मिनति हन्तीति अरिमाय ततः हे अरिमाय पूर्वोक्तोऽपि नात्रसंबन्धनीयः । हे ननारिमाय । किमुक्तं भवति हे नयमानक्षम । अमान । आर्यातिनाशन उरो ननारिमाय मां विनाशात् अस्य अपनय । येन ननो नये अहं पूजां लभे इत्यर्थः ।

चक्रं त्वाल्लिख्य मध्ये विलिखतु सदृशं वर्णमेकं चतुष्कं
तद्द्वारासु प्रलेख्यं पतिलिखतु महादिक्षु चत्वारि विद्वान् ।

मध्ये रुढानि सप्तेतरवरदिगरेष्वष्टरुढानि कुर्यात्

कुर्याद् बाह्यासु दिक्षु प्रलिखतु विषमान् वा समान् श्लोकचक्रे ॥७७॥

चक्रप्रश्नजातिः ॥

सर्वोत्तरादिवर्णैर्यत् कृतकर्णिकमष्टभिः ।

दलैर्द्विद्वयक्षरापूर्णेः पद्यं तत्प्रणिगद्यते ॥७८॥

को दुःखी स्यात् कुराजः को, जिनो मोहाय किं व्यधात् ।

किमलुब्धकुलं कीदृग्मुनिः सिद्धो गुणाः क्व न ॥७९॥

सकं । यहाँ न और नो दोनों प्रतिषेध वाचक हैं, अतः दोनों प्रतिषेध प्रकृत अर्थको धरितार्थ करते हैं ।

उपर्युक्त श्लोकके सण्दशः अर्थ करनेपर ७३, ७४, ७५वें पद्योंमें पूछे गये प्रत्येक प्रश्नका उत्तर निहित है । ७६वें पद्य से 'कथं जिन ईडयः' का उत्तर प्राप्त हो जाता है ।

ये चक्रप्रश्नजातिके उदाहरण हैं ।

चक्रबन्ध लिखनेकी विधि—

विद्वान् चक्र लिखकर उसके मध्यमें सदृश वर्ण 'न' लिखे । पश्चात् उसके द्वारोंमें चार वर्ण लिखे । अनन्तर महादिशाओंमें चार वर्ण लिखे । मध्यमें सात वर्ण और आरा—चक्रोंमें आठ वर्ण लिखे । विषम वर्णोंको बाह्य दिशामें और सम वर्णोंको चक्रमें लिखे ॥७७३॥

पद्मबन्धका लक्षण—

अष्टदल कमल बनाकर उसकी कर्णिकामें ऐसे वर्णोंका विन्यास करे, जिसका सम्बन्ध अन्य समस्त उत्तर वर्णोंके साथ हो । पश्चात् दो-दो वर्ण कमलपत्रोंमें लिखनेसे पद्मबन्धकी रचना होती है ॥७८३॥

दुःखी कौन होता है ? कुराज—दुष्टराजा कैसा होता है ? जिनेन्द्रने मोहके लिए क्या किया ? अलोभियोंका कुल कैसा होता है ? मुनि कैसा होता है ? सिद्ध कैसे होते हैं ? गुण कहाँ नहीं हैं ? ॥७९३॥

१. अरिमायः—ख । २. कुर्याद्बाह्यासु विदिक्षु—क ।

कुत्रास्ते गुणसंततिजिनपतिः कीदृक् च यस्ताकिकः
कीदृग्धर्मबलादभूद्वरजिनो भारः कुतो भीयते ।

कीदृक्षा मुनयो वनेऽपि सुगुरावायाति शिष्योऽपि च
कीदृक्षो बहुशस्यते बुधवरैः कीदृग्दरिद्रो वद ॥८०॥

अनयोऽकुप्यदशयः अकके मोहो नष्टोभियोमायः । अनयः अयहीनः ।
नीतिहीनः । अकुप्यत्कोपं कृतवान् । न विद्यते कुप्यं कौशेयादिर्यस्य तत् अकुप्यं
दरिद्रवृन्दं तदिवाचरदकुप्यत् ॥ अशयो निद्राहीनः । न श्यति न कृशं भवतीति
अशं मुक्तिपदं यातीति ॥ अकति कुटिलं चरतीति अकः स चासौ कश्च ब्रह्मा
तस्मिन् । कको तौल्यं न यस्यासौ अकको मुनिस्तस्मिन् ॥ अमोहः ॥ अमा
अपरिमिता ऊहा युक्तयो यस्य ॥ अनष्टः । पक्षे शकटात् । अभियः । अभियातीति
च । अमायः लक्ष्मीपुण्याभ्यां हीनश्च ॥ पद्मप्रश्नजातिः ।

गुणसमूह कहां रहता है ? जिनेश्वर कैसे होते हैं ? अधिक तार्किक कैसा होता
है ? कर्मके बलसे भगवान् जिनेश्वर कैसे हुए ? भार कैसे ढोया जाता है ? मुनि वनमें
कैसे रहते हैं ? सद्गुरुके आनेपर शिष्य कैसा व्यवहार करता है ? विद्वान् किसको
अधिक प्रशंसा करते हैं ? दरिद्र कैसा होता है ? बतलाइए ॥८०३॥

उत्तर—अनयोऽकुप्यदशयः अकके मोहो नष्टोभियोमायः । अनयः—अयहीनः—
भाग्यरहित मनुष्य दुःखी होता है । अनयः—नीतिहीन—अन्यायपूर्वक आचरण करने-
वाला राजा दुष्ट होता है । अकुप्यत्—जिनेन्द्रने मोहपर कोप—क्रोध किया । अकुप्यत्—
जिमके पास धन नहीं—अलोभियोंका कुल दरिद्रके समान होता है । अशयः—निद्रा-
रहित मुनि होते हैं । अशयः—नित्य मुक्तिपदको सिद्ध प्राप्त करते हैं । कुटिल आचरण
करनेवाले ब्राह्मणमें गुण नहीं होते ।

अकके—जिनकी कोई सभता नहीं कर सके अर्थात् समान दृष्टिवालोंमें गुण
निवास करते हैं । अमोहः—मोहरहित जिनेश्वर होते हैं । अमा—असोम, ऊहा—तर्कणा
वृत्तिवाला तार्किक होता है । धर्मबलसे जिनेश्वर नष्ट नहीं होते । अनष्ट शकटात्—
मअवृत्त गाड़ी द्वारा भार ढोया जाता है । अभियः—निर्भय होंकर मुनि वनमें निवास
करते हैं । अभियः—स्वागत—अच्छा शिष्य गुरुके आनेपर उठकर स्वागत करता है ।
अमायः—प्रपंचरहित सरल स्वभाववाले व्यक्तिको विद्वान् प्रशंसा करते हैं । अमायः—
लक्ष्मी और पुण्यरहित दरिद्र होता है ।

ये पद्म प्रश्नजातिचित्रके उदाहरण हैं ।

अरग्वधाश्च के विद्याधरीणां को मनोहरः ॥

शोभमानानवः शान्तिर्दुष्कृपः कस्तमोहरः ॥८१॥

राजतरवः राजदमलः राजसदयः । पक्षे राजतो जयार्द्धः । तत्रत्यको-
किलारवः । पक्षे राजां दमं रातोति । राजसमज्ञानं तेन सहिता दया एव ।

राजः चन्द्रस्य नक्षत्राणां च अनमयः उदयः ॥

काकस्यैव पदं यत्र वर्णव्यावर्तनं भवेत् ॥

ऊर्वाधः क्रमतो धीरैस्तत्काकपदमुच्यते ॥८२॥

प्रथमपंक्तिप्रथमैकोष्ठादारभ्य द्वितीयपंक्तिद्वितीयतृतीयौ पुनः प्रथमपंक्ति-
चतुर्थपञ्चमौ पुनर्द्वितीयपंक्तिषष्ठं पुनः प्रथमपंक्तिसप्तमाष्टमौ पुनर्द्वितीयपंक्तिनव-
मदशमौ ततः प्रथमपंक्तावेकादशं द्वितीयपंक्ति द्वादशत्रयोदशौ प्रथमपंक्ति-
चतुर्दशपंचदशी इति पठेत् ॥ पुनर्द्वितीयपंक्तिप्रथमैकोष्ठादारभ्य प्रथमपंक्तिद्वितीय-
तृतीयादिक्रमेण तानि त्रीणि वाक्यानि सन्नयेत् ॥ एतेषां वाक्यानामाद्यवर्णं
तत्तत्कोष्ठेषु पृथगेव स्थितं विद्यात् । काकपदजातिः ॥

आरग्वधा—अमलतास कौन हैं ? विद्याधरियोंके मनको हरण करनेवाला कौन
है ? सुशोभित होनेवाला पापविहीन—पुण्यात्मा कौन है ? शान्ति क्या है ? दुष्कृप कौन
है ? अन्धकारको दूर करनेवाला कौन है ॥८१॥

उत्तर—राजतरवः—अमलतास सुन्दर वृक्ष हैं । कुबेरके उद्यानमें होनेवाली
कोयलको कूज विद्याधरियोंके मनका हरण करती है । राजाओंको दमन करनेवाला
चक्रवर्ती पुण्यात्मा है । इन्द्रियोंका दमन—इन्द्रिय—निग्रह करना शान्ति है । राजस्—
अज्ञानसहित दया दुष्कृप है । राजदमल—देदीप्यमान प्रकाश अन्धकारको दूर करता
है । अर्थात् चन्द्रमा और नक्षत्रों का उदय अन्धकारको दूर करनेवाला होता है ।

काकपद चित्रका लक्षण—

जिस रचनाविशेषमें कौचेके पैरके समान ऊपर और नीचे अदारोंका व्यावर्तन—
उलट-पुलट हो, उसे विद्वानोंने काकपद कहा है ॥८२॥

प्रथम पंक्तिके प्रथम कोष्ठसे प्रारम्भ कर द्वितीय पंक्तिके द्वितीय, तृतीय; पुनः
प्रथम पंक्तिके चतुर्थ, पंचम; पुनः द्वितीय पंक्तिका षष्ठ; पुनः प्रथम पंक्तिके सप्तम, अष्टम;
अनन्तर द्वितीय पंक्तिके नवम, दशम; पश्चात् प्रथम पंक्तिके एकादश; द्वितीय पंक्तिके
द्वादश, त्रयोदश; तदनन्तर प्रथम पंक्तिके चतुर्दश और पंचदश वर्णोंको लिखना चाहिए ।
पश्चात् द्वितीय पंक्तिके तृतीय, तृतीय इत्यादि क्रमसे तीन-तीन वाक्योंको लिखना

१. आरग्वधाश्च—क । २. विजयार्द्धः—क, जयार्द्धः—ख । ३. अनयं अयः उदयः—ख ।
४. पाठक्रमः कथ्यते प्रथमपंक्ति....क । ५. कोष्ठादारभ्य—ख । ६. कोष्ठादारभ्य—ख ।
७. त्रीणि त्रीणि—क । ८. तत्तत्कोष्ठेषु—ख ।

यथैवास्तरेतं पालशमूर्ध्वीप्रः क्रमः ॥८३॥
 तां हि गोमूत्रिकामाह सर्वविद्याविशारदः ॥८३॥
 कस्त्याज्यो मुनिनास्य योगविषयः कः कीदृगामन्त्रणम्
 १निस्वे सन्नररक्षके लिटि पदं मुक्तिः क्व का पाण्डवे ।
 संबुद्धिः सदसि प्रभोः सुखकरं का योधूमालाऽऽमनः
 संबुद्धिश्च किमृक्षमम्बरचरः कः क्वासतेऽष्टौ गुणाः ॥८४॥
 कृष्णं ब्रूहि च कुत्सादिवाचि संबोधनं च किम् ।
 चन्द्रस्थे नित्यमिन्द्रादौ किं जिनः कथमीड्यते ॥८५॥
 ३राजीवोपमसत्पाद सन्मते कुरु शासनम् ।
 आजीर्णोपलसत्खेदजन्म मेऽङ्कुशशासनम् ॥८६॥

चाहिए । इन वाक्योंका प्रथम अक्षर उन-उन कोष्ठकोंमें पूर्व ही स्थित समझना चाहिए ।
 इस प्रकार रचना करनेसे काकपद जाति चित्र बनता है ।

गोमूत्रिका चित्रका लक्षण और उदाहरण—

जिस रचनामें ऊपर और नीचेके क्रमसे अक्षर एकान्तरित करके पढ़े जायें,
 विद्वानोंने निश्चय ही उस रचनाविशेषको गोमूत्रिका कहा है ॥८३॥

मुनियोंके द्वारा त्यागने योग्य क्या है ? मुनिका योगविषय कौन है ? दरिद्रके
 लिए सम्बोधन क्या है ? अच्छे मनुष्यके रक्षकके लिए लिट्में कौन पद है ? मुक्ति कहाँ
 है ? पाण्डवके लिए सम्बोधन क्या है ? सभामें स्वामीके लिए सुखकर क्या है ?
 मोट्टाओंकी धेणी क्या है ? पत्यरके लिए सम्बोधन पद कौन है ? नक्षत्रका सम्बोधन
 क्या है ? आकाशगामो कौन है ? आठों गुण कहाँ है ? ॥८४॥

कृष्णको क्या कहने हैं ? कुत्सादिवाचक शब्द कौन है ? चन्द्रमामें स्थितका
 सम्बोधन क्या है ? चन्द्रमामें निरन्तर क्या रहता है ? जिनेश्वर क्यों पूजे जाते
 हैं ? ॥८५॥

उत्तर—रा.—बन-सम्पत्ति मुनियोंके द्वारा त्याज्य है । जीवः—आत्मा मुनियों-
 का योगविषय है । अपम्—लक्ष्मीहीन दरिद्रका सम्बोधन है । सत्—सज्जनोंके रक्षकका
 सम्बोधन है, इसका लिट्में अदः पद होता है । सन्मते—सन्मत—सम्यक् सिद्धान्तके
 अनुसरणसे मुक्ति है । कुरुश पाण्डवोंका सम्बोधन है, इसका अर्थ है कौरवोंका

१. क्रमतोऽक्षरं—ख । २. निःस्वे—ख । ३. जिनः कथमीड्यते इत्युक्ते सर्वश्लोकार्थः ।
 राजीवोपमसत्पादराजीवस्य कमलस्य उपमे सतीपादे यस्य तस्य संबोधनम् । भीः
 सन्मते भी वर्धमानस्वामिन् । आजीर्णोपलसत्खेदजन्म आजीर्णे नाशे उपलसती प्रकाशे
 स्वदश्च जन्म च खेदजन्मनी उपलसती खेदजन्मनी यस्य तस्य संबोधनम् । अंकुशशासनं
 अंकुशस्य स्मरस्य शासनं नाशनं वास्वम् । मे कुरु ।

राः । जीवः । अपम लक्ष्मीहीन ॥ सत्प संतं । पातीति ॥ 'अद कुरुं
कौरवं श्यति निराकरोतीति कुरुश ॥ आर्जि रणं ईर्णा गता । सत् । खेत् खे
'एतेति ॥ अजन्ममे चन्महीनश्रीयुते ॥ अं । कु । पापकुरुसेषदर्शेषु कु इत्यमरः ।
शश । अतनं ससतममनं । गोमूत्रिकाजातिः ।

एकेन वाऽथवा द्वाभ्यामक्षरैः सर्वदिग्गतैः ॥

उत्तरैर्न नराखण्डं सर्वतोभद्ररामजया ॥८७॥

शंभुस्मरारौ लिटि किं च रूपं शूरेश्वरामन्त्रणमत्र किं भोः ॥

करोति शीघ्रं पलितानि का च द्वीपेऽत्र विद्यातति यत् किमिष्टम् ॥८८॥

वार्धक्यमृगवाक् च विहङ्गमः को निस्वप्रतोषोदृगनिष्टकारी ।

संबुध्यतां कश्च सुरोऽपि चक्रधारा च मेषः कथमत्र वाच्यः ॥८९॥

निराकरण करनेवाला । आसनम्—सिंहासन—सभामें स्वामी—राजाके लिए सिंहासन
सुखप्रद है । आजीर्णा-आर्जि रणं ईर्णा गता—युद्धभूमिमें गयी हुई योद्धाओंकी पंक्ति
ही श्रेणी है । उपल—पत्थरका सम्बोधन उपल है । सत्—नक्षत्रका सम्बोधन सत् है ।
खेत्—आकाशगामी खेत्—ग्रह है । अजन्म—जन्म-मरण रहित सिद्धोंमें आठ गुण
निवास करते हैं ।

कृष्णको 'अ' कहा जाता है । कुत्सा—निन्दावाचक शब्द 'कु' है । शश—
खरहा चन्द्रमामें स्थितका सम्बोधन है । अतनम्—गमन—चन्द्रमामें निरन्तर गमन
रहता है ।—यह गोमूत्रिका जातिका उदाहरण है ।

कमलके समान कोमल और सुन्दर चरणवाले हे वर्धमान स्वामी, आपने राग,
द्वेष, मोह, जन्म, मरण आदि अठारह दोषोंको नष्ट कर दिया है, अतः आप मेरे लिए
कामनाशक शास्त्रका उपदेश कीजिए ॥८६॥

सर्वतोभद्र चित्रका लक्षण—

एक, दो या सभी दिशाओंमें स्थित उत्तरवाले अनेक अक्षरोंसे जो रचना
विशेष की जाय, उसे विद्वानोंने सर्वतोभद्र कहा है ॥८७॥

शंभु और स्मरारि अर्थमें कौन शब्द है ? लिट् लकारमें कौन रूप है ? श्रेष्ठ
वीरके लिए सम्बोधन क्या है ? शीघ्र ही केश कैसे पक जाते हैं ? इस भूमण्डलमें क्या
चमकता है ? ॥८८॥

वृद्धावस्थासे युक्त वाणी क्या है ? पक्षि-वाचक शब्द कौन है ? निर्धनको
सन्तुष्ट करनेवाला कौन है ? नेत्रोंको कष्टकारक क्या है ? देवताके लिए सम्बोधन क्या
है ? चक्रधाराको क्या कहते हैं ? मेष—भेड़ेका वाचक शब्द कौन है ? ॥८९॥

१. आद-क । २. श्यति -ख । ३. एतीति -क । ४. जन्महीन -ख ।

संबुध्यतां ब्रह्म क्वाटयुग्मं ऽणूयते कः सकलप्रजाभिः ॥

वाजी च रूपं लिटि किं च लक्ष्मीप्रदायकामन्त्रणमत्र किं भोः ॥९०॥

संबुध्यतामङ्गणमुत्तमोक्तिः का का च पंक्तिर्वनितेऽद्यते का ।

रमा च का ऽऽमन्त्रणमुत्तमेशे श्रीवर्धमानेऽपि किमत्र वाच्यम् ॥९१॥

वीरराज । उश्च ईश्च वी उः शंभुः । उ तापेऽव्ययमोशाने इति वैज-
यन्ती रराज । वीरराज । जरा । रवी । जरारवो जरया विशिष्ट आरवो जरारव
असौ यस्य । विः । राः । रजः । शिरोवाजी शिरोदन्तरजा वाजी रजस् तथे-
त्यभिधानात् अकारान्तरजशब्दोऽस्ति ॥ अजर । अर । अविः । अर । अर ।
अवो । अवनमवः पालनं सोऽस्यास्तीति ॥ जवी । अर । ईर । अजिर । वीरा
विशिष्टा इरा वाक् ॥ राजी । वरा । ई । वरराज । वीरराज ॥ सर्वतांभद्रजातिः ।

ब्रह्माका सम्बोधन क्या है ? क्वाट—किवाड़के जोड़ेका वाचक शब्द कौन है ?
सम्पूर्ण जगत् किसे प्रणाम करता है ? घोड़ा कैसा इलाय्य होता है ? लिट् लकारमें रूप
कौन है ? लक्ष्मी वाचक शब्दका सम्बोधन क्या है ? ॥९०॥

आगत वाचक शब्दका सम्बोधन क्या है ? उत्तम पुरुषोंको उक्ति कैसा होती
है ? पंक्ति किसे कहते हैं ? कौन वनिता पूजी जाती है ? लक्ष्मी-प्रदायक शब्दका
सम्बोधन कौन है ? उत्तम व्यक्तिके लिए सम्बोधन क्या है ? श्री वर्धमान स्वामीका
सम्बोधन क्या है ? वतलाइए ॥९१॥

उत्तर—वीरराज । उः—शंभुः, इः—कामः; उश्च इश्च वी—शंभु और
स्मरारिका वाचक शब्द है । 'रराज' यह लिट् लकारका रूप है । शूरेश्वर—श्रेष्ठ वीरका
सम्बोधन वीरराज है । इसको उलटा करनेसे जरा शब्द निकला—जरा—वृद्धावस्था
केशोंकी पका देती है । भूमण्डलमें रवि—सूर्य—प्रकाशित है अर्थात् चमकता है ।

वृद्धावस्थासे युक्त वाणिको जराठी कहते हैं । विः शब्द पक्षों वाचक है ।
निर्धनको सन्तुष्ट करनेवाला राः—धन है । नेत्रोंको कष्टकारक रजः—धूलि है ।

देवतावाचक शब्दका सम्बोधन अजर है । चक्रवर्ता-वाचक शब्द अर है ।
मेघ अर्थात् भेड़ा वाचक शब्द 'अविः' है ।

ब्रह्मवाचक शब्दका सम्बोधन अज है । क्वाटयुगल—किवाड़ोंकी जोड़ीका
वाचक शब्द 'अरद' है । सभीका पालन-पोषण करनेवाला विष्णु समस्त जगत्से
प्रणम्य है । जवी—वेगशाली अरव प्रशंसित है । लिट् लकारमें 'अर' रूप होता है ।
लक्ष्मीप्रदायक शब्दका सम्बोधन 'ईर' है । 'ईर' का अर्थ लक्ष्मी देनेवाला है ।

आगतवाचक शब्दका सम्बोधन 'अजिर' है । उत्तम पुरुषोंको उक्तिको वि +
इराः—विशिष्ट वाणी कहा जाता है । पंक्तिवाचक शब्द 'राजी' है । वरा श्रेष्ठ नारीकी
पूजा होती है । रमा—लक्ष्मी वाचक शब्द 'ई' है । श्रेष्ठ देवके लिए सम्बोधन 'वरराज'
है । वर्धमान स्वामीका सम्बोधन 'वीरराज' है । यह सर्वतोभद्रजातिका उदाहरण है ।

गतप्रत्यागतं तत्स्यात् प्रतिलोमानुलोमतः ॥
 यदुत्तरेण तन्मध्यवर्णलोपादनेकधा ॥९२॥
 धुनिः संचलता नृणां संबुध्येत कवीशिना ।
 मुनिः संबुधातां लोकोत्कृष्टचारित्रमण्डितः ॥९३॥
 शोभिरव । वरभिक्षो ॥
 का पुरोमौनिनो दृसिर्नृसुरासुरतोषिणी ।
 पालितं केन षट्खण्डगतं भूचक्रमादितः ॥९४॥
 नाशितेरभा । नाशिता इरा वाक् यस्यासौ नाशितेरः ।
 मौनी तस्य भा । अन्यत्र भारतेशिना ॥
 कोऽस्ति मध्ये सुनन्दायाः कामिन्या अग्रिमप्रभोः ।
 सुरासुरनराघोशैः कथं संबुध्यते पुरुः ॥९५॥
 तनिमा कृशत्वम् । अन्यत्र । भो मानित ॥

गत-प्रत्यागतका लक्षण—

उलटा और सीधा पढ़नेसे तथा उसके बीचके अक्षरके लोपवाले उत्तरसे अनेक प्रकारसे सम्बन्ध रचना-विशेषको गत-प्रत्यागत कहते हैं ॥९२॥

कविराज—श्रेष्ठ कविके द्वारा अच्छी तरह चलते हुए मनुष्योंकी ध्वनि तथा लोकोत्कृष्ट चारित्रसे सुशोभित मुनिका सम्बोधन क्या है ? बतलाइए ॥९३॥

उत्तर—शोभिरव अर्थात् चलते हुए मनुष्योंकी ध्वनिका सम्बोधन शोभिरव है । इसीको उलटकर पढ़नेसे 'वरभिक्षो'—श्रेष्ठ भिक्षुक मुनिका सम्बोधन है ।

मनुष्य, देव और दानवोंको सन्तुष्ट करनेवाली मौनी मौनव्रतधारी व्यक्तिकी कान्ति कैसी है ? तथा सर्वप्रथम षट् खण्ड पृथ्वीमण्डलका शासन किसने किया है ॥९४॥

उत्तर—नाशितेरभा—नाशित—नष्ट की हुई है, इरा—बाणी जिसकी, उसे नाशितेरः—मौनी कहते हैं, उसकी धामा 'नाशितेरभा' कहलाती है । मौनी—मौनव्रत धारीकी कान्ति 'नाशितेरभा' कही जाती है । इसको उलटा पढ़नेसे हुआ—'भारतेशिना' अर्थात् सर्वप्रथम षट्खण्ड पृथ्वीमण्डलका शासन भरत चक्रवर्तिनि किया ।

आदि तीर्थंकर ऋषभदेवकी कामिनी सुनन्दामें क्या है ? देव, दानव और मानवोंके अघोश कुरु ऋषभदेवका सम्बोधन क्या है ? ॥९५॥

उत्तर—'तनिमा'—कृशत्व अर्थात् सुनन्दामें कृशता है अर्थात् वह कृशांगी है । 'तनिमा' को उलटकर पढ़नेसे 'मानितः' हुआ अर्थात् कुरुके लिए 'मानित' सम्बोधन है । 'भो मानित' का प्रयोग करना चाहिए ।

१. ध्वनिः संचलता—क । २. क्षुभ संचलने । क्षुम्पन्ति ते क्षोभिणः तेषां रवः । मूलग्रन्थे निम्नभागे । ३. वृषभस्य—मूलग्रन्थे पादभागे । ४. सुरासुरनराघोशैः—ख ।

कः पतिः सरितां पश्चान्मध्यवर्णविलोपतः ।

बृह्नि लोके जितः कीदूक् काऽवनिः काव्यकोविद ॥९६॥

सागरः । अन्यत्र मध्यवर्णलोपे सारः । रसा ॥

मेरोः कोपरि रम्याऽस्ति मध्यवर्णद्वयच्युतेः ।

अलोऽतिरसिता पत्नं स्त्रीने जीदूयते रसा रसाः

नाकावली । नाली । लीना स्त्री रता प्रीता । इने भर्तरि विलीनेव

स्थितेति भावः । गतप्रत्यागतजातिः ॥

एकद्विव्यादयो वर्णजातयो यत्र वृद्धिमाः ।

आदौ मध्येऽवसाने वा वर्धमानाक्षरं च तत् ॥९८॥

आमन्त्रणाभिधायी कः शब्दोऽहेः स्फुटभूषकः ।

संबुध्यतां च को लोके निन्द्यः पण्डितकुञ्जरैः ॥९९॥

भोगान्धः । भो भोग ।

नदियोंका पति कौन है ? बीचके अक्षरके लोप कर देनेपर विजयी सूचक शब्द कौन है ? पृथिवी वाचक शब्द कौन है ? कविवर बतलाइए ॥९६३॥

उत्तर—‘सागरः’ नदियोंका पति सागर—समुद्र है । ‘सागर’ में से बीचके अक्षर ‘ग’ का लोप कर देनेपर ‘सार’ शेष रहा । अतः विजयी सूचक शब्द ‘सारः’ है । ‘सार’को उलटकर पढ़नेसे ‘रसा’ हुआ, यही पृथ्वी वाचक है ।

मेरुसे अच्छी तरह सटकर कौन स्थित है ? इसके उत्तरवाले शब्दमें-से मध्यके दो अक्षर हटा देनेपर अत्यन्त सरस होकर कमलको कौन धारण करती है ? कैसे प्रेमालु पतिमें स्त्री विलीन जैसी हो जाती है ? ॥९७३॥

उत्तर—नाकावली—स्वर्गपंक्ति सुमेरुसे अच्छी तरह सटी हुई है । ‘नाकावली’में से बीचके दो वर्ण हटा कर देनेपर ‘नाली’—कमलकी डण्ठी कमलको सरस होकर धारण करती है । इसको—‘नाली’ को उलटकर पढ़नेपर लीना—स्त्री पतिमें विलीन होती है । यह गतप्रत्यागत जातिका उदाहरण है ।

वर्धमानाक्षरका लक्षण—

जिस रचनाविशेषमें आदि, मध्य अथवा अन्तमें एक, दो या तीन अक्षरोंकी वृद्धि हो जाये उसे वर्धमानाक्षर कहते हैं ॥९८३॥

सम्बोधनका वाचक शब्द कौन है ? सर्पको सुशोभित कौन करता है ? विद्वानोंके द्वारा निन्दितका सम्बोधन कैसे किया जाता है ॥९९३॥

उत्तर—भोगान्धः—सम्बोधनवाचक शब्द ‘भोः’ है । सर्पको भूषित करनेवाला भोगफल है । लोकमें निन्दित व्यक्तिका सम्बोधन भोगान्ध—महाविषयी है ।

१. शब्दोहेः—ख । २. नित्यः—ख ।

का कृष्णवल्लभा लोके संबोधय महोत्तमम् ।
 जिनं तत्पूजने योग्यं किं काऽऽनन्देस्तरस्तटे ॥१००॥
 सारसावली । सा । सार । सारसः । केलने । सारसपक्षिणां पंक्तिः ॥
 न पूज्य इति कस्त्याज्यो विवेकिभिरिहोच्यताम् ।
 आद्यवर्णद्वयं दत्त्वा रणयोग्याश्च के वद ॥१०१॥
 सप्तयः । यः घाता । आद्यवर्णद्वययोगे तुरगाः ।
 मानसाहारमश्नाति बहुकालमतीत्य कः ।
 मध्ये वर्णद्वयं दत्त्वा जिनकायश्च कीदृशः ॥१०२॥
 सुकुमारः । सुरः । मध्यवर्णद्वययोगे सुकुमारः कोमलः ।

लोकमें कृष्णकी प्रियतमा कौन है ? सर्वश्रेष्ठ जिनका सम्बोधन क्या है ? जिनके पूजन करने योग्य क्या है ? सरोवरके तटपर आनन्दित करनेवाली कौन है ॥१००॥

उत्तर—सारसावली । सा—लक्ष्मी कृष्णकी प्रियतमा है । जिनका सम्बोधन 'हे सार' है । जिनकी पूजा सारस—कमलसमूहसे की जाती है । सरोवरके तटपर सारस पक्षियोंकी अवली—श्रेणी आनन्दित करती है ।

पूजनीय नहीं होनेके कारण विवेकियोंसे त्यागने योग्य इस संसारमें कौन है ? इस उत्तरके आदिमें दो अक्षर जोड़ देनेपर युद्धके योग्य कौन होता है ? बतलाइए ॥१०१॥

उत्तर—सप्तयः । 'यस्त्यागे नियमे वायी यमे घातरि पातरि'—यः—यम या ब्रह्मा त्यागने योग्य है । इस सन्दर्भमें यम अर्थ अधिक उपयुक्त है । 'यः' के आदिमें 'सप्त' इन दो वर्णोंके जोड़नेपर 'सप्तयः' हुआ, यह पद अश्ववाचक है, जो युद्धमें सहायक होता है ।

बहुत समय बीत जानेपर कौन मानसिक आहार ग्रहण करता है ? उत्तरवाचक इस शब्दके बीचमें दो वर्ण जोड़ देनेपर जिनेश्वरका शरीर वाचक शब्द बन जाता है, बतलाइए जिनेश्वरका शरीर कैसा होता है ? ॥१०२॥

उत्तर—सुकुमारः—सुरः—देव, बहुत समय बीत जानेपर देवता मानसिक आहार ग्रहण करते हैं । इस 'सुर' शब्दके मध्यमें दो वर्ण कुमा जोड़नेपर—सु + कुमा + र = सुकुमार—अत्यन्त मृदुल शब्द बनता है । यही जिनेश्वरके शरीरका वाचक है अर्थात् जिनेश्वरका शरीर सुकुमार होता है ।

१. सा च लक्ष्मीनिगद्यते ॥ सारसं सरसीरुहमित्यभिधानात्पथम् ॥ पुष्कराह्वस्तु सारसः हंसविशेषः । मूलग्रन्थे पादभागे । २. यस्त्यागे नियमे वायी यमे घातरि पातरि ॥ मूलग्रन्थे पादभागे ।

किन्ता निन्द्या विहङ्गेषु पश्चादन्त्याक्षरद्वयम् ।

दानेन ब्रूहि तिर्यङ्बः किं श्रित्वैष्यन्ति मर्त्यताम् ॥१०३॥

काकतालीयम् । काकता वायसता । अन्त्यवर्णद्वययोगे काकतालीयं न्यायं श्रित्वा ।

माधवस्य प्रिया का स्यादाद्यन्ताक्षरयोः पुनः ।

योगेन ब्रूहि देवेन्द्राः किमारुह्य चरन्त्यरम् ॥१०४॥

विमानं । मा । आद्यन्ताक्षरयोगे विमानं । वर्धमानाक्षरजातिः ।

हीयन्ते वाऽऽदितो मध्यादन्त्याद्या वर्णजातयः ।

यत्रैकद्वित्रिकाद्यास्तद्धीयमानाक्षरं मैतम् ॥१०५॥

पाण्डवानामरिः कोऽभूद् वसन्ते पिकढीकितः १ ।

कामिचेतांहरः कः का षष्ठी युष्मदि भूमनि ॥१०६॥

पक्षियोंमें निन्द्य क्या है ? इस उत्तरवाचक शब्दके अन्तमें दो वर्ण जोड़ देनेका किस न्यायको आश्रयकर दान देनेसे पक्षी भी मनुष्यको प्राप्त कर लेते हैं ? बतलाइए ॥१०३३॥

उत्तर—काकतालीयम्—पक्षियोंमें निन्द्य काकता—कीवापन है । इस 'काकता' के अन्तमें दो वर्ण जोड़नेपर—काकता + लीय = काकतालीय—अचानक फलकी इच्छाके बिना दान देनेसे पक्षी भी मनुष्यताको प्राप्त कर लेते हैं ।

माधवकी प्रियतमा कौन है ? इस उत्तर वाचक शब्दके आदि और अन्तमें एक-एक वर्ण जोड़ देनेपर क्या हो सकता है, जिसपर आरुढ़ होकर देवता आकाशमें विचरण करते हैं ॥१०४३॥

उत्तर—विमानम् । मा—लक्ष्मी; माधवकी प्रियतमा लक्ष्मी है । उत्तरवाचक इस 'मा' शब्दके आदि—अन्तमें एक-एक वर्ण जोड़नेपर वि + मा + न = विमानपर आरुढ़ होकर देवतालोक आकाशमें विचरण करते हैं ।

हीयमानाक्षर चित्रका लक्षण—

जिस रचनाविशेषके आदि, मध्य और अन्तसे एक, दो या तीन वर्ण कम होते जायें, उसे हीयमानाक्षर चित्र कहते हैं ॥१०५३॥

उदाहरण—

पाण्डवोंका शत्रु कौन था ? वसन्तमें कोयलके आगमनसे कामियोंके चित्तका हरण कौन करता है ? युष्मद् शब्दसे षष्ठी विभक्तिके बहुवचनमें कौन रूप बनता है ? १०६३॥

१. कस्य भाषः किन्ता । मूलप्रती पादभागे । २. वादितो—ख । ३. मतम् इत्यस्य स्थाने खप्रती भवेत् । ४. ढीकतः—ख ।

कौरवदुर्योधनः । रवः । वः ।

शक्तिद्वयं कुर्युः के क्रियन्ते शरासने ।

के के वक्षसि राजन्ते राज्ञां को निःस्वतुष्टये ॥१०७॥

आज्याहाराः घृतमिश्रिताहाराः । राः ।

गोरेत्य नवमासात् ष्व पुरुदेव्याः स्थितः सुतः ।

आश्रवर्णद्वयं त्यक्त्वा नीचसंबोधनं कुरु ॥ १०८॥

उदरे ।

अकाराष्टसहस्रीं को मुनिवृन्दारको भुवि ।

मध्यवर्णद्वयं त्यक्त्वा का जायन्ते वदाऽगमात् ॥१०९॥

उत्तर—कौरवः—दुर्योधन; पाण्डवोंका शत्रु दुर्योधन था। उत्तरवाचक इस 'कौरवः' शब्दमें-से आदि वर्ण 'कौ' हटा देनेसे 'रवः' अवशिष्ट रहता है। वसन्तमें कोयलका रव—कोकिलाध्वनि कामियोंके चित्तका हरण करती है। 'कौरवः' शब्दमें-से आदिके दो वर्ण कम कर देनेपर 'वः' अवशिष्ट रहता है। पुष्पद् शब्दसे षष्ठी विभक्तिके बहुवचनमें 'वः' रूप बनता है।

बल और मन्त्रोंको बलनेत्राला गौर है? धनुषपर क्या किया जाता है? राजाओंके वक्षःस्थलपर कौन सुशोभित होते हैं? निर्धनको कौन सन्तुष्ट करता है? १०७३॥

उत्तर—आज्याहाराः। आज्यम्—घृत बलवृद्धिकारक और सन्तोषद होता है। धनुषपर ज्या—चाप (डोरी) को सजाया जाता है। राजाओंके वक्षस्थलपर 'हाराः' स्वर्ण आदिके हार सुशोभित होते हैं। निर्धनको सन्तुष्ट करनेवाला 'राः'—घन है।

पुरुदेवी—मरुदेवीके यहाँ आकर पुत्र नवमास तक गर्भमें कहीं रहा? इस प्रश्नके उत्तरवाचक शब्दमें-से आदिके दो वर्ण हटा देनेपर 'नीच' का सम्बोधन हो जाता है ॥१०८३॥

उत्तर—'उदरे'—मरुदेवीके उदरमें पुत्र नवमास तक रहा। 'उदरे' शब्दमें-से आदिके दो वर्ण उ और द के हटानेपर 'रे' अवशिष्ट रह गया। यह 'रे' ही नीचका सम्बोधन है।

किस श्रेष्ठ मुनिने इस संसारमें अष्टसहस्रीकी रचना की। उत्तरवाचक इस शब्दके मध्यवर्ती दो वर्णोंके हटा देनेपर आगमके अनुसार क्या होना चाहिए? अतलाइए ॥१०९३॥

१. कौरवः दुर्योधनः—क-ख। २. मरुदेव्याः—क।

विद्यानन्दः । अन्यत्र विदः संवित्तयः ॥

सुरैः कः पूज्यते भक्त्या मुक्त्वाऽऽद्यन्तक्षरद्वयम् ।

ब्रूहि किं कुस्ते रम्यस्त्रोनितम्बैऽतिकामुकः ॥११०॥

परमेष्ठी । रमे । हीयमानाक्षरजातिः ॥

यन्मिथोऽक्षरवत्तिन्या रेखयाऽन्तरितः स्फुटम् ।

तमाहुः शृङ्खलाबन्धं भवशृङ्खलाया अ्युताः ॥१११॥

संबोध्यो द्राणगम्यो सचिरयुवतिभिः के परिष्वक्तकायाः

संबोध्यो राजपथो रिपुनिवहरणे को रते कामिनोभिः ।

संबोध्यः कः कृतो ग्लौकिरणगणनिभः श्लाघ्यते लोकतः कः

सर्वान्तर्बाह्यसङ्गव्यपगततनुकं किसमः स्यान्मुनीशः ॥११२॥

उत्तर—विद्यानन्दः—विद्यानन्द आचार्यने अष्टसहस्रीकी रचना की है । उत्तर-वाचक इस 'विद्यानन्द' शब्दके मध्यवर्ती दो वर्णों 'द्या' और 'न' का त्याग करनेपर 'विदः' शब्द शेष रहा । विदः—संवित्तयः—ज्ञान ।

देवों द्वारा भक्तिपूर्वक कौन पूजा जाता है ? उत्तरवाचक इस शब्दके आदि और अन्तके दो वर्ण छोड़ देनेपर जो शब्द अवशिष्ट रहता है, वह अत्यन्त विषयीपुरुष द्वारा सुन्दर स्त्रीके नितम्बपर कौन सी क्रियाका सम्पादन करता है ॥११०३॥

उत्तर—परमेष्ठी—देवों द्वारा भक्तिपूर्वक परमेष्ठीकी पूजा होती है । उत्तरवाचक इस परमेष्ठी शब्दमेंसे आदि और अन्तके वर्ण हटा देनेपर 'रमे' शेष रहता है । विषयी पुरुष सुन्दर रमणीके नितम्बोंपर 'रमे'—रमण करता है ।

ये हीयमानाक्षरजाति चित्रके उदाहरण हैं ।

शृङ्खलाबन्ध चित्रका लक्षण—

जो रचनाविशेष परस्पर अक्षरोंमें स्थित रेखासे स्पष्ट व्यवहित हो, उसे संसार शृङ्खलासे मुक्त आचार्योंने शृङ्खलाबन्ध कहा है ॥१११३॥

उदाहरण—

नासिकासे ग्रहण करने योग्यका सम्बोधन क्या है ? सुन्दर युवतियोंके द्वारा समालिखित शरीरवाले कौन हैं ? शत्रुओंके साथ युद्धमें राजाओंके हितकारकका क्या सम्बोधन है ? सुरतके समय कामितियोंसे सम्बोधन करने योग्य कौन है ? चन्द्रमाकी किरणोंके समान संसारमें कौन है ? लोकमें कौन श्लाघ्य है ? बाह्य और अन्तर परिग्रह त्यागी मुनि किसके समान होता है ? वतलाइए ॥११२३॥

१. तनुकः—क ।

गन्धवाहसमः । गन्ध । धवाः । वाह तुरङ्गम । हस । मया श्रिया सह
वर्तते समः । पश्चान्मिलित्वोत्तरम् । शृङ्खलाजातिः ॥

के वहन्ति वनमार्तयन्ति के पूजयन्ति जिनमादराच्च के ।

आह्वयाशु हरितोषकारिणं सोरिणं विषमवृत्तमस्ति किम् ॥११३॥

दामावाराणाम् । दावाः माराः । मारेण स्मरेणाक्रान्ता ।

वाना व्यन्तराः । रामः । एकान्तरितशृङ्खलाजातिः ॥

नागाकारधरे बन्धे वर्णाः पाठ्याः कृतान्तराः ।

प्रोक्तवाक्योद्भवं श्रित्वा नागपाशं विदुश्च तत् ॥११४॥

वल्ग्यां संबुध्यतां रम्यः कस्तापहरमुच्यताम् ।

कीदृक् मिथ्याश्रुतिः पुम्भ्यो वेश्यावीथी च कीदृशी ॥११५॥

उत्तर—गन्धवाहसमः—गन्ध, नासिकासे ग्रहण करने योग्यका सम्बोधन है ।
धवाः—पति, स्त्रियोंसे समालिखित शरीरवाले पति हैं । वाहः—अश्व, युद्धमें राजाओंके
लिए हितकारक है । तुरङ्गम—अश्वके समान मननक्रियामें प्रवीण पति स्त्रियोंके लिए
सुरतकालमें सम्बोध्य है । हस—हास्य, चन्द्रकिरणके समान स्वच्छ है । लोकमें समः-
समता रखनेवाला श्लाघ्य है । गन्धवाहसमः—पवनके समान अनासक्त सदा गतिमान्
शरीरवाले परिग्रह त्यागी मुनीश्वर होते हैं । यह शृङ्खलाजातिका उदाहरण है ।

वनको कौन जलाता है ? कौन इधर-उधर धुमाकर पीड़ित करता है ? जिनको
अत्यन्त आदरसे कौन पूजते हैं ? हरिको सन्तुष्ट करनेवाले बलभद्रका सम्बोधन क्या है ?
विषमवृत्त कौन है ? बतलाइए ॥११३॥

उत्तर—दामावाराणाम् । दावाः—दावाविन वनको जलाती है । माराः—
कामदेव प्राणियोंको इधर-उधर धुमाकर पीड़ित करता है । वानाः—व्यन्तर, जिनेन्द्रको
अत्यन्त आदरके साथ पूजते हैं । राम—हरि—कृष्णको सन्तुष्ट करनेवाले बलभद्र या
बलरामका सम्बोधन राम है । असमान वर्ण और मात्रावाला विषमवृत्त होता है । यह
एकान्तरित शृङ्खलाजातिका उदाहरण है ।

नागपाश चित्रणका लक्षण—

सर्पकृति धारण करनेवाले—बन्ध—रक्षणा-विशेषमें व्यवधान किये हुए वर्णोंको
पढ़ना चाहिए । इस रीतिका निमित्त वाक्यका आश्रय लेकर जो बन्धरक्षित होता है,
उसे विद्वानोंने नागपाश कहा है ॥११४॥

लतामें रम्य लगनेवालेका सम्बोधन क्या होता है ? तापहरण करनेवालेको
क्या कहते हैं ? पुरुषोंकी मिथ्याश्रुति कैसी होती है ? वेश्याओंकी गली कैसी होती
है ? ॥११५॥

पल्लवकमहिता । ऊर्ध्वमुखी सर्पकृतीश्चतस्रो लेखा विलिख्य पुनर्मुख-
पुच्छान्तरे तिर्यग्रेखाषट्कं विलिखेत् । तानीमान्येकविंशतिकोष्ठानि स्युः । ततः
फणादारभ्य प्रतिपङ्क्तिपुच्छपर्यन्तं पृथक्—पृथगिमान् वर्णान्यसेत् ।

प्रथमपङ्क्तिप्रथमकोष्ठाक्षरमारभ्य यावदन्तरं चतुरङ्गक्रीडायां गजपद-
चारक्रमेणैकमिदं वाक्यं वाचयेत् । पुनस्तृतीयपङ्क्तिप्रथमकोष्ठादारभ्य तथैव
वाचयेत् । अथ मध्यमपङ्क्तिप्रथमकोष्ठमारभ्य प्रथमपङ्क्तौ द्वितीयपङ्क्तौ वा
त्रिप्रचारक्रमे यावदन्तरं वाचयेत् । तदिदं त्रेधाविभक्तमपि एकरूपतया त्रिगुणित-
नागपाशं स्यात् । प्रश्नोत्तरमिदं सप्तवर्णम् । अन्यस्तु स्वबुद्धयनुसारेण न्यूनमधिकं
वा वदेत् ।

संस्कृतप्राकृताद्युक्तिवैचित्र्यं यत्र विद्यते ।

तच्चित्रमेकवाण्यां तु शुद्धं तत्परिभाष्यते ॥११६॥

उत्तर—पल्लवकमहिता । लक्ष्मिं रम्य लगनेवालेका सम्बोधन पल्लव है । ताप-
हरण करनेवालेको 'कम्'—जल कहते हैं । पुरुषोंकी मिथ्यारुचि अहितकारिणी होती है ।
वेश्याओंकी वीथी 'पल्लवकैः महिता'—बिटोंसे संयुक्त होती है ।

नागपाश रचनाकी विधि—

ऊपर मुखवाली सर्पकृति चार रेखाओं द्वारा लिखकर मुख और पुच्छके बीचमें
तिरछी छः रेखाओंको लिखना चाहिए । इस प्रकार रचना करनेसे इक्कीस कोष्ठक होते
हैं । तदनन्तर फणसे प्रारम्भ कर प्रत्येक पंक्तिके पुच्छ तक पृथक्-पृथक् इन वर्णोंकी
स्थापना करनी चाहिए । प्रथम पंक्तिके प्रथम कोष्ठकके अक्षरसे प्रारम्भ कर अन्तपर्यन्त
चतुरंगक्रीडामें गजपदचारके क्रमसे इस एक वाक्यको बाँचना चाहिए । पुनः तृतीय
पंक्तिके प्रथम कोष्ठसे प्रारम्भ कर उसी प्रकार बाँचना चाहिए । तदनन्तर मध्यम पंक्तिके
प्रथम कोष्ठकसे प्रारम्भ कर या द्वितीय पंक्तिमें तीन आवृत्तिसे क्रमशः बाँचना चाहिए ।
तीन हिस्सोंमें विभक्त रहनेपर भी एकसारूप यह नागपाश त्रिगुणित हो सकता है । यह
प्रश्नोत्तर सप्तवर्णवाला है । अपनी बुद्धिके अनुसार अन्य भी कम या अधिक अक्षरका
बनाना चाहिए ।

चित्रका लक्षण—

संस्कृत और प्राकृत भाषाके जिस रचनाविशेषमें उक्तिकी विचित्रता प्रतीत
हो उसे चित्र कहते हैं । एक ही प्रकारका सादृश्य प्रतीत होनेपर उसे शुद्ध कहा जाता
है ॥११६॥

१. पल्लव कम् अहिता । पल्लवकैः विटैः महिता पूजिता । विट्गः पल्लवको विटः
इत्यभिधानात् । मूलग्रन्थे पाठभागे । २. ऊर्ध्वमुखी—ख । ३. त्रिप्रचारक्रमेण—क ।
४. अन्यत्तु—ख । ५. तच्चित्रमेकवाण्यां तु—क ।

सुखकरधर्मनिदेशी कः स्यात्संबोधयाशु बुधहरिणम् ।

^१तिन्धयर पूजणत्थं केण सदा जाति अमरिदा ॥११७॥

^२विमाणेन वि विशिष्टा मा लक्ष्मीः । अणनमण दिव्यध्वनिर्यस्यासी ।

विमाण् जिनः । एण । तीर्थंकरपूजनार्थं केन सदा यान्ति अमरेन्द्रा इत्यस्य विमानेन । संस्कृतप्राकृतजातिः ॥

जहाति कोदृशो कान्तं वधूः संबुध्यतां रिपुः ।

^३येनेन्दुकरिवं नाथं कान्तेयं संबुभुक्षेयिम् ॥११८॥

नीरस्तारे । रतान्निष्क्रान्ता नीरता अरे संस्कृतकर्णाटजातिः ।

संस्कृतप्राकृतापभ्रंशपैशाचिकभेदान्चतस्रो भाषास्सन्ति ।

तदुक्तम्—

उदाहरण—

सुखप्रद धर्मका निदेश करनेवाला कौन है ? हे विद्वन् ! हरिणवाचक शब्दका सम्बोधन क्या है ? तीर्थंकरको पूजा करनेके लिए देवेन्द्र लोग कैसे जाते हैं ॥११७॥

उत्तर—विमाणेन—वि = विशिष्टा, मा = लक्ष्मी, विमा—अणनम्—अण् = दिव्यध्वनि । विमा अण् यस्य सः—विमाण् = जिनः, अर्थात् सुखप्रद धर्मका निदेश करनेवाले जिन हैं । हरिणवाचक शब्दका सम्बोधन एण है । तीर्थंकर पूजाके लिए इन्द्रगण विमान से जाते हैं ।

यह संस्कृत-प्राकृत जातिका उदाहरण है । पद्यका पूर्वार्थ संस्कृतमें है और उत्तरार्द्ध प्राकृतमें लिखा गया है ।

कैसी वधू अपने प्रियतमको छोड़ती है । रिपुवाचक शब्दका सम्बोधन क्या है ? बुभुक्षित पतिने कान्ताको क्यों बुलाया ? बतलाइए ॥११८॥

उत्तर—नीरस्तारे—रतात् निष्क्रान्ता = नीरता—सुरतसे विरत वधूने प्रियतमको छोड़ा । शत्रुवाचक शब्दका सम्बोधन 'अरे' है । बुभुक्षित पतिने 'नीरस्तारे'—जल लानेके लिए कान्ताको बुलाया ।

यह संस्कृत-कर्णाटक जातिका उदाहरण है । पद्यका पूर्वार्थ संस्कृत भाषामें और उत्तरार्द्ध कर्णाटक भाषामें लिखा गया है । 'नीरस्तारे' शब्द भी कन्नड़ भाषाका है ।

काव्यरचनाके लिए भाषा-विषयक नियम

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और पैशाचिक भेदसे चार प्रकारकी भाषाएँ होती हैं । कहा भी है—

१. तिन्धयरपूजणंठं—क । २. विमाणेण—क । ३. एनेन्दु करेवं—क । ४. कतिर्यं—ख ।

५. अस्य संस्कृतं यथा—कथमाहूतवान् नाथः कान्तां वै संबुभुक्षितः ॥ अस्य प्रश्नस्य उत्तरं कर्णाटभाषायां 'नीरस्तारे' इति उदर्थः जलमानय इति—कप्रती पादभागे ।

संस्कृतं प्राकृतं तस्यापभ्रंशो भूतभाषितम् ।
 इति भाषाश्चतस्रोऽपि यान्ति काव्यस्य कायताम् ॥११९॥
 संस्कृतं स्वर्णिगां भाषा शब्दशास्त्रेषु निश्चिता ।
 प्राकृतं तज्जतत्तुल्यदेश्यादिकमनेकधा ॥१२०॥
 अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम् ।
 यद्भूतैरुच्यते किञ्चित्तद्भौतिकमिति स्मृतम् ॥१२१॥
 इत्येतद्भाषाकुशलैश्चित्रमनेकधा कर्तव्यम् ।
 चित्रजातिः ।
 सर्वगुणशीलकलितो सर्वामरपूजितो महाबोहो ।
 सर्वहितमधुरवक्त्रो केणप्या हवदि परमप्या ॥१२२॥
 रयणत्तयेण । शुद्धप्राकृतम् ।

संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषा—पैशाची, ये चारों भाषाएँ काव्यकी अंगत्वाको प्राप्त करती हैं ॥११९३॥

व्याकरण शास्त्रमें निश्चित की गयी संस्कृत देवभाषा है । संस्कृतके शब्दोंसे निमित्त और उसके तुल्य तत्तद्देशोंमें बौली जानेवाली प्राकृत भाषा अनेक प्रकारकी होती है । तात्पर्य यह है कि प्राकृतके तद्भव शब्द संस्कृत शब्दोंसे निमित्त हैं; क्योंकि वैयाकरणोंने प्राकृत भाषाके तद्भव शब्दोंका संस्कृत प्रकृति मानकर अनुशासन किया है । तत्सम शब्द संस्कृतके समान हैं । पर देश्य शब्दोंका सम्बन्ध संस्कृतके साथ नहीं है । अतएव स्पष्ट है कि प्राकृतभाषाकी उत्पत्ति संस्कृतसे नहीं हुई है, किन्तु वैयाकरणोंमें सुविधाके लिए तद्भव शब्दोंको संस्कृत शब्दों द्वारा समझाया है ॥१२०३॥

विभिन्न स्थानोंमें अपभ्रष्टरूपसे (अशुद्धरूपसे) बोली जानेवाली भाषाको अपभ्रंश कहते हैं, जो भाषा भूतोंके द्वारा बोली गयी है, उसे भौतिक—पैशाची भाषा कहते हैं ॥१२१३॥

उक्त चारों भाषाओंमें कुल कवियोंको अनेक प्रकारसे चित्रकाव्यकी रचना करनी चाहिए । यह चित्रजातिका उदाहरण है ।

सम्पूर्ण गुण और शीलसे युक्त, समस्त देवोंद्वारा पूज्य, महाज्ञानी, सर्वहितकारी एवं मधुरभाषी यह जीवात्मा किस कारणसे परमात्मा होता है ? ॥१२२३॥

उत्तर—रयत्तयेण—रत्नत्रयेण अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्ररूप रत्नत्रय द्वारा यह जीवात्मा परमात्मा बनता है । यह शुद्ध प्राकृतका उदाहरण है ।

१. अस्य संस्कृतं यथा—सर्वगुणशीलकलितः सर्वामरपूजितो महाबोधः । सर्वहितमधुरवक्त्रो केनात्मा भवति परमात्मा ॥१॥ मूलप्रती पादभागे । २. रत्नत्रयेण मूलप्रती पादभागे ।

वक्षोऽवक्षोजलक्ष्यं वहति जगति कः को विनीतो निषेधे
को वर्णः कीदृशं स्याद् बलमिह बलिनां शं कुतः स्यान्मृगणाम् ।
कस्तूरी स्यात् क्व जाता कुलममलकुलं तत्कुतोऽभूद्यदूनां
कीदृशः स्याद्विषयात् प्रथमविचारितः कः विधे नाभिजातः ॥१२३॥

ना । अभिजातः । कुलीनः । कुल्यः कुलीनोऽभिजात इत्यभिधानात् । न ।
अभि । निर्भयं । जातः मातुः कान्तायाः वा । जायाजनन्योर्जा इति वचनान् ।
बास्ये मातुः यौवने कान्तायाश्च सुखम् । नाभिजा । नाभी जन्यते इति नाभिजा ।
अतः विष्णोः नाभिजातः नाभेर्जातः नाभिपद्मात्मभूर्ब्रह्मेत्युक्तेः नाभिजातः ।
त्रिव्यंस्तद्विःसमस्तजातिः ।

वर्णः कः स्यात् स्फुटार्थं क्व च वसति रमा कीदृशः स्याद् दरिद्रः
कः शब्दः स्याद्विकल्पे वदति रतिपतिः पुंस्त्रयी के प्रशस्ये ।
कोऽन्तःस्थासु मुख्यः क्व सति शिवसुखं किं कुशोकत् प्रतीतं
ताक्ष्यः कीदृग्गुहो वाऽऽदिमजिनवरतः को जिनो वै जये यः ॥१२४॥

इस संसारमें वक्षोज रहित वक्षःस्थलको कौन धारण करता है ? नम्र कौन है ?
निषेधार्थक वर्ण कौन है ? बलशालियोंका बल कैसा होता है ? भृगोंको शान्ति कैसे
मिलती है ? कस्तूरी कहाँ होती है ? यदुचंशियोंका कुल निर्मल कैसे हुआ ? विषया
कैसा है ? प्रथम तीर्थंकर कौन है ? लक्ष्मीके लिए कौन पुरुष अभिजात होता
है ? ॥१२३॥

उत्तर—ना—पुरुष वक्षोज—स्तनरहित वक्षस्थलको धारण करता है । अभि-
जात-कुलीन नम्र होता है । कुल्य और कुलीन अभिजातके पर्यायवाची हैं । निषेध अर्थमें
न का प्रयोग होता है । अभि—निर्भय, बलशालियोंका बल निर्भय होता है । जातः—
मांसे या कान्तासे, जात शब्द माता और कान्ता वाचक है । जायाजनन्योर्जा—इस
वचनके अनुसार उक्त अर्थ घटित होते हैं । हरिणोंको बाण्यावस्थामें मांसे और युवा-
वस्थामें कान्तासे शान्ति मिलती है । नाभिजा—नाभी आयते इति नाभिजा—नाभिसे
उत्पन्न होनेके कारण नाभिजा कहते हैं । कस्तूरी नाभिसे उत्पन्न होती है । अतः—
श्रीकृष्णसे यदुकुल निर्मल हुआ । ब्रह्माकी उत्पत्ति विष्णुकी नाभिसे है । प्रथम तीर्थंकर
'नाभिजातः'—नाभिराज पुत्र ऋषभदेव हैं । अभिजात ना—कुलीन मानव लक्ष्मीके
लिए अभिजात होता है ।

यह त्रिव्यंस्तद्विःसमस्त जातिका उदाहरण है ।

स्पष्ट अर्थमें कौन वर्ण है ? रमा कहाँ रहती है ? दरिद्र कैसा होता है ? विकल्प
अर्थमें कौन शब्द है ? कामदेव कहता है कि स्त्री और पुरुषोंमें कौन अत्यन्त प्रशंस्य है ?
अन्तःस्थोंमें कौन प्रधान है ? मोक्ष सुख कैसे रहनेपर प्राप्त होते हैं ? फाल कैसी प्रतीत

वै अव्ययं स्फुटार्थं च । जये । अयः न या श्रीः यस्य । या स्त्रियां पानमञ्जरीः शोभालक्ष्म्योश्च निमित्ती । वा रतिपतिः कामो वदति किमिति पुंस्त्रियौ पुरुषनारीं प्रशस्यौ प्रधाने वभूवतुः । इत्युक्तवते कामाय स्तुतिकार उत्तरं ददाति । हे ए । अजये विष्णुकमले अजो विष्णुः या कमला । यः यरलवान्तस्था इति । वैजये । उँ अ ए रुद्रब्रह्मकृष्णाः ॥ उदच अश्च एश्च वै इति सिद्धम् ॥ वायां त्रयाणां जयोऽभिभवनमर्थात्तेषां त्यजनं त्यागस्तस्मिन् सति । अयो लोहं । वैजयेयः वीणां पक्षिणां जयो विजयः विजयस्येयं वैजयो ताम् ई रमां यातीति वैजयेयः गरुडः । वैजयेयः । विजया पार्वती शिवेत्यभिधानात् । विजया अजितजिनमाता तस्या अपत्यम् ॥ त्रिव्यस्तत्रिसमस्तजातिः । इत्यादि- विशेषो बहुधा चिन्त्यः ।

होता है ? गरुड कैसा होता है ? कार्तिकेय कैसे है ? आदि तीर्थंकरके पश्चात् कौन तीर्थंकर हुआ ? ॥ १२४३ ॥

उत्तर—वै जये यः । स्पष्टार्थक वर्ण वै है । जये—विजयमें रमाका निवास है । अयः—अ-नहीं है, या—लक्ष्मी पासमें जिसके—लक्ष्मी जिसके पास नहीं है, वह दरिद्र होता है (पान, मंजरी, शोभा, लक्ष्मी और निमित्ति अर्थमें या शब्द आता है) । काम कहता है—कौनसे स्त्री-पुरुष प्रधान होते हैं ? इस प्रकारका प्रश्न करनेपर स्तुतिकार उत्तर देते हैं कि, स्त्री-पुरुषोंमें 'अजो-विष्णुः; या-कमला' विष्णु और लक्ष्मी प्रधान हैं और ये ही नर-नारियोंमें प्रशस्य हैं । अन्तःस्थोंमें 'यः'—य वर्ण प्रधान है । 'वैजये'—उ + अ + ए—उ अव्यय ताप और ईशान अर्थमें; 'अकार'—ब्रह्मा, विष्णु, ईशा, कमल, आंगन और रण अर्थमें तथा 'ए' कार—तेज, जल, राशि, हर्म्य, उदर और हरि अर्थमें प्रयुक्त होता है । अतः उ अ ए—रुद्र, ब्रह्मा और कृष्ण, इन तीनोंके; 'जयोऽभिभवनम्' त्यागसे शिवसुख होता है । तात्पर्य यह है कि मोक्षसुख ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र इन तीनों देवताओंके त्यागसे प्राप्त होता है । अर्थात् मोक्षसुख उक्त तीनों देवोंके आश्रयसे भिन्न है । 'अयो लोहं' फल लौहमय प्रतीत होती है । 'वैजये यः'—वीणां पक्षिणां जयो—पक्षियोंके विजयको विजय कहते हैं, विजय सम्बन्धी वस्तुको वैजयो कहा जाता है । उसको ईम्-रमाको जो प्राप्त करता है, उसे वैजयेय गरुड कहा जाता है । अर्थात् पक्षी जिसका जय-गान करते हैं और जो स्वयं लक्ष्मीवान् है, वह गरुड है । 'विजया'—पार्वतीका नाम और उनके पुत्रको वैजयेय कहा जाता है । कार्तिकेय पार्वतीके

१. प्रशस्ये—क । २. अजश्च वा च अजये । अजा विष्णुहरच्छाया इत्यमरः । प्रथमप्रती पादभागे । ३. उतापेऽव्ययमीशाने ॥ अकारो ब्रह्मविष्णुवीशकमलेष्वङ्गणे रणे ॥ एकास्ते-जासि जले रात्रौ हर्म्योदरे हरी । प्रथमप्रती पादभागे । ४. विजयाया अपत्यं वैजयेयो गृहः प्रथमप्रती पादभागे । ५. खप्रती शिव इति शब्दो नास्ति ।

बाह्यान्तरार्थद्वितये हि यत्र यं कंचिदर्थं स्फुटमानिगद्य ।

विवक्षितार्थः सुविगोपितोऽसौ प्रहेलिका सा द्विविधाऽर्थशब्दात् ॥१२५॥

नाभेरभिमतो राजस्त्वयि रक्तो न कामुकः ।

न कुतोऽप्यधरः कान्त्या यः सदीजो धरः स कः ॥१२६॥

अधरः । सदीजोधरः । सततं तेजोधरः सामर्थ्याल्लभ्योऽधरः अर्थ-
प्रहेलिका ।

भोः केतकादिवर्णेन संध्यादिसजुषाऽमुता ।

शरीरमध्यवर्णेन त्वं सिंहमुपलक्षय ॥१२७॥

केतककुन्दनन्द्यावर्तादिवर्णन । पक्षे केतकशब्दस्यादिवर्णेन के इत्यक्षरेण
संध्यादिसजुषा रागेण सहितः सजुट् । संध्या आदिवर्णस्यासौ संध्यादिः
संध्यादिरेव सजुट् संध्यादिसजुट् तेन । पक्षे संध्याशब्दादिवर्णं सकारं जुषते

पुत्र है । 'दिजया'...अपि... जिगर्षते शतः है, उल्लेखे पुत्रको 'दिजयेय' माना
जायेगा । आशय यह है कि आदितीर्थकरके बाद अजितनाथ तीर्थकर हुए ।

यह त्रिव्यस्त-त्रिस्समस्त आतिका उदाहरण है ।

प्रहेलिकाका स्वरूप और भेद—

जिस रचना विशेषमें बाह्य और आभ्यन्तरिक दो प्रकारके अर्थ नहों;
उनमें जिस किसी अर्थको स्पष्ट कहकर विवक्षित अर्थको अत्यन्त गुप्त रखा जाये,
उसको प्रहेलिका कहते हैं । शब्द और अर्थके भेदसे प्रहेलिकाएँ दो प्रकारकी
होती हैं ॥ १२५३ ॥

अर्थ प्रहेलिकाका उदाहरण—

वह कौन पदार्थ है, जो आपमें रक्त—आसक्त है और आसक्त होनेपर
भी महाराज नाभिराजको अत्यन्त प्रिय है, कामुक—विषयी भी नहीं है, नीच भी
नहीं है और कान्तिसे सदा तेजस्वी रहता है ॥ १२६३ ॥

उत्तर—अधरः—नीचेका ओठ ही है, वह रक्त—लाल वर्णका है, महाराज
नाभिराजको प्रिय है, कामी भी नहीं है, शरीरके उच्च भागपर रहनेके कारण
नीच भी नहीं है और कान्तिसे सदा तेजस्वी रहता है ।

शब्दप्रहेलिकाका उदाहरण—

केतकी धावि पुष्पोंके वर्णसे, सन्ध्या आदिके वर्णसे एवं शरीरके मध्यवर्ती
वर्णसे तुम अपने पुत्रको सिंह समझो ॥ १२७३ ॥

केतकी, कुन्द और नन्द्यावर्तादि वर्णसे, केतकी शब्दका आदिवर्ण 'के'; सन्ध्याका

सेवते इति संख्यादि सजुट् तेन सकारेणेत्यर्थः । शरीरमध्यप्रदेशगतरक्तवर्णन ।
पक्षे शरीरशब्दस्य मध्यवर्ती रो इत्यक्षरेण । शब्दप्रहेलिका ।

श्रीमत्समन्तभद्रार्यजिनसेनादिभाषितम् ।

लक्ष्यमात्रं लिखामि स्वनामसूचितलक्ष्यम् ॥१२८॥

वटवृक्षः पुरोऽयं ते घनच्छायः स्थितो महान् ।

इत्युक्तोऽपि न तं घर्मं श्रितः कोऽपि वदाद्भुतम् ॥१२९॥

वटवृक्षो न्यग्रोधपादपः । पक्षे वटो भो माणवक ऋक्षः भल्लूकः ।

घनच्छायो भूर्यनातपः । पक्षे मेघच्छायः । घर्मं निदाघे । स्पष्टान्वकम् ।

कः कोदृङ् न नृपैर्दण्ड्यः कः खे भाति कुतोऽम्ब भोः ।

भीरोः कोदृङ् निवेशस्ते नानागः रविराजितः ॥१३०॥

नानागाः विविधापराधः । अनागाः ना निर्दोषः पुमान् । रविः आजितः
संग्रामात् । विविधगृहशोभितः । आदिविषममन्तरालापकप्रश्नोत्तरम् ।

आदिवर्ण 'स' और शरीरका मध्यवर्ती वर्ण 'री' इन तीनों अक्षरोंके मिलनेसे 'केसरी'
शब्द बनता है । यह केसरी 'सिंह' का वाचक है ।

श्रीमान् समन्तभद्र और आचार्य जिनसेन इत्यादिके द्वारा कथित अपने नामसे
हो लक्षणको सूचित करनेवाले केवल लक्ष्यको लिखता हूँ ॥१२८३॥

स्पष्टान्वकप्रहेलिकाका उदाहरण—

तुम्हारे सामने अत्यधिक छायावाला विशाल वटवृक्ष स्थित है, ऐसा कहनेपर
भी निदाघ—ग्रीष्ममें धूपसे पीड़ित होनेपर भी अनेक व्यक्तियोंमें-से एक भी व्यक्ति उस
वटवृक्षका आश्रय ग्रहण नहीं करता है, इस आश्चर्यको बतलाइए ॥१२९३॥

वटो + ऋक्षः—सन्धि विच्छेद करनेपर—हे वटो माणवक ! तुम्हारे सामने
मेघकी छायाके समान काला भालू स्थित है, ऐसा कहनेपर ग्रीष्म ऋतुमें धूपसे पीड़ित
होनेपर भी कोई व्यक्ति उसके पास नहीं गया तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ।

अन्तरालापक प्रश्नोत्तरका उदाहरण—

राजाओंसे कौन और कैसा पुरुष दण्डनीय नहीं होता ? आकाशमें कौन
शोभमान होता है ? कायरको भय किससे लगता है और हे भीरु, तेरा निवासस्थान
कैसा है ? ॥१३०३॥

उत्तर—नानागारविराजितः । नानागाः—अनेक प्रकारके अपराध; अनागाः
ना—निर्दोष पुरुष; निर्दोष पुरुष अपराध न करनेके कारण दण्डनीय नहीं होता ।
रविः—सूर्य—आकाशमें सूर्य शोभमान होता है । अजितः—युद्धसे; कायरको युद्धसे

१. स्पष्टान्वकमिति प्रहेलिका प्रथमप्रती पादभागे । २. कुतोऽन्वधीः—ख । ३. आगो
पराधो मन्तुश्चेति अन्तर्लीपिका प्रथमप्रती पादभागे ।

त्वत्तनी काऽम्ब गम्भीरा राज्ञो दोर्लम्ब आ कुतः ।

कीदृक् किं तु विगाढव्यं त्वं च श्लाघ्या कथं सती ॥१३१॥

नाभिराजानुगाधिकम् । नाभिः आजानुकरूपवर्षन्तमिति यावत् ।
गाधिकं गाधः तलस्पर्शप्रदेशः अस्यास्तीति गाधि तच्च तत् कं जलम् । अधिकं
नाभिराजानुवतिनी चेत् । बहिरालापकमन्तविषमं प्रश्नोत्तरम् ।

त्वमम्ब रेचितं पश्य नाटके सुरसान्वितम् ।

स्वमम्बरे चितं वैश्यपेटकं सुरसारितम् ॥१३२॥

चितं निचितम् । स्वम् आत्मोयम् । रेचितं वलितम् । वैश्यपेटकं वैश्यानां
सम्बन्धिसमूहम् । सुरसारितं देवैः प्रापितम् । गोमूत्रिका^३ अस्या बन्धविन्यासः
पूर्ववत् ।

तवाम्ब किं वसत्यन्तः का नास्त्यविधवे त्वयि ।

का हन्ति जनमाद्यूनं वदाद्यैर्व्यञ्जनैः पृथक् ॥१३३॥

भयं लगता है । नानागारधिराजितः—अनेक प्रकारके घरोंसे सुशोभित मेरा निवास-
स्थान है ।

बहिरालापक अन्तविषम प्रश्नोत्तरका उदाहरण—

हे अम्ब ! तुम्हारे शरीरमें गम्भीर क्या है ? महाराज नाभिराजकी भुजाएँ
कहाँ तक लम्बी हैं ? कौसी और किस वस्तुमें बधगाहन—प्रवेश करना चाहिए ? और
हे पतिव्रते ! तुम प्रशंसनीय किस प्रकार हो ॥१३१॥

उत्तर—नाभिराजानुगाधिकम्—नाभिः—नाभि शरीरमें गम्भीर है । आजानुः—
घुटनोंपर्यन्त नाभिराजकी भुजाएँ लम्बी हैं । गाधिकम्—गाधि—कम गहरे कम—
जलवाले तालाबमें बधगाहन करना चाहिए । नाभिराजानुगः—नाभिराजकी अनु-
गामिनी—आज्ञाकारिणी होनेसे मैं प्रशंस्य हूँ ।

हे अम्ब ! उस नाटकमें होनेवाले सारसनृत्यको देखिए तथा देवों द्वारा लाये
हुए और आकाशमें एक स्थानपर एकत्र हुए इस अप्सरासमूहको भी देखिए ॥१३२॥

चितम्—निचितम्—एकत्र हुए । स्वम्—आत्मोयम्—निजी । रेचितम्—हस्त-
संचालनादि विभिन्न आंगिक क्रियाओंसे युक्त नृत्यको । वैश्यपेटकम्—वैश्याओंके
सम्बन्धियोंको—अप्सराओंको । सुरसारितम्—देवों द्वारा लाये हुए ।

यह गोमूत्रिका बन्ध है ।

हे माता, तुम्हारे गर्भमें कौन निवास करता है ? हे सौभाग्यवती ऐसी कौन सी
वस्तु है, जो तुम्हारे पास नहीं है ? पैटू व्यक्तिको कौन सी वस्तु मार डालती है ? इन
प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार दोजिए कि अन्तका व्यञ्जन एक सा हो और यदि
व्यञ्जन भिन्न प्रकारका हो ॥ १३३॥

१. तलस्पर्शप्रदेशः—क । २. वैश्यानां—ख । ३. बन्धविन्यासः अस्याः इति—ख ।

तुक् । शुक् । रुक् । अन्तःगर्भे । आद्यूनं औदरिकं पृथगाद्यैर्व्यञ्जनै
भिन्नप्रथमव्यञ्जनैः ।

द्वीपं नन्दीश्वरं देवा मन्दरागं च सेवितुम् ।

सुदन्तीन्द्रैः समं यान्ति सुन्दरीभिः समुत्सुकाः ॥१३४॥

बिन्दुमान् । सुदति भोः कान्ते । सुदन्तीन्द्रैरिति सविन्दुकं पाठ्यम्
उच्चारणकाले बिन्दुता संयोज्यम् । अभिप्रायकथने त्यजेत् । उच्चारणकालं
विद्यमानबिन्दुत्वात् बिन्दुमानित्युक्तम् ।

असद्बिन्दुभिराभान्ति मुखैरमरवारणाः ।

घटाघटनया व्योम्नि विचरन्तस्त्रिधा स्तुतः ॥१३५॥

उत्तर—सुक्—हमारे गर्भमें पुत्र निवास करता है । हमारे समीप शुक्—शोक
या शोक नहीं है । पेटू—अधिक भोजन करने वालेको रुक्—रोग मार डालता है ।

उक्त प्रश्नोंमें आदि व्यंजन तु, शु और रु भिन्न-भिन्न हैं, पर अस्य
व्यंजन क् तीनोंमें समान है ।

हे सुन्दर दाँतोंवाली देवि ! देखो ये देव इन्द्रोंके साथ अपनी-अपनी
देवांगनाओंको साथ लिये हुए बड़े उत्सुक होकर नन्दीश्वरद्वीप और मन्दराचल
पर्वतपर क्रीडा करनेके लिए जा रहे हैं ॥ १३४३ ॥

यह पद्य बिन्दुमान् है अर्थात् 'सुदतीन्द्रैः' के स्थानपर 'सुदन्तीन्द्रैः' बिन्दुयुक्त
दकार पाठमें दिया गया है । इसी प्रकार 'नन्दीश्वरम्' के स्थानपर बिन्दु रखकर
'नन्दीश्वरम्' कर दिया गया है । 'मदरागम्' के स्थानपर बिन्दु रखकर 'मंदरागम्'
लिखा गया है । अतएव बिन्दुच्युत होनेपर इस पद्यका अर्थ यह होगा—

हे देवि ! ये देव दन्ती —बड़े-बड़े गर्जोंपर आरूढ होकर अपनी-अपनी देवांग-
नाओंको साथ लिये हुए 'मदरागं सेवितुम्' क्रीडा करनेके लिए उत्सुक होकर द्वीप
और नदीश्वर—समुद्रको जा रहे हैं । यहाँ उच्चारण समयमें बिन्दु जोड़ लेना
चाहिए और अर्थ करते समय उसको छोड़ देना चाहिए । उच्चारणकालमें बिन्दु-
के विद्यमान रहनेसे यह बिन्दुमान्का उदाहरण है ।

हे देवि ! जिनके दो कपोल और सँड़े इस प्रकार तीन स्थानोंसे मद्र क्षर
रहा है तथा जो मेघघटाके समान आकाशमें इधर-उधर विचरण कर रहे हैं,
ऐसे ये देवोंके हाथी, जिनपर बनेक बिन्दु शोभित हैं, ऐसे ये देवगज अपने मुखोंसे
बड़े सुन्दर लग रहे हैं ॥१३५३॥

बिन्दुच्युतकम् । घटानां समूहानां घटना तया । पक्षे घटनया घण्टा
संघटनया । त्रिधास्रुतः । त्रिमदस्त्राविणः ।

मकरन्दारुणं तोयं धत्ते त्वत्पुरखातिका ।

साम्बुर्जं क्वचिद्बिन्दुं चलन्मकरदारुणम् ॥१३६॥

बिन्दुमद्बिन्दुच्युतकम् ।

समजं घातुकं बालं क्षणं नोपगते हरिः ।

का तुर्कं स्त्री हिमे वाञ्छेत्समजं घातुकं बलम् ॥१३७॥

मात्राच्युतकप्रश्नोत्तरम् । समजं सामजं घातुकं हिंसकम् । का तु कं स्त्री
का स्त्री तुर्कं तु । समजं घातुकम् । बलम् । समजं घातुकं बालम् इति च पदच्छेदः ।
समाने जङ्घे यस्याः सा समजङ्घा । समजं बलमिति द्विस्थाने मात्रालोपः ।
उच्चारणकाले मात्राच्युतिः । अभिप्रायकथने मेलयेत् । यथा समजमित्यत्र सामजं
बलमित्यत्र बालम् ।

यह बिन्दुच्युत पद्य है । उच्चारणकालमें बिन्दु नहीं रहता, पर अर्थ करते
समय रहता है । अतः द्वितीय अर्थ निम्न प्रकार है—

देवि ! क्षी, अनेक अथवा बारह इस प्रकार तीन भेद रूप ध्रुतज्ञानके
धारण करनेवाले एवं घण्टानाद करते हुए आकाशमें विचरण करनेवाले ये श्रेष्ठ
देव ज्ञानयुक्त अपने सुन्दर मुख द्वारा घोभमान हो रहे हैं ।

हे राजन् ! तुम्हारे नगरकी खातिका—परिखा चलते हुए मगर-मच्छोंसे
भयंकर, ऊपर उल्टे हुए जलकणोंसे भरपूर, मकरन्द-परागसे अरुण और कमल-
युक्त जल धारण करती हैं ॥१३६॥

यह बिन्दुमत् बिन्दुच्युतकका उदाहरण है । यही श्लोकके प्रारम्भमें 'मकरदारुणम्'
पाठ था, पर बिन्दु वैकर 'मकरन्दारुणम्' कर दिया गया है और अन्तमें 'चलन्मकरदारुणम्'
पाठ था, पर यहाँ बिन्दुको च्युत कर 'चलन्मकरदारुणम्' कर दिया गया है ।

मात्राच्युतक प्रश्नोत्तरका उदाहरण—

हे माता ! सिंह अपने ऊपर घात करनेवाली हाथियोंकी सेनाकी क्षणभर-
के लिए भी उपेक्षा नहीं करता और हे देवि ! शीत ऋतुमें कौन सी स्त्री क्या
चाहती है ? ॥१३७॥

इस श्लोकमें प्रथम चरणके 'बालम्' शब्दमें आकारको मात्रा च्युतकर
'बलम्' पाठ पढ़ना चाहिए । इस पाठसे बलम्—सेना अर्थ निकलता है । अन्तिम
चरणमें 'बलम्' शब्दमें आकारको मात्रा बढ़ाकर 'बालम्' पाठ समझना चाहिए,
जिससे पुत्र अर्थ निष्पन्न होता है । इसी प्रकार प्रथम चरणमें 'समजम्' के स्थानमें
आकारको मात्रा बढ़ाकर 'सामजम्' पाठ समझना चाहिए, जिससे 'हाथियोंकी' अर्थ

१. तथा स्थाने यथा—ख ।

जग्ले कयाऽपि सोत्कण्ठं किमप्याकुलमूर्च्छनम् ।

विरहेऽङ्गनया कान्तं समागमनिराशया ॥१३८॥

व्यञ्जनच्युतकम् । जग्ले । गानपक्षे लकारे लुप्ते गानं चकार । ग्ले हर्षक्षये इति धातुः । सोत्कण्ठं गद्गदकण्ठम् । किमप्याकुलमूर्च्छनम् ईषदाकुलस्वर-
विश्रामं यथा भवति तथा ।

कः पञ्जरमध्यास्ते कः पश्वनिस्वनः ।

कः प्रतिष्ठा जीवानां कः पाठ्योऽक्षरच्युतः ॥१३९॥

अक्षरच्युतप्रश्नोत्तरम् ।

शुकः पञ्जरमध्यास्ते काकः पश्वनिःस्वनः ।

लोकः प्रतिष्ठा जीवानां श्लोकः पाठ्योऽक्षरच्युतः ॥१४०॥

प्रतिष्ठा आश्रयः । पूर्वोक्तश्लोकस्य प्रश्नोत्तरमत्र द्रष्टव्यम् ।

प्रकट होता है । 'समाने जङ्घे यस्याः सा समजङ्घा । अर्थात् समान जंघाओं वाली स्त्री शीत ऋतुमें पुत्रकी कामना करती है ।

इस पद्यमें उच्चारणकालमें मात्राच्युति है और अर्थकथन करते समय मात्राच्युति नहीं रहती; बल्कि संयोग रहता है ।

व्यंजनच्युतकका उदाहरण—

हे माता ! कोई स्त्री अपने पतिके साथ विरह होनेपर उसके समागमसे निराश हो व्याकुल और मूर्च्छित होती हुई गद्गद स्वरसे कुछ खेदखिन्न हो रही है ॥१३८॥

इस पद्यमें 'जग्ले' क्रियापद रहनेसे 'खेदखिन्न होने रूप' अर्थकी संगति बढित नहीं होती; अतः 'ल' व्यंजनको च्युतकर 'जगे' क्रियापद रहता है । अतः पद्यका वास्तविक अर्थ निम्न प्रकार होगा—

हे देवि ! कोई स्त्री पतिका विरह होनेपर उसके समागमसे निराश होकर स्वरोके उतार-चढ़ावको व्यवस्थित करती हुई उत्सुकतापूर्वक कुछ गा रही है ।

जग्लेका अर्थ 'गानं चकार' गान गाया है । ग्ले हर्षक्षये धातुसे 'जग्ले' क्रियापद निष्पन्न होता है । 'सोत्कण्ठम्' का अर्थ गद्गद कण्ठ और मूर्च्छनापूर्वक स्वरो-
का उतार-चढ़ाव करना है ।

अक्षरच्युत प्रश्नोत्तरका उदाहरण—

हे माता ! पिंजड़ेमें कौन रहता है ? कठोर शब्द करनेवाला कौन है ? जीवोंका आधार क्या है ? और अक्षरच्युत होनेपर भी पढ़ने योग्य क्या है ? ॥१३९॥

पिंजड़ेमें शुक—तोता रहता है । कौवा कठोर शब्द करनेवाला है । जीवों-
का आधार लोक है । अक्षरच्युत होनेपर भी श्लोक पढ़ने योग्य है ॥१४०॥

१. गजे—खप्रती अधिको पाठः ।

के मधुरारावा के पुष्पशाखिनः ।

केनोह्यते गन्धः केवलेनाखिलार्थदृक् ॥१४१॥

द्वयक्षरच्युतप्रश्नोत्तरम् ।

केकिनो मधुरारावाः केसराः पुष्पशाखिनः ।

केतकेनोह्यते गन्धः केवलेनाखिलार्थदृक् ॥१४२॥

केसराः नागकेसराः । केवलेन केवलज्ञानेन ।

का स्वरभेदेषु का रुचिहा रुजा ।

का रमयेत्कान्तं का तारनिस्वना ॥१४३॥

तदेव ।

काकली स्वरभेदेषु कामला रुचिहा रुजा ।

कामुकी रमयेत्कान्तं काह्ला तारनिस्वना ॥१४४॥

का कला स्वरभेदेषु का मता रुचिहा रुजा ।

का मुहू रमयेत्कान्तं का हता तारनिस्वना ॥१४५॥

मधुर शब्द करनेवाला कौन है ? सिंहकी ओवापर क्या होते हैं अथवा पुष्पवृक्ष कौन है ? उत्तम गन्ध कौन धारण करता है ? और जीव सर्वज्ञ किसके द्वारा होता है ? ॥१४१॥

दो-दो अक्षर जोड़कर निम्नप्रकार उत्तर दिया गया है:—

मधुर शब्द करनेवाले केकी—मधुर होते हैं । सिंहकी ओवापर केका होते हैं अथवा पुष्पवृक्ष केसर—नागकेसर है । उत्तम गन्ध केतकी-पुष्प धारण करता है और यह जीव केवलज्ञान होनेपर सर्वज्ञ हो जाता है ॥१४२३॥

स्वरके समस्त भेदोंमें उत्तम स्वर कौन सा है ? शरीरकी कान्ति अथवा मानसिक रुचि नष्ट करनेवाला कौन सा रोग है ? पतिको कौन प्रसन्न कर सकती है ? उच्च तथा गम्भीर शब्द करनेवाला कौन है ? ॥१४३३॥

स्वरके समस्त भेदोंमें कीणाका स्वर उत्तम है । शरीरको कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट करनेवाला कामला—पोलिया रोग है । कामिनी—स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है और उच्च तथा गम्भीर शब्द करनेवाला डोल है ॥१४४३॥

यहाँ सभी प्रश्नोंका उत्तर दो अक्षर जोड़कर दिया गया है ।

स्वरभेदोंमें उत्तम स्वर कौन सा है ? कान्ति अथवा मानसिक रुचिको नष्ट करनेवाला रोग कौन-सा है ? कौन-सी स्त्री पतिको प्रसन्न कर सकती है ? ताड़ित होनेपर गम्भीर तथा उच्च शब्द करनेवाला बाजा कौन है ? ॥१४५३॥

१. केनाखिलार्थदृक्—क-ख । २. केवलेन केवलज्ञानेन इति पाठो नास्ति—ख ।
३. कामला—ख । ४. का मुहू रमयेत्कान्त—ख । ५. खप्रती का कला...इत्यादि १४५ श्लोको नास्ति ।

एकाक्षरच्युतकयुतेनोत्तरं तद्वत् । अस्य श्लोकस्य प्रश्नेषु तृतीयतृतीयाक्षराण्यपनीय काकलीस्वरभेदेष्विति श्लोकस्थोत्तरेषु तृतीयतृतीयाक्षराण्यादाय तत्र मिलिते सत्युत्तरं भवति ।

का कः श्रयते नित्यं का कि सुतप्रियाम् ॥ ^१काननेदानीं चररतम् ॥

एकोत्तराक्षरच्युतपादम् ॥ कानन कुत्सितवदन । चर रतं रतविशेषः । एतो ध्वन्यर्थी ॥

कामुकः श्रयते नित्यं कामुकीं सुरतप्रियाम् ।

कान्तानने वदेदानीं चतुरक्षरविच्युतम् ॥१४६॥

संब्रुध्यसे कथं देवि किमस्त्यर्थं क्रियापदम् ।

शोभा च कीदृशि व्योम्नि भवतीदं निगद्यताम् ॥१४७॥

निहनुतैकालापकम् । ^२अस्त्यर्थम् अस्तीत्यर्थो यस्य तत् । भवति इति संबोध्ने । भवतीति क्रियापदम् । भवति भानि ^३नक्षत्राण्यस्येति तस्मिन् । प्रहेलिकाप्रभृति इदं सर्वं पूर्वपुराणे ^४दिवकन्याभिर्मरुदेव्यालस्यपरिहारगोष्ठ्यामुक्तम् ।

एकाक्षरच्युतक और एकाक्षरच्युतक है । प्रश्न पूर्वश्लोकके ही है । इस श्लोकके तृतीय अक्षरको हटाकर उसके स्थानमें प्रथम श्लोकके तृतीय अक्षरका उपयोगकर उत्तर दिया गया है ।

'किसी वनमें एक कोआ सम्भोगप्रिय काकली—कौवीका निरन्तर सेवन करता है ।' इस पद्यमें चार अक्षर कम हैं, उन्हें पूराकर उत्तर दीजिए ।

प्रथमादि पादोंमें एक, दो, तीन और चार अक्षर क्रमशः च्युत—हीन हैं । कानन—कुत्सित मुख । चर—रत—रतिविशेषमें संलग्न । इनका ध्वन्यर्थ हुआ—

कान्ताननं—सुन्दर मुखवाली ! कामीपुरुष सम्भोगप्रिय कामिनीका सदा सेवन करता है । यह पद्य एकाक्षरच्युतक है ॥१४६३॥

निहनुतैकालापकका उदाहरण—

हे देवि ! तुम्हारा सम्बोधन क्या है ? सत्ता अर्थको प्रकट करनेवाला क्रियापद कौन-सा है ? कैसे आकाशमें शोभा होती है ? यह बतलाइए ॥१४७३॥

उत्तर—'भवति' मेरा सम्बोधन है, (भवती शब्दका सम्बोधन एकवचनमें 'भवति' रूप बनता है) । सत्ता अर्थको व्यक्त करनेवाला क्रियापद भी 'भवति' है । यह √भूसे लट् लकार प्रथम पुरुष एकवचनमें बनता है । भवति—भानि-नक्षत्र-

१. कानने—ख । २. एकोत्तराच्युतपादम्—ख । प्रथमादिपादेषु एकद्वित्रिचतुरक्षराणि क्रमेण च्युतानि । प्रथमप्रती पादभागे । ३. अस्त्यर्थम् इति पदं खप्रती नास्ति । ४. नक्षत्राण्यस्मिन्निति तस्मिन्—ख । ५. दिवकन्यकाभिः—क-ख ।

स्नात कवनलग्नमीर्त्तं निर्वीर्यनिमुज्ज्वलम् ॥

पुस्तथीमज्जगत्सारं जना यात क्षणाच्छिवम् ॥१४८॥

मुरजबन्धः ।

^१पूर्वार्धमूर्ध्वं पङ्क्तौ तु ^२लिखित्वाऽद्धं परं त्वतः ।

^३एकान्तरितमूर्ध्वार्धो मुरजं ^४निगदेत् कविः ॥१४९॥

पूर्वार्द्धमेकपङ्क्त्याकारेण व्यवस्थाप्य पश्चार्द्धमेकपङ्क्त्याकारेण तस्याधः कृत्वा मुरजबन्धो निरूपयितव्यः । प्रथमपङ्क्तेः प्रथमाक्षरं द्वितीयपङ्क्तेर्द्वितीयाक्षरेण सह द्वितीयपङ्क्तेः प्रथममक्षरं प्रथमपङ्क्तेर्द्वितीयाक्षरेण सह उभयपङ्क्त्याक्षरेषु संयोज्यमाचरमात् । स्नात इति क्रियापदम् । ष्णा शौचे इति लेडन्तस्य घातोः रूपम् ॥ सुष्ठु न विद्यते मलं यस्य सः स्वमलः । गम्भीरः अगाधः स्वमलश्चासौ

सहित आकाश शोभित होता है । इस प्रकार उक्त समस्त प्रश्नोंका उत्तर 'भवति' उपर्युक्त श्लोकमें छिपा है । अतएव यहाँ 'निहूतकालापक' है ।

ये प्रहेलिका इत्यादि सभी प्रश्न आदिपुराणमें जिनसेनाचार्यने देवांगना और महदेवीको ललितपरिहास गोण्डो सन्दर्भमें निबद्ध किये हैं । माता महदेवीने देवांगनाओंके प्रश्नों का उत्तर दिया है ।

मुरजबन्धका उदाहरण—

हे भग्यजीको ! जिनेन्द्रदेवका अपरिमित गुणसमुद्र अत्यन्त निर्मल, गम्भीर, पवित्र, श्रीसम्पन्न और जगत् का सारभूत है । तुम उसमें एकाग्रचित्त होकर अवगाहन करो, उसके गुणोंको पूर्णतया अपनाओ और शीघ्र शिव—मोक्ष को प्राप्त करो ॥१४८३॥

मुरजबन्ध को प्रक्रिया—

ऊपरकी पंक्तिमें पूर्वार्ध पद्यको लिखकर नीचे उत्तरार्द्धको लिखे । एक-एक अक्षरसे व्यवहित ऊपर और नीचे लिखनेसे मुरजबन्धकी रचना होती है ॥१४९३॥

पूर्वार्द्धके विषम संख्याङ्क वर्णोंको उत्तरार्द्धके समसंख्याङ्क वर्णोंके साथ मिलाकर लिखनेसे श्लोकका पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धके विषम संख्याङ्क वर्णोंको पूर्वार्धके समसंख्याङ्क वर्णोंके साथ क्रमशः मिलाकर लिखनेसे उत्तरार्द्ध बन जाता है । इसका स्पष्टीकरण यह है कि प्रथम पंक्तिके प्रथमाक्षरको द्वितीय पंक्तिके द्वितीयाक्षरके साथ; द्वितीय पंक्तिके प्रथमाक्षरको प्रथम पंक्तिके प्रथमाक्षरके साथ दोनों पंक्तियोंके वर्णोंकी समाप्तिपर्यन्त लिखना चाहिए ।

१४८३ वें पद्यमें आया हुआ 'स्नात' यह क्रियापद है । √ ष्णा—'शौचे'से लेट् लकारका रूप स्नात बनता है । जिसमें अच्छी तरह मल—दोष न हों, वह स्वमल

१. उत्तमपुर्णकवचनम् प्रथमग्रन्थे पादभागे । २. पूर्वार्धमूर्ध्वपङ्क्तौ तु—क । ३. लिखित्वाऽद्धं परं त्वतः—ख । ४. एकान्तरितमूर्ध्वार्धो—ख । ५. निपठेत्कविः—क ।

गम्भीरश्च स्वमलगम्भीरः तं स्वमलगम्भीरम् । न मिताः अमिताः । 'अमितास्ते गुणाश्च अमितगुणाः जिनस्थामितगुणाः जिनामितगुणा एव अर्णवः समुद्रः । अथवा जिन एवामितगुणार्णवः तम् पूतः पवित्रः । श्रीमान् श्रीयुक्तः । जगतां सारः जगत्सारः पूतश्च श्रीमांश्च जगत्सारश्च पूतश्रीमज्जगत्सारस्तम् । जनाः लोकाः । यात क्रियापदम् । या प्रापणे इत्यस्य धातुर्लङ्गतस्य प्रयोगः । क्षणात् अचिरात् अचिरेणेत्यर्थः । शिवं शोभनं शिवरूपमित्यर्थः । किमुक्तं भवति— हे जनाः जिनामितगुणार्णवं यात स्नात । अथवा जिनामितगुणार्णवं स्नात येन क्षणाच्छिवं यात इति । शेषाणि पदानि जिनामितगुणार्णवस्य विशेषणानि ।

अभिषिक्तः सुरैर्लोकैस्त्रिभिर्भक्तिपरैर्न केः ।

वासुपूज्य मयीशेशं त्वं सुपूज्यः कयीदृशः ॥१५०॥

कहलात्ता है । गम्भीरका अर्थ अगाध है । निर्मल और गम्भीर यह अर्थ 'स्वमल गम्भीरम्' पदका है । नमिताः-अमिताः—अपरिमित । अपरिमित गुणवाले जिन, अपरिमित गुण समुद्र—यतः अर्णव पदसे समुद्रका अर्थ सूचित होता है अतएव 'जिनामितगुणार्णवम्' पदका अर्थ जिनदेवका अपरिमित गुण समुद्र है । यह गुण समुद्र—पूतः—पवित्र है । श्रीमान्—श्रीयुक्त है । 'जगतां सारः'—जगत्का सारभूत है । 'जनाः'—'लोकाः'—लोक । 'यात' यह क्रियापद है । 'क्षणात्'—'अचिरात्'—शीघ्र ही, 'शिवम्', 'शिवरूपम्'—मोक्ष या आत्मकल्याणको । अतः पद्यका अर्थ—हे जनाः—हे भयजन, अपरिमित जिन गुण समुद्रमें स्नात करो । इस गुण समुद्रमें स्नान करनेसे शीघ्र ही शिव—मोक्षकी प्राप्ति होती है । शेष पवित्र, गम्भीर, निर्मल, श्रीसम्पन्न आदि विशेषणोंको अपरिमित जिन गुण समुद्रके साथ अन्वित कर लेना चाहिए ।

अनन्तरपादसुरजयन्त्रका उदाहरण—

हे प्रभो ! जब देवोंने मेरु पर्वतपर ले जाकर आपका अभिषेक किया और भयनवासी, व्यन्तर, उद्योतिष्क, मनुष्य, तिर्यच आदि तीनों लोकोंके प्राणियोंने आपकी सेवा की, तब ऐसा कौन होगा, जो आपको सेवा न करे ? हे वासुपूज्य ! आप मेरे लिए सर्वश्रेष्ठ ईश्वर हैं, आप पूजनीय हैं, आप जैसे अर्हत्पुरुषसे भिन्न और कौन हैं, जो मेरा स्वामी हो सके ॥१५०३॥

१. 'अमिताश्च ते गुणाश्च' इति पदद्वयं स्वप्रती न नास्ति । २. भुक्तः—क । ३. अमरेश्वरो वासुहृच्यते । वासुना पूज्यो वासुपूज्यः । अथवा वासुपूज्यो नाम जिनजनकस्तस्य संबन्धो पुत्रो वासुपूज्यः । इतस्त्वे इत्यण् । अथवा व्युत्पत्तिर्न नास्ति । ४. वासुपूज्यः मयीशेशः—क ।

अनन्तरपादमुरजः । प्रथमद्वितीययोस्तृतीयचतुर्थयोर्द्रष्टव्यम् । मयोशेषः
मे मम त्वमेव ईशेशः । क ईदृशः । युष्मत्सदृशः अन्ये के ।

क्रमज्ञानधर्म क्षेमं श्रीमतामर्च्यपञ्चमम् ।

श्रीमद्विमलमर्च्येनं वामकामं नमस्कृतम् ॥१५१॥

दृष्टपादमुरजबन्धः । क्रमताम् व्रजताम् । अक्रमं युगपत् क्षेमं कुशलं सुखम् ।
धीमतां बुद्धिमताम् । अर्च्यं पूज्यम् । कर्त्तरि षष्ठी । अश्रमं श्रमरहितम् अक्लेशम् ।
श्रीमांश्चासौ विमलश्च श्रीमद्विमलः । अतस्तं श्रीमद्विमलं परमतोर्थंकरं त्रयोदशम् ।
अर्च्यं क्रियापदं लेढन्तम् । इमं प्रत्यक्षवचनम् । वामैः प्रधानैः काम्यते इत्यते
इति वामकामः । अतस्तं वामकामं नम च । चशब्दोऽनुक्तोऽपि द्रष्टव्यः । क्षेमं
समर्थं क्रोधादिरहितमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—श्रीमद्विमलं सर्वविशेषण-
विशिष्टमर्च्यं नम च । धीमतां क्षेमं क्रमताम् । अक्रमं सर्वेषां प्रणामादेव
शान्तिर्भवति । मुरजः ।

प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थपादमें मुरजबन्ध है । मेरे लिए
तुम्हीं ईश्वर हो । तुम्हारे समान अन्य कौन है ।

दृष्टपादमुरजबन्धका उदाहरण

हे भव्यजन ! एक साथ समस्त पदार्थोंको जाननेवाले, मंगलरूप, बुद्धिमानोंके
पूज्य, खेदरहित, अनन्तशक्ति सहित और हृदय, चक्रवर्ती इत्यादि प्रधान पुष्टियों द्वारा
सेवनीय एवं अन्तरंग, बहिरंग लक्ष्मीसे युक्त विमलनाथ तीर्थंकरकी पूजा-भक्ति करनी
चाहिए । इस पूजा-भक्तिके फलस्वरूप तत्क्षण कुशल अथवा सुखको बिना किसी रुकावटके
प्राप्त किया जा सकता है । यह बुद्धिमानोंके द्वारा पूज्य है, परिश्रमसे रहित है और
बड़े-बड़े पुरुष इसकी निरन्तर कामना करते हैं ॥१५१३॥

'क्रमताम्'—प्राप्त हो; अक्रमम्—एक साथ; क्षेमं—कुशल या सुख । धीमताम्—
बुद्धिमानोंको । 'अर्च्यम्'—पूज्य । 'धीमताम्'में कर्त्तरि षष्ठी विभक्ति हुई है । 'अश्रमम्'—
क्लेश रहित, श्रीमान् और निर्मल । विमलनाथ तीर्थंकर । अर्च्यं—यह लेट्
लकारका रूप है । 'वामैः'—प्रधान पुष्ट चक्रवर्ती इत्यादि जिनकी सेवा करनेके इच्छुक
हैं । 'क्षेमम्'—क्रोधादि रहित । यह अर्थ निकला—सर्वविशेषणविशिष्ट विमलनाथ
तीर्थंकरकी पूजा-भक्ति करनी चाहिए । इनकी पूजा करनेसे बुद्धिमान् व्यक्ति शीघ्र ही
सुख-शान्ति प्राप्त करते हैं ।

१. द्रष्टव्यः—क । २. अन्यः कः—क । ३. श्रीमद्विमलमर्च्येनम् इति—ख । विगतो मलो
यस्मादसौ विमलः । अथवा विगता मा लक्ष्मीर्येषां ते विमाः तत्त्वज्ञानहीनाः अनाद्यजीवा
इत्यर्थः । तान् लत्यादत्ते अनुगुह्यातीति विमलः । अथवा ध्यानकाले वि परमात्मानं
मलति धरतीति विमलः । मलि मल्लि धारणे ॥ प्रथमप्रती पादभागे । ४. प्रधानैः—ख ।

तमोऽत्तु ममतातीत भेमोत्तममतामृत ।

ततामितमते तातमतातीतमृतेऽमित ॥१५२॥

गूढतृतीयचतुर्थान्यतराक्षरद्वयविरचितयमकानन्तरपादमुरजबन्धः । तमो-
ऽत्तु अज्ञानं निराकरोतु । ममतातीत ममत्वहीन मम मे उत्तममतामृत प्रधाना-
गमामृत । ततामितमते विशालानन्तबोध । तातमत तात इति मत । अतीतमृते
हीनमरण । उपमातीत । भो जिन मम तमो निवारयतु भवानित्यर्थः ।

ग्लानं चैनश्च नस्येन हानहीन घनं जिन ।

अनन्तानज्ञान ज्ञानस्थानतनन्दन ॥१५३॥

निरोष्ठययथेष्टकाक्षरान्तरितमुरजबन्धः । गोमूत्रिकाषोडशदलपद्मं च ।
ग्लानं च ग्लानिं च एनश्च पापं च नः अस्माकं स्य विनाशय, हे इन स्वामिन्

गूढतृतीयचतुर्थानन्तराक्षरद्वयविरचितयमकानन्तरपादमुरजबन्धका उदाहरण—

हे पार्श्वनाथ ! आप ममतारहित हैं—पर पदार्थोंमें 'यह मेरा है और मैं इनका
हूँ' इस प्रकारका भाव नहीं रखते । आपका आगमरूपी अमृत अत्यन्त उत्कृष्ट है तथा
आपका केवलज्ञान अत्यन्त विस्तृत और अपरिमित है । आप सबके बन्धु, नाशरहित
और अपरिमित हैं । आपके दोनों चरणकमल मेरे अज्ञानान्धकारको नष्ट करें ॥१५२॥

यह गूढ तृतीय-चतुर्थमें-से कोई दो अक्षरसे विरचित यमक अनन्तरपाद मुरज-
बन्धका उदाहरण है । 'तमोऽत्तु'—अज्ञानान्धकारका नाश करें । 'ममतातीत'—
मोह-राग-द्वेष रहित अथवा ममत्वभावसे रहित । मम—मेरा । 'उत्तमममतामृत'—
प्रधान आममतामृत । 'ततामितमते'—विशाल और अपरिमित विषयक्षेत्रवाले केवलज्ञानके
घारी । 'अतीतमृते'—मरणरहित । 'उपमातीत'—निरुपमेय । हे पार्श्वभट्टारक, मेरे
अज्ञानान्धकार अथवा जन्म-मरणरूप भव—संसारका निवारण कीजिए ।

मुरज और गोमूत्रिका षोडशदल पद्मका उदाहरण—

हे मुनि सुव्रतनाथ ! आप क्षयरहित हैं, कर्मरूप शत्रुओंको जीतनेवाले हैं,
अनन्त चतुष्टयसे युक्त हैं, अपरिमित गुणोंसे सुशोभित हैं, नाशरहित हैं, अथवा आहार-
विहार रहित हैं, केवलज्ञानधारी हैं । प्रणत पुरुषोंकी समृद्धि करनेवाले हैं । हे प्रभो !
हमारी ग्लानि—राग-द्वेष और पापपरिणतिको दूर कीजिए ॥१५३॥

यह पद्य ओष्ठ्य अक्षरसे रहित यथेष्ट—एकाक्षरान्तरित मुरजबन्धका उदाहरण
है । गोमूत्रिका षोडशदल कमलका भी यही उदाहरण है ।

'ग्लानं च ग्लानिं च एनश्च पापं च नः'—हमारी रागद्वेष और पाप परिणति-

१. ममोत्तममतामृत—ख । २. उत्तममतमृत—ख । ३. अनन्तानज्ञान स्थानस्थानत नन्दन
—ख । ४. निरोष्ठ्य यथेष्टकाक्षरमुरजबन्धः—ख । ५. विनाशाय—ख ।

हानहीन क्षयरहित^१ धन निविड जिन परमात्मन् अनन्त अमेय अनशन अविनाश निराहार इति वा । ज्ञानस्थानस्थ । केवलज्ञानधामस्थित, आनतनन्दन प्रणत-जनवर्द्धन । इन हानहीन जिन अनन्त अनशन ज्ञानस्थानस्थ आनतनन्दन ग्लानं एतश्च नः स्य ।

द्विव्येर्ध्वनिसितच्छत्रचामरैर्दुन्दुभिस्वनेः ।

दिव्यैर्विनिमित्तस्तोत्रश्रमददुरिभिर्जनैः ॥१५४॥

गुप्तक्रियामुरजः । तृतीयपादे क्रिया गुप्ता । दिव्यैरित्यत्र दिवि आकाशे ऐः सुरादिभिः सह श्रोविहारे गतवान् भवानित्यर्थः ।

विनिमित्तस्तोत्रेषु श्रमः अभ्यासः स एव ददुरी वाद्यविशेषः एषां तैः । अथवा मुरज एव प्रकारान्तरेण तद्रचना यथा—चतुरः पादानघोऽर्था व्यवस्थाप्य प्रथमपादस्य प्रथमाक्षरं तृतीयपादस्य द्वितीयाक्षरेण सह तृतीयपादस्य प्रथमाक्षरं प्रथमपादस्य द्वितीयाक्षरेण सह गृहीत्वा एवं नेतव्यं यावत्परिसमाप्तिः । पुन-

को नष्ट करनेके लिए । 'हानहीनम्'—क्षयरहित, 'धनम्'—निविड ज्ञान रूप, 'अनन्त'—अपरिमेय, 'अनशन'—नाशरहित—निराहार—आहाररहित । 'ज्ञानस्थान'—केवलज्ञान-रूप स्थानमें स्थित । 'आनतनन्दन' प्रणत व्यक्तिमोंको बढ़ानेवाले । अतएव क्षयरहित, अनन्त चतुष्टयधारी, नाशरहित, केवलज्ञानरूप स्थानमें स्थित, कर्मशत्रुओंके जोतनेवाले जिनेन्द्र हमारे राग-द्वेष और पापकर्मको दूर कीजिए ।

गुप्तक्रियामुरजका उदाहरण—

हे ऋषभदेव ! आप नम मनुष्योंकी सांसारिक व्यथाओंको दूर करनेवाले हैं, शोक रहित हैं और आपका हृदय उत्तम है—लोककल्याणकारक भावसे पूर्ण हैं । हे प्रभो ! आप आमण्डल, सिंहासन, अशोकवृक्ष, पुष्पवृष्टि, मनोहर दिव्यध्वनि, श्वेतच्छत्र, चमर और दुन्दुभिनिनादसे सुशोभित होकर मधुर वाद्यों सहित स्तुतिपाठ करनेवाले देवेन्द्र, विद्याधर एवं चक्रवर्ती आदिके साथ (समवशरणभूमिमें) आसीन हुए थे और जन्हींके साथ आपने आकाशविहार किया था ॥१५४॥

यह गुप्त क्रिया मुरजवन्ध है । यहाँ तृतीयपादमें 'ऐः' क्रिया गुप्त है । ✓ इण् गतोसे लङ्लकार मध्यपुरुष एकवचनमें 'ऐः' क्रियारूप निष्पन्न होता है । 'आकाशमें देवादिके साथ विहार किया' अर्थ है । रचित स्तोत्रोंसे स्तुति करनेवाले और ददुर—नगाड़ा आदि वाद्योंसहित ।

मुरजकी रचना दूसरे प्रकारसे भी होती है । यथा—चार-चार चरणोंको नीचे-नीचे रखकर प्रथमपादके प्रथम अक्षरको तृतीय चरणके द्वितीयाक्षरके साथ; तृतीयपादके प्रथम अक्षरको प्रथमचरणके द्वितीय अक्षरके साथ लेकर समाप्तिपर्यन्त

द्वितीयपादस्य प्रथमाक्षरं चतुर्थपादस्य द्वितीयाक्षरेण सह चतुर्थपादस्य प्रथमाक्षरेण सह द्वितीयपादस्य द्वितीयाक्षरं गृहीत्वा पुनरनेन तावन्नेतव्यं यावत् परिसमाप्तिर्भवति, ततो मुरजबन्धः स्यात् ।

धिया ये श्रितये तात्यां यानुपायान्वरानतः ।

येऽपापा यातपारा ये श्रियाऽऽधातानतन्वत् ॥१५५॥

अर्धभ्रमः गूढपश्चाद्द्वैश्च । कोऽस्यार्थः—चतुरः पादानघोऽधो विन्द्यस्य चतुर्णां पादानां चत्वारि प्रथमाक्षराणि तेषामपि चत्वार्यन्त्याक्षराणि गृहीत्वा प्रथमपादो भवति । तेषां द्वितीयाक्षराणि चत्वार्यन्त्यसमीपाक्षराणि चत्वारि गृहीत्वा द्वितीयपादो भवति एवं चत्वारोऽपि पादाः साध्याः । अनेन न्यायेन अर्धभ्रमो भवति । प्रथमाद्धे यान्यक्षराणि तेषु पश्चिमाद्धाक्षराणि सर्वाणि विशन्ति । एकस्मिन्नपि समानाक्षरे बहूनामपि समानाक्षराणां प्रवेशा भवति । अतो गूढपश्चाद्द्वौऽप्ययं भवति । धिया बुद्ध्या । ये यदो रूपम्, श्रितया आश्रितया सेव्यया इत्यर्थः । इता विनष्टा आर्तिः मनःपीडा यस्याः सेयमितार्तिः तथा । यान यदः शसन्तप्रयोगः । उपयान् उपपूर्वस्य अय गती इत्यस्याजन्तस्य रूपम् उपगम्यानित्यर्थः वराः प्रधानभूताः इन्द्रादयः नताः प्रणताः ये च वक्ष्यमाणेन च शब्देन संबन्धः । न विद्यते पापम् एषां ते अपापाः शुद्धाः कर्मरहिता इत्यर्थः । यातं पारं यैस्ते यातपाराः अधिगतसर्वपदार्था इत्यर्थः । ये च श्रीलक्ष्मीस्तया आयातान् आगतान् अतन्वत् तनु विस्तारे इत्यस्य धातोः लङन्तस्य रूपम् । यथा ब्रह्मेण राजान आश्रितान् विस्तारयन्ति उत्तरसूत्रे क्रियापदं तिष्ठति तेन सह संबन्धः ।

आसते सततं ये च सति^१ पूर्वक्षयालये ।

ते पुण्यधा रतायातं सर्वदा माऽभिरक्षत ॥१५६॥

रचना करनी चाहिए । पुनः द्वितीयपादके प्रथमाक्षरको चतुर्थपादके द्वितीयाक्षरके साथ; और चतुर्थपादके प्रथमाक्षरके साथ द्वितीयपादके द्वितीयाक्षरको लेकर समाप्ति पर्यन्त रचना करनेसे मुरजबन्ध होता है ।

अर्धभ्रमगूढपश्चाद्द्वै चित्रका उदाहरण—

जो पीडारहित—अनन्तसुख सम्पन्न हैं, प्राप्त हुई—ज्ञानावरणकर्मके अत्यन्त क्षयसे उपलब्ध—केवलज्ञानरूपी लज्जिसे सहित है; जिन्हें उपाय—सेवनीय समस्त इन्द्रादि श्रेष्ठ पुरुष नमस्कार करते हैं, जो पापकर्ममलसे रहित हैं, जो संसारसमुद्रको पार कर चुके हैं अथवा जिन्होंने समस्त पदार्थोंको जान लिया है, जो शरणागतोंको लक्ष्मी द्वारा विस्तृत करते हैं—केवलज्ञानादि लक्ष्मीसे युक्त करते हैं और जो उत्कृष्ट तथा अविनाशी मोक्षमन्दिरमें सदा निवास करते हैं, वे कल्याणप्रदाता जिनेन्द्र भगवान्

१. प्रविशन्ति -क । २. पूर्वक्षयालये -ख ।

अर्धभ्रमः । तति शोभने पुरी महति अक्षयस्थाने रतायातं भक्त्या
समागतम् । मा मां अस्मदो रूपम् ।

चौश्रीशुभदौ नौमि रुचा वृद्धौ प्रपावनी ।

श्रीवृद्धौतशिवी पादौ शुद्धौ सव शशिप्रभ ॥१५७॥

भक्तिवश सम्मुख आये हुए मुझ भक्तकी सदा रक्षा करें अर्थात् उनकी भक्ति-आराधनासे
मैं अपना आत्मविकास करनेमें समर्थ हो सकूँ ॥१५५३; १५६१॥

यह अर्धभ्रम और गूढउत्तरार्द्धका उदाहरण है । इसका विवरण निम्न
प्रकार है:—

पद्यके चारों चरणोंको नीचे-नीचे फैलाकर लिखें । चारों चरणोंके प्रथम और
अन्तिम चार अक्षरोंको मिलानेसे श्लोकका प्रथम पाद बनता है । इन्हीं चारों
चरणों के द्वितीय तथा उपान्त्य अक्षर मिलानेसे द्वितीयपाद बन जाता है । इसी
तरह तृतीय और चतुर्थपाद भी बन जाते हैं । इस प्रक्रियासे यह श्लोक
अर्धभ्रम कहलाता है । इस पद्यके पूर्वार्धमें जो वर्ण आये हैं, उन्हींमें उत्तरार्द्धके
साथ सब वर्ण प्रविष्ट हो जाते हैं । एक प्रकारके समान वर्णोंमें अनेक प्रकारके
समान वर्णोंका भी प्रवेश हो सकता है । अतएव इसे गूढपश्चार्द्ध—पश्चार्ध भाग
पूर्वार्ध भाग में गूढ-निहित होने से; कहा जाता है ।

'धिया'—बुद्धिसे; श्रितया—सेवनीय होने से; 'हता'—नष्ट हुई; 'आत्ति'—
मनःपीडा—पीडा रहित—अनन्त सुखसम्पन्न । 'उपयान्'—उपगम्यान्—उपगम्य समझकर;
'वराः'—मन्त्रीभूत हन्द्रादि; 'अपावा'—पापकर्ममलसे रहित; 'यातपाराः'—संतार समुद्रसे
पार पा चुके हैं । अथवा समस्त पदार्थोंका जिन्हें ज्ञान है । 'ये'—जो; 'श्रीः'—केवलज्ञान
लक्ष्मी; 'आयातान्'—शरणागत हुए भव्य पुरुषोंको; 'अतन्वत'—विस्तृत करते हैं ।

'पुरी महति अक्षयस्थाने'—उल्लूख तथा अविनाशी मोक्षस्थानमें । 'रतायातम्'—
भक्ति पूर्वक सम्मुख आये हुए; 'मा'—साम्—मेरी—मुझ भक्तकी ।
अर्धभ्रमगूढ-द्वितीयपादका लक्षण—

हे चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ! आपके चरणकमल मुखर समवशरणादि लक्ष्मी और
निःश्रेयस आदि कल्याणको देनेवाले हैं, कान्तिसे वृद्धिगत हैं—कान्तिमान् हैं, अत्यन्त
पवित्र हैं, अन्तरंग और बहिरंग लक्ष्मीको प्राप्त करनेवाले हैं, प्रक्षालित हैं—हन्द्र,
चक्रवर्ती, योगीन्द्र और विविध लक्ष्मीवान् पुरुषोंके द्वारा प्रक्षालित हैं, कल्याणरूप हैं
और अत्यन्त सुद्ध हैं । अतः उन चरणोंको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१५७१॥

१. रतायात—ख । २. श्रीवच शुभं च श्रीणुमे चाक्षणी च ते श्रीणुमे च चाक्षणीशुभे ते
यत्त इति । रुचा दीप्त्या वृद्धौ महान्तौ । श्रियं वृणुत इति श्रीवृद्धौ श्रीवृद्धौ च तौ
योतौ च शिवी च तयोक्तौ । प्रथमप्रती पादभाग ।

अर्धभ्रमगूढद्वितीयपादः श्लोकः ।

हरतीज्याऽऽहिता तान्ति रक्षार्थायस्य नेदिता ।

तोथदि श्रेयसे नेता ज्यायः श्रेयस्यस्य हि ॥१५८॥

अर्धभ्रमनिरोप्यगूढचतुर्थः हरति विनाशयति, इज्या पूजा, आहिता कृता तान्ति खेदं क्लेशं दुःखं, रक्षार्था पालनार्था । आयस्य प्रयस्य यत्नं कृत्वा नेदिता समीचीकृता । अन्तिकस्य भक्तिं कृते नेत्रदेशस्य रूपमेतत् । शीतलतीर्थ-विच्छेदे उत्पन्नो यतस्ततस्तीर्थादिः संजातः । तस्य संबोधनं हे तीर्थादि । श्रेयसे नेता नामकः अज्यायः वृद्धत्वहीनः । श्रेयसि एकादशतीर्थकरे त्वयि अयस्य पुण्यस्य । हि यस्मात् । एतदुक्तं भवति हे तीर्थादि अज्यायः त्वयि श्रेयसि आहिता इज्या रक्षार्था प्रयस्य पुण्यस्यान्तिका श्रेयोऽर्था । इह लौकिकार्थः तान्ति दुःखं हरति यतस्ततस्त्वं नेता नायक एव नान्यः ।

अर्धभ्रम निरोप्यगूढ चतुर्थपादका उदाहरण—

हे तीर्थके आदिमें होनेवाले ! जरारहित । श्रेयान्सनाथ भगवन् ! प्रयत्नपूर्वक समीचीकृता तथा मन, वचन और कायकी एकाग्रता से की गयी आपकी पूजा सांसारिक सन्तापको हरती है, पुण्यकी रक्षा करती है और अनेक प्रकारके कल्याण प्राप्त कराती है । अतएव आप ही जगत्के सर्वश्रेष्ठ नायक हैं ॥१५८३॥

यह पद्य अर्धभ्रम है, इसमें ओष्ठ्य वर्ण नहीं है तथा चतुर्थपाद—'ज्यायः श्रेयस्यस्य हि' के समस्त वर्ण इस पद्यके अवशिष्ट तीन पादों में निहित हैं ।

'हरति'—नष्ट करती है; 'इज्या'—पूजा; 'आहिता'—की गयी; 'तान्तिम्'—क्लेश या दुःखको; 'रक्षार्था'—रक्षाके लिए; 'आयस्य'—प्रयत्न करके; 'नेदिता'—समीचीकृता । शीतलनाथ तीर्थकरके तीर्थ—धर्मशासनके अन्तिम समयमें तीर्थ—धर्मका विच्छेद हो गया था, इसके पश्चात् श्रेयान्सनाथका जन्म हुआ । अतः इन्हें तीर्थके आदिमें उत्पन्न होनेवाला मानकर 'तीर्थादि' यह संबोधन निष्पन्न हुआ है । 'श्रेयसे'—नेता; 'अज्यायः'—जरारहित; 'श्रेयसि'—न्यारहवें तीर्थकर श्रेयान्सनाथमें की गयी भक्ति; 'अयस्य'—पुण्यकी; 'हि'—क्योंकि । यह अर्थ हुआ—

हे तीर्थके आदिमें उत्पन्न होनेवाले श्रेयान्सनाथ भगवन् ! आपमें प्रयत्नपूर्वक की गयी भक्ति पुण्य और कल्याण प्रदान करती है । तथा आपको पूजा सांसारिक

१. अर्धभ्रमगूढद्वितीयः पादः—ख । श्लोकः इति पदं नास्ति—ख । २. अर्धभ्रमनिरोप्यगूढचतुर्थ—ख । ३. खप्रती प्रयस्य इति पदं नास्ति । ४. प्रयत्नम्—ख । ५. स्याद्वादप्रवचनस्य प्रथमपुरुषमारभ्य शीतलतीर्थकरपर्यन्तं धर्मोपदेशस्याविच्छिन्तिः । पुनः शीतलश्रेयांसतीर्थकरयोरन्तराले धर्मविच्छिन्तो सत्यां यजिभनादुत्पन्न इत्यर्थः । प्रथमप्रती पादभागे । ६. (अ) अन्यस्य पुण्यस्य—ख । (ब) अयस्य हि यस्मात् इति—क (पुण्यस्य इति-पदं कप्रती नास्ति) । ७. एतदुक्तं भवति इति वान्यं खप्रती नास्ति ।

ततोत्तिता तु तेऽतीतः तोतृतोतीतितोतृतः ।

ततोऽतातिततो तोते ततता ते ततोततः ॥१५९॥

प्रथमपादोद्भूतपञ्चाक्षरविरचितः श्लोकः । प्रथमपादे यान्यक्षराणि तानि सर्वाणि पश्चिमाद्धे यत्र तत्र व्यवस्थितानि नाभ्यानि सन्ति ॥ तता विस्तीर्णा, ऊतिः रक्षा, तता चासावूतिश्च ततोतिः तस्या भावः ततोत्तिता । तु विशेषे अतिपूजायां वर्तमानो भवति, तस्य वैवलस्यापि प्रयोगः । किमुक्तं भवति—विशिष्टपूजितप्रतिपालनत्वं ते तत्र युष्मदः प्रयोगः । इतः इदमः प्रयोगः एभ्य इत्यर्थः । केभ्यः ? तोतृतोतीति तोतृतः तस्य विवरणं तोतृता ज्ञातृता । कुतः ? तु गतौ सौत्रिकोऽयं धातुः सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्थे वर्तन्त इति । ऊतिः रक्षा वृद्धिर्वा । अत्र रक्षण इत्यस्य धातोः क्त्यन्तस्य प्रयोगः । तोतृतायाः ऊतिः तोतृतोतिः इति अवगमः प्राप्तिर्वा इण् गतावित्यस्य धातोः क्त्यन्तस्य रूपं, तोतृतातेः इति तोतृतोतीतिः ज्ञातृत्ववृद्धिप्रापणमित्यर्थः । अथवा रक्षणविज्ञानमिति वा अथवा ज्ञातृत्वरक्षणविज्ञानमिति वा तुदन्तीति तोतृणि, तुद प्रेरणे इत्यस्य धातोः प्रयोगः । तोतृतोतीतेः तोतृणि तोतृतोतीतितोतृणि ज्ञानावरणादीनीत्यर्थः । तेभ्यः तोतृतोतीतितोतृतः । ततः तस्मात् । तातिः परिग्रहः पराद्यत्तत्त्वं, दृश्यते चायं लोके प्रयोगः युष्मत्तात्या वयं वसामः युष्मत्परिग्रहेणेत्यर्थः । न तातिःअगातिः, अतात्या तता विस्तीर्णाः अतातितताः, अपरिग्रहेण महान्तो जाता इत्यर्थः ।

तापोंको नष्ट करती है; अतएव आप ही सर्वश्रेष्ठ नायक हैं; अन्य कोई व्यक्ति नहीं ।

पञ्चाक्षरविरचित चित्रालंकारका उदाहरण—

हे भगवन् ! आपने ज्ञानवृद्धिकी प्राप्तिकी अवरोध करनेवाले इन ज्ञानावरणादि कर्मोंसे अपनी विशेष रक्षा की है—ज्ञानावरणादि कर्मोंको नष्टकर केवलज्ञान, केवलदर्शनादि गुणोंको प्राप्त किया है । आप परिग्रहरहित—स्वतन्त्र हैं । इसलिए पूज्य और सुरक्षित हैं । प्रभो ! आपने ज्ञानावरणादि कर्मोंके विस्तृत—अनादिकालीन सम्बन्धको नष्ट कर दिया है; अतः आपकी विशालता—प्रभुता स्पष्ट है—आप तीनों लोकोंके स्वामी हैं ॥१५९३॥

इस पद्यके प्रथमपादमें जो अक्षर है, वे ही अक्षर शेष समस्त पादोंमें यत्र-तत्र स्थित हैं । पद्यकी रचना 'तकार' व्यंजनवर्णसे ही हुई है । अतः यहाँ एक व्यंजन द्वारा निर्मित चित्रालंकार है ।

'ततोत्तिता'—ज्ञान दर्शनादि गुणोंसे विस्मृत रहनेका भाव; 'तु'—विशेष, अतिपूजामें; 'ते' तुम्हारा, अर्थात् भक्ति और ज्ञानादिसे सम्पन्न जीवोंके प्रतिपालनका तुम्हारा

१. गत्यर्थो इति -य । २. अथवा रक्षणविज्ञानमिति वा इति शक्यं कप्रती नास्ति ।

३. अथवा ज्ञातृत्वरक्षणविज्ञानमिति वा इति वाक्यं स्वप्रती नास्ति ।

अतातिततेषु उता बद्धा ऊतिः रक्षा यस्य सः अतातिततोतीतिः तस्य संबोधनम् अतातिततोतीते ततता विशालता प्रभुता त्रिलोकेशत्वमित्यर्थः । ते तत्र तत् विशालं विस्तीर्णम् उतं बन्धः ज्ञानावरणादीनां संश्लेषः । तत् च तदुतं ततोतं तत् तस्यतीति ततोतताः तस्य संबोधनं हे ततोततः ।

येयायायाययेयाय नानानूनानानान ।

ममाममाममामामिताततीतिततीतितः ॥१६०॥

एकाक्षरविरचितैकपादश्लोकः । येयः प्राप्यः अयः पुण्यं येस्ते येयायाः । अयः प्राप्तः अयः सुखं येषां ते अयायाः येयायाश्च अयायाश्च येयायायायाः । येयायायायैः येयः प्राप्यः । यः मार्गो यस्यासौ येयायायाययेयायः तस्य संबोधनं

स्वभाव है; 'इतः'—इनसे, किनसे; 'तोतृता'—ज्ञानशीलता; 'ऊतिः'—रक्षा अथवा वृद्धि, 'तोतृतीति'—ज्ञानशीलता—ज्ञानादिगुणोंकी वृद्धि प्राप्त करना अथवा ज्ञान-शीलताकी रक्षाका विज्ञान; 'तोतृतीतितोतृतः'—ज्ञानावरणादिसे; 'ततः'—इस कारण; 'अतातिततोतीते'—अपरिश्रमके कारण श्रेष्ठ महान् है । 'ततता'—विशालता—प्रभुता अर्थात् त्रिलोक्यका स्वामित्व; 'ते'—तुम्हारा; 'ततोततः'—बन्धकी नष्ट करने-वाले—द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मरूप आवरणकी नष्ट करनेवाले; 'उतं'—ज्ञानावरणादि कर्मोंके संश्लेषकी; 'तीते'—नमस्कार या पूजन करता है ।

'तु' का प्रयोग विशेष या अतिशय पूजाके लिए किया जाता है । √ तु गत्यर्थक सौत्रान्तिक है । सभी गत्यर्थक धातुएँ ज्ञानार्थक भी होती हैं । 'ऊतिः' √ अन् रक्षार्थक धातुका क्त्यन्त प्रयोग है । इसका अन्य अर्थ वृद्धि भी है । 'इतिः' यह प्रयोग √ इण् गतौका क्त्यन्त है ॥१५९३॥

एकाक्षरविरचितैकपाद चित्रका उदाहरण—

हे भगवन् ! आपका यह मोक्षमार्ग उन्हीं प्राणियोंको प्राप्त हो सकता है, जो पुण्यबन्धके सम्मुख हैं या जिन्होंने पहले पुण्यबन्ध किया है । समवशरणमें आपके चार मुख दिखलाई पड़ते हैं । आपका पूर्ण केवलज्ञान संसारके समस्त पदार्थोंको एक साथ जानता है । यद्यपि आप ममत्वसे रहित हैं, तो भी सांसारिक अनेक बड़ी-बड़ी व्याधियोंको नष्ट कर देते हैं । हे प्रभो ! आप मेरे भी जन्म-मरण रूप रोगको नष्ट कीजिए ॥१६०३॥

उपर्युक्त पद्यका प्रत्येक पाद एक ही व्यंजन द्वारा निबद्ध है ।

'येयः'—प्राप्य है पुण्य जिनको या जिन्हें; 'अयः'—सुख अथवा मार्ग । 'ये यायायाययेयाय'—जिनको पुण्य प्राप्त है अथवा जिन्हें सुख प्राप्त है, उन्हींको

हे 'येयायाययेयाय । नाना अनेकम् अनूनं संपूर्णं, नाना च अनूनं च नानानूने । आननं मुखकमलम्, अननं केवलज्ञानम् आननं च अननं च आननानने । नानानूने आननानने यस्यासौ नानानूनाननाननः तस्य संबोधनं हे नानानूनाननानन । मम अस्मदः प्रयोगः । 'ममः मोहः दृश्यते लोके प्रयोगः, कामः क्रोधो ममत्वमिति । न विद्यते ममो यस्यासौ अममः तस्य संबोधनं हे अमम । अमो व्याधिः तम् । आम, क्रियापदं अम रोगे इत्यस्य रूपम् । अमम् आम विनाशय । न मित्ता अमित्ता अपरिमित्ता, आततिः महत्त्वम् । अमित्ता आततिर्यासां ताः 'अमित्ताततयः, ईतयः व्याधयः, अमित्ताततयश्च ताः ईतयश्च अमित्ताततीतयः, तासां ततिः संहतिः अमित्ता ततीतिततिः, इतिः दमनं प्रसरः अमित्ता ततीतिततेः इतिः अमित्ताततीतिततीतिः तां तस्यतीति अमित्ताततीतिततीतिताः तस्य संबोधनं हे अमित्ताततीतिततीतिः । किमुक्तं भवति हे एवंगुणविशिष्ट मम अमं रोगम् आम विनाशय ।

मानोभानामनूनानां मुनीनां मानिनामिनम् ।

मनूनामनुनीसोमं नेमिनामानमानम् ॥१६१॥

द्वयक्षरम् । मानोभानां सर्वतीनानां अहंकाराणां गुणसंपूर्णानाम् । मानिनां पूजावताम् । मनूनां ज्ञानिनाम् ।

मोक्षमार्गं प्राप्य है । 'नानानूनाननानन'—समवशरणमें अनेक—चतुर्मुख एवं ज्ञान दोनोंसे युक्त; 'अममाममाम'—मोह-ममतासे रहित है; 'ममः'—मोह; काम क्रोधको ममत्व कहा जाता है । 'अमम्' व्याधिको, 'आम'—नष्ट कोजिए; 'अमित्ताततीतिततीतिः'—अपरिमित ईतियों—व्याधियोंके समूहके दमनको प्राप्त करनेवाले हे प्रभो (सम्बोधन) ! उक्त गुण विशिष्ट होते हुए, आप मेरे—भक्तके जन्ममरणरूप रोगको नष्ट कोजिए ।

'आम' क्रियापद है; यह $\sqrt{\text{अम्}}$ रोगसे निष्पन्न है । 'अमम् आम' रोग विनाशके लिए । 'अनूनम्' पद संपूर्ण अर्थमें प्रयुक्त होता है । 'अननम्' का अर्थ केवलज्ञान है । 'आततिः' महत्त्व अर्थसूचक पद है ।

द्वयक्षर चित्रका उदाहरण—

मैं अहंकार-रहित, सत्कृष्ट एवं संपूर्ण चारित्रिके धारक, पूज्य और ज्ञानी मुनियोंके स्वामी भगवान् नेमिनाथको मन, वचन, कायसे पुनः-पुनः नमस्कार करता हुआ उनकी निरन्तर स्तुति करता हूँ ॥१६१॥

यह पद्य मकार और नकार इन दो वर्णोंसे रचित है । 'मानोभानाम्'—अहंकार-रहित; 'अनूनानाम्'—गुणसंपूर्ण; 'मानिनाम्'—पूज्य, 'मनूनाम्'—ज्ञानी या ज्ञानवाले ।

१. येयायाययेयाय इति -ख । २. ममः स्थाने मम इति -ख । ३. विनाशय इत्यस्य स्थाने विनाशाय -ख । ४. अमित्तातयः इति -ख । ५. सप्रती ततिः इति पदं नास्ति ।

भासते विभुतास्तोना ना स्तोता भुवि ते सभाः ।

याः स्तुतगीत्यानुनुत्या गीतस्तुताः श्रिया ॥१६२॥

गतप्रत्यागतार्द्धः । वर्णाः क्रमेण पठ्यन्ते पङ्क्त्याकारेण ये पुनः । त एव
वैपरीत्येन गतप्रत्यागतः स च । विभुतया स्वामित्वेन अस्ताः क्षिप्ताः ऊनाः न्यूनाः
याभिस्ताः । ना पुरुषः स्तोता सभाः समवसृतीः । यः स्तौति स भासते ।

नत्पाल महाराज गोत्या नुत ममाक्षर ।

रक्ष मामतनुत्येभी जराहा मलपातन ॥१६३॥

गतप्रत्यागतैकश्लोकः । मम गोत्या नुत अतनुत्यागो अनल्पदाता ।
जराहा वृद्धत्वहीनः मलपातन पापनाशक ।

गतप्रत्यागतार्द्ध चित्रका उदाहरण—

हे स्तुत ! आपकी स्तुति करनेवाला पुरुष भूतलपर उन समवशरण-सभाओंको
पाकर अत्यन्त शोभित होता है, जो सभाएँ अष्ट महाप्रातिहार्यरूप लक्ष्मीसे सुशोभित
होती हैं, संगीतमय स्तोत्रोंसे जिनका वर्णन किया जाता है, श्रेष्ठ पुरुषोंके नमस्कारसे
पूज्य हैं और जिन्होंने अपने वैभवसे अन्य सभाओंको तिरस्कृत कर दिया है ॥१६२॥

यह गतप्रत्यागतार्द्धका उदाहरण है । श्लोकके अर्धभागको पंक्त्याकारसे लिखकर
क्रमपूर्वक पढ़ना चाहिए । इस अलंकारमें विशेषता यह है कि क्रमसे पढ़नेमें जो अक्षर
आते हैं, वे अक्षर विपरीत क्रम—दूसरी ओरसे पढ़नेमें भी आते हैं । इसी तरह श्लोकके
उत्तरार्द्ध भागको भी लिखकर पढ़ना चाहिए । गत प्रत्यागत विधि अर्धश्लोकमें है, अतः
यह गतप्रत्यागतार्द्ध अलंकार है ।

‘विभुतया’—स्वामिरूपसे; ‘अस्ताः’—तिरस्कृत कर दिया है, सभाओंको जिसने ।
‘ना’—पुरुष—स्तोता—स्तुति करनेवाला; ‘सभाः’ समवशरणभूमिः । ‘यः’—जो;
स्तौति—स्तुति करता है ।

गतप्रत्यागतैक चित्रका उदाहरण --

हे नम्र मनुष्योंके रक्षक ! हे मस्कृत—मेरे द्वारा का गयो, स्तुतिये पूजित ! हे
अविनाशी ! हे दुष्कर्मरुगी भलको नष्ट करनेवाले घर्मनाथ महाराज ! मेरी रक्षा
कोजिए—मुझे सांसारिक दुःखोंसे छुड़ाकर अविनाशी मोक्षपद प्रदान कोजिए । यतः
आप महान् दाता हैं—सर्वोत्कृष्ट दानो हैं और जन्म-जरा आदि दोषोंको नष्ट करनेवाले
हैं ॥१६३॥

‘मम गोत्या’—मेरे स्तोत्रोंसे; ‘नुत’—स्तुतिसे पूजित; ‘अतनुत्यागो’—महान्
दाता; ‘जराहा’—वृद्धत्वहीन—जन्म-जरा आदि दोषोंसे रहित; ‘मलपातन’—
पापनाशक ।

१. समवसृतीः—क ।

वन्दे चारुहृचां देव भो विद्याततया विभो ।

त्वामज्जेय यजे मत्वा तमितान्तं ततामित ॥१६४॥

गतप्रत्यागतपादयमकश्लोकः ॥ चारुहृचां शोभनदीतीनां नाथ । तमितः
नष्टः अन्तः क्षयः यस्य तत्र । तस्य अक्षरं तमितं नमेयम् वस्तु येनासौ । मत्वा
विचार्यं । विद्याततया धृष्टत्वेन । वन्दे यजे च त्वामित्यर्थः ।

पारावाररद्वारापारा क्षमाक्ष क्षमाक्षरा ।

वाभानाममनाभावारक्षमद्धर्मक्षर ॥१६५॥

बहुक्रियापदद्वितीयपादमध्ययमकालव्यव्यञ्जनावर्णस्वरगूढद्वितीयपाद-
सर्वतोभद्रः ॥ 'गतप्रत्यागताद्धर्म' इत्यष्टया । बहुक्रियापदानि कानि ? अम
अव । आरक्ष । अथ द्वितीयपादे 'क्षमाक्षर' इत्यावर्तितम् । सर्वाणि अतालव्य-
व्यञ्जनानि अवर्णस्वराः सर्वे नान्यः स्वरः द्वितीयपादे यान्यक्षराणि तान्यन्येषु

गतप्रत्यागतपादयमकका उदाहरण —

हे विभो ! आप उत्तम कान्ति, भक्ति अथवा ज्ञानसे सम्पन्न जीवोंके देव हो—
उनमें अत्यन्त श्रेष्ठ हो—अन्तरंग और बहिरंग सगुणोंसे अजेय हो, अनन्त पदार्थोंका
प्ररूपण करनेवाले हो अथवा ज्ञान-दर्शनादि गुणोंसे विस्तृत और सीमारहित हो । हे
पद्मप्रभदेव ! मैं आपको अन्तरहित अविनश्वर मानकर बड़ी धृष्टतासे नमस्कार करता
हूँ और धृष्टतासे ही आपका पूजन करता हूँ ॥१६४३॥

प्रथमपादके चार अक्षरोंको क्रमसे लिखकर पाठ करे; पश्चात् उनका व्युत्क्रमसे
पाठ करे । क्रमपाठमें जो अक्षर हैं, विपरीत पाठमें भी वे ही अक्षर रहते हैं । इसी
प्रकारसे समस्त पादोंको समझना चाहिए ।

'चारुहृचाम्'—उत्तम कान्तिवाले भगवान्—'तमितः'—अन्तरहित अविनश्वर;
'विद्याततया'—धृष्टता से; 'वन्दे'—यजे—पूजा करता हूँ ।

बहुक्रियापद...स्वर-गूढ...सर्वतोभद्रका उदाहरण—

हे प्रभो ! आपकी दिव्यध्वनि समुद्र-गर्जनाके समान अत्यन्त गम्भीर है । आप
समस्त पदार्थोंके जाननेवाले हैं । पापोंके नाश करनेवाले हैं । ज्ञानादि गुणोंसे वृद्ध हैं।
क्षय रहित हैं । हे भगवन् ! आपकी क्षमा अपार और अविनाशी है । अतएव आप
मुझ वृद्धको भी प्रसन्न कीजिए, सुशोभित कीजिए तथा पालित कीजिए ॥१६५३॥

उक्त पद्यमें 'अव', 'अम' और 'रक्षा' इन तीन क्रिया पदोंके रहनेसे बहु-
क्रियापद है । द्वितीयपादमें 'क्षमाक्ष, क्षमाक्ष'की आवृत्ति होनेसे द्वितीयपाद मध्य-

१. शोभनदीतिमतां नाथ —क । २. गतप्रत्यागताद्धर्म इत्यष्टया इति पाठो कप्रतो
नास्ति । ३. क्षमाक्ष इत्यावर्तितम् —क ।

त्रिषु पादेषु सन्तीति यतः ततो गूढद्वितीयपादः सर्वैः प्रकारैः पाठः समान इति सर्वतोभद्रः । पारावारस्य समुद्रस्य रवो ध्वनिः पारावारगदः पारावारगदम् इत्यति गच्छतीति पारावाररवारः तस्य संबोधनं हे पारावाररवार समुद्रध्वनिसदृश-वाणीक । न विद्यते पारम् अवसानं यस्याः असावपारा अलब्धपर्यन्ता । क्षमां पृथ्वीम् अक्षणीति प्राप्नोतीति क्षमाक्षः ज्ञानव्याप्तसर्वमेयः तस्य संबोधनं हे क्षमाक्ष क्षमा सहिष्णुता सामर्थ्यं वा । अक्षरा अविनश्वरा । वामानां पापानां अमन खनक । अम प्रीणय । अव शोभस्व । आरक्ष पालय । मा अस्मदः इवन्तस्य रूपम् (?) हे ऋद्ध वृद्ध । ऋद्धं वृद्धम् । न अरतीत्यक्षरः तस्य संबोधनं हे अक्षर । समुदायार्थः । हे जिननाथ पारावाररवार क्षमाक्ष वामानाममन ऋद्ध अक्षर ते क्षमा अक्षरा अपारा, यतः ततः 'मा ऋद्धम् अम अव आरक्ष । अति-भाक्तिकस्य वचनमेतत् ।

वर्णभार्यात्तिनन्द्राववन्द्यानन्त सदारव ॥

वरदातिनतार्याव धर्यातान्तसभार्णव ॥१६६॥

यमक है । तालव्य—इवर्ण, चवर्ग, य और श वर्णोंके न होनेसे 'अतालुव्यञ्जन' है । अवर्णस्वरके होनेसे 'अवर्णस्वर' है । प्रथम, तृतीय और चतुर्थपादमें द्वितीयपादके गुप्त होनेसे 'गूढद्वितीयपाद' है । सब ओरसे एक समान पढ़े जानेके कारण सर्वतोभद्र तथा क्रम और विपरीत क्रमसे पढ़े जानेके कारण गत-प्रत्यागत और अर्धभ्रमरूप होनेसे 'अर्धभ्रम' इस प्रकार आठ प्रकार का चित्रालंकार है ।

'पारावाररवः'—समुद्रको गर्जनाके समान गम्भीर दिव्यध्वनि; 'अपारा'—अलब्धपर्यन्त—अपार; 'क्षमाक्ष'—समस्त पदार्थोंके जाननेवाले अथवा समस्त सामर्थ्य-युक्त; 'अक्षरा'—क्षयरहित; 'वामानामन'—पापोंके नाश करनेवाले; 'अम'—प्रसन्न कीजिए; 'अव'—शोभित कीजिए; 'आरक्ष'—रक्षा कीजिए; 'मा'—मुझको; ऋद्ध'—वृद्ध । समुदाय अर्थ सूचित है । यह अत्यन्तभवत का वचन है ।

गूढरवेशपादचक्रका उदाहरण—

हे अनुपम सोन्दर्यसे शोभमान ! हे अष्टमहाप्रातिहार्यरूप विभूतिसे सम्पन्न ! हे सुर-असुरों द्वारा वन्दनीय ! हे उत्तम दिव्यध्वनिसे सहित ! हे इच्छित पदार्थोंके देनेवाले ! हे अत्यन्त नम्र साधुपुरुषोंके रक्षक ! हे श्रेष्ठ ! हे क्षोभरहित ! समवशरण-समुद्रसे संयुक्त ! अत्यन्तनाथ जिनेन्द्र ! मेरी रक्षा कीजिए—मुझे संसारके दुःखोंसे बचाइए ॥१६६॥

इस पद्यमें स्वेष्ट—इच्छित—पाद शेष तीन पादोंमें गूढ है तथा चक्रबद्ध चित्रालंकार भी है ।

पूरुलोष्टपादमण्डलः क्लृप्तः । तः आत्मन हस्तः पादः सोऽन्येषु पादेषु
मुच्यते यतः । वर्णेन शरीरप्रभया भाति शोभते इति वर्णभः । शरीरकान्त्युत्कृष्ट
इत्यर्थः । तस्य संबोधनं हे वर्णभ । आर्यं पूज्य । अतिनन्द्य^३ सुष्टु समृद्ध । अव
रक्ष । लेडन्तस्य रूपं क्रियापदम् । वन्द्य देवासुरैरभिवन्द्य हे अनन्त^३ चतुर्दश-
तीर्थकर । सन् शोभनः आरवः वाणी सर्वभाषात्मिका यस्यासौ सदारवः तस्य
संबोधनं हे सदारव । वरद इष्टद । अतिशोभनं नताः प्रणताः अतिनता अति-
नताश्च ते आर्याश्च अतिनतार्याः । तान् अवति रक्षतीति अतिनतार्यावः तस्य
संबोधनम् अतिनतार्याव । वर्यं प्रधान सभा एव अर्णवः समुद्रः अतान्तः अभिन्नः
अक्षुभितः सभार्णवः समवसृत्तिसमुद्रः यस्यासौ अतान्तसभार्णवः तस्य संबोधनं
हे अतान्तसभार्णव—किमुक्तं भवति—हे अनन्त वर्णभादिविशेषणविशिष्ट अव
पालय मामिति संबन्धः । अन्याश्च पालय । एतत्सर्वं जिनशतके प्रोक्तम् ।

नायकं नीमि तत्त्वतः श्रेयांसं पृतनां^१ तनाम् ।

नास्तनानातनानात जयत्याधीं तनावित ॥१६७॥

दर्पणबन्धः

षड्वारपादमण्ड्ये च सन्धौ च भ्रामयेत्कविः ।

तथैकं तस्य मध्ये च दर्पणाह्वयबन्धके ॥१६८३॥

ततां विस्तृतां । ना पुमान् । आतनम् आगमनम्, अनातनम् अगमनम्,

‘वर्णभः’—अनुपम सौन्दर्य; ‘आर्य’—पूज्य; ‘अतिनन्द्य’—विभूतिसे समृद्ध
या सम्पन्न; ‘अव’—रक्ष—रक्षा कीजिए; लेडलकारका क्रियापद है । ‘वन्द्य’—बन्दनीय;
‘सदारवः’—दिव्यध्वनिसे युक्त; ‘वरद’—वरदान—इच्छित पदार्थोंको देनेवाले;
‘अतिनतार्याव’—अत्यन्त नम्र आर्यपुरुषोंके रक्षक; ‘अतान्तसभार्णवः’—क्षोभरहित,
समवशरण-समुद्रसे संयुक्त । अत्यन्त सौन्दर्ययुक्त, महाविभूति सम्पन्न आदि विशेषणोंसे
युक्त हे प्रभो ! दुःखोंसे मेरी रक्षा कीजिए । यह सब जिनशतकमें कहा गया है ।

दर्पणबन्धका उदाहरण—

हे गमनागमनरूप—जन्म-मरणरूप संसार प्रपंचसे रहित ! श्रेयान्तनाथ
भगवन् ! आप अपने शरीरकी कान्तिसे समवधारणमें स्थित रहते हैं । आपने कर्म-
सेनाकी जीत लिया है और आप ही तत्त्वतः ओक्षमार्गके नेता हैं, अतएव मैं आपको
नमस्कार करता हूँ ॥१६७३॥

‘ततां’—विस्तृत; ‘ना’—पुरुष; ‘आतनम्’—आगमन—जन्म; ‘अनातनम्’—

१. शरीरकान्त्युत्कृष्ट इत्यर्थः—क । २. सुष्टु—ख । ३. चतुर्दशतीर्थकर—ख ।

४. तनूम्—ख । ५. षड्वारं पादमण्ड्ये—ख-ख ।

तेन गमनरूपभ्रमणेन नातति न भ्रमति इति अतनानातनानातः तस्य संबोधनम् । तनादित तनी इत लीन । सामर्थ्यात्समवसरणशरीरस्थित । यतः आर्घीं पृतनां कर्मसेनां त्वत्तो ना जयति इति तत् नोमीति संबन्धः ॥

पादत्रितयमूर्ध्याधिः क्रमादालिख्य चान्तिमम् ।

पादं कोणचतुष्के तु लीनं कुर्वीत पट्टके ॥१६९३॥

धीशं कान्ताभयं देवं यस्यानन्तं च नत्वहम् ।

मोनाक्ष्येमि जितातङ्घ्रं कान्ताधीताकधीकता ॥१७०३॥

यस्य मोनाक्षी अधीता कलाकुशला । के परमात्मनि धीर्यस्याः तस्याः भावः कधीकता, न कधीकता यस्यास्सा अधीकता परमात्मभावनारहिता कान्ता नास्ति तस् एमि आश्रयामि ।

अगमनम्—मरण—जन्म-मरणरूप संसारप्रपंचसे रहित; 'तनी'—शरीरमें, 'इत'—लीन—कान्ति से समवसरणमें स्थित; 'आर्घीं'—कर्म, 'पृतनाम्'—सेनाको, 'ना'—जोतते हैं, 'नोमि'—नमस्कार करता हूँ ।

दर्पणबन्धका स्वरूप—

जिस रचनाविशेषमें कवि छह बार पादमध्य, सन्धि और मध्यमें एक वर्णको घुमाता है, उसे दर्पणबन्ध कहते हैं ॥१६८३॥

पट्टकबन्धका स्वरूप—

जिस रचनाविशेषमें ऊपर और नीचे क्रमशः तीन चरणोंको लिखकर अन्तिम चरणको चारों कोणोंमें लीन कर देते हैं, वह रचना पट्टकबन्ध कहलाती है ॥१६९३॥

उदाहरण -

ज्ञानादिगुणोंके स्वाभी, स्त्रीसे निर्भय—विषय और कषायके जयी—संगभी अनन्तनाथ तीर्थंकरको नमस्कार करता हूँ । जिनकी मीनके समान नेत्रवाली मुक्तिरमा कान्ता है, और जिन्होंने जन्म, मरण और जराके आतंकको जीत लिया है । उन अनन्तनाथका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ । अबवा जिस महापुरुषकी मीनके समान नयनवाली, कलाकुशला और परमात्माके ध्यानसे रहित कान्ता नहीं है, जिन्होंने आतंकको जीत लिया है, जो बुद्धिशाली हैं और कान्ताके भयसे रहित हैं, उन अनन्तनाथकी शरण मैं जाता हूँ ॥१७०३॥

'यस्य'—जिसकी 'मोनाक्षी'—कलाकुशल अथवा मीनके समान नेत्रवाली, 'के'—परमात्मामें धी बुद्धि है जिसकी; 'कधीकता'—परमात्मभावनारहित, 'कान्ता'—प्रिया, नहीं है । 'एमि'—उनकी शरण ग्रहण करता हूँ ।

चतुष्कबन्धसन्धी तु भ्रामयेदाद्यवृन्तयोः ।
 द्वे चैकं वृन्तमध्ये वा तालवृन्तप्रबन्धके ॥१७१३॥
 जिन त्वाय जना भान्ति सदा सति नुतिप्रियाः ।
 शीलजालमताः सर्वेस्तो नः पाहि सदाऽमल ॥१७२३॥
 सति प्रशस्ते त्वयि ।
 प्रतियन्त्रं चतुष्कं द्वे द्वे चोर्ध्वाधोऽन्तरे तथा ।
 मध्येऽप्येकं लिखित्वैवं निःसालं बन्धमुन्नयेत् ॥१७३३॥
 महानन्द दयादान नतराज जरान्तक ।
 जनानन्द दमाधार रक्ष मामममाक्षकम् ॥१७४३॥
 अमं भक्तिसन्तम् । आक्षकं ते स्तुतौ व्यापकम् ।

तालवृन्तका स्वरूप—

जिस रचनाविशेषमें आदि और अन्तके वृन्तों तथा चतुष्कोण सन्धिमें एवं वृन्तके मध्यमें दो-दो बार एक-एक अक्षरका भ्रमण कराते हैं, उसे तालवृन्तप्रबन्धक कहते हैं ॥१७१३॥

उदाहरण—

हे विमलनाथ जिनेश्वर ! आपमें सर्वदा नम्रीभूत, शीलयुक्त भक्तजन सुशोभित होते हैं अर्थात् आपके निकटमें—समवशरणसभामें शीलगुणयुक्त भक्तजन, नम्रीभूत होनेके कारण सुशोभित होते हैं । अतः हे द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्ममलसे रहित जिनेश्वर, आप लोगोंकी रक्षा कीजिए ॥१७२३॥

निःसालबन्धका स्वरूप—

चौकोर प्रत्येक चतुष्कोणमें ऊपर, नीचे और अन्तर—व्यवहितमें दो-दो ओर मध्यमें एक-एक अक्षरको लिखनेसे निःसाल नामक बन्धकी रचना होती है ॥ १७३३ ॥

उदाहरण—

हे 'महानन्द' !—महान् आनन्द विशिष्ट—अनन्त सुख या आनन्दसे परिपूर्ण; 'दयादान'—दया प्रदान करनेवाले—परमौदारिक शरीरके कारण समस्त जोव हिंसासे रहित; 'नतराज'—विनम्र प्रवर—राग-द्वेष-मोहरहित; 'वृद्धताहीन'—जरा-रहित एवं मनुष्योंको ज्ञानोपदेश द्वारा आनन्दित करनेवाले प्रभो ! मुझ दोन, संवमी और प्रभुभक्तिसे परिपूर्ण आपकी स्तुति करनेवालेकी रक्षा कीजिए ॥१७४३॥

'अमम्'—भक्तिमान्की—भक्तकी; 'आक्षकम्'—तुम्हारी स्तुतिमें संलग्न ।

धाम्यन्तां त्रीणि च त्रीणि दलेष्वष्टमु कणिकाम् ।
एकेनैवाष्टकृत्वोऽपि पूरयेद्ब्रह्मादीपिके ॥१७५३॥

विजित्स्थाननमम्भोजं नित्ये जननवैरिणः ।
कक्ष^३माननयागम्यं सुपाश्व^२नम्रमीमितस् ॥१७६३॥

जन्मनः शत्रुभूतस्य यस्याननं स्वशोभया पद्यं जित्वा वनं निनाय तमिति
संबन्धः ।

एकसंधौ तु षड्द्वारमेकमेकं द्विरानयेत् ।
शृङ्गे शिरसि च त्रीणां त्रियुक्तां परशी पठेत् ॥१७७३॥
सोऽध्याच्छान्तिजितैना नो नोनोना गगनाङ्गनाम् ।
नासना नाऽऽर्णा तस्यां असां शान्तिस्तथातत्त्वं ॥१७८३॥

ब्रह्मादीपिकाका स्वरूप—

आठ दलोंमें तीन-तीन अक्षरोंको बुझानेसे और कणिकाको एक ही वर्ण द्वारा
आठ बार भरनेसे ब्रह्मादीपिका नामक चित्र बनता है ॥१७५३॥

उदाहरण—

जन्म—उत्पत्तिके शत्रुस्वरूप अर्थात् जन्म, मरण, जरादि रोगोंको नष्ट
करनेवाले और अपने मुख-सौन्दर्यसे कमल-सौन्दर्यको दूर करनेवाले एवं नय-प्रमाणसे
अगम्य—अनन्त गुणोंसे युक्त होनेके कारण प्रमाण-नयने अविद्येच्य हे सुपाश्वर्नाथ भगवन्,
मैं आपको नमस्कार करता हूँ ॥१७६३॥

जन्मके शत्रुभूत—जन्म-मरणसे रहित और जिनके मुख-सौन्दर्यसे कमलके
सौन्दर्यको जीतकर उसे वनमें खदेड़ दिया है, ऐसे सुपाश्वर्नाथ तीर्थंकरको नमस्कार
करता हूँ ।

परशुवन्ध चित्रका स्वरूप—

परशुवृत्तमें सन्निवस्थानमें जो एक अक्षर है, उसे छह बार दुहरावे । शृंग और
शिरमें विद्यमान एक अक्षरको दो बार दुहरावे । इसी प्रकार तीन अक्षरोंसे युक्त
श्रीवाको भी दो बार दुहरावे ॥१७७३॥

१. पूरयेद् ब्रह्मबन्धके -क । पूरयेद् ब्रह्मादीपिका -ख । २. कक्ष -क । ३. प्रमाणन-
याम्यागम्यम् प्रथमप्रती पादभागे । ४. त्रियुक्ता -ख ।

गगनाङ्गनां गगनस्थाङ्गनम्^१ अङ्गणं यस्यास्ताम् । आत्मा प्राप्तलक्ष्मीम्^२
अन्तो धर्मो मा लक्ष्मीर्येषां ते अन्तमाः मुनयः^३ तेषामात्मानां । विशालां यस्य
सभां । नात्माना । ना ना^४ पुमान् पुमान् बोप्सायां सर्वा पुरुषः । नत्वा अत्माः
अज्ञानरहितो भवेत् । यश्च पुनः नोनो ना ना पुमान् ऊनो न किन्तु सर्वोऽपि
जनो लक्ष्मीसमेतो भवति । जितैनाः जितम् एनः^५ पापं येनासी । सः शान्तिजिनः
नः अस्मानव्यात् ।

शृङ्गाग्रद्वयध्वजभागेषु चतुरश्रचतुरो लिखेत् ।

प्रवेशे निर्गमे चापि यानबन्धे प्रियावहे ॥१७९३॥

घनसारतिरस्कारो कायगन्धः सुधीरधोः ।

धीरधोऽनुतोऽव्यान्नः सोऽजितः सुरसानघः ॥१८०३॥

अत्याकृत्यमलो वरो भवयमः कुर्वन्मतिं तापसे

तत्वाचिन्त्यमतीशिता तवसित ! स्तुत्योरुवाणिः पुनः ।

जिष्णूतस्फुटकीर्तिवारवशमः श्रेयोऽभिधे मण्डने ।

धीर स्थापय मां पुरी गुरुवर त्वं तद्धिनामीश्वरीः ॥१८१३॥

उदाहरण—

जिन शान्तिनाथ भगवान्ने समस्त पापोंको नष्ट कर दिया है और जो आकाशमें
विद्यमान है, जो समवधारण लक्ष्मीको प्राप्त है और प्रत्येक व्यक्ति समवधारणमें जाकर
जिन्हें नमस्कार करता है और आत्मा अज्ञानान्धकारसे मुक्त हो जाती है तथा प्रत्येक
व्यक्ति वहाँ लक्ष्मीरहित नहीं, अपितु अन्तरंग ज्ञानादि लक्ष्मीसे युक्त हो जाता है ।
उक्त गुणोंसे विशिष्ट श्री शान्तिनाथ हमारी रक्षा करें ॥१७८३॥

यानबन्धका स्वरूप—

प्रियाको धारण करनेवाले यानबन्धमें शिखराग्रके दोनों ओरके ऊर्ध्वभागमें
चार-चार अक्षरोंको लिखे तथा प्रवेश और निर्गम दोनों ही समय इनको आवृत्ति
करे ॥१७९३॥

उदाहरण—

जिनके शरीरकी गन्ध कपूरकी तिरस्कार करनेवाली थी, जिनकी बुद्धि विद्वानों-
की प्रेरित करती थी, जो गम्भीर बुद्धिवाले मनुष्योंके द्वारा संस्तुत थे तथा जो उत्तम
श्रीतिसे सहित एवं पापसे रहित थे, वे अजितनाथ भगवान् हमारी रक्षा करें ॥१८०३॥

हे धीरवीर गुरुश्रेष्ठ वृषभ जिनेन्द्र ! आप अतिशय पूर्ण आकारके धारक तथा
निर्मल—निष्पाप हैं, श्रेष्ठ हैं, संसार—पंचपरिवर्तनरूप संसारको समाप्त करनेवाले हैं,

१. अंगनम्—ख । २. अन्तो धर्मो वा लक्ष्मी येषाम्—ख । ३. तेषामतताम्—क ।

४. खप्रती एकमेष पुमान् पदं न तु द्विवारम् । ५. पापः—ख । ६. घनासार....ख ।

७. गुणैः शोभनः अतघः निष्पापः प्रथमप्रती पादभागे । ८. कुर्वन्मतितापसे—ख ।

षडरं चक्रमालिख्याश्मध्ये स्थापयेत्कविः ।

श्रीन् पादान्नेमिमध्ये तु चतुर्थं चक्रवृत्तके ॥१८२३॥

अतिशयिताकारोऽनघो भवान्तकः । तपस्विनि श्रियं कुर्वन् तत्त्वेष्व-
चिन्त्यधियां मुनीनामीशो जिष्णुनेन्द्रेण उतं पालितं विशदं यशोजलं यस्य सः ।
अव समन्तात् शमो यस्य सः । त्वं मुक्त्यलंकारे मां स्थापय । अत्र एकाद्यङ्क-
क्रमेण पठिते सति अजितमेतेन कृतचिन्तामणिः परब्रह्मवैदिके सम्भवे । एवं
प्रकारान्तरेण किञ्चित् किञ्चिद्विशेषविशिष्टं बहुधा चक्रवृत्तं ज्ञेयम् ।

द्वे द्वे पादे च कण्ठे च गर्भेऽष्टौ विलिखेत्कविः ।

पार्श्वयोरन्त्यपादं तु लिखेत् भृङ्गारबन्धके ॥१८३३॥

भासते हंसविद्योततद्योगतेजसा सभा ।

साञ्ज ते गवि संहन्तेनोऽतो मल्लिरवैनसाम् ॥१८४३॥

हंसकान्तिवच्छोभमानं प्रसिद्धध्यानजनितवाक्यदीप्त्या अज अनुत्प-
द्यमान । गवि भुवि । एनसां पापानाम् । संहन्ता विनाशकः ।

तपस्विणोपर बुद्धि रखते हैं—तपस्वि-जनोंका पूर्ण ध्यान रखते हैं, आपको मुनियोंका स्वामित्व प्राप्त है अर्थात् आप मुनियोंके स्वामी हैं, स्तुतियोग्य विस्तृत वाणोसे सहित हैं, आपका निर्मल कोतिरूप जल इन्द्रके द्वारा सुरक्षित है, आप सब ओरसे शान्त हैं तथा आपको विशाल बुद्धि निरन्तर बढ़ती रहती है । अतः आप मुझे मोक्ष नामक कल्याणमें स्थिर कीजिए ॥१८१३॥

चक्रवृत्तकेका स्वरूप—

कवि चक्रवृत्तकमें छह ओरवाले चक्रको लिखकर अरोंके बीचमें तीन पादोंको लिखे और चतुर्थपादको नेमि—चक्रधारामें लिखे ॥१८२३॥

भृङ्गारबन्धका स्वरूप—

भृङ्गारबन्धमें कवि पाद तथा कण्ठमें दो-दो अक्षरोंको, मध्यमें आठ अक्षरोंको और दोनों ओर अन्तिम पादका न्यास करे ॥१८३३॥

उदाहरण—

हे सूर्यके समान छविमान ! हे अज—अनुत्पद्यमान ! पृथिवीमें तुम्हारी समवधारण सभा प्रसिद्ध है । ध्यान द्वारा तुमने समस्त पापोंको नष्ट कर दिया है । अतः हे मल्लिनाथ स्वामी, आप हमारी रक्षा करें ॥१८४३॥

१. तत्त्वेष्वचिन्त्यधीयां—ख । २. विशदयशोजलम्—क । ३. संहन्तेनातो—ख ।

४. प्रसिद्धध्यानजनितवाक्यप्रदीप्त्या—ख ।

आदिः पादो द्वितीयो वा तृतीयो वा चतुर्थकः ।
^१निगूह्यते चतुर्भेदे निगूढब्रह्मदीपिके ॥१८५३॥
 भूमिपामरनुष्टुप्पङ्कमाश्रितो मुदितोऽनिशम् ।
 अमुभृतीत्रपीडासः पातु मां मुनिसुव्रतः ॥१८६३॥

^२गूढदीपिका ।

शीतलं विदिताथौषं शीतोभूतं स्तुमीऽनघम् ॥
 सुविदां वरमानन्दमूदितानङ्गदुर्मदम् ॥१८७३॥

छत्रबन्धः । यच्चात्र लक्षणं नोक्तं नोरोष्ठ्यविन्दुमदित्यादिना प्रोक्त-
 चित्रसामान्यलक्षणमेव बोद्धव्यम् । विशेषलक्षणं तु यत्रास्ति तत्रावगम्यताम् ।

^३चन्द्रातपं च सततप्रभपूतलाभ-

भद्रं दयासुखदमङ्गलधामजालम् ।

वन्दामहे वरमन्तस्तजयानयाजं

त्वां वीरदेव सुरसंचयशासशास्त्रम् ॥१८८३॥

अस्य विवरणं चान्द्री चन्द्रातपोऽपि च भवसापहृती कौमुदीसदृशम् ।
 अनन्तं संसारं जयतीति ^४अनन्तसंसारजयः । आ समन्तात् नयति मोक्षमार्गं
 ववतीत्यानयः । हारबन्धः ।

निगूढपादका स्वरूप—

चार भेदवाले निगूढ ब्रह्मदीपक बन्धमें प्रथम, द्वितीय, तृतीय अथवा चतुर्थपाद
 निगूह किया जाता है । प्रथमादि पादोंको निगूढतासे ही इसके चार भेद होते
 हैं ॥१८५३॥

उदाहरण—

राजभण और देवगण जिसके शरीरके दर्शनभावसे निरन्तर हृषित होते हैं,
 ऐसे बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत नाथ संसारके तीव्र दुःखोंसे हमारी रक्षा करें ॥१८६३॥

जिसने जोवाजीवादि पदार्थसमूहको जान लिया है, जो सुखदायक है, निष्पाप
 है और सुज्ञानियोंमें जो श्रेष्ठ हैं तथा जिन्होंने अनायास ही कामदेवके गर्वको खण्डित कर
 दिया है, उन दशम तीर्थकर शीतलनाथकी स्तुति करता है ॥१८७३॥

छत्रबन्ध—

हे वीरदेव ! धर्ममानजिनेन्द्र ! तुम भवातापको दूर करनेके लिए कौमुदी—
 चन्द्रमाकी चाँदनीके समान शीतलतादायक हो, निरन्तर शोभमान हो, पवित्रज्ञान-
 लाभके कारण श्रेष्ठ या शुभकर हो, दया-सुख आदिके देनेवाले हो, अनन्तसंसारके

भावे मूढत्रयाद्भ्येन लोकेन स्तूयसे सदा ।

न स्तूयसे महाशास्त्रविदा गम्भीरया गिरा ॥१८९३॥

- संबोधनगोपितं भवत्येश्वरस्य अपत्यं भाविः षण्मुखः तस्य संबोधनं भावे ।

इत्यलंकारचिन्तामणौ चित्रालंकारप्रकरणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥२॥

जीतनेवाले हो, मोक्षमार्गके नेता हो, नित्य या शाश्वत हो और देवसमूहके उपदेशक हो, हम तुम्हें नमस्कार करते हैं ॥१८८३॥

हारवन्त—

हे कार्तिकेय ! तुम सदा तीन मूढताओंसे युक्त मिथ्यादृष्टि संसारी व्यक्तियोंके द्वारा स्तुत्य हो, पर जिन्यगमके ज्ञाताओं द्वारा तुम्हारी स्तुति नहीं की जाती है ॥१८९३॥

यहाँ भावे सप्तम्यन्त पाठमें संबोधन गूढ है ।

अलंकारचिन्तामणिमें चित्रालंकारप्रकरण नामक द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ ॥२॥

१ नमः सिद्धेभ्यः

२ अथ तृतीयः परिच्छेदः

शब्दार्थभङ्गतो यत्र प्रस्तुतादपरं वदेत् ।
वक्राभिप्रायतो वाच्यं वक्रोक्तिरिति सोदिता ॥१॥
कान्ते पश्य मुदालिमम्बुजदले नाथात्र सेतुः कथं
तिष्ठेत्तन्न च तन्वि^३ वन्मि मधुपं किं मद्यपायी वसेत् ।
मुग्धे मा कुरु सन्मतिं घनकुचे तत्र द्विरेफं बुधे
किं लोकोत्तरवृत्तितोऽभम इह प्राणेश्वरास्ते वद ॥२॥

वक्रोक्ति अलंकारका लक्षण—

जिस रचनाविशेषमें शब्द और अर्थकी विशेषताके कारण प्राकरणिक अर्थसे भिन्न कृटिलाभिप्रायसे अर्थान्तर कहा जाये, उसे विद्वानोंने वक्रोक्ति अलंकार कहा है। वाक्य यह है कि वक्रोक्तिमें 'श्लेष'के कारण अथवा 'काकु'—स्वनिकारके कारण, किसीके अन्यार्थक वाक्यको किसी अन्य अर्थमें लगा लिया जाता है। वक्ताके द्वारा भिन्न अर्थमें कही गयी बातको भिन्न अर्थमें प्रतिपादन करना वक्रोक्ति है ॥१॥

उदाहरण—

हे कान्ते—प्रियतमे ! कमलदलपर प्रसन्नतापूर्वक विचरण करनेवाले भ्रमरको देखो; हे स्वामिन् ! यहाँ सेतु कैसे रह सकता है ? हे कुशाङ्गि, सेतु नहीं कह रहा हूँ, मधुपकी बात कह रहा हूँ। क्या मद्यपायी—मद्य पीनेवाला कमलदलपर रह सकता है ? हे मुग्धे—सरलचित्तवाली, यह बात न समझो। हे सवन—कठोर कुचवाली, मैं द्विरेफकी चर्चा कर रहा हूँ। हे लोकातिपायी व्यवहारसे पतित ! क्या यहाँ तुम्हारी प्राणेश्वरा-प्रियतमा रहती है, यह बतलाइये ॥२॥

यहाँ 'अलिम्' के स्थानपर 'आलिम्' का प्रयोग कर वक्रोक्तिकी योजना की है। पृच्छक कमलदलपर अलिकी बात कहता है, पर उत्तर देनेवाली पत्नी 'आलिम्' अर्थात् सेतु या पुरुषका अर्थ लगाकर उत्तर देती है। जब अलिके पर्यायवाची मधुपका प्रयोग किया जाता है, तो श्लेष द्वारा मद्यपायी अर्थका उत्तर प्रस्तुत किया जाता है।

१. खप्रती नमः सिद्धेभ्य इति पदं नास्ति । २. अथ अलंकारविन्तामणी तृतीयः परिच्छेदः—ख । ३. खप्रती तन्वि इति पदं नास्ति ।

अतिदूरपरित्यागात् तुल्यावृत्त्याक्षरश्रुतिः ।
 या, सोऽनुप्रास इत्युक्तः कोविदानन्दकृद्यथा ॥३॥
 सनयो विनयोपेतः प्रीतः सक्रमविक्रमः ।
 वीरो धीरोऽज्वरोऽनिन्द्यो वन्द्यो रक्षतु नोऽक्षरः ॥४॥
 अनुप्रासः स बोद्धव्यो द्विधा लाटादिभेदतः ।
 लाटानां सत्पदः प्रोक्तश्छेकानां सोऽप्यतत्पदः ॥५॥

पुनः द्विरेफकी बात कही जाती है अर्थात् भ्रमर शब्द में दो रकार होनेसे वक्ता कमल-दलपर द्विरेफके विचरणकी चर्चा करता है तो श्रोता पत्नी 'प्राणेश्वरा' में द्विरेफ— दो रकारका अर्थ ग्रहणकर उत्तर देती है कि यहाँ प्राणेश्वर कहाँ है ? इस प्रकार प्रथमादर्द्धमें काकु द्वारा और उत्तरादर्द्धमें श्लेषद्वारा प्रस्तावित अर्थसे भिन्न अर्थके द्योतक वाक्यका आश्रय लेकर उत्तर दिया गया है । अतः यहाँ वक्रोक्ति है ।

अनुप्रासका लक्षण—

छन्दमें अत्यन्त दूरीका परित्याग करनेसे समान अक्षरोंकी आवृत्तिका श्रवण या निरन्तर आवृत्तिको विद्वानोंको आनन्दित करनेवाला अनुप्रास अलंकार कहते हैं । स्वरके वैसादृश्यमें भी शब्द अथवा व्यञ्जनके सादृश्यसे अनुप्रास अलंकार होता है । इसमें रस भावादिके अनुकूल एक 'प्रकृष्ट' अथवा चमत्कारपूर्ण शब्दन्यास (अनु + प्र + भास) अथवा शब्दावृत्तिरूप अलंकार रहता है ॥३॥

साहित्यदर्पणमें 'शब्दसाम्य' को और काव्यप्रकाशमें 'वर्णसाम्य' को अनुप्रास कहा गया है ।

रुद्रटने काव्यालंकारमें 'एकद्विवान्तरितम् द्वारा' व्यंजन या शब्दकी दूरीके अर्थको ग्रहण किया है । अलंकारचिन्तामणिके रचयिताने 'अन्तरित' पदके अर्थको 'अतिदूरपरित्यागात्' द्वारा अभिव्यक्त करनेका प्रयास किया है ।

उदाहरण—

नीतिवाला, विनयसे युक्त, प्रसन्न, क्रमसहित, पराक्रम युक्त, वीर, धीर, रोगरहित—जन्म-जरा-मरण रोगसे रहित, अनिन्द्य, सर्वथाप्रशंसनीय, अविनाशी, सिद्ध परमेष्ठो हमारी रक्षा कर ॥४॥

इस पद्यमें नयो-नयो, क्रम, क्रम, र-र, न्यो-न्यो में अनुप्रास है । इन वर्णोंके साम्यसे माधुर्यका सर्जन हुआ है ।

अनुप्रासके भेद—

यह अनुप्रास अलंकार लाट, आदिके भेदसे दो प्रकारका होता है । लाट देख-वाले कवियोंके लिए प्रिय होनेसे (१) लाटानुप्रास और उससे भिन्न (२) छेकानुप्रास कहा गया है ॥५॥

लाटानाम्—

यदि नास्ति स्वतः शोभा भूषणैः किं प्रयोजनम् ।

यद्यस्त्यङ्गता शोभा भूषणैः किं प्रयोजनम् ॥६॥

छेकानाम्—

रमणी रमणीयाऽसौ मरुदेवी मरुन्मता ।

नाभिराजं महानाभिममूमुददनेकशः ॥७॥

केचिदेवमिच्छन्ति—

व्यञ्जनद्वन्द्वयोर्वत्र द्वयोरव्यवधानयोः ।

पुनरावर्तनं सोऽयं छेकानुप्रास उच्यते ॥८॥

सुरामुरानुबन्धाद्भिजित्ताजिततमोद्युतिः ।

घनाघनाभवाक्यो मे मनो मनसि चोदतु ॥९॥

लाटानुप्रासका उदाहरण—

यदि स्वाभाविक सुन्दरता नहीं है तो अलंकारोंसे क्या प्रयोजन ? अर्थात् असुन्दर वस्तुकी शोभा अलंकारोंसे नहीं हो सकती है । यदि शरीरमें सौन्दर्य है तो भी अलंकारोंकी क्या आवश्यकता है ? अर्थात् आभूषणोंके बिना भी सहज सुन्दर वस्तु सुन्दर प्रतीत होती है ॥६॥

पद्यकी प्रथम पंक्तिमें 'शोभा', 'भूषणैः', 'किं', 'प्रयोजनम्' पदोंकी द्वितीय पंक्तिमें आवृत्ति हुई है । यहाँ शब्दों और पदोंके साम्य रहनेपर भी अर्थकी भिन्नता रहने से लाटानुप्रास है । वस्तुतः इस पद्यमें पद और विभक्त्यर्थ भी आवृत्त हैं ।

छेकानुप्रासका उदाहरण—

देवताओं द्वारा समादृत सुन्दररमणी मरुदेवीने महानाभि महाराज नाभिराजको अनेक बार आनन्दित किया ॥७॥

इस पद्यके प्रथम पादमें 'रमणी रमणी'; द्वितीय पाद में 'मरु मरु' और तृतीय-चतुर्थपादमें 'नाभि' 'नाभि' का साम्य है । असंयुक्त व्यंजनोंका साम्य होनेसे छेकानुप्रास है ।

कुछ आचार्य छेकानुप्रासका लक्षण और उदाहरण अन्य प्रकारसे बतलाते हैं । यथा—जिस पद्यमें व्यवधान लक्षण रहित दो व्यंजनोंकी दो बार आवृत्ति होती हो, उसे छेकानुप्रास कहते हैं ॥८॥

उदाहरण—

देव-दानवोंसे बन्दनीय चरणयुगलवाले, अजित अज्ञानान्धकारको अपनी कान्ति

१. मरुन्मुता-ख । २. सुरामुराभिवन्धा-क तथा ख । ३. जिताजिततमोद्युतिः ख ।
४ मनसिजोऽवतु ख ।

व्यञ्जनानां भवेदेकद्विभ्यादीनां तु यत्र च ।

पुनरुक्तिरर्थं वृत्त्यनुप्रासो भणितो यथा ॥१०॥

ललनां कोकिलालापां सुभद्रां विद्रुमाघराम् ।

भरतः सुरतोद्योगी वीक्षते स्म स्मरानुरः ॥११॥

स्वरव्यञ्जनयोनियमेन पुनरावृत्तिर्यमके । अनुप्रासे तु व्यञ्जनपुनरुक्ति-
नियमेन । स्वरपुनरुक्तिरनियमेन । अतश्च अर्थभेदनियमानियमाभ्याम् च तयो-
र्भेदः ॥

इत्यनुप्रासः ।

श्लोकपादपदावृत्तिवर्णावृत्तिर्युताऽयुता ।

भिन्नवाच्यादिमध्यान्तविषया यमकं हि तत् ॥१२॥

तथा मेषके समान गम्भीर विषयध्वनि द्वारा दूर करनेवाले त्रिनेन्द्र भगवान् मेरे मनको इस जीवनमें आन्दोलित करें ॥९॥

उक्त पद्यमें 'सुरा' 'सुरा' 'जिता-जिता' तथा 'घना' 'घना' की आवृत्ति होनेसे छेकानुप्रास है ।

वृत्त्यनुप्रासका लक्षण—

जिस पद्यमें एक, दो और तीन आदि व्यंजन वर्णोंकी पुनरुक्ति हो, वहाँ वृत्त्य-
नुप्रास अलंकार होता है ॥१०॥

वृत्त्यनुप्रास वह शब्दालंकार है, जिसमें अनेक व्यंजनोंकी स्वरूपतः समानता
अथवा अनेक व्यंजनोंकी स्वरूपतः और क्रमशः समानता हो अथवा एक वर्णको एक
बार अथवा अनेक बार आवृत्ति होती है ।

उदाहरण—

सुरतके लिए उद्योग करनेवाले, कामसे व्याकुल भरतने कोयलके समान मधुर
बोली वाली और प्रवाल मणिके समान लाल ओठवाली सुभद्रा रमणोको देखा ॥११॥

प्रस्तुत पद्यमें ल, ल, ला और र की आवृत्ति होनेसे वृत्त्यनुप्रास है ।

अनुप्रास और यमकालंकारमें भेद—

यमकालंकार में स्वर और व्यंजनोंकी नियमतः आवृत्ति होती है; पर अनुप्रास
अलंकारमें व्यंजन वर्णोंकी आवृत्ति नियमतः और स्वरवर्णोंकी आवृत्ति अनियमतः होती
है । अतः अर्थभेदके नियम-अनियमके कारण अनुप्रास और यमकमें भेद है ।

यमकालंकारका लक्षण—

श्लोककी आवृत्ति, श्लोकके पादकी आवृत्ति, पदकी आवृत्ति, वर्णकी आवृत्ति,
भिन्नार्थ और अभिन्नार्थ श्लोकके आदि, मध्य और अन्तकी आवृत्तिसे युक्त और

१. श्लोकपादपदावृत्तिः ख ।

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतस्तु ते ।

चिराय भवतेऽपीड्यमहोरुगुरवेऽनुचे ॥१३॥

स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतः स्तुते ।

चिराय भवतेऽपीड्य महोरुगुरवे शुचे ॥१४॥

अयुक्त भी यमकालंकार होता है अर्थात् उक्त आवृत्तिर्मा यमकका विषय है । आशय यह है कि जहाँ अर्थकी भिन्नता रहते हुए श्लोक, पाद, पद और वर्णोंकी पुनरावृत्ति होती है वहाँ यमकालंकार होता है । यह आवृत्ति पादके आदि, मध्य अथवा अन्तमें होती है तथा कहीं अन्य पाद, पद और वर्णोंसे व्यवहित और कहीं अव्यवहित ॥१२॥

यमकालंकारके प्रमुखभेद निम्नप्रकार हैं—

- (१) प्रथम और द्वितीयपादकी समानता होनेसे मुख यमक होता है ।
- (२) प्रथम और तृतीयपादमें समानता होनेसे सन्दंश यमक होता है ।
- (३) प्रथम और चतुर्थपादमें समानता होनेसे आवृत्ति यमक होता है ।
- (४) द्वितीय और तृतीयपादमें समानता होनेसे गर्भ यमक होता है ।
- (५) द्वितीय और चतुर्थपादमें समानता होनेसे संदष्टक यमक होता है ।
- (६) तृतीय और चतुर्थपादमें समानता होनेसे पुच्छ यमक होता है ।
- (७) चारों चरणोंके एक समान होनेसे पंक्ति यमक होता है ।
- (८) प्रथम और चतुर्थ तथा द्वितीय और तृतीयपाद एक समान हों तो परिवृत्ति-यमक होता है ।

(९) प्रथम और द्वितीय तथा तृतीय और चतुर्थपाद एक समान हों तो युग्मक यमक होता है ।

(१०) श्लोकका पूर्वार्ध और उत्तरार्ध एक समान होनेसे समुद्गक यमक होता है ।

(११) एक ही श्लोकके दो बार पढ़े जानेपर महायमक होता है ।

पादांश, पदांश और वर्णोंकी आवृत्तिकी अपेक्षासे यमकके अनेक भेद हैं । यहाँ यमकालंकारके विभिन्न उदाहरणोंको प्रस्तुत किया गया है ।

हे जितेन्द्र भगवन् ! शोक-राग-द्वेष-मोहको दूर करनेके हेतु; विनाशको शमन—शान्त करनेके लिए आपको समर्थ जानकर सुखप्रद और महाज्ञान—केवलज्ञानसे युक्त प्रभो ! आपको चिरकालसे मैं स्वतः प्रणाम करता हूँ ॥१३॥

हे पूजनीय, हे पवित्र ! प्रभावशालिनो दिव्यध्वनि—वाणीसे युक्त और सूर्यके समान तेजस्वी जितेन्द्र भगवन् ! स्तुतिके विषयमें विद्यमान, अतएव दुःखमय इस संसारको जानकर सुख प्राप्तिके लिए जानो जन स्वयं आपको प्राप्त करते हैं ॥१४॥

१. श्लोकोऽर्थं ख प्रतौ नास्ति ।

श्लोकयमकः । द्वौ श्लोकावेतौ पृथगर्थौ द्रष्टव्यौ । स्वयं स्वतः । शम-
यितुं नाशयितुम् । नाशं विनाशं कर्म । विदित्वा ज्ञात्वा । सन्नतः प्रणतः । तु
अत्यर्थम् । ते तुभ्यम् । चिराय नित्याय अक्षयपदनिमित्तं^१ वा । भवते प्रभवते ।
पीड्यं सविघातं न पीड्यमपीड्यं महः^२ तेजः अपीड्यमहसो रुक् तया उरुः
महान् तस्मै, अपीड्यमहोश्चासौ उरुगुरुरूपश्च इति वा । अशुचे अशोकार्थम् ।

अन्वयोऽयम्—अशोकार्थं नाशं शमयितुं विदित्वा सन्साधु^३ भो जिन,
अपीड्यमहोरुगुरवे प्रभवते अप्रतिहतकेवलज्ञानदीप्तये चिराय तुभ्यम् अत्यर्थं
स्वयं नतः । स्वयं शमयितुं नाशं विदित्वा सन्नतः स्तुते । चिराय भवतेऽपी-
ड्यमहोरुगुरवे शुचे ॥ स्वयं शोभनपुण्यम् । शं सुखम् । अयितुं गन्तुम् । ना पुरुषः
अशं दुःखं विद् बोधवान् इत्वा गत्वा अतिक्रम्य । सन् विद्यमानः । अतः अस्मात्
कारणात् स्तुते स्तुतिविषये । चिराय चिरेण अनन्तकालेन । अथवा अचिरेण
तत्क्षणात् । भवते प्राप्नुते भवेः प्राप्ताविगिरिति अमोघवृत्ती उक्तत्वात् आत्मने-
पदम् । अपि संभावने । हे ईड्य पूज्य । महसो उर्वी गौर्वाणी यस्यासौ महो-
रुगुः । स एव रविः । तस्य संबोधनम् । शुचे शुद्ध । एतदुक्तं भवति । ईड्य शुचे
महोरुगुरवे । भो जिन । स्तुते स्तुतिविषये सन्, अतएव अशम् इत्वा, शं
गन्तुं विद् ना पुमान् चिराय स्वयमांशु पुण्यमांशु भवते प्राप्नुते । श्लोकस्य
^{१२}संपूर्णवृत्त्या संयुतत्वाद्यभावः ।

यह श्लोक यमक या महायमक है । ये दोनों श्लोक भिन्न-भिन्न अर्थवाले हैं ।
यहाँ सम्पूर्ण श्लोकको आवृत्ति है ।

शब्दार्थ—‘स्वयं’=अपने । ‘शमयितुम्’ शान्त या नाश करनेके लिए । ‘नाशम्’
विनाश कर्म ‘विदित्वा’=जानकर । ‘सन्नतः’=अच्छी तरहसे विनीत, सुविनीत । ‘तु’=
अत्यधिक, ‘ते’=तेरे लिए । ‘चिराय’=चिरकालके लिए, शाश्वत अथवा अविनाशी
पदके लिए ‘भवते’=समर्थके लिए या अपने लिए । ‘अपीड्य महसोरुगुरवे’=अवाध्य
तेजको प्रभासे अतिश्रेष्ठत्वके लिए । ‘अशुचे’—शोकाभावके लिए अथवा अशोकार्थम् ।
‘भवते’—√भूधातुसे निष्पन्न आत्मनेपदका रूप है । ‘भवेः प्राप्ताविगिरिति अमोघवृत्ती
उक्तत्वात् आत्मनेपदम् । ‘अपि’—संभावना अर्थमें प्रयुक्त है । ‘ईड्य’—पूज्य । महो
वाणी जिसकी है, वह ‘महोरुगुः’ कहलाता है । अर्थात् दिव्यध्वनि । यही सूर्य रूप है—
दिव्यध्वनि द्वारा अज्ञानान्धकारका विनाश होता है । ‘शुचे’=शुद्ध ।

१. अक्षयपदनिमित्तम्—क । २. तेजमहस्तेजः—ख । ३. अपीड्यमनसो रुक्—ख ।
४. अपीड्यमहोश्च अरुगुरुरूपश्चासाविति वा ख । ५. ख प्रती “भो जिन” इति पदे
न स्तः । ६. स्तुतये—ख । ७. भुवेः—क तथा ख । ८. महति उर्वि—ख । ९. यस्याः—
सा—ख । १०. व रविः—ख । ११. गत्वा—ख । १२. संपूर्णवृत्त्या संयुतत्वाद्यभावः—क ।

सुकल्याणोऽसुकल्याणो जिनः पायादसंगरिः ।
 असुष्टु घाणेषु रक्षणदशब्दनिः । कल्पो नीरोगदक्षणेभिराभिधानात् ।
 गौमाभोजराभोरोऽजराभीरोः पुरोरगुम् ॥१५॥
 जनानां सबन्धुः सदा यस्य वाणी ।
 विभानुयमाना विभानुयमाना ॥१६॥
 सनाभेयस्सनाभेयः सदापायात् सदापायात् ॥ (केवलं ख प्रती इयं पङ्क्तिः)
 सनाभेयः नित्यं भयरहितः सदा बोधेन ।
 षड्लु विशरणगत्यवसादनेषु इति घातोर्गन्त्यर्थे विवप् विधानात् ।
 महादध्रमध्ये प्रिये पश्य चन्द्रं, महादध्रमध्ये तवास्यायमानम् ।
 सुद्विम्बाधरेऽस्या नितम्बाम्बरेण, गिरिस्थालता वा नितम्बाम्बरेण ॥१८॥
 अम्बरे सम्भूत आम्बरो मेघः ।

कामदेवके शत्रु—राग-द्वेष-मोहको पराजित करनेवाले कल्याणकारी एवं रक्षण-
 कार्यमें प्रवीण, जन्म-जरा-मरणरूप रोग रहित जिनेन्द्र भगवान् रक्षा करें ॥१४३॥

असु शब्द प्राणरक्षा अर्थमें प्रयुक्त है और 'कल्पः' का अर्थ नीरोग एवं दक्ष है ।

'सुकल्याण—सुकल्याण आवृत्ति होने से यमक है ।

हे जराभीरु ! जन्म-मरण-जरासे भयाक्रान्त ! जराके भयसे युक्त—जन्म-मरण-
 जरा रहित, लक्ष्मीयुक्त आदि तीर्थकरकी शरणमें जाओ ॥१५॥

यहाँ 'जराभीरोः' 'जराभीरोः' में पुनरावृत्ति होनेसे पादांश यमक है ।

जिसकी वाणी—दिव्यवृत्ति, शोभायुक्त हो, विशिष्ट सूर्यके समान ज्ञानाम्बुकार
 का विनाश करती है, वह जनोके लिए लोगोंके लिए सदा बन्धु है ॥१६॥

यहाँ तृतीय और चतुर्थपादमें आवृत्ति होनेसे पुच्छयमक है ।

सदा भयरहित वह नाभिपुत्र भगवान् ऋषभदेव अपने ज्ञानद्वारा—धर्मोपदेश
 द्वारा जनताकी सदा रक्षा करें ॥१७॥

'सनाभेयः' = नित्यभय रहित, सदा बोधसे । षड्लुधातु विशरण, गति और
 अवसादन अर्थमें व्यवहृत होती है । अतः गत्यर्थक धातुमें विवप् प्रत्यय करने पर
 निष्पत्ति होती है ।

'सनाभेयः'की पुनरावृत्ति और 'सदापायात्'की पुनरावृत्ति होनेसे युग्मक यमक है ।

कृशतर मध्यभागवाली—सीणकटि प्रदेशवाली प्रिये ! आकाशके बीच तुम
 अपने मुखके सानृश्यका आचरण करते हुए चन्द्रको आनन्दपूर्वक देखो । हे सुन्दर बिम्ब-
 फल—त्रिकोण लताफलके समान रक्त अक्षरवाली, चन्द्राच्छादित नितम्बवाली प्रिये ! तुम
 पर्वतके मध्यभागमें मेघसे युक्त, पर्वत पर स्थित लताके समान प्रतीत होती हो ॥१८॥

१. पायादनअङ्गारिः—क । २. गौमाभोजराभीरोजाराभीरोः—क । ३. विभया शोभया
 नूयमाना । प्रथमप्रती पादभागे । ४. विशिष्ट सूर्य इव आचरन्ती । प्रथम प्रती पादभागे ।

विमानासिताङ्गोऽमरेन्द्रो नुनाय ।

प्रभोरुक्तिमिद्धां विमानासिताङ्गोः ॥१९॥

विशिष्टलक्ष्मीम् अनाशिताम् अबाधिताम् । असूँ क्षेपणे इति ष्यन्तो
धातुः । गोः स्वर्गादागत्य ॥

कामिनीरहितायते कामि नीरहितायते ।

कामिनी रहिता यते कामिनीरहिताय ते ॥२०॥

क परमात्मन् आमिनीर जानिन् निःकाम । रः पुमान् पावके कामे क्षये
वज्रे शिवे वृत्तो इत्यभिधानात् । हित । आयते कोपपीडोपरम । केन विद्याया
अभ्यते स्म कथ्यते स्म इति काम वेदः तस्मिन् कामि । नीः मोक्षमार्गस्य प्रणेता ।
अहितायते वेदे तन्निराकरणद्वारेण क्षय्यते भवान् इति यतः । क रविभूत
अमिनी भक्तिमती ई रहिता रात् क्षयात् हिता च्युता । ही गतिवृद्धयोः इति
धातुः । इति यतश्च ततः भो यते ते नमोऽस्त्वित्यध्याहार्यम् ।

विमानमे स्थित शरीरवाले अमरेन्द्र—इन्द्रने स्वर्गसे आकर प्रभुकी वाणीकी
स्तुति की, जो वाणी समृद्ध एवं विशिष्ट शोभावाली तथा अतिरस्कृत है ॥१९॥

विशिष्टलक्ष्मीः—अबाधित दिव्यवन्निरूपी लक्ष्मी । √ असू — क्षेपण अर्थमें
ष्यन्त धातु है । गोः—स्वर्गसे आकर ।

हे परमात्मा—ज्ञानी तथा निष्काम—सर्वज्ञ और वीतरागी, अविनश्वर सुखवाले
अनन्तवीर्ययुक्त, तुम मोक्षमार्गके उपदेशक हो, तुम वेदविषयक आस्थारहित हो ।
हे सूर्यसदृश प्रभो, आपकी भक्तिमती लक्ष्मी क्षय रहित है, अतः हे कामिनी रहित
साधो ! आपको नमस्कार है ॥२०॥

क—परमात्मा; आमिनीर—सर्वज्ञ और वीतरागी; रः—पुरुष, कामक्षय,
वज्र या शिव; आयते—कोपपीडोपरम—वीतरागता, काम-वेद, नीः—मोक्षमार्गप्रणेता,
अहितायते वेदे—वेदविषयक आस्था रहित, क—रविभूत, अमिनी—भक्तिमती,
ई—क्षयरहित । √ ही—गति-वृद्धि अर्थक धातु है । हे पते—मुनिराज, तुम्हें
नमस्कार है ।

१. अनासिताम्—ख । २. असू—ख । ३. आमिनी र इत्यस्यानन्तरम्—ख प्रती "अमगति
भक्ति शब्देऽपि धातुः । ये गत्यर्थाः ते ज्ञानार्थाः । तान्निष्क्रान्तः नीरः ॥ इत्यधिकाः
पाठः । ४. क्षेपतावित्यभिधानात्—ख । ५. काम वेदः इत्यस्य स्थाने—ख प्रती 'कामी'
पाठः । ६. नीः इत्यस्य स्थाने—ख प्रती निः । ७. आमिनी—क तथा ख ।

महीयं ते महीयन्ते महीयन्ते पुरोजिवाः ॥२१॥

इयं मही । ते । मही शक्रकृतोत्सववात् अतस्त्वामाश्रिताः इयन्ते गणैः
प्राप्यन्ते महीयन्ते पूज्याश्च ॥

महाभारतीते महाभाऽरतीते ।

त्वयि द्योततेऽच्छमहा भारती ते ॥२२॥

इतेमहाभा प्राप्तरमोत्सवसदृशो । अरतिमिते^१ वीतरागे । अच्छमहाः
निर्मलतेजोगुणाः भरतक्षेत्रे जाता ।

सुरागोऽङ्गनया मुक्तः ।

सुरागोऽङ्गसुरागोऽङ्ग ॥२३॥

अङ्गनया सह शोभमानरागस्त्यक्तः । भो पुरो त्वत्तः सुरायाः समागमा-
गश्च । मुक्तं जीवैः । अङ्गमेव सुरागो मेरुर्यस्य । अङ्ग गच्छ । त्वं । भाव्यत्वेन
मम तेनो भूत् ।

जिनं तं नमामो प्रमादानकायम् ।

प्रमादानकार्यं प्रमादानकायम् ॥२४॥

हे पुरुदेव, यह पृथ्वी तुम्हारी है; क्योंकि तुम उत्सवयुक्त—पंचकल्याणकयुक्त
हो, अतएव भक्तजन आपके निकट पहुँचते हैं और आपकी पूजा करते हैं ॥२१॥

इयं—मही—पृथ्वी, ते—तुम्हारी, शक्रकृतोत्सव—इन्द्रकृतपंचकल्याणक उत्सव,
त्वामाश्रिताः—तुम्हारी है, इयन्ते—भक्तगण, आपके निकट पहुँचते हैं ।

हे वीतराग ! आपमें महती शोभा—सम्पन्न, प्रमाणनययुक्त महावाणी शोभित
होती है ॥२२॥

इतेमहाभा—परमोत्सव सदृश, अरतिमिते—वीतरागोप्रभा ! अच्छमहानिर्मल
तेजगुणयुक्त, भरतक्षेत्रमें उत्पन्न महावाणी—दिव्यध्वनि ।

हे पुरुदेव, आपने सुन्दरलावण्यवती नारीके साथ रागको त्याग दिया है तथा
आप इन्द्रियजयो होनेसे मदिराके अपराधके त्यागी हैं । हे सुमेरुसदृशकांतिवाले—
सुगठित शरीरवाले ! आप मेरे मनमें निवास करें ॥२३॥

अंगनया सह—स्त्रियोंके साथ त्यक्त रागवाले—वीतराग; भो पुरो ! हे पुरुदेव ।
सुरायाः—सुरा—मदिराके समागमागं च—अपराध, मुक्तं—रहित, अंगमेव सुरागो
मेरुर्यस्य—सुगठित शरीर है, जिनका, ऐसे हे जिन, त्वं—तुम, मेरे मनमें निवास करो ।

प्रमादरहित और दुःखानुभवरहित—अनन्तसुख युक्त, केवलज्ञानी, निरुपम
शरीरवाले—अतिशययुक्त जिनन्द्रको हम नमस्कार करते हैं ॥२४॥

१. इयं महिते—ख । २. मही—ख । ३. गीः गैः—ख । ४. मीते—ख । ५. समागतमाश्रित-
क । समागतश्च—ख ।

न अकस्य दुःखस्य आयः प्राप्त्यस्य बोधसायिकदानस्वरूपम् उपमा-
च्छेदकपुण्यम् ।

नैमामोहभेदं न मामोहभेदम् ।

न मामोऽहभेऽदं नमामो ह भेदम् ॥२५॥

नमस्य प्रणामस्य अ-स्य भक्तोः अहस्य विचारस्य मायाः कान्तिः ईम्
संपत्तिं ददातीति तम् । मायां राज्यादि संपत्तौ । अमोहभेदम् अज्ञानविशेषहीनम् ।
मया परिमित्या अमन्ति स्तुतिमुखरा वदन्तीति मामः स्तोतारः । न जहन्ति न
त्यजन्ति सदा तत्रैव चरन्तीति अहानि भानि नक्षत्राणि यत्र तदहम् गगनं तत्र
समवसरणे स्थितं न द्यति धर्मं न खण्डयतीति अदम् । ह पादपूरणे । भेदं
कर्माद्विभेदनं जिनं नमाम इति न न किन्तु नमाम एव ।

विद्योत्तविद्योऽतमसि स्वकाये । कामान्तकामान्तकृदोशिताऽभात् ।

राजीवराजीवतनी सुराणां नेत्रैर्व्यलेख्याद्युपदेशतत्त्वम् ॥२६॥

कामान्तकयोरमस्य दारिद्र्यस्य च अन्तकृत् विनाशकारी । यस्य तनी
भ्रमरसन्निभनेत्रावली पद्मशोभिन्यां पद्मिन्यामिव पुरुहेमाभतनुप्रभासंगात्
पद्मपंक्तिरिव हेमवर्णा अभात् । तेन नेत्रा उपदेशकेन जिनेन ॥

आप प्रणाम, भक्ति, विचार और कान्तिसम्बन्धी ऐश्वर्यको देनेवाले हैं;
राज्यादि लक्ष्मोके प्रति मोहरहित हैं, समवसरणमें स्थित हैं; धर्मके स्वरूपके प्रतिपादक
हैं और कर्मोंको नष्ट करनेवाले हैं । अतएव हम स्तुतिकर्ता आप की स्तुति करते
हैं ॥२५॥

नमस्य—प्रणाम, अमस्य—भक्ति, अहस्य—विचारकी, मायाः—कान्ति या सम्पत्ति-
को देनेवाले, मायाम्—राज्यादि सम्पत्तिके प्रति, अमोहभेदम्—अज्ञान विशेष रहित,
मया—सीमित बुद्धिद्वारा, अमन्ति—स्तुति करते हैं; मामः—स्तुति करनेवाले; न
जहन्ति—नहीं छोड़ते हैं, अहमम्—आकाशमें स्थित समवसरणमें, अदम्—धर्मोपदेशक,
जिनको, नमाम—नमस्कार करते हैं ।

जो जिनेन्द्र अज्ञानरहित अपने शरीरमें प्रकाशमान केवलज्ञानकी आभासे युक्त
हैं । काम, यम—मृत्यु और दारिद्र्यका विनाश करनेवाले हैं और जिन्होंने सामर्थ्यवान्
होकर शोभा प्राप्त की है । जिन जिनेन्द्र भगवान्के शरीररूप कमलपर देवोंकी नेत्ररूपी
भ्रमरपंक्ति सुशोभित होती है—अर्थात् देवसमूह भगवान् जिनेन्द्रको उत्सुकतापूर्वक
देखता है, उन मोक्षमार्गके नेता भगवान्ने वस्तुस्वरूपका उपदेश दिया है ॥२६॥

अन्तकः—यम—मृत्यु; अमस्य—दारिद्र्यका, अन्तकृत्—विनाशकारी, अमरके
समान नेत्रावली, पद्म—कमलके समान पुरुदेवकी स्वर्णशरीर कान्ति ।

१. नमा इत्यस्य स्थाने—ख प्रती नयो पाठः । २. माया—ख । ३. जहति इति—ख ।

४. स्तुतिकर्तृत्वम्—ख । ५. खप्रती चकारो नास्ति । ६. विनाशकारि—ख ।

अभवदूर्ध्वमुदारवः, सुरगर्भविहितो विहितोभियाम् ।

श्रुतिमघो मुखरो मुखरोदितो, व्यथितभोजगतो जगतोऽद्यत् ॥२७॥

नेमीश्वरे दीक्षार्थं गच्छति सति । भोजगतः । भियां श्रुति भयंकर-
श्रवणमुत्पादयन् मुखरोदितः मुखजातरोदनध्वनिः ।

सरसि पङ्कजराजितराऽजित जिनतनावुपलक्षणलक्षण ।

ततिरिवैवमराजत राजतगिरिसितोर्किनरं जनरंजन ॥२८॥

उपलक्ष्यन्ते दृश्यन्ते इत्युपरक्षणानि च ज्ञानि लक्षणानि च हलकुलिशा-
दीनि । निर्मलया निरा निष्कलङ्कः यथा भवति तथा जीवान् रंजयतीति ।
पादावृत्ती दक्षितप्रकारेण पदावृत्यादावपि बोद्धव्यमिति न क्रमाः कथ्यन्ते ॥

प्रमदया गतया रहिते त्वयि प्रमदयागतया जिन भासते ।

सुमनसां सहिते ततिरायता सुमनसां सहिते करसारिता ॥२९॥

प्रकृष्टश्रीकृपागतेन हितेन सुखेन युते । सुराणां हस्तप्रेरिता ॥

भगवान् नेमीश्वरके दीक्षाके हेतु प्रस्थान करते समय ऊपर देवोंने निर्भय हो
उत्कृष्ट हर्षध्वनि की ओर नीचे पृथ्वीपर व्यथित भोजराज आदिके मुखर क्रन्दनने
संसारके कानोंको आपूरित कर दिया ॥२७॥

विजयार्थं पर्वत—राजतगिरिके सदृश निर्मलवाणीके कारण निष्कलंक एवं
जनरंजन हे भगवन् अजित जिन ! आपके शरीरमें सरोवरमें कमलपंकितके तुल्य अनेक
शुभलक्षण शोभित हो रहे हैं ॥२८॥

उपलक्ष्यन्ते—दृष्टिगोचर होते हैं, उपलक्षणानि—हल, कुलिष आदि शुभ
लक्षण, निरा—निष्कलंक रूपसे जीवोंको अनुरंजित करनेवाले, पादावृत्ती—दक्षित
क्रम से । जिस प्रकारकी पदावृत्ति पूर्व आयो है, उसी प्रकार वहाँ भी पदावृत्ति समझनी
चाहिए । अतः क्रमका कथन नहीं किया जा रहा है ।

हे भगवन् जिन ! स्वेच्छया आयो हुई प्रमदा—नारीसे रहित और आनन्दसे
उपलक्षित पूजासे युक्त एवं हितसे युक्त आप पर देवों के द्वारा विकीर्णित गुणपंकित
सुशोभित होती है ॥

'प्रमदया गतया सहिते' पदका अर्थ—प्रकृष्ट या लक्ष्मी रूप दयाको प्राप्तिसे
युक्त भी सम्भव है ॥२९॥

प्रकृष्ट—श्री—लक्ष्मी—ज्ञान लक्ष्मीकी कृपासे, हितेन—सुखसहित, देवों द्वारा
विकीर्ण ।

१. भोजगतः दृश्यन्तरम् उपसेनमहाराजगतः इत्यधिको पाठः—क तथा ख ।

२. ततिरिवैवमराजित राजित—ख । ३. निरा निष्कलङ्कम्—ख तथा क ।

सारासारासारसमाला सरसीर्यं सारं कूजत्यत्र वनान्ते सुरकान्ते ।
 सारासारानोरदमालानभसीर्यं तारं मन्द्रं निस्वनतीतिः स्वनसारा ॥३०॥
 इह जहौ वसुधाशिविकासनं, पुरुतपोऽभि सुधाशिविकासनम् ।
 नमिसमः स शिलातलमायया वपगमार्थमिलातलमायया ॥३१॥
 सै नेमोश्वरः वसुधाशिविकादिकं हित्वा दीक्षार्थं शिलातलमायया ॥
 सा राजते चन्द्रविभोरसाध्वसा राजते कान्तिरतिः शरीरे ।
 सा राजते जन्तुगणातिमोमांसा राजतेजोभिरमेयमूर्तिः ॥३२॥
 रजतसमूहभूते । जन्तुगणस्थातिमोमांसा वस्तु विचारणा यस्यास्सका-

शात् सा चन्द्रकिरणे ॥

शुभा विभाति ते दिभो महाविभातिदेशक ।

तनाविभातिमन्दगस्त्रिया विभाति मण्डपे ॥३३॥

गजवदतिशयिसर्मन्दगतिभिः सुरकान्तादिभिः स्त्रोभिः शोभमानेऽपि
 महती विशिष्टा निविकारा भा कान्तिः ।

बभौ शचिक्रमसुमोपहारः, तपःश्रियः कण्ठसमीपतारः ।

दीक्षावने संसृतितापहारः, सुरासुरालीनतमोपहारः ॥३४॥

बेनी द्वारा अभिलषित इस वन प्रदेशके सरोवर में प्रशस्त आगमनवाली
 सारसोंकी पंक्ति शब्द कर रही है और इधर आकाश में गर्जना करती हुई श्रेष्ठ धारा-
 सम्पातवाली यह मेघमाला गुह्यतर गम्भीर घोष कर रही है ॥३०॥

उस भगवान् नेमोश्वरने तीर्थंकर नामके सदृश महती तपस्याके कारण देवताओं
 को आनन्दित करनेवाले पृथ्वीके चतुरन्त मान शिविका का त्याग कर दिया और वे
 पृथ्वीतलकी मायाके निराकरणके लिए शिलातल पर आसीन हुए हैं ॥३१॥

अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभुके रजसनिमित्त शुभ शरीरपर मंदरहित कान्ति शोभित
 होती है और उनकी जीवसमूहके सम्बन्धमें विचारधारा चन्द्रमाकी ज्योत्स्नाके सदृश
 अमेय मूर्ति बनकर शोभित होती है ॥३२॥

हे रसक, उपदेशक प्रभो ! गजके समान मन्द-मन्द गमन करनेवाली नारियोंसे
 सुशोभित मण्डपमें आपके शरीरपर शुभ महादीप्ति शोभित है ॥३३॥

दीक्षावनमें इन्द्राणी द्वारा विरचित चतुष्क पूरण (चौक पूरनेका विधान)
 तपोलक्ष्मोंके कण्ठस्थित मणिहारके तुल्य है तथा यह चौक संसारके तापको हरण करने

१. सारसारा इत्यादि-ख । २. निस्वनतीति । ३. सु-ख । ४. शरीरी-ख । ५. रजत-
 समूहभूते बलात् कैलासगिरिसदृशे-क तथा ख । ६. विचारो-ख । ७. महाविभूति-
 देशक-ख । ८. स्वप्रती मन्व इति नास्ति । ९. महति-ख । १०. शुचिक्रमसुमोपहारस्-
 -ख । ११. सुरासुरालीन तमोपहारः-ख ।

भृभृतिभृभृति तन्वति सेवां, शंसति शंसति तन्वतिरम्यः ।

राजति राजतिरोभवकान्तिः, सन्मतिसन्मतिरोऽभवेनाथः ॥३५॥

भुवं मङ्गलं स्वात्मनि तोषवृद्धि वा ^३ विभति पुष्यति । सत्तायां मङ्गले वृद्धी निवासे व्याप्तिसंपदोः । अभिप्राये च शक्ती च प्रादुर्भावे गती च भूः । इति धातुदर्पणे । राजति शं सुखं ^४ शंसति च सति । सन्मतिः प्रशस्तज्ञानी चासौ ^५ वोरजिनश्च । अः रत्नत्रयहेतुः । ^६ अकरो ब्रह्मविष्णुशंकरमठेष्वङ्गणे रणे गौरवेऽन्तःपुरे हेतौ ^७ भूषणे इत्यभिधानात् ॥

ततान तानं खलु गायतीशे, ततानं तालं च नटत्यधीशे ।

ततादिवाद्येन सती सुभद्रा, तताऽस्य पद्मा पुरुषानुवृत्ता ॥३६॥

वा वानरो भ्रान्तिगतः ^८ कुदृष्टः, काकायमानाः कुचस्त्रिभाजः ।

भाभारपूर्णोऽवपुश्चरिष्णुः, सासादनस्थान्च्युतदृष्टिरत्नः ॥३७॥

वन्दते ^९ नरेश्वरो जिनेश्वरं, बन्धदूरमकलङ्कमच्युतम् ।

बन्धुमस्य जगतो विदावरं, संभ्रमीति स न संसृती सदा ॥३८॥

वाला तथा देव और दानवोंमें रहनेवाले अन्यकार रूपी मोह तिमिर को छिल करने-वाला है ॥३४॥

राजाके द्वारा सेवा प्रस्तुत किये जानेपर एवं सुखको व्यक्त करने पर शरीरसे अत्यन्त रमणोय चन्द्रमाको तिरस्कृत करनेवाली कान्तिके धारणाकर्ता, रत्नत्रयके हेतु मोक्षके स्वामी तोषकर सन्मति-वर्धमान सुशोभित हो रहे हैं ॥३५॥

तत आदि वाद्योंमें प्रवीण सुभद्राने पतिके गानके समय तानको छोड़ा और पतिके नृत्य करते समय उसने ताल दी । इस कारण उन भरत चक्रवर्तीकी कुल-परम्परासे प्राप्त लक्ष्मी वृद्धिगत हुई ॥३६॥

संशयमें पद्मा मिथ्यादृष्टि व्यक्ति वानरके सदृश है और मिथ्याचारित्रवाले व्यक्ति कालके समान है । सम्यक् चारित्रवाले कान्ति समूहसे युक्त शरीरवाले होते हैं और सम्यक्त्वरूपी रत्नसे च्युत जन सासादन गुण स्थानवाले हैं ॥३७॥

बन्ध-रहित, अकलंक, अच्युत, इस जगत्के बन्धु ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ भगवान् जिनेश्वरकी जो वन्दना करता है, वह इस संसारमें भ्रमण नहीं करता ॥३८॥

१. शरीरेणातिभनोजः प्रथमप्रती पादभागे । २. मोक्षस्व प्रभुः प्रथमप्रती पादभागे ।
३. विभ्रति—क ख । ४. शंसति च इत्यनन्तरं स्तुवति च पाठः—क तथा ख । ५. विर-जिनश्च—ख । ६. आकारो—ख । ७. भूषणेऽङ्घ्रावुमेज्ययोः इति नानार्थरत्नमालायां भास्करः—ख । ८. तताङ्—ख । ९. कुदृष्टिः—क तथा ख । १०. काकायमानः—ख । ११. जिनश्वरो नरेश्वरम्—ख ।

वीतराग जिनसार नमस्ते, पूततत्त्वपरवाक्य नमस्ते ।

नूतपादत्रयस्य नमस्ते, जातकपधर वीर नमस्ते ॥३९॥

गायत्री महिमायते, पद्मया सहितायते ।

पद्मया स हि तायते, पद्मया सहितायते ॥४०॥

गायतस्तुति कुर्वतः महिमा माहात्म्यम् अयते गच्छति । गाः वाणीः यतः यस्मात् ॥ महिमानम् अयते महिम्ना अयते स्म वा महिमायः तस्य संबोधनम् । ते तव पदपादः । मया स हि तायते विस्तार्यते । पद्मया लक्ष्म्या सहिता आयतिः शरीरायामः यस्यासौ । अथवा पद्मेषु यातीति पद्मया हितेन सह वतं-माना आयतिर्यस्यासौ सहितायति ।

नैतपीलासनाशोक सुमनोऽवर्षभासितः ।

भामण्डलासनाशोकसुमनोवर्षभासितः ॥४१॥

नतानां प्रणतानां पीडा व्याघयः ताः अस्यतीति नैतपीलासन । अशोक शोकहीन सुमनः शोभनचेतः शोभनबोध । अव रक्ष । ऋषभ आसितः स्थितः सन् ॥

इत्यलंकारचिन्तामणौ यमकादिवचनो तृतीयः परिच्छेदः ॥३॥

हे वीतराग जिनश्रेष्ठ, आपको नमस्कार है । हे पवित्र तत्त्व युक्त वचनवाले, श्रेष्ठ चरण कमलवाले सुवर्णघाती वीर, आप को नमस्कार है ॥३९॥

हे भगवन् ! आप स्वयं माहात्म्यको प्राप्त हैं, आपका शरीर भी लक्ष्मी से—सौन्दर्यसे युक्त है । अथवा—कमलों पर विहार करते समय देवगण आपके चरणोंके नीचे कमलोंकी रचना करते हैं । हे प्रभो ! जो आपका गुणमान करता है, उसको वाणीको महत्त्व प्राप्त होता है और उसकी वाणी अनेक आयतियोंसे पूर्ण होती है । अतः मैं भी आपके चरणकमलोंको विस्तृत करता हूँ ॥४०॥

हे ऋषभदेव ! आप नम्र मनुष्योंकी सांसारिक व्यथाओंको दूर करनेवाले तथा शोक-रहित हैं, आपका हृदय उत्तम है—लोककल्याणकारी भावनासे पूर्ण है । हे प्रभो ! आप भामण्डल, सिंहासन, अशोकवृक्ष पुष्पवृष्टि आदि अष्ट प्रातिहारोंसे सुशोभित हैं ॥४१॥

इत्यलंकारचिन्तामणौ यमकादिवचनो नाम तृतीयपरिच्छेदः ॥३॥

१. सूतवाद—ख । २. नतपीडा—ख । ३. नतपीडासन—ख । ४. स्वप्रती शोभनचेतः पदं नास्ति ।

श्रीमदनन्ततीर्थकरेभ्यो नमः

अथ चतुर्थः परिच्छेदः

चारुत्वहेतुना ^१येन वस्त्वलङ्कियतेऽङ्गवत् ।
हारकाञ्च्यादिभिः प्रोक्तः सोऽलङ्कारः कवीशिभिः ॥१॥
चारुत्वहेतुतायां च गुणालंकारयोरपि ।
गुणः संघटनाश्रित्या शब्दार्थाश्रित्यलङ्किया ॥२॥
शब्दार्थोभयभेदेन सामान्या त्रिविधा तु सा ।
तत्रार्थालङ्कृतिः प्रोक्ता चतुर्धा तु समासतः ॥३॥
प्रतीयमानशृङ्गाररसभावादिका मता ।
स्फुटा प्रतीयमानाऽन्या वैस्त्वोपम्यतदादिके ॥४॥

अलंकारका लक्षण—

हार और काञ्ची—करघनी इत्यादि आभूषणोंसे जैसे सुन्दर रमणोंके अंग सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार शब्दार्थ-सौन्दर्यके कारण जिससे वस्तुको शोभा बढ़ती है, काव्यशास्त्रके विद्वानोंने उसे अलंकार कहा है ॥१॥

गुण और अलंकारमें भेद—

यद्यपि काव्यसौन्दर्यके कारण गुण और अलंकार दोनों हैं, तो भी संघटनाका आश्रय लेकर गुण काव्यकी शोभाको बढ़ाता है और शब्दार्थका आश्रय लेकर अलंकार शब्दार्थकी शोभाको बढ़ाता है ॥२॥

अलंकारके भेद—

यह अलङ्कृति-अलंकार सामान्यतया शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकारके भेदसे तीन प्रकारको मानी गयी है । इन तीनों भेदोंमें अर्थालंकार संक्षेपमें चार प्रकारका माना गया है ॥३॥

अर्थालंकारोंके भेदोंका निर्देश—

(१) प्रतीयमान शृंगार-रस-भाव इत्यादि रूपवाली; (२) स्फुट प्रतीयमानके

१. श्रीमत्पञ्चगुरुभ्यो नमः अथ अलङ्कारचिन्तामणौ चतुर्थः परिच्छेदः—क । २. ऽनेन इति—ख । ३. वस्त्वोपम्ये तदादिके—क ।

प्रेयोरसवदूर्जस्विसमाहितभाविकेषु रसभावादिः प्रतीयते । उपमाविनोक्तिविरोधार्थान्तरन्यासविभावनोक्तिनिमित्तविशेषोक्ति — विषमसमचित्राधिका - अन्योन्यकारणमालैकावलीदीपकव्याघातमालाकाव्यलिङ्गानुमानयथार्थव्याख्या - तिसारपर्यायपरिवृत्तिसमुच्चयपरिसंख्याविकल्पसमाधिप्रत्यनीकविशेषमोलनसामान्यासङ्गतितद्गुणतद्गुणव्याजोक्तिप्रतिपदोक्तिस्वभावोक्तिभाविकोदात्तेषु विपश्चिच्चेतोरञ्जनं स्फुटं प्रतीयमानं न विद्यते । व्याजस्तुत्युपमेयोपमासमासोक्तिपर्यायोक्त्याक्षेपपरिकरानन्वयातिशयोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसानुवर्तनिमित्तविशेषोक्तिषु वस्तुप्रतीयमानं काव्यालङ्कारत्वं याति । परिणामसन्देहरूपकभ्रान्तिमदुल्लेखस्मरणापह्नवोत्प्रेक्षातुल्ययोगितादीपकदृष्टान्तप्रतिवस्तूपमाव्यतिरेकनिदर्शनाश्लेषसहोक्तिषु गम्यमानोपमेयम् । एवमलङ्कारसादृश्यविभागः । भेदप्रधानमतभेदप्रधानमुभयप्रधानमिति साधर्म्यं त्रिधा । तत्पुनरुपमानोपमेययोः स्वतो भिन्नत्वाच्छाब्दमेव न वास्तवमित्येके । तदसत्, साधर्म्यस्य वस्तुरूपत्वादन्यथा खरविषाणशशविषाणयोरप्युपमानोपमेयत्वप्रसङ्गात् ।

अभाववाली, (३) प्रतीयमान वस्तुवाली, और (४) प्रतीयमान औपम्य आदि वाली - इस प्रकार अर्थलंक्रति चार प्रकारकी होती है ॥४॥

अलंकारोंमें प्रतीयमानकी व्यवस्था—

प्रेयस्, रसवद्, ऊर्जस्वी, समाहित और भाविक अलंकारोंमें रस और भाव आदिको प्रतीति होती है ।

उपमा, विनोक्ति, विरोध, अर्थान्तरन्यास, विभावन, उक्तिनिमित्तविशेषोक्ति, विषम, सम, चित्र, अधिक, अन्योन्यकारणमाला, एकावली, दीपक, व्याघात, माला, काव्यलिङ्ग, अनुमान, यथासंख्य, अर्थापत्ति, सार, पर्याय, परिवृत्ति, समुच्चय, परिसंख्या, विकल्प, समाधि, प्रत्यनीक, विशेष, मोलन, सामान्य, संगति, तद्गुण, अतद्गुण, व्याजोक्ति, प्रतिपदोक्ति, स्वभावोक्ति, भाविक और उदात्त अलंकारोंमें विद्वानोंके चित्तको आनन्दित करनेवाली वस्तु स्पष्टतया प्रतीयमान नहीं होती ।

व्याजस्तुति, उपमेयोपमा, समासोक्ति, पर्यायोक्ति, आक्षेप, परिकर, अनन्वय, अतिशयोक्ति, अप्रस्तुत प्रशंसा और अनुवर्तनिमित्त विशेषोक्ति अलंकारोंमें वस्तु प्रतीयमान होकर काव्यालंकारत्वको प्राप्त होती है ।

परिणाम, सन्देह, रूपक, भ्रान्तिमान्, उल्लेख, स्मरण, अपह्नव, उत्प्रेक्षा, तुल्ययोगिता, दीपक, दृष्टान्त, प्रतिवस्तूपमा, व्यतिरेक, निदर्शना, श्लेष और सहोक्ति अलंकारोंमें औपम्य प्रतीयमान रहता है । इस प्रकार अलंकारोंमें सादृश्य—विभाग है ।

१. समविषम इति—ख । २. ख प्रती केवलं तद्गुण इति पदमस्ति । अनद्गुण इति पदं नास्ति । ३. प्रतीपवक्रोक्तिस्वभावोक्ति—ख । ४. स्वतन्त्रता—ख ।

उपमानन्वयौ स्यातामुपमानोपमास्मृती ।
 द्विसाधारणसाधर्म्यमालालङ्कृतयस्त्वमाः ॥५॥
 रूपकं परिणामश्च संदेहो भ्रान्तिमानपि ।
 अपह्नवस्तथोल्लेखो भेदसाधर्म्यहेतुकाः ॥६॥
 प्रतीप-प्रतिवस्तूपमा-सहोक्ति-निदर्शनाः ।
 दृष्टान्तो दीपकं तुल्ययोगिन्येह्यतिरेकतः ॥७॥

साधर्म्यके भेद—

साधर्म्य तीन प्रकारका होता है—(१) भेदप्रधान (२) अभेदप्रधान (३) और भेदाभेदोभयप्रधान ।

सादृश्य भेदकी व्यवस्था—

किसी आचार्यका मत है कि उपमान और उपमेयमें स्वतः भिन्नता होनेके कारण सादृश्यमें शान्दिक ही भेद होता है, वास्तविक नहीं । इस मतकी समीक्षा करते हुए कहते हैं कि यह कथन असत् है—गलत है; क्योंकि सादृश्य वस्तुस्वरूप होता है । यदि सादृश्यको वस्तुरूप न माना जाये, प्रत्युत् शब्दगत माना जाये तो गर्वभ और खरगोशके शृंगोंमें भी उपमान-उपमेय भाव होने लगेगा । अतः सादृश्य वस्तुरूप होता है शान्दिक नहीं ।

उपमा और अनन्वय अलंकार उपमान तथा उपमाकी स्मृतिवाले माने जायेंगे । तात्पर्य यह है कि सादृश्यको केवल शब्दगम्य माननेपर उपमा और अनन्वय अलंकारकी स्थिति स्पष्ट नहीं हो पायेगी । दो भिन्न वस्तुओंके बीच सादृश्य या साधर्म्यका प्रतिपादन उपमा है और अनन्वयमें उपमेयको ही उपमान कहा जाता है । अतः वास्तविक सादृश्यके अभावमें उक्त दोनों अलंकार उपमाकी स्मृतिवाले ही माने जायेंगे । आशय यह है कि जहाँ उपमान उपमेय वस्तुरूप नहीं हैं, बल्कि उपमान और उपमाकी स्मृतिमात्र ही रहती है, वहाँ उपमा और अनन्वय अलंकार होते हैं । किन्हीं दो समान-धर्मियोंमें साधर्म्य दीख पड़ता है तो मालासहित निम्नलिखित अलंकार हो जाते हैं । जैसे—मालारूपक, रूपक आदि ॥५॥

इसी प्रकार परिणाम, संदेह, भ्रान्तिमान्, अपह्नुति, उल्लेख इत्यादि । पूर्वोक्त सभी अलंकार भेदसाधर्म्यहेतुक होते हैं ॥६॥

प्रतीप, प्रतिवस्तूपमा, सहोक्ति, निदर्शना, दृष्टान्त, दीपक तथा तुल्ययोगिता ये अलंकार अतिरेक होनेसे अर्थात् साधर्म्यका आधिक्य होनेसे अभेदसाधर्म्यहेतुक होते हैं ॥७॥

१. —उपमेयोपमास्मृती—ख । २. तुल्ययोगोऽप्ये व्यतिरेकतः क—ख ।

अतिशयोत्प्रेक्षाद्वयमध्यवसायमूलम् । विषमविशेषोक्तिविभावना चित्रा-
सङ्गत्यन्योन्यव्याघाततद्गुणभाविकविशेषाणां विरोधमूलत्वम् । परिसंख्यार्थ-
पत्तिविकल्पयथासंख्यसमुच्चयानां वाक्यन्यायमूलत्वम् । उदात्तविनोक्तिस्वभा-
वोक्तिसमसमाधिपर्यायपरिवृत्तिप्रत्यनीकतद्गुणानां लोकव्यवहारमूलत्वम् ।
अर्थान्तरन्यासकाव्यलिङ्गानुमानानि तर्कन्यायमूलानि ।

दोषकारकारणमालकावलोमालानां शृङ्खलावैचित्र्यहेतुकत्वम् । मीलन-
वक्रोक्तिव्याजोक्तयः अपह्नवमूलाः ॥ परिकरसमासोक्ती विशेषणवैचित्र्यहेतुः ।
इदानीमलङ्काराणां परस्परभेदः कथ्यते । परिणामरूपकयोरारोपगर्भत्वेऽप्यारो-
प्यस्य प्रकृतोपयोगानुपयोगाभ्यां भेदः । उल्लेखरूपकयोरारोपगोचरस्यारोप्यस्व-

अलंकारोंके मूलत्वका निरूपण—

अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षामें अद्यवसाय मूलक सादृश्य होता है । विषम,
विशेषोक्ति, विभावना, चित्र, अर्थान्तरि, ध्वनीय, व्याघात, तद्गुण, भाविक और
विशेषालंकारोंमें विरोधमूलक सादृश्य होता है ।

परिसंख्या, अर्थापत्ति, विकल्प, यथासंख्य और समुच्चय अलंकारोंमें वाक्यन्याय-
मूलत्व पाया जाता है ।

उदात्त, विनोक्ति, स्वभावोक्ति, सम, समाधि, पर्याय, परिवृत्ति, प्रत्यनीक,
तद्गुण इन अलंकारोंमें लोकव्यवहारमूलत्व पाया जाता है ।

अर्थान्तरन्यास, काव्यलिङ्ग, और अनुमान अलंकारोंमें तर्कन्यायमूलत्व रहता है ।
दोषक, सार, कारणमाला, एकावली और माला अलंकारोंमें शृङ्खला वैचित्र्य-
मूलत्व रहता है ।

मीलन, वक्रोक्ति, और व्याजोक्ति अलंकारोंमें अपह्नव मूलकता पायी जाती
है । परिकर और समासोक्तिमें विशेषण वैचित्र्यहेतुकता विद्यमान रहती है ।

तात्पर्य यह है कि सादृश्यके अतिरिक्त अलंकारोंके वर्गीकरणके आधार ग्रन्थकार
ने निम्नलिखित निर्धारित किये हैं—

(१) अद्यवसायमूलकत्व (२) विरोधमूलकत्व (३) वाक्यन्यायमूलकत्व (४)
लोकव्यवहारमूलकत्व (५) तर्कन्यायमूलकत्व (६) शृङ्खलावैचित्र्य (७) अपह्नवमूलकत्व
(८) विशेषणवैचित्र्यहेतुकत्व ।

अलंकारोंमें परस्पर भेद : परिणाम और रूपकमें भेद—

परिणाम और रूपक इन दोनोंमें आरोप किया जाता है । परिणाममें आरोप्य
विषयका प्रकृतमें उपयोग होता है, पर रूपकमें उसका उपयोग नहीं होता, यही भेद है ।
उल्लेख और रूपकमें भेद—

उल्लेख और रूपकालंकारोंमें आरोप प्रत्यक्षता आरोप्य स्वभावके सम्भव और
असम्भवके कारण दोनोंमें भेद है । अभिप्राय यह है कि दोनों आरोपमूलक अभेद प्रधान

भावसंभवासंभवाभ्यां वैलक्षण्यम् । भ्रान्तिमदपह्नवसन्देहानामारोपविषयस्य भ्रान्त्यपलापसंशये भेदः । उपमानन्वयोपमेयोपमाः साधर्म्यस्य वाच्यत्वात् सादृश्यमूलत्वेऽपि तुल्ययोगितानिदर्शनदृष्टान्तव्यतिरेकदीपकेभ्यो भिन्नाः । उपमेयोपमाप्रतिवस्तूपमयोः साधारणधर्मस्य वाच्यत्वप्रतीयमानत्वाभ्यां भेदः ॥ प्रतिवस्तूपमादृष्टान्तौ वस्तुप्रतिवस्तुविम्बप्रतिविम्बभावहवेन भिद्येते । दीपक-

सादृश्यगर्भ अर्थालंकार है । निरंगमाला रूपकमें अनेक उपमानोंका एक उपमेयमें आरोप-
मात्र रहता है; उल्लेखमें एक वस्तुका परिस्थितिभेदसे अनेकधा वर्णन किया जाता है ।

भ्रान्तिमान्, अपह्नुति और सन्देहमें अन्तर—

भ्रान्तिमान्, अपह्नव और सन्देहालंकारोंमें आरोप विषयकी भ्रान्ति, असत्य कथन एवं सन्देहके कारण परस्पर भेद है । उक्त तीनों ही सादृश्यगर्भ अभेदप्रधान आरोपमूलक अर्थालंकार हैं । भ्रान्तिमान्में मिथ्यात्व सादृश्यपर आधारित होता है और सन्देहमें मिथ्यात्वकी संशयावस्था सादृश्यमें स्वयं उत्पन्न होती है । भ्रान्तिमान्के मूलमें भ्रान्ति है और सन्देहके मूलमें संशय । अपह्नुतिमें प्रकृत—प्रत्यक्षको निषेधवाचक शब्दों द्वारा छिपाया जाता है एवं उसमें अप्रकृतका चमत्कारवेष्टित आरोप या स्थापन किया जाता है ।

उपमा, अनन्वय और उपमेयोपमामें अन्तर—

उपमा, अनन्वय और उपमेयोपमा नामक अलंकारोंमें साधर्म्यके वाच्य होनेके कारण यद्यपि सादृश्यमूलकता है, तो भी तुल्ययोगिता, निदर्शना, दृष्टान्त, व्यतिरेक और दीपकालंकारोंमें सादृश्यके प्रतीयमान होनेके कारण भिन्नता है ।

उपमेयोपमा और प्रतिवस्तूपमामें अन्तर—

उपमेयोपमा और प्रतिवस्तूपमा अलंकारोंमें साधारण धर्मके क्रमशः वाच्य और प्रतीयमान होनेके कारण भेद है ।

प्रतिवस्तूपमा और दृष्टान्तमें परस्पर भेद—

प्रतिवस्तूपमामें वस्तु तथा प्रतिवस्तुका विम्बभाव और दृष्टान्त अलंकारमें वस्तु-
प्रतिवस्तुका प्रतिविम्ब भाव रहता है । अतः दोनों अलंकारोंमें परस्पर अन्तर है । आशय यह है कि दोनों ही सादृश्यगर्भ गम्योपम्याश्रयमूलक अर्थात् अर्थ-
लंकार हैं । दोनोंके उपमेय-वाच्य और उपमान-वाच्य निरपेक्ष होते हैं । दृष्टान्तमें विम्ब-प्रतिविम्बभाव होता है, पर प्रतिवस्तूपमामें वस्तु-प्रतिवस्तुभाव । दृष्टान्तमें दो साधर्म्य रहते हैं, जिन्हें भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कहा जाता है, प्रतिवस्तूपमामें साधर्म्य एक ही रहता है, केवल दो भिन्न शब्दों द्वारा उनका कथन भर किया जाता है ।

१. भावेन इति—ख ।

तुल्ययोगितयोरप्रस्तुतप्रस्तुतानां समस्तत्व-व्यस्तत्वाभ्यां भेदः । उत्प्रेक्षोपम-
योरुपमानस्याप्रसिद्धप्रसिद्धत्वाभ्यां भेदः । उपमाश्लेषी अर्थसाम्येन च भिद्येते ।
उपमानन्वयौ स्वतोभिन्नत्वाभ्यामुपमानोपमेययोर्भिन्नी । उपमोपमेयोरुपमानो-
पमेयस्वरूपस्थयांगपद्यपयार्थाभ्यां भेदः । समासावस्थप्रस्तुतप्रदासयोरप्रस्तुतस्य

दीपक और तुल्ययोगितामें परस्पर अन्तर—

दीपक और तुल्ययोगितामें अप्रस्तुत और प्रस्तुतके क्रमशः समस्त और व्यस्त होनेके कारण परस्पर भेद है । आशय यह है कि दोनों सादृश्यगर्भ गम्योपम्याश्रयमूलक वर्णके पदार्थगत अर्थालंकार हैं । दोनोंमें एक धर्माभिसम्बन्ध होता है । दोनों सादृश्य, साधर्म्य पद्धति द्वारा निर्दिष्ट होते हैं । दोनोंमें कथन एक वाक्यगत होता है, पर दीपकमें जहाँ प्रस्तुताप्रस्तुतका एक धर्माभिसम्बन्ध होता है, वहाँ तुल्ययोगितामें केवल प्रस्तुतका अथवा केवल अप्रस्तुत का ।

उत्प्रेक्षा और उपमामें अन्तर—

उत्प्रेक्षा और उपमामें क्रमशः उपमानकी अप्रसिद्धि और प्रसिद्धिके कारण भिन्नता है । तात्पर्य यह है कि ये दोनों ही साधर्म्यमूलक अर्थालंकार हैं, पर उपमा है भेदाभेदतुल्यप्रधान और उत्प्रेक्षा अभेदप्रधान अव्यवसायमूलक है । उपमामें उपमेय और उपमानमें साम्यप्रतिपादन किया जाता है और उत्प्रेक्षामें उपमेयमें उपमानकी सम्भावना की जाती है । उपमामें साम्यभाव निश्चित है, पर उत्प्रेक्षामें अनिश्चित ।

उपमा और श्लेषमें अन्तर—

उपमा और श्लेष अर्थसाम्यके कारण भिन्न हैं, (क्योंकि श्लेषमें शब्दसाम्य होता है) ।

उपमा और अनन्वयमें अन्तर—

उपमान और उपमेयके स्वतो भिन्न होनेके कारण उपमा और अनन्वय परस्पर भिन्न हैं ।

उक्त दोनों भेदाभेदतुल्यप्रधान साधर्म्यमूलक अर्थालंकार हैं । उपमामें उपमेय और उपमान भिन्न-भिन्न होते हैं, अनन्वयमें उपमेय ही स्वयं उपमान होता है ।

उपमा और उपमेयोपमामें भिन्नता—

उपमामें उपमेय एक ही वार दिखलाई पड़ता है, पर उपमेयोपमामें कभी उपमेय उपमान और कभी उपमान उपमेय ही जाता है, अतः उपमा और उपमेयोपमा भी परस्पर भिन्न हैं । तात्पर्य यह है कि उपमा एक वाक्यगत होती है और उपमेयोपमा

१. उत्प्रेक्षोपमयोरुपमानस्याप्रसिद्धत्वप्रसिद्धत्वाभ्यां भेदः—ख । २. अर्थसाम्येन शब्दसाम्येन च—ख । ३. उपमानन्वयौ स्वतो भिन्नत्वाभिन्नत्वाभ्यामुपमेययोर्भिन्नी—ख ।

प्रतीयमानत्ववाच्यत्वाभ्यामन्यत्वम् । व्यंग्यवाच्यद्वयस्य प्रस्तुतत्वे पर्यायोक्तिः, अप्रस्तुतप्रशंसा वाच्यस्याप्रस्तुतत्वे कथ्यते, ततस्ते भिन्ने । पक्षधर्मत्वव्याप्याद्यसंभवादानुमानतो भिन्नं काव्यलिङ्गम् । साधारणगुणयोगित्वेन भेदादर्शने

द्विवाक्यगत । प्रथममें केवल उपमेयकी उपमानसे समता बतायी जाती है और द्वितीयमें उपमेय और उपमान परस्पर एक दूसरेका उपमान और उपमेय बनते चलते हैं ।

समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसामें अन्तर—

समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसामें अप्रस्तुतके प्रतीयमान और वाच्य होनेके कारण भिन्नता है । इन दोनों अलंकारोंमें दो-दो अर्थोंकी प्रतीति होती है—एक वाच्यार्थ और दूसरा व्यंग्यार्थ । अप्रस्तुतप्रशंसामें अप्रस्तुत वाच्य रहता है और प्रस्तुत व्यंग्य; पर समासोक्तिमें प्रस्तुत वाच्य रहता है और अप्रस्तुत व्यंग्य । दोनों एक-दूसरे के विलोम हैं ।

पर्यायोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसामें भिन्नता—

व्यंग्य और वाच्य इन दोनोंके प्रस्तुत होनेपर पर्यायोक्ति अलंकार होता है । केवल वाच्यके अप्रस्तुत होनेपर अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार होता है, अतः पर्यायोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा भिन्न-भिन्न अलंकार हैं । आशय यह है कि पर्यायोक्तिमें वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों प्रस्तुत रहते हैं, पर अप्रस्तुतप्रशंसामें केवल वाच्यार्थ ही प्रस्तुत रहता है । पर्यायोक्तिमें वाच्यार्थकी प्रधानता होती है, पर अप्रस्तुतप्रशंसामें व्यंग्यार्थकी । प्रथममें वाच्य-वाचकभाव मूलतः व्यंजनताका भेदन्तरमात्र कहा जाता है, जबकि द्वितीयमें ऐसी बात नहीं होती ।

अनुमान और काव्यलिङ्गमें भिन्नता—

अनुमानालंकारमें पक्षधर्मता और व्याप्तिकी स्थिति रहती है, काव्यलिङ्गमें नहीं । अतः ये दोनों भिन्न हैं । ये दोनों ही अलंकार तर्कन्यायमूलक हैं । तात्पर्यसिद्धिके निमित्त थोड़े अन्तरके साथ कारणका प्रयोग दोनोंमें होता है । काव्यलिङ्गमें कार्य-कारणभाव वाच्य नहीं, व्यंग्य होता है; पर अनुमानमें साध्य-साधनभाव वाच्य होता है । अनुमानमें समर्थक हेतु—कारक हेतु रहता है, किन्तु काव्यलिङ्गमें ज्ञापक हेतु होता है ।

सामान्य और मौलिक अलंकारमें भिन्नता—

साधारण गुणका सम्बन्ध रहनेके कारण भेद प्रतीत न होनेपर सामान्य और उत्कृष्ट गुणके योजनाहीन गुणके प्रकाशित न होनेपर मौलिकालंकार होता है; अतः ये दोनों परस्पर भिन्न हैं । भाव यह है कि सामान्य अभेदप्रधान अव्यवसायमूलक है और मौलिक अभेदप्रधान आरोपमूलक । मौलिकमें सबल वस्तु निर्बल वस्तुको छिपा लेती है, पर सामान्यमें दोनों वस्तुएँ एक-दूसरीसे घुल-मिल जाती हैं । मौलिकमें साधर्म्यके कारण निर्बल वस्तु इस प्रकार छिप जाती है कि उसका भेद कुछ भी लक्षित नहीं होता, पर सामान्यमें यह भेद पूर्णतः नहीं छिपता ।

सति सामान्यम्, उच्छृष्टगुणयोजनहीनगुणतिरोहितत्वे मीलनम् । अन्ययोगव्यवच्छेदेनाभिप्रायाभावादुदात्तस्य परिसंख्यातोऽन्यत्वम् ।

कार्यसिद्धौ काकतालीयत्वेन कारणान्तरसंभवे समाधिः । सिद्धावहमहमिकया हेतूनां बहूनां व्यापृतौ समुच्चयः । ततस्तयोरन्यत्वम् । व्याजस्तुत्यपह्नुर्योरपलापस्य गम्यवाच्यत्वाभ्यां श्लेषाणां भेदः सुगमः । मीलनसामान्यव्याजोक्तिषु साधर्म्यस्य कथंचित्सत्त्वेऽप्यविवक्षितत्वान्न गणना साधर्म्यमूलेषु ।

उदात्त और परिसंख्या अलंकारमें भेद—

अन्ययोगव्यवच्छेदके द्वारा कथित अभिप्राय परिसंख्या अलंकारमें होता है, उदात्तालंकारमें नहीं । अतः ये दोनों परस्परमें भिन्न हैं । अर्थात् एक वस्तुकी अनेकत्र स्थिति सम्भव रहनेपर भी अन्यत्र निषेध कर एक स्थानमें नियमन कर दिया जाये, वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है । संस्कृतके अन्य अलंकारशास्त्रियोंने भी लोकसिद्ध वस्तुव्यवच्छेद और तैयारिक या भीमांसक सम्मत वस्तुव्यवच्छेदसे हटकर कल्पनाप्रसूत अन्यवस्तुव्यवच्छेदमें ही इस अलंकारको स्वीकार किया है । उदात्तमें अन्यका निषेध नहीं किया जाता है और लोकोत्तर वैभव अथवा महान् चरित्रकी समृद्धिका वर्णयद्वस्तुके अंगरूपमें वर्णन किया जाता है ।

समाधि और समुच्चय अलंकारमें भेद—

जहाँ काकतालीयन्याय—अचानकसे कारणान्तरके मिलनेसे कार्यसिद्धि हो जाये, वहाँ समाधि अलंकार होता है और 'अहं पूर्विकया अहं पूर्विकया' अनेक कारणोंके मिलनेसे कार्यसिद्धि सम्पन्न हो, वहाँ समुच्चय अलंकार होता है । समाधिमें आकस्मिक कारणान्तर या कर्त्तृके योगसे कार्यकी सिद्धि दिखलायी जाती है; पर समुच्चयमें कार्यसिद्धिके लिए एक समर्थ साधकके रहते हुए भी साधनान्तरका कथन किया जाता है । इसमें कार्यकी सिद्धि हेतु एक कारणके होते हुए भी अन्य कारणका समावेश स्वीकार किया जाता है । पर समाधिमें आकस्मिक रूपसे कारणान्तरका संयोग होता है ।

व्याजस्तुति और अपह्नृतिमें भेद—

व्याजस्तुति और अपह्नृति इन दोनों अलंकारोंमें यद्यपि अपलाप—असत्य कथन रहता है, किन्तु व्याजस्तुतिमें वह प्रतीयमान और अपह्नृतिमें वाच्य होता है । अतः उक्त दोनों अलंकारोंमें भिन्नता है ।

मीलन, सामान्य और व्याजोक्तिकी व्यवस्था—

मीलन, सामान्य और व्याजोक्तिमें साधर्म्यके कथंचित् रहनेपर भी अविवक्षित होनेके कारण साधर्म्यमूलकोंमें गणना नहीं की गयी है ।

इत्यलंकारसांकर्यनिवर्तनम् ।

उपमानन्वयौ स्यातामुपमेयोपमास्मृती ।
 रूपकं परिमाणश्च संदेहो भ्रान्तिमानपि ॥८॥
 अपह्लवस्तथोल्लेखोत्प्रेक्षे अतिशयस्तथा ।
 सहांक्तिश्च विनोक्तिश्च समासोक्तिस्तथा पुनः ॥९॥
 वक्रोक्तिश्च स्वभावोक्तिर्व्याजोक्तिर्मौलनं तथा ।
 सामान्यतद्गुणात्तद्गुणविरोधविशेषकाः ॥१०॥
 अधिकं च विभावोऽपि विशेषोक्तिरसंगतिः ।
 चित्रान्द्योन्यासामान्यानि तुल्ययोगित्वदोषकम् ॥११॥
 प्रतिवस्तूपमा चापि दृष्टान्तोऽपि निदर्शना ।
 व्यतिरेकस्तथा श्लेषस्तथा परिकरः पुनः ॥१२॥
 आक्षेपश्च तथा व्याजस्तुतिरप्रस्तुतस्तुतिः ।
 पर्यायोक्तिं प्रतीपं चानुमानं काव्यलिङ्गकम् ॥१३॥
 अपि चार्थान्तरन्यासो यथासंख्यं पुनस्तथा ।
 अर्थापत्तिस्तथातोऽपि परिसंख्योत्तरे तथा ॥१४॥
 विकल्पोऽलङ्कृती द्वे च समुच्चयसमाधितः ।
 भाविकप्रयसोरैस्यथोर्जस्वी प्रत्यनौककम् ॥१५॥

इस प्रकार अलंकारोंमें परस्परके सांकर्यका निराकरण हुआ ।

अलंकारचिन्तामणिके अनुसार अलंकार—

(१) उपमा, (२) अन्वय, (३) उपमेयोपमा, (४) स्मरण, (५) रूपक, (६) परिणाम, (७) सन्देह, (८) भ्रान्तिमान्, (९) अपह्लव (अपह्लति), (१०) उल्लेख, (११) उत्प्रेक्षा; (१२) अतिशयोक्ति, (१३) सहांक्ति, (१४) विनोक्ति, (१५) समासोक्ति, (१६) वक्रोक्ति, (१७) स्वभावोक्ति, (१८) व्याजोक्ति, (१९) मौलन (मौलित), (२०) सामान्य, (२१) तद्गुण, (२२) अतद्गुण, (२३) विरोध, (२४) विशेषक, (२५) अधिक, (२६) विभाव, (२७) विशेषोक्ति, (२८) असंगति, (२९) चित्र, (३०) अन्योन्य, (३१) सामान्य, (३२) तुल्ययोगिता, (३३) दोषक, (३४) प्रतिवस्तूपमा, (३५) दृष्टान्त, (३६) निदर्शना, (३७) व्यतिरेक, (३८) श्लेष, (३९) परिकर, (४०) आक्षेप, (४१) व्याजस्तुति, (४२) अप्रस्तुतस्तुति (अप्रस्तुतप्रशंसा), (४३) पर्यायोक्ति (४४) प्रतीप, (४५) अनुमान, (४६) काव्यलिङ्ग, (४७) अर्थान्तरन्यास, (४८) यथासंख्या, (४९) अर्थापत्ति, (५०) परिसंख्या, (५१) उत्तर, (५२) विकल्प, (५३)

१. चित्रान्द्योन्यासामान्यानि—क ख । २. रसोऽस्यास्तीति रसो । रसवदलंकार इत्यर्थः ।
 प्रथमप्रती पादभागे ।

व्याघान्तश्चापि पर्यायः सूक्ष्मोदात्तद्वयं तथा ।
 परिवृत्तिस्तथा कारणमालकावली द्वीनम् ॥१६॥
 मालादीपकसारी च तथा संसृष्टिसंकरौ ।
 उभयालंकारस्त्वत्र संसृष्ट्यन्तर्भवा मता ॥१७॥
 तत्र प्रथममनेकालंकारहेतुत्वादुपमा निगद्यते ॥
 वर्ण्यस्य साम्यमन्येन स्वतःसिद्धेन धर्मतः ।
 भिन्नेन सूर्यभोष्टेन वाच्यं यत्रोपमैकदा ॥१८॥

स्वतो भिन्नेन स्वतः सिद्धेन विद्वत्संमतेन अप्रकृतेन सह प्रकृतस्य यत्र
 धर्मतः सादृश्यं सोपमा । स्वतः सिद्धेनेत्यनेनोत्प्रेक्षानिरासः ॥ अप्रसिद्धस्याप्यु-
 त्प्रेक्षायामनुमानत्वघटनात् ॥ स्वतो भिन्नेनेत्यनेनानन्वयनिरासः । वस्तुन
 एकस्यैवानन्वये उपमानोपमेयत्वघटनात् । सूर्यभोष्टेनेत्यनेन हीनोपमादिनिरासः ।

समुच्चय, (५४) समाधि, (५५) भाविक, (५६) प्रेयस्, (५७) रसी (रसवद्), (५८)
 ऊर्जस्वी, (५९) प्रत्यनीक, (६०) व्याघात, (६१) पर्याय, (६२) सूक्ष्म, (६३) उदात्त,
 (६४) परिवृत्ति, (६५) कारणमाला, (६६) एकावली, (६७) त्रिकावली, (६८) माला,
 (६९) दीपक, (७०) सार, (७१) संसृष्टि और (७२) संकर । उभयालंकार संसृष्टिके
 अन्तर्गत माना गया है ॥८-१७॥

सर्वं प्रथम अनेक अलंकारोंका कारण होनेसे उपमाका लक्षण कहा जाता है ।

उपमालंकारका लक्षण—

स्वतः पृथक् तथा स्वतः सिद्ध आचार्योंके द्वारा अभिमत अप्रकृतके साथ प्रकृत-
 का एक समय धर्मतः सादृश्य वर्णन करना उपमा अलंकार है ॥१८॥

स्वतः से भिन्न और स्वतःसिद्ध विद्वत्संमत अप्रकृतके साथ प्रकृतका जहाँ
 धर्मरूपसे सादृश्य रहे, वहाँ उपमा अलंकार होता है । इस लक्षणमें 'स्वतःसिद्धेन' यह
 विशेषण नहीं दिया जाता तो उत्प्रेक्षामें भी उपमाका लक्षण घटित हो जाता । क्योंकि
 स्वतः अप्रसिद्धका भी उत्प्रेक्षामें अनुमान उपमानत्व होता है । इसी प्रकार 'स्वतो-
 भिन्नेन' यदि लक्षणमें समाविष्ट न किया जाता तो 'अनन्वयमें भी उपमाका लक्षण
 प्रविष्ट हो जाता, क्योंकि एक ही वस्तुको उपमान और उपमेयरूपसे अनन्वयमें कहा
 जाता है । यदि उपमाके उक्त लक्षणमें 'सूर्यभोष्टेन' पदका समावेश नहीं किया जाता
 तो हीनोपमामें भी उपमाका उक्त लक्षण प्रविष्ट हो जाता, अतः उपमाके लक्षणमें
 'सूर्यभोष्टेन'—आचार्याभिमत पद दिया गया है ।

१. द्वयम्—ख । २. गुणात् धर्मतः—ख । ३. -उपमानत्वघटनात्—क-ख । ४. स्वप्रती
 वस्तुनः इति पदं नास्ति ।

उदाहरणम्—

समुद्र इव गम्भीरः सुमेरुव सूनतः ।

दिग्दन्तीव च षट्खण्डधीरेयो भरतेश्वरः ॥१९॥

धर्मत इत्यनेन श्लेषनिरासः । श्लेषालंकारे शब्दसाम्यमात्रस्याङ्गीकारात् ।

न गुणक्रियासाम्यस्य । उदाहरणम्—

सन्मार्गं सुविराजन्ते तमोनिवह्वारणाः ।

गुणानां राजयो नानातारालक्ष्य इव स्फुटाः ॥२०॥

अत्र तारा राजय इव गुणराजय इति उपमा । सन्मार्गं इत्यत्र अर्थ-
साम्याभावात् । सत्^१ जैनो मार्गो रत्नत्रयरूपो यस्य मुनेः । तारापक्षे नभसीति
व्याख्यानात् । किंतु श्लेष एव । साम्यमन्येन वर्ण्यस्यैत्यनेन प्रतीपालंकार-
व्यावृत्तिः । प्रतीपे उपमानत्वकल्पनादुपमेयस्य प्रकृतेन सहाप्रकृतस्य साधर्म्य-
वर्णनात् । उदाहरणम्—

उपमाका उदाहरण —

भरतेश्वर—भरतचक्रवर्ती समुद्रके समान गम्भीर, सुमेरुके समान अत्युन्नत
एवं दिग्दन्ती के समान छह खण्डके भारको धारण करनेमें समर्थ हैं ॥१९॥

उपमाके लक्षणमें 'धर्मतः' पद दिया गया है, जिससे यह लक्षण श्लेषालंकारमें
वर्णित नहीं होता; क्योंकि श्लेषमें केवल शब्दोंकी समता मानी गयी है । गुण और
क्रियाकी समता नहीं मानी जाती है ।

उपमाका आधार सादृश्य है । सादृश्यको चमत्कृतजन्य और सहृदयके लिए
आह्लादक होना आवश्यक है, याय ही उसे वाच्यरूपमें स्पष्टः प्रकट होना भी अनिवार्य
है, व्यंग्यरूपमें प्रतीयमान नहीं ।

श्लेष और उपमाके स्पर्शीकरणका उदाहरण—

देदीप्यमान अनेक तारार्पणियोंके समान अन्धकारसमूहको दूर करनेवाले
गुणोंके धारी मुनिराज रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गमें सुशोभित हो रहे हैं ॥२०॥

यहाँ ताराश्रेणियोंके समान गुणश्रेणियों यह उपमा नहीं है । 'सन्मार्गं' यहाँ पर
अर्थसाम्य नहीं होनेके कारण सत् मार्ग—रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्गके धारी मुनिराज ।
तारापक्षमें 'सन्मार्गं'का अर्थ 'आकाशमे' है । उपर्युक्त श्लोकमें सादृश्य रहनेपर भी
'श्लेष' ही है; उपमा नहीं । यत्तः यहाँ 'धर्मतः' सादृश्यका अभाव है । जहाँ धर्मतः
सादृश्य होगा, वहाँ पर उपमाकी स्थिति सम्भव है ।

१. उदाहरणमित्यस्य स्थाने 'उक्तं च' कप्रती अस्ति । २. स्वप्रती 'जैनो' इत्यस्य स्थाने
समीचीनः पदमस्ति । ३. स्वप्रती 'तारापक्षे' इत्यस्य स्थाने तादापक्षे पाठोऽस्ति ।
४. साधर्म्यस्थाने साम्यपाठः—स्व ।

विशेषं न जनो वेत्ति किं कुर्मः कस्य भाष्यते ।

यन्महाभरतेशेन चन्द्रमा उपमोयते ॥२१॥

अत्र प्रकृतेन भरतेशेन अप्रकृतस्य चन्द्रमसः सादृश्यमिति प्रतीपालंकारो
नोपमा । साम्यमित्यनेनोपमेयोपमानिराकरणम् । तस्यामुपमानोपमेययोरनेकदा
सादृश्यवचनात् । उदाहरणम् ।

सरस्वतीव भाति श्रीः श्रीरिवारिस्त सरस्वती ।

सुभद्रा ते इवाभाति, ते सुभद्रेव चैक्रिणी ॥२२॥

अत्र सरस्वतीव श्रीः श्रीरिव सरस्वतीत्यनेनानेकदा इव शब्दद्वयेन
ब्राह्मीलक्ष्मीसुभद्राणां साम्यं निरूप्यते इति उपमेयोपमा । वाच्यमित्यनेन
केषांचिद्रूपकादिप्रतीयमानोपम्यानां निरासः । उदाहरणम्—

श्रीमते सकलज्ञानसाम्राज्यपदमीयुषे ।

धर्मचक्रभूते भर्त्रे नमः संसारभोमुपे ॥२३॥

उपमाके लक्षणमें "साम्यमित्यनेन" इस अंशके रहनेसे उपमाका लक्षण
प्रतीपालंकारमें घटित नहीं होता । प्रतीपमें उपमानत्वको कल्पना की जाती है तथा
उपमेयका प्रकृतके साथ अप्रकृतके साधर्म्यका वर्णन किया जाता है । यथा—

उदाहरण—

भरतचक्रवर्तीको चन्द्रमासे उपमा दी जाती है, वह अनभिज्ञताका परिणाम है ।
लोक विशेष समझते नहीं, हम क्या करें ? किसको क्या कहें ? ॥२१॥

यहाँ प्रकृत भरतसे अप्रकृत चन्द्रमाका सादृश्य कहा गया है, इसलिए प्रतीपालं-
कार है, उपमा नहीं । उपमाके लक्षणमें 'साम्य' का समावेश किया गया है, अतएव
यह लक्षण उपमेयोपमामें नहीं जाता है; क्योंकि उसमें उपमान और उपमेयका अनेक
बार सादृश्य कहा गया है ।

उदाहरण—

भरतचक्रवर्तीमें लक्ष्मी सरस्वतीके समान और सरस्वती लक्ष्मीके समान; लक्ष्मी
और सरस्वतीके समान सुभद्रा एवं गुभद्राके समान लक्ष्मी-सरस्वती सुशोभित होती
है ॥२२॥

यहाँ सरस्वतीके समान श्री, श्रीके समान सरस्वती इत्यादि अनेक बार आये
हुए हैं; इस दो बार शब्दसे भारती और सुभद्रामें समताका निरूपण हुआ है; अतएव
यहाँ पर उपमेयोपमा अलंकार है ।

उपमाके लक्षणमें 'वाच्यम्' पद द्वारा रूपक इत्यादिमें प्रतीयमान औपम्यका
निराकरण किया गया है ।

अत्र ज्ञानसाम्राज्यधर्मचक्रपदानां सामानाधिकरण्याप्रयोगान्यथानुपपत्त्या साम्यं प्रतीयते इति नोपमा । किंतु रूपकालंकारः ॥

प्रतापो किमयं सूर्यः सुकान्तिः किमयं विद्युः ।

मेरुः किं निश्चलो वेति भरतो वीक्षितो जनैः ॥२४॥

अत्र भरतेशस्य सूर्यादीनां चान्योऽन्यभेदप्रतीतेः संशयहेतुत्वान्यथानुपपत्त्या सादृश्यं लक्ष्यते इति नोपमा । किंतु संदेहालंकारः ।

चन्द्रप्रभं नौमि यदङ्गकान्तिं ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः ।

चकोरसूथं पिबति स्फुटन्ति कृष्णेऽपि पक्षे किल कैरवाणि ॥२५॥

अत्र चन्द्रप्रभाङ्गकान्तौ ज्योत्स्नावुद्धिः ज्योत्स्नासादृश्यं विना न स्यादिति सादृश्यप्रतीतौ भ्रान्तिमदलंकारः ॥

लक्ष्मीगृहमिति प्राज्ञाः ब्राह्मीपदमिति प्रजाः ।

कलाखानारति प्रीताः स्तुयन्ति सुपुरोः पुरीम् ॥२६॥

उदाहरण—

सम्पूर्ण ज्ञानरूपी साम्राज्यपदपर प्रतिष्ठित हुए, संसारके भयको दूर करनेवाले धर्मचक्रके धारणकर्ता श्रीमान् ऋषभदेवको नमस्कार है ॥२३॥

यहाँ ज्ञानसाम्राज्य और धर्मचक्रपदोंमें सामानाधिकरण्य समताके बिना सर्वथा अनुपपन्न है; अतः अन्यथानुपपत्तिसे समताकी प्रतीति होती है, अतएव उपमालंकार नहीं है, किंतु रूपकालंकार है ।

यह विशेष तेजस्वी सूर्य है क्या ? यह सुन्दर शरीरवाला चन्द्रमा है क्या ? यह सुदृढ़ मेरु है क्या ? इस प्रकार भरतचक्रवर्ती मनुष्यों द्वारा देखे गये ॥२४॥

यहाँ भरतेशकी सूर्य इत्यादिके साथ परस्पर अभेदकी प्रतीति होती है तथा संशयके कारण हीनेसे अन्यथानुपपत्तिके द्वारा सादृश्य दीख पड़ता है, अतएव उपमालंकार न होकर संदेहालंकार है ।

उन चन्द्रप्रभ तीर्थंकरको नमस्कार करता हूँ; जिनके शरीरकी कान्तिको चन्द्रमाकी किरण मानकर चन्द्रकान्तमणि द्रवीभूत होता है, चन्द्रमाकी किरण समझकर ही चकोरोंका समूह पान करता है और कृष्णपक्षमें कुमुद विकसित होते हैं ॥२५॥

यहाँ चन्द्रप्रभके अंगको कान्तिमें चन्द्रकिरणकी बुद्धि ज्योत्स्नाके सादृश्यके बिना नहीं हो सकती, अतः सादृश्य-प्रतीति होनेपर भ्रान्तिमान् अलंकार है ।

प्राज्ञ—बुद्धिमान् व्यक्ति देवमरौ—अमरावतीको लक्ष्मीका घर, प्रजागण सरस्वतीका स्थान और प्रेमी लोग कलाकी खान मानकर प्रशंसा करते हैं ॥२६॥

१. सामानाधिकरण्ये प्रयोगान्यथानुपपत्त्या—ख । २. ब्राह्मीगृहमिति—ख । ३. कला-
खनिमिति—ख ।

अत्र पुरे गृहाद्यारोपः साम्यं विना न स्यादिति सादृश्यकल्पनादुल्लेखालंकारः ॥

न च मुक्तावली वक्षोलम्बमानादिवक्रिणः ।

वक्षोगृहनिवासिन्या लक्ष्म्याः स्रक्कवरीगता ॥२७॥

अत्र वक्षोलम्बितमुक्तावलीमवलोक्य सगित्यारोपः । साम्यहेतुरेवेति साम्याक्षेपादपह्लवः । एवं तुल्ययोगिता दीपकं प्रतिवस्तूपमा चेति । दृष्टान्तसहोक्तिव्यतिरेकनिदर्शनेष्वपि सादृश्यगम्यत्त्वान्तोपमाशङ्का । अतः विश्वेभ्यः साम्यहेतुभ्यो विलक्षणेषमुपमा । सा तावद् द्विधा, पूर्णोपमा लुप्तोपमा चेति ।

उपमानोपमेयोरुधर्मसादृश्यवाचिनाम् ।

वा यथेवादिशब्दानां मतां पूर्णां प्रयोगतः ॥२८॥

एकस्य वा द्वयांलुप्ता प्रयाणां वा विलोपतः ।

पूर्णोपमा पुनर्द्वेषा श्रौतो चार्थीति भाषिता ॥२९॥

यहाँ नगरीमें घर इत्यादिका आरोप समताके विना नहीं हो सकता है । कारण सादृश्यकी कल्पनाके कारण उल्लेखालंकार है ।

भरत चक्रवर्तीके वक्षःस्थलपर लटकती हुई यह मोतीकी माला नहीं है, किन्तु उनके वक्षःस्थलरूपी घरमें निवास करनेवाली लक्ष्मीकी केशरचनाकी एवैत पुष्पमाला है ॥२७॥

यहाँ वक्षःस्थलपर लटकती हुई मालाको देखकर मालाका आरोप समताके कारण हुआ है, अतः समताके आक्षेपके कारण अपह्लव अलंकार है । इसी प्रकार तुल्ययोगिता, दीपक और प्रतिवस्तूपमामें भी समझना चाहिए । दृष्टान्त, सहोक्ति, व्यतिरेक और निदर्शना अलंकारोंमें भी सादृश्यकी प्रतीति होती है, अतः उक्त स्थलोंपर उपमालंकारकी शंका नहीं है । इसलिए सम्पूर्ण साम्य हेतुओंकी अपेक्षा विलक्षण यह उपमा अलंकार होता है ।

उपमाके भेद—

उपमालंकारके मूलतः दो भेद हैं—(१) पूर्णोपमा और (२) लुप्तोपमा ।

पूर्णोपमाका लक्षण—

उपमान और उपमेयके विशेष धर्म सादृश्य वाचक वा, यथा, इव इत्यादि शब्दोंके प्रयोग विद्यमान रहने पर पूर्णोपमालंकार होता है ॥२८॥

लुप्तोपमाका लक्षण—

उपमान, उपमेय साधारण धर्म और सादृश्यवाचक इव, वा आदि शब्दोंमें से एक, दो या तीनोंके लुप्त रहने पर उसे लुप्तोपमा कहते हैं ॥२९॥

१. गृहाद्यारोपः—ख । २. वक्षोगृहनिवासिन्याम्—ख ।

साक्षात्सादृश्यसंवाचियथेवादिप्रयोगतः ।
 श्रौती चार्थी तु संकाशनिकाशादिप्रयोगतः ॥३०॥
 ते प्रत्येकं त्रिधा वाक्यसमासभ्यां च तद्धितात् ।
 पूर्णा षोडशति लुप्ता तु बहुधा कविना मता ॥३१॥
 अथादाहरणानि—
 श्रौती वाक्यगता पूर्णा यथा षट्खण्डपालिनः ।
 भरतस्य यथा कीर्तिश्चान्द्रोन्दोर्षसर्वभूः ॥३२॥
 श्रौती समासगा पूर्णा यथा स भरतो बभौ ।
 भास्वानिवोदयाद्विस्थस्तेषोनिवहभास्वरः ॥३३॥
 अत्र भास्वानिवेति इवेन सह नित्यसमासः ॥

पूर्वोपमाके भेद—

पूर्वोपमाके दो भेद हैं—(१) श्रौती और (२) आर्षी ।

श्रौती औः आर्षीके लक्षण—

साक्षात् सादृश्यवाचक इव, वा इत्यादि शब्दोंके प्रयुक्त होनेपर शब्दों और संकाश, निकाश इत्यादि शब्दोंके प्रयोगसे आर्षी उपमा होती है ॥३०॥

पूर्वोपमाके भेदोंका निरूपण—

वाक्यगा, समासगा और तद्धितागाके भेदसे वे दोनों श्रौती और आर्षी—तीन-तीन प्रकारकी हैं । इस प्रकार पूर्वोपमाके छह भेद हैं और लुप्तोपमा कई प्रकारकी मानी गयी है ॥३१॥

वाक्यगता श्रौती उपमाका उदाहरण—

षट्खण्ड पृथ्वीके पालन करनेवाले भरतकी कीर्ति चन्द्रमाकी किरण जैसी है, जिस प्रकार चन्द्रउग्रोत्प्लासे समस्त पृथ्वी व्याप्त रहती है, उसी प्रकार भरतकी कीर्तिसे समस्त पृथ्वी व्याप्त है ॥३२॥

श्रौतीसमासगताका उदाहरण—

वह भरत उदयाचलपर वर्तमान तेजके समूहसे चमकता हुआ सूर्यके समान मुग्धोभित हुआ ॥३३॥

यहाँ 'भास्वानिव' में इव के साथ नित्य समास हुआ ।

१. नोकाशादिप्रयोगतः—ख । २. बहुधा कविना मता क-ख ।

श्रौती तद्धितगा पूर्णा यथा भरतचक्रिणः ।
 शेषवत् कूर्मवद्वाही घुरीणे विबभौ धरा ॥३४॥
 आर्थी वाक्यगता पूर्णा यथाधिजनसंततेः ।
 अभीष्टफलदत्वेन चक्री कल्पद्रुणा समः ॥३५॥
 आर्थी समासगा पूर्णा यथा हेमाद्रिसन्निभः ।
 जिनाभिषिक्तगन्धाम्बुपवित्रत्वेन चक्रभृत् ॥३६॥
 आर्थी तद्धितगा पूर्णा यथा तेजसि सूर्यवत् ।
 गाम्भीर्येऽम्भोधिवत् तौङ्मये मेरुवच्चक्रवत्यंभात् ॥३७॥

तेन समस्तेन सदृश इति सदृशार्थे^१ विहितस्य वत्प्रत्ययस्योपादाने
 आर्थी । तत्र तस्येवेतीवार्थे^२ विहितस्य वत्प्रत्ययस्य स्वीकारे श्रौती । एषामुदा-
 हरणेषु भरतस्य कीर्तिरित्याद्युपमेयवाचिनामिन्दोश्चान्द्रीत्याद्युपमानवाचिनां
 व्याप्तसर्वभूरित्यादिसाधारणधर्मवाचिनां यथेत्यादिसादृश्यवाचिनां च चतुर्णां
 रचितत्वेन पूर्णात्वम्^३ ।

तद्धितगता श्रौती उपमाका उदाहरण—

भरत चक्रवर्तीके शेष और कच्छपके समान भार धारण करनेमें समर्थ भुजदण्डोंमें
 पृथिवी सुशोभित हुई ॥३४॥

वाक्यगता आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण—

चक्रवर्ती अभिमत फलदायक होनेके कारण याचकगणोंके लिए कल्पवृक्षके
 समान है ॥३५॥

समासगता आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण—

चक्रवर्ती जिनेश्वर पर अभिषिक्त सुगन्धित जलसे पवित्र होनेके कारण सुमेरु
 पर्वतके समान है ॥३६॥

समस्त 'हेमाद्रिसन्निभः' पदके कारण समासगता आर्थी उपमा है ।

तद्धितगता आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण—

वह चक्रवर्ती तेजमें सूर्यके समान, गम्भीरतामें समुद्रके समान और ऊँचाईमें
 मेरुके समान सुशोभित हुआ ॥३७॥

उसके समान या उसके सदृश इस प्रकार सदृश अर्थमें विहित 'वत्' प्रत्ययका
 कथन रहनेसे आर्थी तद्धितगता पूर्णोपमा है । 'तत्र तस्येव' इस प्रकार इवार्थमें विहित
 वत् प्रत्ययके स्वीकार करने पर श्रौती उपमा आती है । पूर्वोक्त समस्त उदाहरणोंमें
 भरत चक्रवर्तीकी कीर्ति इत्यादि उपमेयवाची; 'इन्दोः, चान्द्री' इत्यादि उपमानवाची;

१. सदृशार्थे इत्यस्य स्थाने इवार्थे—ख । २. तस्य वेतीवार्थे—ख । ३. पूर्णत्वम्—क ।

लुप्ता वाक्यगतानुक्तधर्मा श्रौती मता यथा ।
 चूते यथा पिकाः सर्वे तथा चाक्रणि ते जनाः ॥३८॥
 लुप्ता समासगतानुक्तधर्मा श्रौती मता यथा ।
 पौदपीठों नृपास्तस्य भेजिरे देवतामिव ॥३९॥
 अत्र इवेन सह नित्यसमासः ॥
 लुप्ता वाक्यगतानुक्तधर्मा चार्थी मता यथा ।
 क्षीराब्धिध्वनिना तुल्यमादिचक्रिवचो बभौ ॥४०॥
 आर्थी समासगा लुप्तानुक्तधर्मा मता यथा ।
 पुरोर्वारिशिसुध्वानसदृशं नोनुभो ध्वनिम् ॥४१॥

‘व्यास सर्व भू’ इत्यादि साधारण धर्मवाचो और यथा, वा, इव इत्यादि सादृश्यवाचो शब्द, इस प्रकार चारों अवयवोंके रहनेके कारण पूर्णोपमा है ।

वाक्यगता अनुक्तधर्मा श्रौती लुप्तोपमाका उदाहरण—

जिस प्रकार आद्यवृक्ष पर कोकिल आश्रित है, उसी प्रकार चक्रवर्ती पर वे सभी मनुष्य आश्रित हैं ॥३८॥

यहाँ साधारणधर्म अनुक्त रहनेके कारण धर्मलुप्तोपमा है ।

समासगता अनुक्तधर्मा श्रौती लुप्तोपमाका उदाहरण—

राजालोग चक्रवर्तीके पैर रखनेसे पवित्र हुई पीठिकाको देवताके समान आदरणीय मानकर पूजते थे ॥३९॥

यहाँ ‘इव’ के साथ नित्यसमास होनेसे समासगता उपमा है । समासधर्मका लोप होनेसे अनुक्तधर्मा लुप्तोपमा है ।

वाक्यगता अनुक्तधर्मा आर्थी लुप्तोपमाका उदाहरण—

भरत चक्रवर्तीका वचन क्षीरसागरकी ध्वनिके समान सुशोभित हुआ ॥४०॥

यहाँ वाक्यगता अनुक्तधर्मा आर्थी लुप्तोपमा है । समासधर्मका कथन नहीं किया गया है ।

समासगता अनुक्तधर्मा आर्थी लुप्तोपमाका उदाहरण—

समुद्रकी गम्भीर ध्वनिके समान ऋषभदेवकी गम्भीर ध्वनि—दिग्धध्वनिको हम बार-बार प्रणाम करते हैं ॥४१॥

१. यथा तथा—ख । २. पौदपीठि—ख । ३. तुल्यमादी चक्री वचो बभौ—ख ।

१ लुप्ता तद्धितगानुक्तधर्मा चार्थी मता यथा ।
 गौतमं जिनेदेशीयं नमामि गणिनं मुदा ॥४२॥
 एकस्य धर्मस्यानुपादानं लुप्तत्वमेषूदाहरणेषु ।
 लुप्ता कर्मव्यचानुक्तधर्मैवादिभ्यथा तु सा ।
 भरतेशयशोवृन्दं कैलासीयति पर्वतान् ॥४३॥
 २ लुप्ताधारव्यचानुक्तधर्मैवादिभ्यथा पुनः ।
 चक्री लतागृहे वासगेहीयति सुभद्रया ॥४४॥
 लुप्ता कर्मणमानुक्तधर्मैवादिभ्यथा मता ।
 पुरोरङ्गं महामेरुदशं पश्यन्ति साधवः ॥४५॥
 लुप्ता कर्तृणमानुक्तधर्मैवादिभ्यथा मता ।
 भरतेशयशो लीके ज्योत्स्नाचारं चरत्यरम् ॥४६॥

तद्धितगता अनुक्तधर्मा अर्थी लुप्तोपमा—

जिनेस्वरसे ईषद् न्यून या उनके समान—केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर समान ज्ञानी गौतम गणधरको प्रसन्नतापूर्वक प्रणाम करता है ॥४२॥

उपर्युक्त उदाहरणोंमें एकधर्मके कथनाभावसे लुप्तोपमा है ।

अनुक्तधर्म और लुप्तोपमाका उदाहरण—

कर्मणि वयच् होनेसे अनुक्तधर्म तथा इवादिके न होनेपर लुप्तोपमाका उदाहरण बतलाते हैं । भरतेशकी कीर्तिराशि अन्य पर्वतोंको कैलास पर्वतके समान बना रही है ॥४३॥

यहाँ कीर्तिराशिकी उज्ज्वलता अनुक्त है और सादृश्यवाचक इवादि शब्दोंका प्रयोग भी नहीं किया है; अतः अनुक्तधर्मा लुप्तोपमा है ।

पुनः आधार वयच् होनेसे अनुक्तधर्मा, इवादि लुप्तोपमाका उदाहरण बतलाते हैं । चक्रवर्ती सुभद्राके साथ लतागृहमें विलासमवनके समान आचरण करता है ॥४४॥

कर्मणमा अनुक्तधर्मा लुप्तोपमाका उदाहरण—

कर्मिणम् होनेसे अनुक्तधर्मा इवाल्लुप्ता लुप्तोपमालंकार होता है । मुनिजन या साधुपुरुष पुरु—आदितीर्थंकर ऋषभदेवके शरीरको महान् मेरुके समान देखते हैं ॥४५॥

कर्तृणमा अनुक्तधर्मा लुप्तोपमाका उदाहरण—

कर्त्तामिणम् होनेसे अनुक्तधर्मा—सामान्यधर्मके लोप होने एवं इवादिके लोप होनेपर लुप्तोपमा होती है । यथा—इस संसारमें चक्रवर्ती भरतका यश चन्द्रिकाके समान सर्वथा घूमता है ॥४६॥

क्वपा चानुक्तधर्मेवादिर्यथा जिनशासनम् ।

पीयूषति सुदृष्टीनां कालकूटति दुर्दृशाम् ॥४७॥

उदाहरणेष्वेषु द्वयोरनुपादानं कैलासीयति पर्वतानित्यत्र कर्मक्यचि
कैलासमिव करोतीति वासगेहीयतीति आधारक्यचि वासगेहे इव वर्तत इति
'मेरुदर्शनं पश्यन्तीति कर्मकारकात् णमि सति मेरुमिव पश्यन्तीति ज्योत्स्नाचार-
मिति कर्तृणमि सति ज्योत्स्नेव चरतीति ॥ अत्र 'इव' शब्दोऽन्तर्गत इति लुप्तत्वम् ।

लुप्ता कर्मक्यचानुक्तधर्मेवादिर्यथा मता ।

आदिब्रह्मगिरो लोके सुधीयन्ति महात्मनाम् ॥४८॥

लुप्ता क्यचापि चानुक्तधर्मेवादिर्यथा मता ।

कल्पवृक्षायते धर्मा जिनप्रोक्तः सुखार्थिनाम् ॥४९॥

क्वपा अनुक्तधर्मा लुप्तोपमाका उदाहरण—

क्वप् के होनेपर सामान्यधर्म और इवादि लुप्त होनेपर लुप्तोपमा होती है ।
यथा—जिनेश्वरका शासन—सिद्धान्त सम्यग्दृष्टियोंके लिए अमृतके समान और मिथ्या-
दृष्टियोंके लिए विषके समान प्रतीत होता है ॥४७॥

उपर्युक्त उदाहरणोंमें सामान्यधर्म और इवादि इन दोनोंका कथन नहीं है ।
'कैलासीयति पर्वताम्'—में कर्मणि क्यच् होनेपर कैलास शब्दसे 'कैलासीयति' रूप
बनता है, जिसका अर्थ है—कैलासके समान आचरण करता है । 'वासगेहीयति' में
आधारे क्यच् हुआ है और इसका अर्थ है वासगृहमें जैसे । 'मेरुदर्शनं पश्यन्ति' में कर्म-
कारकसे 'णम्' प्रत्यय होनेके कारण 'मेरुमिव पश्यन्ति' अर्थ है । 'ज्योत्स्नाचारम्' में
कर्तृणि णम् प्रत्यय हुआ है और ज्योत्स्नाके समान घूमती है, अर्थ प्रकट होता है । इन
सभी उदाहरणोंमें 'इव' शब्द लुप्त है, अतः लुप्तोपमालंकार है ।

कर्मक्यच् अनुक्तधर्मा लुप्तोपमाका उदाहरण—

कर्मणि क्यच् होनेसे अनुक्त सामान्यधर्मा इवादि लुप्त होनेके कारण उक्त उपमा
होती है । यथा—संसारमें आदिब्रह्म—तीर्थंकर ऋषभदेवकी गिर—दिव्यध्वनि
महात्माओंके लिए अमृतके समान होती है ॥४८॥

क्यच् अनुक्तधर्मा लुप्तोपमाका उदाहरण—

क्यच्से अनुक्तधर्मा इवादि लुप्त होनेसे लुप्तोपमालंकार माता गया है । यथा—
जिनेश्वरसे कथितधर्म सुखार्थियोंके लिए कल्पवृक्षके समान होता है अर्थात् उनकी
समस्त इच्छाओंको पूर्ण करता है ॥४९॥

१. मेरुदर्शनं—ख । २. सुधीयन्ति—ख । ३. क्यचापि—ख ।

लुप्तानुक्तोपमाना तु वाक्यगा सा मता यथा ।
भरतस्य सम्स्त्यागो नास्त्येव त्रिजगत्पि ॥५०॥

लुप्तानुक्तोपमाना सा यथा सा तु समासगा ।
भरतेशसमो राजा नास्ति नास्त्येव विष्टपे ॥५१॥

यथा समासगा ^१लुप्ता वाक्यधर्मोपमानिका ।
भरतेशसस्तुल्यं न किञ्चिदपि भूतले ॥५२॥

अत्र द्वये धर्मस्याप्यनुपादानम् । ^३अत्रोदाहरणचतुष्टके न प्रतीपालंकार-
शङ्का, ^५आक्षेपाभावादुपमानस्य चक्रिणः ।

अकथित उपमान लुप्तोपमाका उदाहरण—

भरतके समान त्यागो तीनों लोकोंमें नहीं है । यही भरतके लिए किसी भी
उपमानका प्रयोग नहीं किया है ॥५०॥

समासगा लुप्तोपमा—

जो अकथित उपमानवाली उपमा है, उसे समासगा लुप्तोपमा कहते हैं । यथा—
भरतेश—भरत चक्रवर्तीके समान सम्राट् संसारमें नहीं है, नहीं ही है ॥५१॥

वाक्य धर्मोपमानिका समासगा लुप्तोपमा—

समासमें लुप्त सामान्यधर्म और लुप्तोपमानवाली लुप्तोपमा वाक्य धर्मोपमानिका
समासगा लुप्तोपमा कहलाती है । यथा—चक्रवर्ती भरतके यशके समान पृथिवीपर कुछ
नहीं है ॥५२॥

उक्त दोनों पदोंमें सामान्य धर्मका भी उपादान—कथन नहीं है । उपर्युक्त
चारों उदाहरणोंमें प्रतीपालंकारकी भी आशंका नहीं की जा सकती है; क्योंकि उपमान-
भूत चक्रोका आक्षेप नहीं हुआ है ।

१. ५२ छन्दसः पूर्वम्—क.ख । —एतदुदाहरणद्वये त्यगोति राजेति च शब्दाभ्यां
क्रमेण वितरणशीलत्वप्रजारङ्गकत्वरूपसादृश्यमुक्तम् । वाक्यगानुक्तधर्मोपमाना लुप्ता
मता यथा । कीर्त्या निधोशिनः तुल्यं न किञ्चिदपि विष्टपे ॥ इति अधिकः पाठः ॥

२. लुप्तानुक्तधर्मोपमानिका—क । ३. अत्रोदाहरणचतुष्टकेण प्रतीपालंकारशंका—ख । ४.
आक्षेपाभावादुपमानस्य, उपमानस्याप्याधिक्यं न विवक्षितम् । यत्रोपमेयस्याधिक्यविवक्षयो-
पमानत्वमुच्यते तत्र प्रतीपालङ्कारः इति—क । ५. कप्रती चक्रिणः इति पदं नास्ति । ख—
प्रती चक्रिणः इति पदं तथा ५३ संख्याकः श्लोकः न स्तः ।

लुप्ता समासगाऽनुक्तेवादिः संभाषिता यथा ।

भरताधिपचारित्रं सतां शीतांशुशीतलम् ॥५३॥

लुप्ता समासगानुक्तधर्मवाद्युपमानिका ।

भरतेशो बभौ लोके सौधर्मेन्द्रपराक्रमः ॥५४॥

अत्र सौधर्मेन्द्रपराक्रम इव पराक्रमो यस्येति धर्मवाद्युपमानं लुप्तमिति लुप्तोपमा ॥ साधारणधर्मस्वीकारे द्वैविध्यमुपमेयोपमानत्वेन युगपत् साधर्म्य-निर्देशः । तद्व्यगत्त्वेन पृथगुपादानं वा । पुनः पृथगुपादानं द्विधा । वस्तु-प्रतिवस्तुभावेन बिम्बप्रतिबिम्बभावेन चेति । अर्थस्यैकस्यैव शब्दद्वयेन कथनं वस्तुप्रतिवस्तुभावः ॥ अर्थद्वयस्य पृथगुपादानं बिम्बप्रतिबिम्बभावः ॥ तत्र सकृत्साधर्म्यनिर्देशो यथा ।

राजानो नतमूर्द्धनिः सेवन्ते भरतेश्वरम् ।

गुणानामाकरं पूज्यं पुरुं देवा इवाभितः ॥५५॥

अनुक्तधर्म इत्यादि सामान्यवाचक लुप्तोपमा—

समासमें रही हुई अनुक्त इवादि सादृश्यवाचक शब्दावली कही गयी है । यथा—भरतका चरित्र सज्जनोंके लिए चन्द्रकिरणके समान शीतल है ॥५३॥

समास स्थित अकथित इवादि शब्द तथा लुप्तोपमानवाली लुप्तोपमा—

समासस्थित अकथित इवादि शब्द तथा लुप्तोपमानवाला लुप्तोपमालंकार कहा गया है । यथा—सौधर्म इन्द्रके पराक्रमके समान पराक्रमवाला भरतेश इस संसारमें सुशोभित हुआ ॥५४॥

यहां 'सौधर्मेन्द्रके पराक्रमके समान पराक्रम है जिसका' पदमें सामान्य धर्म, इवादि शब्द और उपमानके लोप होनेसे लुप्तोपमा है । साधारण धर्मके स्वीकार करने पर दो प्रकारका होता है । उपमेय और उपमानमें रहनेसे एक ही साथ सादृश्यका निर्देश किया गया है । अथवा उन दोनों—उपमेय और उपमानमें रहनेके कारण पृथक् कथन है । यह पृथक् कथन भी दो प्रकारका है—(१) वस्तु-प्रतिवस्तु भावसे और (२) बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावसे ।

एक ही अर्थको दो शब्दों द्वारा कथन करनेको वस्तु-प्रतिवस्तुभाव होता है और दो अर्थोंको पृथक्-पृथक् शब्द द्वारा कथन करनेको बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होता है । पृथ्वार साधर्म्य निर्देशका उदाहरण—

नतमस्तक देवगण जिस प्रकार चारों ओरसे गुणोंकी खान परम पूजनीय पुरुषदेव—अग्नि तोर्थकरकी सेवा करते हैं; उसी प्रकार नतमस्तक नृपतिगण गुणोंकी खान, परम पूजनीय भरतेश्वर—भरत चक्रवर्तीकी सेवा करते हैं ॥५५॥

अत्र राज्ञां देवानां च नतमूर्धानि इति युगपदेव सादृश्यमुक्तम् । तदा गुणानामाकरं पूज्यमिति भरतस्य पुरोश्च समधर्मत्वं सकृदेवोक्तम् ।

भूषितो भरताधीशो रत्नेरुसुखप्रदेः ।

गुणैरलंकृतः सर्वैरादिब्रह्मोवभास्वरः ॥५६॥

अत्र भूषितालंकृतशब्दाभ्यामेकार्थत्वाद् वस्तुप्रतिबस्तुभावः ।

हारशोभितवक्षःश्रीरादिचक्रो बभौ तराम् ।

महामरुखिव श्वेतनिर्मलायतनिर्जरः ॥५७॥

अत्र हारनिर्जरयोः सादृश्येन चक्रमेवोः सादृश्यमिति बिम्बप्रतिबिम्ब-भावः । अन्यदपि द्वैविध्यमुपमालंकारस्य समस्तविषया एकदेशवर्तिनो चेति ।

देशो नाक इवाभाति विनीतेन्द्रपुरीव च ।

पौराः सुरा इवाभान्ति मघवानिव चक्रिराट् ॥५८॥

यहाँ राजाओं और देवताओंका 'नतमूर्धानः' इस शब्दसे एक ही बार सादृश्य कहा गया है और गुणोंका आकर एवं पूज्य इस प्रकार भरत और पुरुषी समधर्मता एक ही बार कही गयी है ।

वस्तु-प्रतिबस्तुभावका उदाहरण—

सभी गुणोंसे सुशोभित देदीप्यमान आदि ब्रह्मा—आदि तीर्थंकरके समान अनेक सुखदायी रत्नोंसे विभूषित भरत चक्रवर्ती है ॥५६॥

यहाँ विभूषित और अलंकृत शब्दोंके एकार्थक होनेके कारण वस्तु-प्रतिबस्तु-भाव है ।

बिम्ब-प्रतिबिम्बभावका उदाहरण—

श्वेत, स्वच्छ और विस्तृत धरनावाले महामरु पर्वतके समान हारसे युक्त वक्षः-स्थलसे शोभित आदि चक्री भरत अतिशय सुशोभित हुए ॥५७॥

यहाँ हार और निर्जरके सादृश्यसे चक्रो और मेरुका सादृश्य है, अतएव बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव है । अलंकारका द्वैविध्य भी है—(१) समस्तविषया (२) एकदेश-विश्रतिनो ।

समस्तविषयाका उदाहरण—

देश स्वर्गके समान सोभता है । अयोध्या नगरी अमरावती के समान सोभती है । नागरिक देवताओंके समान सुशोभित है तथा इन्द्रके समान चक्रवर्ती सुशोभित हो रहे है ॥५८॥

यह पद्य समस्तविषयाका उदाहरण है ।

१. विनीता अयोध्यानगरी—प्रथमप्रती पादभागे ।

एषा समस्तविषया ।
गिरिभिरिव चलद्भ्रुवरिणैः श्रीतरंगी-
रिव चलिततुरङ्गीर्यानिपात्रध्वजैर्वा ।
प्रतिरथभुरुशोभैः केतनैर्ध्यालजालै-
रिव धृतकरवालैश्चक्रिसैन्यं प्रतस्थे ॥५९॥

अत्र सैन्यं समुद्र इवेति सामर्थ्यात्^१ सिद्धेरेकदेशवर्तित्वम् ॥ इयमुपमा
मालारूपेण दृश्यते ॥

यथा—

पुष्पति हंसति हारति कैलासति कुमुदति क्षपाकरति ।

रजताचलति मुकुन्दति यशोगणो भरतराजस्य ॥६०॥

अत्रैकोपमेयस्यानेकोपमानप्रदर्शनेन मालात्वम् । भेदाभेदसाधारणं
साधर्म्यं प्रयोजकमुपमायाम् ॥ पुनरुपमाविशेषोऽयम्—

चन्द्रबिम्बमिवास्म्यं ते पुंश्चकोरदुगुत्सवम् ।

साक्षात्सादृश्यधर्मोक्तेरिति धर्मोपमा तु सा ॥६१॥

एकदेशविवर्त्तिनीका उदाहरण—

चलते ह्ये पर्वतोंके समान हाथियोंसे युक्त, सुन्दर तरंगोंके समान चंचल अर्द्धों-
से युक्त, विमानोंमें लगी हुई ध्वजाओंके समान प्रत्येक रथमें लगी हुई सुन्दर ध्वजाओंसे
युक्त, भयंकर सर्पसमूहके समान तलवारधारियोंके साथ शत्रु विजयके समय चक्रवर्तीकी
सेनाने प्रस्थान किया ॥५९॥

इस पद्यमें वर्णित चक्रवर्तीकी सेना समुद्रके समान है, यह शब्द-सामर्थ्यसे सिद्ध
होनेके कारण एकदेशविवर्त्तिनी है । यह उपमा माला रूपसे देखी जाती है । यथा—

मालोपमाका उदाहरण—

महाराज भरतका कोतिसमूह हंस, हार, कैलास, कुमुद, चन्द्रमा और सुन्दर
कुन्द पुष्पके समान आचरण करता है ॥६०॥

यहाँ एक उपमेयको अनेक उपमानों द्वारा दर्शाया गया है । यह मालालंकार या
मालोपमालंकार है । भेद और अभेद सामान्य साधर्म्य उपमामें प्रयोजक हैं, फिर भी
यह उपमाविशेष है ।

धर्मोपमाका उदाहरण—

नरचकोरके लोचनको प्रफुल्लित करनेवाले चन्द्रमाके बिम्बके समान तुम्हारा
मुख है ॥६१॥

१. चरित—ख । २. सिद्धेरेकदेशविवर्त्तित्वम्—ख । ३. मुकुन्दति—ख । ४. अत्रेत्यादि पूर्वम्
खप्रती "अधोपमालंकारभेदाः" इयमधिका पङ्क्तिः ॥ ५. अत्रैव उपमेयस्य—ख ।
६. चन्द्रबिम्बमिवास्म्यं—ख ।

पल्लवाद्यिव पाणी ते पादौ पद्माद्यिव प्रिये ।
 इति या गम्यमानैकधर्मा वस्तूपमा तु सा ॥६२॥
 त्वद्बोध इव गम्भीरः क्षीराब्धिर्भाति भो जिन ।
 विपर्यासात् प्रसिद्धस्य विपर्यासोपमा मता ॥६३॥
 त्वरपदे इव नीरजे^३ नीरजे इव ते पदे ।
 इत्थन्योन्योपमान्योन्यसमुत्कृष्टत्वशंसिनी ॥६४॥
 त्वद्विधा दर्पणेनैव सदृङ् नान्येन केनचित् ।
 इतोत्तरसदृशत्वहानेः सा नियमोपमा ॥६५॥
 चन्द्रोऽन्वेतु मुखं तावदस्थन्यद् यदि तादृशम् ।
 तत्सादृश्यकरं तत्स्यादित्युक्ता नियमोपमा ॥६६॥

इस पद्यमें साक्षात् सादृश्यधर्मका कथन है, अतः इसे धर्मोपमा कहा जायेगा ।

वस्तूपमाका उदाहरण—

हे प्रियतमे ! तुम्हारे हाथ दो पल्लवोंके समान और दोनों पैर कमलके समान हैं । यहाँ अनेक धर्मोंकी प्रतीति होनेके कारण वस्तूपमा है ॥६२॥

विपर्यासोपमालंकार—

हे जिनेश्वर ! आपके बोधके समान गम्भीर महासागर सोभता है । यहाँ प्रसिद्धको उपमेय और अप्रसिद्धको उपमान बना देनेके कारण विपर्यासोपमालंकार माना गया है ॥६३॥

अन्योन्योपमालंकार—

तुम्हारे पैरोंके समान कमल है और कमलोंके समान तुम्हारे पैर हैं; इस प्रकार परस्परमें एक दूसरेकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करनेवाले होनेसे अन्योन्योपमालंकार माना गया है ॥६४॥

नियमोपमालंकार—

तुम्हारी विद्या दर्पणके ही समान है दूसरे किसीके समान नहीं है, इस प्रकार अन्य सादृश्याभावके कारण इसे नियमोपमा कहते हैं ॥६५॥

अनियमोपमा—

यदि उसके समान दूसरा है, तो चन्द्रमा मुखका अनुगामी ही सकता है, उसकी समानता वह कर सकता है; इस प्रकारकी प्रतीति होने पर अनियमोपमालंकार होता है ६६॥

१. पल्लवैत्याद्यि पूर्वम् वस्तूपमा पदम्—ख । २. त्वदिति पूर्वं नियमोपमा—ख । त्वद्बोध इत्यस्य स्थाने तद्बोध—ख । ३. नीरेजे नीरेजे—ख । ४. इत्थन्योपमान्योन्यसमुत्कृष्टत्वशंसिनी—ख ।

समुच्चयोपमा क्षीरसिन्धुमन्त्रेति केवलम् ।
 न गाम्भीर्येण बोधस्ते नैर्मल्येन च भो जिन ॥६७॥
 नेत्रे त्वय्येव दृश्येते कासारो ललितोत्पले ।
 इयमेव भिदा नान्या स्यादित्यतिशयोपमा ॥६८॥
 स्वयोषिदास्यबुद्ध्येन्दुमनुधावति नायकः ।
 प्रासादतलमारुह्येत्येषा मोहोपमा मता ॥६९॥
 भ्रमद्भ्रमरमब्जं किं किं ते लोलाम्बकं मुखम् ।
 मनो दोलायते मे भो इत्येषा संशयोपमा ॥७०॥
 नै पद्मे जडगे शोभा चन्द्रे नापि कलङ्किते ।
 अतस्त्वदास्यमेवेति मता सा निश्चयोपमा ॥७१॥

समुच्चयोपमा—

हे जिनेश्वर, आपका ज्ञान केवल गम्भीरतासे ही नहीं, किन्तु स्वच्छतासे भी क्षीरसागरका अनुकरण करता है, इस प्रकारके सन्दर्भोंमें समुच्चयोपमा नामक अलंकार होता है ॥६७॥

अतिशयोपमा—

तुममें ही ये दोनों नयन और तालाबमें सुन्दर दो कमल दीख पड़ते हैं; यही जहाँ भेद हो, दूसरा तनिक भी भेद प्रतीत न होता हो, वहाँ अतिशयोपमालंकार होता है ॥६८॥

मोहोपमा—

कोई नायक कोठे पर चढ़कर अपनी श्रियतमाका मुख जानकर चन्द्रमाके पीछे दौड़ रहा है, इस प्रकारके अलंकारको मोहोपमालंकार कहते हैं ॥६९॥

संशयोपमा—

धूमते हुए भ्रमरोंवाला कमल है क्या ? अथवा चंचलनयनवाला तुम्हारा मुख है क्या ? इस प्रकार मेरा मन भ्रान्त हो रहा है, इस तरहके अलंकारको संशयोपमा अलंकार कहते हैं ॥७०॥

निश्चयोपमा—

अत्यन्त शीतल कमल-पुष्पमें ऐसी शोभा नहीं हो सकती और कलङ्कित चन्द्रमामें भी ऐसी शोभा नहीं हो सकती; इसलिए यह तुम्हारा मुख ही है, इस प्रकारके अलंकारको निश्चयोपमालंकार माना गया है ॥७१॥

१. इयमेवाभिधानान्या इति—ख । २. स्वयोषितास्य बुद्धेन्दु—ख । ३. हस्येषाम्—ख ।
 ४. खप्रती ७१ श्लोको नास्ति ।

सुगन्धि परमाह्लादि^१विकाशपरिमण्डितम् ।
 शतपत्रमिवास्थं ते इति श्लेषोपमा स्मृता ॥७२॥
 समानशब्दवाच्यत्वे स्यात्संतानोपमा यथा ।
 वधू राजकरस्पर्शाद्विकचोत्पलिनीव सा ॥७३॥
 राजकरः भूर्पातहस्तः चन्द्रकिरणश्च ॥
 इन्दुः क्षयी रजःपूर्णं पद्मं ताभ्यां मुखं तव ।
 समं तथा चोत्कृष्टमिति^२निन्दोपमोदिता ॥७४॥
 शशी शम्भुशिरोवर्ती पद्मोऽज्जोत्पत्तिकारणम् ।
 समी तो वदनेनेति सा प्रशंसोपमा मता ॥७५॥
 सममास्थं तवाब्जेनेत्याचिख्यासु मनोहि मे ।
 स दोषोऽस्तु गुणो वास्त्वित्याचिख्यासोपमोदिता ॥७६॥

श्लेषोपमा—

सुन्दर गन्धयुक्त, अत्यधिक आनन्ददायक, विकसित कमलके समान तुम्हारा मुख है, इस अलंकारको श्लेषोपमालंकार कहते हैं ॥७२॥

सन्तानोपमा—

जहाँ समान शब्दसे उपमान और उपमेय दोनोंको कहा जाता है, वही सन्तानोपमालंकार होता है । यथा—वह वधू राजा या चन्द्रके कर या किरणके स्पर्शसे विकसित—प्रफुल्लित कुमुदिनीकी भाँति सुशोभित हुई ॥७३॥

निन्दोपमा—

चन्द्रमा अश्व-रोगसे ग्रस्त है और कमल धूलि—परागसे परिपूर्ण होता है, तो भी तुम्हारा मुख उन दोनोंके समान अथवा उन दोनोंसे श्रेष्ठ है । इस प्रकारके अलंकारको निन्दोपमालंकार कहा जाता है ॥७४॥

प्रशंसोपमा—

चन्द्र शिवके मस्तकपर है और कमल ब्रह्माकी उत्पत्तिका कारण है । उन चन्द्र और कमलके समान सुन्दर तुम्हारा मुख है । इस सन्दर्भमें आया अलंकार प्रशंसित उपमान रहनेके कारण प्रशंसोपमा है ॥७५॥

आचिख्यासोपमा—

तुम्हारा मुख कमलके समान है, इस प्रकार कहने की इच्छावाला मेरा मन है । यह कथन दोषयुक्त हो अथवा गुणयुक्त; पर मेरी इच्छा ऐसी है । इस प्रकारके अलंकारको आचिख्यासोपमालंकार कहा गया है ॥७६॥

१. विकारि—ख । २. इन्दुक्षयः—ख । ३. निन्दोपमा मता—खप्रती नास्ति । ४. शशी इत्यादि ७५ श्लोको खप्रती नास्ति ।

शरदिन्दुः स्फुटं पद्मं तवास्वमिति च त्रयम् ।
 स्फुटान्योन्यविरोधीति सा विरोधोपमा मता ॥७७॥
 प्रतिगजितुमास्येन तवाब्जं जातु न क्षमम् ।
 विषकण्ठकमङ्गोति प्रतिषेधोपमा मता ॥७८॥
 त्वंदास्यमेणदृष्ट्यङ्गमेणेर्नवाङ्कितो विधुः ।
 तुल्य एव तथाप्येष मोत्कर्षीति चटूपमा ॥७९॥
 न शशी वक्त्रमेवेदं नोत्पले लोचने इमे ।
 इति सुव्यक्तसाधर्म्यत्तत्त्वाख्यानोपमैव सा ॥८०॥
 इन्दुपङ्कजयोस्साम्यमतिक्रम्य तवाननम् ।
 स्वेनैवाभूत्समं चेति स्यादसाधारणोपमा ॥८१॥

विरोधोपमा—

शरद् ऋतुका चन्द्रमा, विकसित कमल और तुम्हारा मुख ये तीनों स्पष्ट रूपमें परस्पर विरोधी हैं, अतएव इसे विरोधोपमालंकार कहते हैं ॥७७॥

प्रतिषेधोपमा—

विष और कण्ठकका संगी कमल तुम्हारे मुखकी समता कभी नहीं कर सकता; इस प्रकारके अलंकारको प्रतिषेधोपमालंकार माना गया है ॥७८॥

चाटूपमा—

तुम्हारा मुख मृगनयनसे चिह्नित है और चन्द्रमा मृगसे ही अंकित है; ये दोनों यद्यपि समान ही हैं, तो भी यह उत्कर्षी नहीं है अर्थात् चन्द्रमा श्रेष्ठ नहीं है, इसे चाटूपमालंकार कहते हैं ॥७९॥

तत्त्वाख्यानोपमा—

यह चन्द्रमा नहीं है, किन्तु मुख ही है; ये दोनों कमल नहीं हैं, किन्तु नेत्र ही हैं, इस प्रकार स्पष्ट सादृश्यके कारण तत्त्वाख्यानोपमा अलंकार माना गया है ॥८०॥

असाधारणोपमा—

चन्द्रमा और कमलकी समताका अतिक्रमणकर तुम्हारा मुख तुम्हारे मुखके ही समान है, इस प्रकारके सन्दर्भको असाधारणोपमा कहते हैं ॥८१॥

अभूतोपमा—

सम्पूर्ण प्रकाशमान गुणोंसे युक्त सुन्दर चन्द्रमा एक स्थान पर एकत्र हुआ तुम्हारे मुखके समान सुशोभित होता है ॥८२॥

१. स्फुटत्—क-ख ।

२. प्रतिगजितुमास्येन—ख ।

३. त्वंदास्यमेण—ख ।

४. मोत्कर्षीति—ख ।

एकत्र संचितो वेन्दुः सर्वकान्तिगुणो वरः ।
 वदनं ते विभातीति सात्वभूतोपमा मता ॥८२॥
 सूर्यादिव जलं चन्द्राद्वाग्निर्वा विषतोऽमृतम् ।
 त्वदास्यात्परुषा वाणी चेत्यसंभावितोपमा ॥८३॥
 उद्गतं चन्द्रबिम्बाद् वा पद्ममध्यादिवोदितम् ।
 भो सुभद्रे शुभं वक्त्रमिति सा विक्रियोपमा ॥८४॥
 वस्तूपन्यस्य यत् किञ्चिन्न्यासस्तत्सदृशस्य तु ।
 सादृश्यप्रत्ययोऽस्तीति प्रतिवस्तूपमा मता ॥८५॥
 पुरोर्बहुमुतेष्वेष चक्री भरत एव च ।
 किं ज्योतिषां गणः सर्वः सर्वलोकप्रकाशकः ॥८६॥

अस्यां समानधर्मणैव न्यसनम् अर्थान्तरन्यासालंकारे तु प्रस्तुतार्थसाधन-
 क्षमस्य सदृशस्य वा असदृशस्य वा न्यसनमिति सा भिन्ना तस्मात् ॥

असंभावितोपमा—

जैसे सूर्यसे जल, चन्द्रमासे अग्नि, विषसे अमृतको उपलब्धि असंभव है, वैसे ही तुम्हारे मुखसे कठोरवाणीका निकलना असंभव है । इस प्रकारके अलंकारको असंभावितोपमा कहते हैं ॥८३॥

विक्रियोपमा—

हे सुभद्रा, तुम्हारा यह मुन्दर मुख चन्द्रमाके मण्डलसे निकला है अथवा कमल-
 समूहके बीचसे निकला है, इस प्रकारके अलंकारको विक्रियोपमा अलंकार कहते हैं ॥८४॥

प्रतिवस्तूपमा—

जिस किसी वस्तुको स्थापित कर उसके समान किसी दूसरी वस्तुके रखनेपर सादृश्यकी प्रतीति होती है; अतः इसे प्रतिवस्तूपमालंकार कहते हैं ॥८५॥

पुरु महाराज—ऋषभदेवके अनेक पुत्रोंमें चक्रवर्ती भरत ही हुए; क्या सम्पूर्ण नक्षत्रोंका समूह संसारको प्रकाशित करनेवाला होता है । आशय यह है कि जिस प्रकार सम्पूर्ण नक्षत्र मिलकर संसारको प्रकाशित नहीं कर सकते, केवल चन्द्रमा ही प्रकाशित करता है, उसी प्रकार पुरुदेवके अनेक पुत्रोंमें भरत ही चक्रवर्ती हुए, सभी पुत्र नहीं ॥८६॥

उपमा और अर्थान्तरन्यासमें अन्तर—

उपमामें सामान्यधर्मसे ही न्यास होता है, अर्थान्तरन्यासमें तो प्रस्तुत अर्थके साधनमें समर्थ, सदृश या असदृशका न्यास होता है, अतएव उपमालंकार अर्थान्तरन्यास

एकया क्रिययाहीनं समाहृत्याधिकेन तु ।
 वदन्ति कवयो, यत्सा तुल्ययोगोपमा यथा ॥८७॥
 नाकस्येन्द्रः सु जागति रक्षणाय भुवो निधीट् ।
 निरस्यन्तेसुरास्तेन राजानोऽग्नेन गर्विताः ॥८८॥
 मेरुः^१ स्थैर्येण कान्त्येन्दुर्गाम्भीर्येणाम्बुधि रविम् ।
 तेजसानुकरोतीति मता हेतूपमा तु सा ॥८९॥
 एषूदाहरणेषु क्वचिन्नामतः क्वचिदर्थतो वा भेदोऽस्ति ॥
 न लिङ्गं न वचो भिन्नं नाधिकत्वं न हीनता ।
 दूषयत्युपमां यत्र नोद्वेगो यदि धीमताम् ॥९०॥
 स्त्रीव षण्डः प्रयात्यत्र स्त्री पुमानिव भाषते ।
 धनं वोपाजिता विद्या प्राणा इव मम प्रियाः ॥९१॥

से भिन्न है । तात्पर्य यह है कि अर्थान्तरन्यासमें साधर्म्य अथवा वैधर्म्य द्वारा सामान्यसे विशेषका या विशेषसे सामान्यका समर्थन किया जाता है । इस अलंकारमें अन्य अर्थको स्थापित किया जाता है । अर्थात् इसमें एक अर्थके समर्थनके लिए अन्य अर्थ स्थापित किया जाता है । इसमें दो वाक्य होते हैं—एक सामर्थ्य वाक्य और दूसरा समर्थक वाक्य । इन वाक्योंमें सामर्थ्य-समर्थकभाव-रूप सम्बन्ध रहता है ।

तुल्ययोगोपमा—

एक क्रियासे हीनको अधिकके समाहरण कर कवि लोग जो वर्णन करते हैं, उसे तुल्ययोगोपमालंकार कहते हैं ॥८७॥

तुल्ययोगोपमाका उदाहरण—

स्वर्गको रक्षाके लिए इन्द्र और पृथ्वीकी रक्षाके लिए चक्रवर्ती सावधान है । इन्द्रसे राक्षस भगाये जाते हैं और चक्रवर्तीसे अभिमानी राजा ॥८८॥

हेतूपमा—

स्थिरतासे भेत पर्वतका, सुन्दरतासे चन्द्रमाका, गम्भीरतासे समुद्रका और तेजसे सूर्यका अनुकरण करता है । इस प्रकारके सन्दर्भोंमें हेतूपमालंकार माना गया है ॥८९॥

उपर्युक्त उदाहरणोंमें कहीं नामसे अथवा कहीं अर्थसे भेद है ।

निर्दोष उपमाका श्रीचिन्त्य

न लिंग, न भिन्न वचन, न अधिकत्व और न हीनता उपमाको दूषित करते हैं, (वशते कि) जहाँ बुद्धिमान् लोग उद्वेग का अनुभव न करें ॥९०॥

स्त्रीके समान नपुंसक चलता है, यहाँ स्त्री पुरुषके समान बोलती है तथा अजिज्ञ धन या विद्या प्राणोंके समान मेरे लिए प्रिय हैं ॥९१॥

१. समाहृत्याधिकेन तु—स्व । २. निधीट्—स्व । ३. मेरुम्—स्व । ४. कान्त्येन्दुम्—स्व ।
 ५. धीमता—स्व । ६. दनं वोपाजिता विद्या—स्व ।

त्वद्वदाभाति त्वेतेस्त्वं मेरुत्त रागसे ।
इत्येवमादिकं योग्यं वर्णनीयं मनीषिभिः ॥९२॥

असम्मतिः क्वचित्तेषां धीमद्भिः क्रियते यथा ।
हंसीव चन्द्रमाः शुभ्रो नमः पद्माकरा इव ॥९३॥

शुनोष गृहदेव्यस्ति खद्योतो जिनबोधवत् ।
इत्यादिस्त्यज्यते सद्भिर्विचिन्त्यतां तत्र कारणम् ॥९४॥

इववायथासमानेनिभतुल्यसंकाशैनीकाशप्रतिरूपक-प्रतिपक्षप्रतिद्वन्द्वप्रत्य-
नीकविरोधीसदृक्सदृक्षसमसंवादिसजातीयानुवादिप्रतिबिम्बप्रतिच्छन्दसरूपसंमित-
सलक्षणभसपक्षप्रख्यप्रतिनिधिसवर्णानुलितशब्दाः कल्पदेशोयदेश्यवदादिप्रत्यया-
न्ताश्च चन्द्रप्रभादिशब्देषु समासश्च ॥

द्रुह्यति निन्द्यति हंसति प्रतिगर्जति संरुणद्धि धिक्कुरुते ।
अनुवदति जयति चेष्यति तनुतेऽसूयति कदर्थयति ॥९५॥

तुम्हारे समान इन्द्र सोमता है, तुम मेरुके समान शोभित हो; इत्यादिरूपसे
मनीषियोंको यथायोग्य वर्णन करना चाहिए ॥९२॥

बुद्धिमान् व्यक्ति कहीं उपमा इत्यादिमें अपनी असम्मति प्रकट करते हैं, जैसे
हंसीके समान चन्द्रमा इवत है, आकाश कमलयुक्त सरोवरके समान है ॥९३॥

गृहस्वामिनी कुतियाके समान है और खद्योत जिनेश्वरके ज्ञानके समान है,
इत्यादि वाक्य उपमाविशिष्ट नहीं कहे जाते। विद्वानों और कवियोंको उपमेय और
उपमानके साम्यका विचारकर ही उपमा प्रयोग करना चाहिए। क्रियासाम्य, गुणसाम्य
और प्रभावसाम्यके औचित्यका ध्यान रखना अवश्यक है ॥९४॥

सादृश्यवाचक शब्द—

इव, वा, यथा, समान, निभ, तुल्य, संकाश, नीकाश, प्रतिरूपक, प्रतिपक्ष,
प्रतिद्वन्द्व, प्रत्यनीक, विरोधी, सदृक्, सदृक्ष, सदृश, सम, संवाद, सजातीय, अनुवादि,
प्रतिबिम्ब, प्रतिच्छन्द, सरूप, सम्मित, सलक्षणभ, सपक्ष, प्रख्य, प्रतिनिधि, सवर्ण, तुलित
शब्द और कल्प, देशीय, देश्य, वत्, इत्यादि प्रत्ययान्त तथा चन्द्रप्रभादि शब्दोंमें
समासका उपमामें प्रयोग करने योग्य शब्द सादृश्यवाचक है।

द्रोह करता है, निन्दा करता है, हंसता है, विरोधमें धौलता है, अच्छी तरह
रोकता है, तिरस्कार करता है, पतला करता है, असूया करता है, कष्ट देता है ॥९५॥

१. निभसंनिभतुल्य—ख। २. नीकाशप्रतिकाशप्रकाशतिरूपक—ख। ३. विरोधि—ख।

४. सदृक्षसदृक्षसम—ख।

स्पृहते द्वेषि मुष्णाति विगृह्णात्यधिरोहति ।
तमन्वेति पदं धत्ते कक्ष्यां तस्य विगाहते ॥१६॥

तच्छीलमनुब्रध्नाति तन्निषेधति लुम्पति ।
लक्ष्मीं सानुकरोतीन्दुरास्यलक्ष्मीं समुच्छति^१ ॥१७॥

इत्याद्याः शब्दाः सादृश्यवाचकाः ॥

^३द्वितीयार्थनिवृत्त्यर्थं यत्रैकस्यैव रच्यते ।
उपमानोपमेयत्वं मतोऽनन्वय इत्यसी ॥१८॥

यथा—

सुधासूतिसहस्रांशुरत्नाकरसुराद्रयः ।
सन्तु सत्यपि नामेयो नामेय इव राजते ॥१९॥

बराबरी करता है, द्वेष करता है, चुराता है, बलात् ग्रहण करता है, ऊपर चढ़ता है, उसका पीछा करता है, स्थान लेता है, उसकी कक्षामें प्रविष्ट होता है ॥१६॥

उसके चरित्रका अनुकरण करता है, उसको मना करता है, उसे लुप्त करता है, उसकी शोभाका अनुकरण करता है एवं उसके मुखको शोभाको प्राप्त करता है ॥१७॥

उपर्युक्त पद्योंमें प्रयुक्त शब्दोंकी गणना भी सादृश्यवाचक शब्दोंमें होती है । वस्तुतः सादृश्यकी सूक्ष्मता, विशदता, चमत्कारोत्पादकता और सटीकता आदिपर ही उपमाकी रम्यता और उत्कृष्टता निर्भर है ।

उपमालंकारमें उपमेय और उपमानके बीच भेदका होना आवश्यक है । भेदके मिट जानेपर ही उपमा 'रूपक' हो जाती है । दूसरी ओर भेद यदि अधिक बढ़ जाता है तो उपमा अपना स्वरूप खोकर 'व्यतिरेक' का रूप ग्रहण कर लेती है ।

अनन्वयालंकार—

द्वितीय अर्थकी निवृत्तिके लिए जहाँ एक ही वस्तुको उपमान और उपमेय दोनों बनाया जाता है, वहाँ अनन्वय नामक अलंकार होता है । आशय यह है कि श्रेष्ठ उपमानके अभावमें स्वयं उपमेयको ही उपमान कहा जाता है ॥१८॥

अनन्वयालंकारका उदाहरण—

चन्द्रमा, सूर्य, समुद्र और मेघ भले ही हों, किन्तु इनके रहनेपर भी नामेय तो नामेयके समान हैं ॥१९॥

१. समुच्छति—ख । २. इत्याद्यावच—ख । ३. द्वितीयार्थनिवृत्त्यम् ?—खयम् । ४. सन्तु सत्यपि—ख ।

पर्यायेणोपमानोपमेयत्वमवमृश्यते ।
 द्वयोर्यत्र स्फुटं सा स्यादुपमेयोपमा यथा ॥१००॥
 अर्थः काम इव स्फूर्तिः कामोऽर्थ इव पुष्कलः ।
 धर्मस्तात्रिव संसिद्धस्ती धर्म इव चक्रिणि ॥१०१॥
 एषां केषांचिदन्योऽन्योपमेव ॥
 सदृशस्य पदार्थस्य सदृशस्त्वन्तरस्मृतिः ।
 यत्रानुभवतः प्रोक्ता स्मरणालंकारिर्यथा ॥१०२॥
 भरताख्यमहीशेन पालितोऽयं प्रजागणः ।
 पुरुराजस्य तां वृत्तिं स्मरति स्म जगद्गुरोः ॥१०३॥
 भेदाभेदसाधारणसाधर्म्यहेतुकालङ्कारास्तूक्ताः ॥

उपमेयोपमाका लक्षण—

जिस अलंकारमें दो वस्तुओंकी पर्यायेण उपमानता और उपमेयता हो सकती है, उसे उपमेयोपमालंकार कहते हैं ॥१००॥

आशय यह है कि जहाँ उपमेय और उपमान एक दूसरेके उपमान और उपमेय होते हैं, वहाँ उपमेयोपमा अलंकार होता है ।

उपमेयोपमाका उदाहरण—

भरत चक्रवर्तीमें धन कामके समान बढ़ा है तथा काम विपुल धनके समान बढ़ा है । धन और काम, इन दोनोंके समान धर्म बढ़ा है और वे दोनों धर्मके समान बढ़े हुए हैं ॥१०१॥

मतान्तरसे उक्त उदाहरणमें अन्योन्योपमा भी मानी गयी है ।

स्मरणालंकारका लक्षण—

जिस अलंकारमें समान पदार्थके अनुभवसे उसके समान दूसरे पदार्थका स्मरण हो जाय, तो उसे स्मरणालंकार विद्वानोंने कहा है ॥१०२॥

अभिप्राय यह है कि किसी वस्तुके दर्शनसे तत्सदृश पूर्वानुभूतवस्तुका स्मरण होना ही स्मरणालंकार है । जहाँ किसी सुन्दर या असुन्दर वस्तुके देखनेसे पूर्वानुभूत किसी सुन्दर या असुन्दर वस्तुका स्मरण हो आवे, वहाँ स्मरणालंकार माना जाता है ।

स्मरणालंकारका उदाहरण—

भरत नामक नृपतिसे पालित प्रजागण जगद्गुरु पुरुषेव नामक नृपतिके व्यवहारका स्मरण करता है ॥१०३॥

भेदाभेद साधारण साधर्म्यहेतुक अलंकारोंका प्रतिपादन किया गया है ।

अतिरोहितरूपस्य व्जारोपविषयस्य यत् ।

उपरञ्जकमारोप्यं रूपकं तदिहोच्यते ॥१०४॥

मुखं चन्द्र इत्यादौ मुखमारोपस्य विषयः आरोप्यश्चन्द्रः अतिरोहित-
रूपस्येत्यनेन विषयस्य संदिह्यमानत्वेन तिरोहितरूपस्य संदेहस्य, भ्रान्त्या
विषयतिरोधानरूपस्य भ्रान्तिमतः अपह्नवेनारोपविषयतिरोधानरूपस्यापह्नवस्यापि
च निरासः । व्जारोपविषयस्येत्यनेनोत्प्रेक्षादेरध्यवसायगर्भस्योपमादीनामनारोप-
हेतुकानां व्यावृत्तिः ॥ उपरञ्जकमित्येतेन परिणामालङ्कारनिरासः । तत्र प्रकृतो-
पयोगित्वेनारोप्यमाणस्यान्वयो न प्रकृतोपरञ्जकतया । विलक्षणमिदमितः
सर्वेभ्यः सादृश्यमूलेभ्यः । तत्तु सावयवं निरवयवं परम्परितमिति त्रिधा । साव-
यवं पुनर्द्विधा समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति । निरवयवं च केवलं माला-
रूपं चेति द्विधा । परम्परितमपि श्लिष्टाश्लिष्टहेतुत्वेन द्विधा ॥ तद्व्ययमपि केवल-
मालारूपत्वेन चतुर्विधमित्यष्टविधं रूपकम् । यत्र सामस्थेनावयवानामवयवित्त्वञ्च
तिरूपणं परस्परवस्तुविषयं ऽथ—

रूपकालंकारकी परिभाषा और उसकी व्यवस्था—

जहाँ प्रत्यक्ष अतिरोहित आरोपके विषयका आरोप्य विषय उपरञ्जक होता है,
वहाँ रूपक अलंकार माना जाता है ॥१०४॥

आशय यह है कि जब प्रस्तुत या उपमेयपर अप्रस्तुत या उपमानका आरोप
होता है, तब रूपक अलंकार होता है । यह आरोप दो प्रकारसे सम्भव है—(१)
अभेदसाके द्वारा और (२) तद्रूपताके द्वारा । इसी आधारपर रूपकके दो भेद हैं—(१)
अभेद रूपक, (२) तद्रूपरूपक ।

“मुखम् चन्द्रः” इत्यादि उदाहरणमें आरोपका विषय है मुख और आरोप्य है
चन्द्रमा । ‘अतिरोहित रूप’ इस विशेषणका सन्निवेश होनेसे, विषयके संदिह्यमान होनेके
कारण तिरोहित रूप विषयवाले सन्देहालंकार भ्रान्तिके कारण विषयके तिरोधान-
वाले भ्रान्तिमानलंकार, अपह्नवसे आरोप विषयके तिरोधानके कारण अपह्नव
अलंकारोंमें रूपकका लक्षण नहीं जायेगा ।

“व्जारोपविषयस्म” इस पदके उपादानके कारण अध्यवसायगर्भ उत्प्रेक्षा आदि
अलंकारोंकी एवं अनारोपहेतुक उपमादि अलंकारोंकी व्यावृत्ति हुई है ।

“उपरञ्जकम्” इस पदके सन्निविष्ट होनेसे रूपकका यह लक्षण परिणामालंकारके
लक्षणसे व्यावृत्त हाता है । क्योंकि परिणामालंकारमें प्रकृतका उपयोग होनेसे आरोप्य-
माणका अन्वय होता है, न कि प्रकृतके उपरञ्जक होनेके कारण । अतएव सादृश्यमूलक
अन्य सभी अलंकारोंसे रूपक अलंकार भिन्न है । रूपकके तीन भेद हैं—(१) सावयव (२)

देदीप्यमानचक्र्यकंप्रतापातप उज्ज्वले ।

मीलिताक्षा रिपूल्का वनगुल्मगृहे स्थिताः ॥१०५॥

अवयवनिरूपणादवयवितो निरूपणं भव्यं यत्र तदेकदेशविवर्ति यथा—

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते

वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयूते ।

समुत्तुङ्गे सम्यक्प्रततमतिमूले प्रतिदिनं

श्रुतस्कन्धे धीमान्नमयतु मनोमर्कटममुम् ॥१०६॥

अनेकान्तात्मार्था एव प्रसवफलानोति वचांस्येव पर्णानोति विपुलनया
एव शाखा इति प्रसवाद्यवयवकथनात् ॥ श्रुतस्कन्धस्य शास्त्रस्य कल्पवृक्षत्वं
गम्यत इत्येकदेशवर्तित्वम् । अवयवितनिरूपणादेव अर्थसमाप्तिर्वात्र तन्निरवयवम् ।
अवयवितनिरूपणमात्रेऽपि तदेव रूपकम् । तत्र केवलं यथा—

निरवयव (३) परम्परित । पुनः सावयव भी दो प्रकारका है—(१) समस्त वस्तु विषय,
(२) एकदेशवर्तित्वम् । निरवयव भी दो प्रकारका है—(१) केवल और (२) भालारूप ।
परम्परित भी दो प्रकारका है—(१) विलिखितहेतुक और (२) अविलिखितहेतुक । ये दोनों
भी केवल और भालारूपत्वसे दो-दो प्रकारके हैं; अतएव चार प्रकारके हुए तथा
संकलन करनेपर रूपक के कुल आठ भेद हुए ।

जहाँ समस्त रूपसे अवयवों और अवयवोंका निरूपण किया गया हो, उसे
समस्त वस्तुविषय रूपक कहते हैं ।

उदाहरण—

उज्ज्वलवर्णं प्रकाशमानं चक्री भरतेशरूपी सूर्यके प्रतापरूपी घाममें बन्द किये
हुए नेत्रवाले शत्रुरूपी उल्लू वनके लतागुहोंमें निवास करते हैं ॥१०५॥

एकदेशवर्ती रूपक—

अवयवके निरूपणसे जहाँ अवयवोंका निरूपण व्यंजनावृत्तिसे प्रतीयमान हो,
वहाँ एकदेशवर्तीरूपक अलंकार आता है । यथा—

बुद्धिमान् मनुष्य प्रतिदिनं हस मनरूपी मर्कट—बन्दरको अनेकान्तात्मार्थवादसे
उत्पन्नफलसमूहके भारसे विनम्र, वचनरूपी पत्तोंसे भरपूर, अतिविस्तृत नीतिरूपी सैकड़ों
शाखाओंसे युक्त, अत्यन्त उच्च, अच्छी तरहसे विस्तृत बुद्धिरूपी जड़वाले ऐसे जिनेश्वर
द्वारा प्रोक्त शास्त्ररूपी कुक्षपर झोडा करायें ॥१०६॥

यहाँ अनेकान्तात्मार्थ ही उत्पन्न फल, वचन ही पत्ते, उदार नीति शाखा, उत्पन्न
फल-पुष्पादि अवयवके कहनेसे श्रुतस्कन्धकी कल्पवृक्षता प्रतीत होती है, अतः एकदेश-

१. उज्ज्वले—ख । २. तदेकदेशवर्ति यथा—ख । ३. फलाभाराणि—ख । ४. क्रम—ख ।

५. विमलनया—ख । ६. अवयवितनिरूपणादेव—ख ।

श्रीमद्भरतराजस्य महाज्ञासुममञ्जरी ।
अभान्मुकुटबद्धानां मणिराजितमौलिषु ॥१०७॥

मालानिरवयवं यथा—

दिङ्मातङ्गसुवर्णचामरततिः कल्पद्रुपुष्पावली
खस्य क्षीमवितानमुच्चहिमवच्छृङ्गोत्थगङ्गानदी ।
श्रीकान्तोरुकटाक्षजालमनुलश्रीभूपमौलिस्रगा
दीशस्यात्मजकीर्तिविस्तृतिरभान्नेमंत्यगा भूतले ॥१०८॥
ब्रह्माक्षितजगत्यधिष्ठितमणिज्योतिस्ततिभूवधू-
रामोद्रेकततिश्च दिक्करिलसत्सिन्दूरसान्द्रप्लवः^१ ।
बाभाच्छेषशिरोमणिद्युतिततिभान्नुह्वालातपः
^२रवे कौसुमविधापिमुसुञ्जति एते गस्तृतिरङ्गकिणः ॥१०९॥

परम्परितं^३ रूपककारणरूपकम् । अस्य रूपकद्वितयमात्रपर्यवसितत्वेन
^४समस्तविषयान्तर्भावशङ्का न कर्तव्या । परम्परितं केवलं श्लिष्टं यथा—

वर्तिता है । अवयवके निरूपणसे ही अर्थकी समाप्ति देखी जाय, वह निरवयव है । अव-
यवके निरूपणमात्रमें भी वही रूपक है । यहाँ केवल यथा—

मुकुटवारो राजाओंके मणियोंसे सुशोभित मस्तकोंपर श्रीमान् चक्रवर्ती भरतकी
महती आजारूपी मञ्जरी सुशोभित हुई ॥१०७॥

मालानिरवयवका उदाहरण—

दिग्गजोंके सुवर्णचामरकी पंक्ति, कल्पवृक्षके पुष्पोंकी राशि, आकाशका रेशमी
वितान, अत्युच्च हिमालयके शिखरसे निकली हुई गंगा, लक्ष्मीपतिके अत्यधिक कटाक्षका
समूह, अनुमम शोभावाले राजाओंके मस्तकपर स्थित पुष्पहार और अत्यन्त स्वच्छ
आसीश्वर भगवान्के तनय—भरतकी कीर्ति धरतीपर सुशोभित हो रही थी ॥१०८॥

ब्रह्मासे फेंकी तथा धरतीपर विद्यमान मणिकी दीप्तिकी राशि, पृथिवीरूपी
नायिकाके रागकी अधिकताकी श्रेणी, दिग्गजके मस्तकपर सुशोभित सिन्दूरका अत्यधिक
समूह, शेषनागके मस्तककी मणिकी राशि, सूर्यका अत्यधिक प्रातःकालिक धाम और
आकाशमें विस्तृत कौसुमभ्ररंगके वितान-रूपमें विद्यमान भरतचक्रवर्तीका तेजःसमूह
सुशोभित हो रहा था ॥१०९॥

परम्परितरूपक और कारणरूपक । यह रूपकके दूसरे अवयवमें ही परिसमाप्त
है, अतः समस्त विषयके अन्तर्गत आनेकी शंका नहीं करनी चाहिए । जहाँ प्रधानरूपक

१. लेपः प्रथमप्रती पादभागे । २. मे कौ संभवितानमूल्लसति....-ख । ३. रूपकं
कारणरूपकम् -ख । ४. समस्तवस्तुविषयान्त....-ख ।

पुरोः शास्त्रविधुः कार्यदक्षयुक्तिमहाद्युतिः ।
स्फारं कुवल्याह्लादं करोति सततं भुवि ॥११०॥

श्लिष्टमालापरम्परितं तु यथा—

सन्मार्गाचरणे सु^१रुद्रकमलाह्ला^२दोपलस^३नुर्धरा-

भृद्वज्रं सुमनः स्फुटत्वसुरभिर्देवागमास्थानभूः ।

सत्पद्मामृतवाक्विरिन्ददुदितज्योतिविराजन्नमो

वाभाति स्म विभुः पुरुः कुवलयानन्दैकचन्द्रो भुवि ॥१११॥

सन्मार्गाचरणं रत्नत्रयाचरणम् । पक्षे नभः पर्यटनम् । प्रक्षस्तपक्ष-
विकाशो सूर्यः पक्षे कमला लक्ष्मीः । धराभृतो रिपुभूपाः पर्वताश्च । पुष्प-
विकासवसन्तः विद्वदानन्दकामधेनुश्च ॥

देवानां सुराणामागमनस्य सभामूः । कल्पवृक्षस्थितिभूश्च । पद्मामृते
अब्जपोयूषे लक्ष्मीसमुत्पादक्षीरवार्गाशिश्च^४ । इन्द्रु परमैश्वर्ये^५ इन्दन्ति ज्योतीषि

एक अन्य रूपकपर आश्रित रहता है, और वह बिना दूसरे रूपकके स्पष्ट नहीं होता,
वहाँ परम्परितरूपक माना जाता है ।

केवलश्लिष्ट परम्परितका उदाहरण—

कार्यकुशलताकी युक्तिरूपी महाद्युतिमाला पुरुदेवका शास्त्ररूपी चन्द्रमा पृथ्वीपर
निरन्तर अत्यधिक कुवलयको आह्लादित करता है ॥११०॥

श्लिष्टमाला परम्परितका उदाहरण—

सन्मार्गाका आचरण करनेवाला चन्द्रमा; राशिवद्ध कमलोंकी आह्लादित करने-
वाला सूर्य; पर्वतोंके लिए वज्र; पुष्पों—सज्जनोंको विकसित करनेके लिए वसन्त; देवताओं-
के आगमनके लिए सभामण्डपस्थान; उत्तम कमलोंके लिए अमृत सरोवर; देदीप्यमान और
उदित नक्षत्रादिकोंसे सुशोभित आकाश एवं कुवलयों—भग्योंको आनन्दित करनेवाला
अद्वितीय चन्द्रस्वरूप सर्वव्यापक पुरुदेव पृथ्वीपर सुशोभित हो रहे थे ॥१११॥

सन्मार्गाचरण—रत्नत्रयका आचरण, पक्षान्तरमें नभः—पर्यटन, उत्तम कमलको
विकसित करनेवाला सूर्य, पक्षान्तरमें कमला—लक्ष्मी । धराभृतः—शत्रुराजा अथवा
पर्वत; कृसुमोंको विकसित करनेवाला वसन्तः अथवा विद्वानोंको आनन्दित करनेवाली
कामधेनु ।

देवताओंके आगमनका सभास्थान कल्पवृक्षकी स्थितिका स्थान । पद्मामृते—
कमल और अमृत अथवा लक्ष्मीको उत्पन्न करनेवाला समुद्र । ✓ इन्द्रु परम ऐश्वर्य

१. रुद्रु -ख । २. विकाश....-ख । ३. पुष्पविकासः वसन्तः-ख । ४. धाराशिश्च-
ख । ५. इदि.... -ख । ६. इन्दतीति इन्दन्तीति....-ख ।

चन्द्रादयः । ज्योतिरखविबोधः, राज्यकाले तस्यैव भावात् । 'कूनां भुवां वलयं उत्पलानि च । अश्लेषपरम्परितं केवलं यथा—

युगादिदेवसूर्यस्य दिव्यभाषोरुदीधितिः ।
सर्वकाष्टाप्रकाशाय क्षमा मे भातु मानसे ॥११२॥

अथाश्लेषमालापरम्परितं यथा—

क्रोधाग्निजलदः श्लेषप्रजावाराशिचन्द्रमाः ।
असत्प्रजान्धकारे नः प्रबभौ चक्रभृद्वरः ॥११३॥

वैसादृश्येनाप्यश्लेषमालापरम्परितं भवति ।

मिथ्यात्वात्तपयामिन्यो मोहृश्वान्तोऽस्वासराः ।

श्रीमत्समवसृत्याश्रीतादिब्रह्मोक्तिकेलयः ॥११४॥

वाक्यगतत्वसमासगत्वाभ्यामेतदष्टविधमपि षोडशविधं स्यात् ॥

अर्थमें प्रयुक्त है । इन्द्रन्ति ज्योतीषि—चन्द्रादि; ज्योतिः—अवधिज्ञान; क्योंकि पुरुषदेव—
असत्प्रजादेवको राज्य करनेके समय 'अवधिज्ञान' ही था । 'कूनाम्'—पृथ्वीका वलय—
परिधि अथवा कमल ।

केवल अश्लेष परम्परितका उदाहरण—

सभी दिशाओंको प्रकाशित करनेमें समर्थ भगवान् आदिनाथरूपी सूर्यको दिव्यभाषारूपी किरण सर्वदा मेरे मनमें प्रकाशित ही ॥११२॥

अश्लेषमाला परम्परितका उदाहरण—

हम लोगोंके दृष्ट प्रजारूपी अन्धकारमें क्रोधरूपी अग्निको शान्त करनेके लिए मेघस्वरूप श्लेष प्रजारूपी समुद्रके लिए चन्द्रस्वरूप श्रेष्ठ चक्रवर्ती भरत देदीप्यमान हुए ॥११३॥

सादृश्यके न होनेपर भी अश्लेषमाला परम्परित होता है । यथा—

मिथ्यात्व आतपरूपी रात्रियाँ और मोहान्धकाररूपी उरवासर श्रीमान्के समवसरणमें आकर विरक्तिजन्य ब्रह्मोक्तिरूपके केलियाँ हैं ॥११४॥

यहाँ वैसादृश्यका प्रयोग है । रात्रियोंको आतपरूप, दिनको अन्धकाररूप और ब्रह्मोक्तियोंको केलियोंरूप कहा गया है । रात्रिमें अन्धकार, दिनमें आतप और ब्रह्मोक्तियोंमें शान्ति या केलिका अभाव रहता है, इस सादृश्यका प्रयोग न कर वैसादृश्यका प्रयोग हुआ है ।

वाक्यमें और समासमें स्थित होनेसे आठ-आठ प्रकारका होते हुए सोलह प्रकार का रूपक होता है ।

१. स्वप्रती कूनामिति पदं नास्ति । भुवां वलयः उत्पलानि च—ख । २. श्रीमत्समव-
सृत्याश्रीदादि.... -क । श्रीमत्समवसृत्याश्रीपादिब्रह्मोक्तिकेवलः -ख ।

पल्लवः पाणिरेतस्याः पादौ पद्मौ मुखं शशी ।
लोचने कैरवे चेति वाक्यगतं रूपकं मतम् ॥११५॥

व्यस्तरूपकमिति चास्य नाम ।

जिनार्को दिव्यधाग्दीप्त्या भव्यचेतोऽम्बुजानि वै ।
सुरेशकोकसंसेव्यो व्यकासयदनुत्तरः ॥११६॥

^१समासगतमिदमेवं सर्वं योज्यम् । पुनरप्यस्य कश्चिद् विशेषो यथा—

^२भारतीप्रसरो वक्त्रचन्द्रस्यादि जिनेशिनः ।
ज्योत्स्नाप्रसर इत्येतस्समस्तव्यस्तरूपकम् ॥११७॥

^३शोणाङ्गुलिलसत्पत्रनखमाभारकेसरम् ।
पादाम्बुजं निधीशस्य स्वोत्तमाङ्गं धृतं नृपैः ॥११८॥
सकलरूपकमिदं तत्तद्योग्यस्थानविन्यासात् ।

व्यस्तरूपकं या वाक्यगत रूपकका उदाहरण—

इस सुन्दरीका हाथ-पल्लव है, पैर-कमल है, मुख-चन्द्रमा है और नयन-कैरव-कमल है । यह वाक्यस्थित रूपकका उदाहरण है ॥११५॥

समासगतरूपक—

अनुत्तर विमानवासी देवरूपो चक्रवाकसे सेवनीय तीर्थकररूपी सूर्यने सज्जन पुरुषोंके चित्तरूपी कमलकी विकसित किया है ॥११६॥

यह समासस्थित रूपकका उदाहरण है । इसी प्रकार अन्य सभी भेदोंको समझना चाहिए । यहाँ अन्य कुछ भेदोंके उदाहरण कहते हैं । यथा—

श्रीमान् प्रथम जिनेश्वरके मुखचन्द्रकी धाणोका विस्तार चन्द्रमाकी किरणोंका विस्तार ही है ।

यह समस्तव्यस्त रूपकका उदाहरण है ॥११७॥

चक्रवर्ती भरतके लाल अँगुलियोंसे सुशोभित पत्ररूपी नखकी कान्तिके समूहरूपी केसरवाले चरणकमलको राजाओंने अपने मस्तकपर धारण किया ॥११८॥

उन-उन उचित स्थानोंपर स्थित पत्र, पल्लव और पुष्पादिका वर्णन रहनेसे यह सम्पूर्ण रूपक है ।

लोचनोत्पलमास्यं ते स्मितचन्द्रार्कमुज्ज्वलम् ।
 इत्येतयोरयुक्तत्वादयुक्तं रूपकं मतम् ॥११९॥
 चलन्नेत्रद्विरेफं ते स्मितपुष्पोच्चयं मुखम् ।
 इति पुष्पालिना योगाद्युक्तरूपकमिष्यते ॥१२०॥
 कामदत्त्वेन कल्पद्गुगिरिर्धैर्येण ^१सौम्यतः ।
 त्वमिन्दुरिति हेतूक्तेर्हेतुरूपकमिष्यते ॥१२१॥
^२नैतदास्यमयं चन्द्रो नाक्षिणी भ्रमराविमौ ।
 तत्त्वापह्नुतिरूपकम् ॥१२२॥
 मुञ्जवल्ली नदी वक्त्रपद्मरङ्गे तव प्रिये ।
 सलौलं नटतोत्पेतन्मत्तं रूपकरूपकम् ॥१२३॥

अयुक्तरूपक—

ईषद् हास्यरूपी चन्द्रकिरणवाला उज्ज्वल तुम्हारा मुख नयनकमल है । इन सादृश्योंके अनुचित होनेके कारण इस रूपकको अयुक्तरूपक कहते हैं ॥११९॥

युक्तरूपक—

चंचलनेत्ररूपी भ्रमरवाला तुम्हारा मुख ईषद् हास्यरूपी विकाससे युक्त कुसुम-समूह ही है । इस प्रकार पुष्पस्थित भ्रमरके सम्बन्धसे इस रूपकका नाम युक्तरूपक है ॥१२०॥

हेतुरूपक—

तुम मनोरमोंके पूरक होनेसे कल्पवृक्ष, धैर्यसे युक्त होनेके कारण पर्वत, और सुन्दरताके कारण चन्द्रमा हो । इस प्रकार हेतुके प्रतिपादनके कारण इसे हेतुरूपक कहते हैं ॥१२१॥

तत्त्वापह्नुतिरूपक—

यह मुख नहीं, किन्तु यह चन्द्रमा है, ये दोनों नयन नहीं किन्तु दोनों भ्रमर हैं । इस प्रकार यहाँ अपह्नुत होनेके कारण इसे तत्त्वापह्नुति रूपक कहा गया है ॥१२२॥

रूपक-रूपक—

हे प्रिये ! तुम्हारे मुखरूपी रंगभूमिपर सुन्दर झूलसारूपी नदी लीलापूर्वक नृत्य कर रही है । इसे रूपक-रूपक माना गया है ॥१२३॥

१. पुष्पालिनाम् —ख । २. साम्यतः —ख । ३. नैतदास्यसमम्....चन्द्रो नाक्षिणी
 -ख ।

मुखचन्द्रोऽपि ते कान्ते दन्दहोति च माऽदयः ।
दोष एष ममैवेति स्यात्समाधानरूपकम् ॥१२४॥

इत्यादिः हुं भेदं बोद्धव्यम् ।

आरोपविषयत्वेनारोप्यं यत्रोपयोगि च ।

प्रकृते परिणामोऽसौ द्विवैकार्येतरत्वतः ॥१२५॥

आरोप्यं प्रकृतोपयोगोत्थनेन सर्वेभ्योऽलङ्कारेभ्यो वैलक्षण्यमस्य । स
द्विवा सामानाधिकरण्यवैयक्यविपर्ययाभ्यां क्रमेण द्वयं यथा—

सुधां सर्वे जिनेशस्य दिव्यभाषामयीं सुराः ।

सदा सुखमतस्वान्ताः सेवन्ते पुरुतोषतः ॥१२६॥

अत्रारोपविषयाया दिव्यध्वनिरूपेणारोप्यमाणायाः सुधायाः सामानाधि-
करण्येन परिणामः ।

समाधानरूपक—

हे सुन्दरी ! परम दयालु तुम्हारा यह मुखचन्द्र भी मुझे अत्यधिक जला रहा है,
यह दोष मेरा ही है, ऐसे रूपकको समाधान रूपकका नाम दिया गया है ॥१२४॥

इस प्रकार बहुत प्रकारके रूपकोंको समाधान चाहिए ।

परिणामालंकार स्वरूप और भेद—

जिस अलंकारमें आरोप्य-आरोप विषयतसे प्रकृतमें उपयोगी होता है, उसे
परिणाम अलंकार कहते हैं । इसके दो भेद हैं—(१) एकार्थ और (२) अनेकार्थ ॥१२५॥

परिणामका अर्थ परिणति, परिवर्तन, बदलना या अवस्थान्तर होगा है । इसमें
उपमानके स्वभावका परिवर्तन दिखाना ही अभीष्ट होता है । जहाँ उपमान स्वतः कार्यके
उपयोगमें अन्तर्गम्य होता है, वहाँ वह कार्य सम्पन्नताकी दृष्टिसे उपमेयके साथ अभिन्नता
प्राप्त कर लेता है ।

आरोप्य प्रकृतमें उपयोगी हो, इस कथनके द्वारा और सभी अलंकारोंसे इसको
विलक्षणता बतलायी गयी है । यह दो प्रकारका है—(१) सामानाधिकरण्यसे और (२)
वैयक्यकरण्यसे । क्रमशः दोनोंके उदाहरण दिये जाते हैं । यथा—

सुखसे युक्त अन्तःकरणवाले सभी देवता भगवान् जिनेश्वरको दिव्यध्वनिरूपी
सुधाका सर्वदा पूर्ण सन्तोषसे सेवन करते हैं ॥१२६॥

यहाँ आरोप विषयका दिव्यध्वनिरूपसे आरोप्यमाण सुधाका सामानाधिकरण्यरूपसे
प्रकृतमें उपयोगिताके कारण परिणामालंकार है ।

सुराः किरीटरत्नांशुनिवहेन जिनेशिनः ।

पुष्पाञ्जलि विधायाशु प्रणमन्ति पदद्वयम् ॥१२७॥

अत्र आरोपविषयकुसुमाञ्जलिरूपेणारोप्यमुकुटमण्यंशुगणस्य वैयधिकरण्येन परिणतिः ॥

समासोक्ते रारोप्यस्य प्रकृतोपयोगित्वेऽप्यवाच्यत्वान्नन्तर्भावः परिणामे ।
स्यातां विषयतद्वन्तौ सन्देहविषयौ कवेः ।

सादृश्यात्सन्मताद्यत्र संदेहालंकृतिर्मता ॥१२८॥

शुद्धा निश्चयगर्भा च निश्चयान्त्येति सा त्रिधा ।

शुद्धा यथा च संदेहमात्रपर्यवसायिनी ॥१२९॥

किमेष सिन्धुः परमो गभीरः किमेष कल्पद्रुभीष्टदायी ।

किमेष मेरुः कनकाङ्गरम्यः प्रजाभिरित्थं स पुरुः सुदृष्टः ॥१३०॥

देवगण मुकुटके रत्नोंकी किरणोंके समूहसे पुष्पाञ्जलिका विधानकर सुरन्त जिनेश्वरके दोनों चरणोंको प्रणाम करते हैं ॥१२७॥

यहाँ आरोप विषय कुसुमाञ्जलिरूपसे आरोप्य मुकुटमणिके अंशु समूहकी वैयधिकरण्यरूपसे परिणति हुई है ।

समासोक्ति अलंकारमें आरोप्य प्रकृतमें आरोप होने पर भी प्रतीयमान होनेके कारण अवाच्य होनेसे परिणामालंकारमें समासोक्ति अलंकारमें अन्तर्भाव नहीं होता है ।
सन्देहालंकार—

जिसमें सञ्जतोसे अभिमत सादृश्यके कारण विषय और विषयीमें कविको सन्देह प्रतीत हो तो उसे सन्देहालंकार कहते हैं ॥१२८॥

आशय यह है कि किसी वस्तुको देखकर जहाँ साम्यके कारण दूसरी वस्तुका संशय हो जाता है, पर निश्चय नहीं होता; वहाँ सन्देहालंकार होता है । किम्, कथम् जैसे शब्दोंका व्यवहार भी पाया जाता है ।

सन्देहालंकारके भेद—

(१) शुद्धा (२) निश्चयगर्भा और (३) निश्चयान्ता इन तीन भेदोंके कारण सन्देहालंकृति तीन प्रकारकी होती है । केवल सन्देहमें समाप्त होनेवाली सन्देहालंकृतिको शुद्धा सन्देहालंकृति कहते हैं ॥१२९॥

शुद्धा सन्देहालंकृतिका उदारहण—

क्या यह अत्यन्त गम्भीर समुद्र है ? क्या यह सम्पूर्ण अभिमत वस्तुओंको देने-वाला कल्पवृक्ष है ? क्या यह सुवर्णके समान देह कान्तिवाला मेरु है, इस प्रकार महाराज पुरुदेव प्रजाके द्वारा देखे गये ॥१३०॥

निश्चयगर्भा यथा—

श्रीचन्द्रः किमिदं मलीमसमसौ धत्ते कलंकं पुनः ।

श्रीषष्ठां किमिदं दिवैव विचकं बोभाति चैतत्पुनः ॥

किं प्रद्युम्नकरस्थदर्पणमिदं सोऽपि स्थितो नीरसः ।

इत्येवं सुविकल्पितं प्रियवभूवत्रं मखीभिः प्रेभोः ॥१३१॥

निश्चयान्ता यथा—

एते शारदचन्द्रनिर्मलकराः किं श्रीहृदः शुद्धयः ।

किं पीयूषरयाः सुरद्रुमलसत्पुष्पस्रजः किं पुरोः ॥

किं कारुण्यरसा इति स्वकहृदि व्याभूय सन्तश्चिरम् ।

व्याहारा^३ जिनशिक्षका इति विभोनिश्चिन्वते स्म स्फुटम् ॥१३२॥

पिहितात्मनि चारोपविषये सदृशत्वतः ।

आरोप्यानुभवो यत्र भ्रान्तिमान् स मतो यथा ॥१३३॥

निश्चयगर्भा सन्देहालंकारिका उदाहरण—

क्या वह शोभा-सम्पन्न चन्द्रमा है ? नहीं, क्योंकि चन्द्रमा अपने भीतर काले कलंकको धारण करता है । क्या यह सुन्दर कमल है ? नहीं, क्योंकि कमल दिनमें ही विकसित होता है । क्या यह प्रद्युम्नके हाथमें स्थित दर्पण है ? नहीं, क्योंकि वह भी नीरस है ।

इस प्रकार सखियोंके द्वारा महाराजकी प्रियाओंके मुखके विषयमें विकल्प किया गया है ॥१३१॥

निश्चयान्ता सन्देहालंकारिका उदाहरण—

ये शारद कृतके चन्द्रमाकी स्वच्छ किरणें हैं क्या ? ये स्वच्छ हृदयकी शुद्धियाँ हैं क्या ? क्या ये अमृतकी धाराएँ हैं ? क्या पुरुषदेवकी कल्पवृक्षके सुन्दर पुष्पोंसे निमित्त मालाएँ हैं ? क्या कारुण्यरसके प्रवाह हैं ? इस प्रकार अपने हृदयमें बहुत समय तक सोचने-के अनन्तर सज्जनोंने यह स्पष्ट निश्चय किया कि जैनमतकी शिक्षा देनेवाली सर्वव्यापक परमज्ञानी भगवान् ऋषभदेवकी ये उक्तियाँ हैं ॥१३२॥

यहाँ सन्देहालंकार निश्चयान्त है । आरम्भमें जो सन्देह उत्पन्न हुआ, उसका अन्तमें निराकरण हो जाता है और निश्चय होता है ।

भ्रान्तिमान् अलंकारका स्वरूप—

जहाँ विहित—आच्छादित आरोप विषयमें सादृश्यके कारण आरोपका अनुभव होता है, वहाँ भ्रान्तिमान् अलंकार होता है ॥१३३॥

१. विकचं बोभोति -ख । २. प्रभो -ख । ३. जन -क ।

चन्द्रप्रभं नीमि यदङ्गकान्ति ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः ।
चकोरयूथं पिबति स्फुटन्ति कृष्णेऽपि पक्षे किल कैरवाणि ॥१३४॥

अत्रारोपविषये जिनाङ्गकान्तौ चकोरादीनां ज्योत्स्नानुभवः ।

इदं न स्यादिदं स्यादित्येषा साम्यादपह्नुतिः ।

आरोप्यापह्नवारोपच्छलात्कृत्विदा त्रिधा ॥१३५॥

आरोप्यापह्नवः अपह्नवारोपः छलादिशब्दैरसत्यत्ववचनं चेति
त्रिधा सा ।

सात्पर्य यह है कि प्रस्तुतके देखनेसे सादृश्यके कारण अप्रस्तुतका भ्रम ही जाये, वहीपर भ्रान्तिमान् अलंकार होता है । दो वस्तुओंमें उत्कट साम्यके आधारपर वस्तुकी स्मृति जागती है एवं इसके पश्चात् भ्रम उत्पन्न होता है । निश्चित मिथ्याज्ञान ही भ्रम है, इसमें ज्ञान तो होता है मिथ्या ही, पर मिथ्या होनेपर भी ज्ञानके लिए यह मिथ्याज्ञान निश्चय कोटिका होता है । इसमें भ्रम स्थिति तो वाच्य होती है, पर सादृश्यकी कल्पना व्यर्थ ।

भ्रान्तिमान् का उदाहरण—

कृष्णपक्षमें भी जिसके शरीरकी कान्तिको चन्द्रमाकी किरणें मानकर चन्द्रकान्त-
मणि पिघल रहा है, चकोरका समूह उसका पान कर रहा है और कुमुद विकसित हो
रहे हैं ॥१३४॥

यहाँ आरोप विषय चन्द्रप्रभके अंगकी कान्तिमें चकोर आदिको चन्द्रकिरणकी
भ्रान्ति हो रही है ।

अपह्नविका स्वरूप और उसके भेद—

यह नहीं है, यह है इस प्रकार साम्यके कारण अपह्नवति अलंकार होता है । इसके
तीन भेद हैं—(१) आरोप्यापह्नव (२) अपह्नवारोप और (३) छलादि उक्ति ॥१३५॥

आरोप्यापह्नव, अपह्नवारोप और छलादि शब्दोंके द्वारा असत्यवचनका निरूपण,
इस प्रकार तीन प्रकारका अपह्नव अलंकार होता है ।

आशय यह है कि जहाँ प्रकृत—उपमेयका निषेधकर अप्रकृत—उपमानका आरोप
किया जाये, वहाँ अपह्नवति या अपह्नव अलंकार होता है । इस अलंकारमें आरोपपूर्वक
निषेध भी हो सकता है और निषेधपूर्वक आरोप भी । वस्तुतः अतिसादृश्यके कारण
सत्य होनेपर भी उपमेयको असत्य कहकर उपमानको सत्य सिद्ध करना अपह्नवति है ।

१. छलादिशब्दै सत्यवचनम्....-ख ।

आद्यद्वयं यथा—

नायं वायुसमुत्थिताम्बुधिमहानिर्घोषकोलाहलः
थीमा धोशसभासुरप्रहतसद्भेरीनिनादो महान् ।

नायं ब्रह्मसभासुरप्रहतसद्भेरी विराजध्वनिः
श्रीवायूत्थितसारवारिधिमहानिर्घोषकोलाहलः ॥१३६॥

अन्तिमं यथा—

पुरोः सुपाङ्कयुग्मेऽभूत् पुष्पवृष्टिच्छलाद्वराः ।

मुक्तिलक्ष्मीकटाक्षाः श्रीधवलीकृतदिङ्मुखाः ॥१३७॥

एकस्य शेषरुच्यर्थयोगैरुल्लेखनं बहु ।

ग्रहीतृभेदादुल्लेखालङ्कारः समस्तो यथा ॥१३८॥

लक्ष्मीगृहमिति प्राज्ञा ब्राह्मीपदमिति प्रजाः ।

कलाखनिगिति प्रीताः स्तुवन्ति सुपुरोः पुरीम् ॥१३९॥

आरोप्यापह्नव और अपह्नवारोपके उदाहरण—

यह पवनके वेगसे उछलते हुए समुद्रके महानिर्घोषका कोलाहल नहीं है; किन्तु बहुत बड़े लक्ष्मीपतिकी सभामें विद्यमान देवताओंके द्वारा बजायी हुई उत्तम भेरीकी ध्वनि है ।

यह ब्रह्माकी सभामें स्थित देवगणके द्वारा बजायी हुई उत्तम भेरीकी सुन्दर ध्वनि नहीं है, किन्तु सुन्दर पवनके वेगसे समुत्थित समुद्रके महान् शब्दकी ध्वनि है ॥१३६॥

उल्लेखालंकारका स्वरूप—कैतवापह्नविका उदाहरण—

महाराज पुरुके दोनों ओर कुसुमवृष्टिके बहाने सुन्दर शोभासे सभी दिशाओंको श्वेत कर देनेवाले मुक्तिरूपी लक्ष्मीके कटाक्ष हुए ॥१३७॥

उल्लेखालंकारका स्वरूप—

ग्रहण करनेवालोंके भेदसे एक वस्तुका अवशिष्ट रुच्यर्थके सम्बन्धसे अनेक प्रकारका जिसमें उल्लेख किया जाये, विद्वानोंने उसे उल्लेखालंकार माना है ॥१३८॥

अर्थात् जातृभेदसे अथवा विषयभेदसे जहाँ एक वस्तुका अनेक रूपोंमें वर्णन किया जाये, वहाँ उल्लेखालंकार होता है ।

उल्लेखका उदाहरण—

बुद्धिमान् व्यक्ति लक्ष्मीका घर, प्रजाजन सरस्वतीका स्थान और प्रसन्नतासे युक्तजन कलाको खान कहकर महाराज पुरुकी नगरीकी स्तुति—प्रशंसा करते हैं ॥१३९॥

१. स्वप्रती एकस्य इत्यस्य पूर्वं (उल्लेखः) वर्तते ।

अत्र रुच्यर्थयोगाभ्यामुल्लेखः । उल्लेखेण यथा—

जिष्णू रिपौ वैरिरणेषु भीमः कलामु राजा कमलातिहृष्टौ ।

इनोऽचलेशो भुवि भूमिभूत्सु इति स्तुवन्ति स्म नृपं कवीन्द्राः ॥१४०॥

उल्लिखन्ति स्वस्वभावनाया आरोपयन्ति बहूनि रूपाण्यस्मिन्नित्युल्लेखः ।
अध्यवसायगर्भालङ्कृतिद्वयं यथा । अध्यवसायो नाम विषयविषयिणोरन्यतरनिग-
रणादभेदनिश्चयः ।

यत्राप्रकृतसंबन्धात्प्रकृतस्थोपतर्कणम् ।

अन्यत्वेन विधीयेत सोत्प्रेक्षा कवितोदिता ॥१४१॥

अप्रकृतगुणक्रियासंबन्धात् प्रकृतस्याप्रकृतत्वेनारोपणं यत्र सोत्प्रेक्षा ।
अत्यर्थं तथ्यप्रतिभासयोग्यमुत्प्रेक्षन्ते उद्भावयन्त्यस्यामिति उत्प्रेक्षा । वाच्या
गम्यमाना चेति सा च द्विधा । विद्मः मन्ये नूनं प्रायः इत्यादीनामारोपण-
प्रातिपदिकानां प्रयोगे वाच्या । प्रयोगस्य प्रतीयमानत्वात् ।

यहाँ रुचि और अर्थके योगसे पुरुषी नगरी अयोध्याका वर्णन अनेक रूपोंमें
किया गया है । अतः उल्लेख है ।

श्लेषयोगजन्य उल्लेखका उदाहरण—

शत्रुओंके विषयमें इन्द्र, शत्रुओंके साथ युद्धमें भीम, कलाओं में चन्द्रमा, अत्यन्त
प्रसन्नावस्थामें लक्ष्मी, पृथिवीपर राजा एवं पहाड़ोंमें हिमालय, इस प्रकार बड़े-बड़े कवि
राजाकी स्तुति करते थे ॥१४०॥

अपनी-अपनी भावनासे बहुत रूपोंका जिसमें उल्लेख होता है, उसे उल्लेखालंकार
कहते हैं । अध्यवसाय मध्यवाला दो अलंकार है । विषय और विषयोंमें से किसी एकके
निगरणसे अभेद निश्चय करना अध्यवसाय है ।

उत्प्रेक्षालंकारका स्वरूप—

जिसमें अप्रकृत अर्थके सम्बन्धसे प्रकृत अर्थका किसी दूसरे प्रकारसे वर्णन किया
जाये, उसे विद्वानोंने उत्प्रेक्षालंकार कहा है ॥१४१॥

जहाँ अप्रकृत वस्तुकी गुण और क्रियाके सम्बन्धसे प्रकृतवस्तुका अप्रकृतवस्तुस्वरूप-
से आरोप किया जाये, उसे उत्प्रेक्षालंकार कहते हैं । असत्यको सत्य रूपसे उद्भावना करना
भी उत्प्रेक्षा है । उत्प्रेक्षाके दो भेद हैं—(१) वाच्योत्प्रेक्षा और (२) गम्यमानोत्प्रेक्षा ।
विद्मः—जानते हैं; मन्ये—मानता हैं; नूनम्—निश्चय ही; प्रायः; इत्यादि आरोपण

१. इति इत्यस्य स्थाने खप्रती चेति पाठः । २. बहुभ्यारोपाणि—ख । ३. प्रतीयमानत्व-
प्रयोगे इति —क प्रयोगे । प्रतिसमानत्वप्रयोगे इति —ख ।

सम्प्रत्ययापाः स्म इति प्रतीत्य

बह्नाविवाह्नाय मिथः प्रविष्टाः ।

यत्कायकान्तौ कनकोज्ज्वलायां

सुरा विरेजुस्तमुपैमि शास्त्रिणम् ॥१४२॥

बह्नाविवेति कविप्रौढिकल्पितत्वान्नोपमाशङ्का । तदुक्तम्—

कल्पना काचिदौचित्याद् यथार्थस्य सतोऽन्यथा ।

द्योतितेवादिभिः शब्दैरुत्प्रेक्षा सा स्मृता यथेति ॥

उत्प्रेक्षा बहुविधा संक्षिप्ता ग्रन्थविस्तारभास्त्वात् । अतएव सर्वत्र संक्षेपः ।

^३अस्याल्पप्रपञ्चो यथा—

इयं जातिफलोत्प्रेक्षा नूनं चक्रिभुजद्वयम् ।

षट्खण्डपृथिवी हंतुस्तम्भीभवितुमायतम् ॥१४३॥

अत्र स्तम्भस्य जातित्वेन स्तम्भीभविनुमिति जातेः फलत्वम् ।

क्रियाके प्रतिपादक शब्दोंका जिसमें प्रयोग रहता है, उसे वाच्योत्प्रेक्षा और जिसमें उपर्युक्त शब्दोंके प्रयोग न रहनेपर भी उनका अर्थ झलकता हो, उसे गम्यमानोत्प्रेक्षा कहते हैं ।

उदाहरण—

जिनकी सुवर्णके समान उज्ज्वल शरीरकी कान्तिके मध्य देवलोक ऐसे सुशो-
भित होते थे, मानो इस समय हम निर्दोष हैं, ऐसा परस्परमें विश्वास करानेके लिए
अग्निमें ही प्रविष्ट हुए हों—अग्नि-परीक्षा ही दे रहे हों, मैं उन श्री शान्तिनाथ भगवान्की
शरणको प्राप्त होता हूँ ॥१४२॥

‘बह्ना इव’ में कवि प्रौढीक कल्पित होनेके कारण उपमाकी शंका नहीं की जा
सकती है । कहा भी है—

प्रस्तुत अर्थके औचित्यसे जिस अलंकारमें ‘इव’ इत्यादि अभ्यर्थोंके द्वारा किसी
अन्य अर्थकी कल्पना की जाती है, उसे ‘उत्प्रेक्षा’ कहते हैं ।

‘उत्प्रेक्षा’ के बहुत भेद हैं, किन्तु ग्रन्थ विस्तारभयसे उसे संक्षिप्त किया गया
है । अतएव सर्वत्र अलंकारोंमें संक्षेप किया है । यहाँ ‘उत्प्रेक्षा’ का बड़ा विस्तार भां
वर्णित किया जाता है ।

जातिफलोत्प्रेक्षाका उदाहरण—

निदचय ही चक्री भरतके दोनों बाहु षट्खण्डवाली पृथ्वीकी धारण करनेके लिए
दो विशाल स्तम्भ हैं ॥१४३॥ यह जाति फलोत्प्रेक्षाका उदाहरण है ।

यहाँ स्तम्भके जाति होनेके कारण ‘स्तम्भी भवितुम्’ में जातिफलत्व उत्प्रेक्षा है ।

१. २. प्रतीते—ख । ३. कविप्रौढिकल्पित....—ख । ४. अस्या अल्पप्रपञ्चो यथा’
क-ख । ५. हर्म्य.... ख ।

जात्यभावफलोत्प्रेक्षा सेयं चक्रेशवैरिणः ।
 गावोऽवध्या इति प्रापुरनृत्वाय तदाकृतिम् ॥१४४॥
 नृत्वं मनुष्यत्वजातिः अनृत्वायेति जात्यभावस्य फलत्वम् ।
 क्रियास्वरूपगोत्प्रेक्षा सेयं चक्रेशवैरिणाम् ।
 मरुभूरस्तमुल्मादिनिवासं प्रददाति वा ॥१४५॥

अत्र प्रददातीति क्रियास्वरूपमुत्प्रेक्ष्यम् ।

क्रियास्वरूपहोत्प्रेक्षा विमुखे चक्रिणि द्विषः ।
 वनमप्यददत्स्थानं शिरः कर्षति कण्टकैः ॥१४६॥

अत्र अददत्त्वित्यत्र क्रियास्वरूपकत्वात् हा हानि अर्थात् अभाव इत्यर्थः ।

क्रियाहेतुन्यथोत्प्रेक्षा प्रत्यहं द्विट्मदाङ्कुराः ।
 म्लानाश्चक्रिप्रतापार्कतोऽभोष्माभिहतेरिव ॥१४७॥

अत्र अभिहतेरिति क्रियाहेतुत्वम् ।

जात्यभावफलोत्प्रेक्षाका उदाहरण—

भरत चक्रवर्तिके लिए गो अवध्य है, इसी कारण उनके शत्रुओंने मनुष्यत्वाभावको प्रकाशित करनेके लिए गो आकृतिको धारण किया है और गौका भोजन तृण अपने दाँतों वले बढाया है ॥१४४॥

नृत्व जाति है, अनृत्व कहनेसे जात्यभाव फलित हुआ है ।

क्रियास्वरूपगा उत्प्रेक्षाका उदाहरण—

जल, वनस्पति आदि रहित मरुभूमि—भारवाड़ भरतके शत्रुओंको निवासके लिए स्थान देती है अर्थात् भरतके शत्रु भागकर मरुभूमिमें चले जाते हैं ॥१४५॥

यहाँ 'प्रददाति' क्रियास्वरूपकी उत्प्रेक्षा की गयी है । अर्थात् 'प्रददाति' क्रिया द्वारा ही शत्रुओंके भारवाड़में भाग जानेकी उत्प्रेक्षा की है ।

क्रियास्वरूपता उत्प्रेक्षाका उदाहरण—

भरतके वृष्ट होनेपर वन भी स्थान न देता हुआ नाना कण्टकोंसे शत्रुओंके शिर-को खींच रहा है ॥१४६॥

यहाँ 'अददत्' में क्रियास्वरूपका हा = हानि अर्थात् अभाव है ।

क्रियाहेतुत्प्रेक्षाका उदाहरण—

भरतके प्रतापरूपी सूर्यकी तीव्र किरणोंसे चोट खाये हुए के समान शत्रुरूपो हाथियोंके मदके अंकुर प्रतिदिन मलिन होते जा रहे हैं ॥१४७॥

यहाँ 'अभिहतेः इव' क्रियाहेतुता है ।

यथा क्रियाफलोत्प्रेक्षा चक्रियानानकध्वनिः ।

अन्वेष्टुं वा रिपून्लोनान् गुहामध्यं विगाहते ॥१४८॥

अन्वेष्टुं वेति क्रियायाः फलत्वम् ।

क्रियाभावफलोत्प्रेक्षा तेजो दग्धे भुवां स्थले ।

आस्थातुमिव चक्रोशद्विषो लोकान्तरं गताः ॥१४९॥

अत्रास्थातुमिवेति क्रियाभावस्य फलत्वम् ।

गुणस्वरूपगोत्प्रेक्षा वक्त्रुरास्याद्गणेशिनः ।

कृपया प्रसृता वाणी स्वशुद्धिरिव मूर्तिगा ॥१५०॥

अत्र शुद्धिर्बोधसम्यक्त्वरूपो गुणः ।

कविप्रौढगिरा यत्र विषयी सुविरच्यते ।

विषयस्य तिरोधानात् सा स्यादतिशयोक्ता ॥१५१॥

भेदेऽभेदस्त्वभेदे तु भेदः संबन्धके पुनः ।

असंबन्धस्त्वसंबन्धे संबन्धस्सा चतुर्विधा ॥१५२॥

क्रियाफलोत्प्रेक्षाका उदाहरण—

शत्रुओंपर आक्रमण करनेके समय भरतको वाद्यध्वनि मानो कन्दराओंमें छिपे हुए शत्रुओंकी खोजनेके लिए उनमें प्रविष्ट होती है ॥१४८॥

‘अन्वेष्टुं वा’ यह क्रियाका फल कहा गया है ।

क्रियाभाव फलोत्प्रेक्षाका उदाहरण—

चक्री भतरके तेजसे पृथिवीपरके सभी स्थानोंके जल जानेपर उनके शत्रु अच्छी तरहसे रहनेके लिए मानो दूसरे लोकमें चले गये हैं ॥१४९॥

यहाँ ‘आस्थातुमिव’ में क्रियाके अभावका फल है ।

गुणस्वरूपगा उत्प्रेक्षाका उदाहरण—

अच्छे बोलनेवाले भरतके मुखसे कृपया निकली हुई वाणी अपनी शुद्धिके समान शरीरधारिणी हुई ॥१५०॥

यहाँ शुद्धि ज्ञानका सम्यक्त्वरूप गुण है ।

अतिशयोक्ति अलंकारका स्वरूप—

जहाँ कविकी प्रौढवाणासे उपमेयके विगरणपूर्वक उसके साथ विषयी-उपमानकी अभेद प्रतिवर्त्ति हो, वहाँ अतिशयोक्ति अलंकार होता है । अर्थात् उपमेयके छिपा देनसे अभेदरूप उपमान सुन्दर बना दिया जाता है ॥१५१॥

१. विगाहाह्यते -ख । २. चक्रोशद्विषो लोकान्तं गताः -ख । ३. प्रसृता -ख ।

४. कवि इत्यस्य पूर्वम् -ख (अतिशयोक्तिका) विद्यते । ५. भेदे भेदस्त्वभेदे -ख ।

तत्र भेदे अभेदो यथा—

इक्ष्वाकुकुलवारशिो बभूव शिशिरद्युतिः ॥

महालक्ष्मीपतिः सोऽयं चित्रं इलाध्यतरो भूवि ॥१५३॥

भरतचक्रिचन्द्रयोरभेदाध्यवसायः । लक्ष्मीचन्द्रयोः सोदरत्वेऽपि पतिस्व-
प्रतिपादनाच्चित्तवम् ।

श्रद्धान्यान्या तु विद्या समितिरपि परामुस्तिरन्या तपोऽन्यत् ।

सानुप्रेक्षापि भिन्ना चरितमपि परं स्युर्दशान्येऽपि धर्माः ॥

नित्याबलेषोत्थसौख्यप्रदपरमवधूसङ्गसंपादने श्रो-

ध्यानेनाद्योश्वरस्य त्रिजगति कलिता कानु सामग्र्यतीक्षा ॥१५४॥

श्रद्धादेरभेदेऽपि भेदकल्पना एकस्यैव च अतिशयकथनाय भेदवचनात् स्वतः

जहाँ उपमेयको छिपाकर उपमानके साथ उसका अभेदस्थापन किया जाता है, वही अतिशयोक्ति अलंकार होता है । यहाँ उपमानमें उपमेयका अभेदाध्यवसान होता है—उपमेयको उपमान पूर्णतः आत्मसात् कर लेता है । उपमेयके निगोरण या अध्यवसान-से यहाँ इतना ही तात्पर्य है कि वह वाच्य-वाचक भावसे तो अप्रकाशित रहता है, पर लक्ष्य-लक्षक भावसे नहीं । लक्षणासे उपमेयकी सत्ता स्पष्ट हो जाती है ।

अतिशयोक्तिके भेद—

(१) भेदमें अभेद, (२) अभेदमें भेद, (३) सम्बन्धमें असम्बन्ध और (४) असम्बन्धमें सम्बन्ध वर्णन करना; इस प्रकार अतिशयोक्ति अलंकार चार प्रकारका है ॥१५२॥

भेदमें अभेद वर्णनरूप अतिशयोक्तिका उदाहरण—

इक्ष्वाकुवंशरूपी समुद्रमें महालक्ष्मीपति—अत्यन्त सम्पत्तिशाली, पृथ्वीपर अत्यधिक प्रशंसनीय चन्द्रमा—भरत उत्पन्न हुआ, यह आश्चर्य है ॥१५३॥

षड्वर्ती भरत और चन्द्रमामें भिन्नता होनेपर अभेदाध्यवसाय है । लक्ष्मी और चन्द्रमा दोनों भाई-बहन हैं, फिर भी लक्ष्मीके पतिस्वका प्रतिपादन किया है । इसलिए चित्र—आश्चर्य है ।

अभेदमें भेद वर्णनरूप अतिशयोक्तिका उदाहरण—

श्रद्धा भिन्न है, विद्या भिन्न है, समिति और गुति भी परस्पर भिन्न हैं तप और अनुप्रेक्षा भी भिन्न हैं । चक्रीका आचरण और दशविधिकर्म भी भिन्न-भिन्न हैं । सर्वदा आलमनन्ध सुखप्रद सर्वोत्कृष्टवधूके संगमवाले तीनों लोकमें अघोश्वरके (मुस्तिरमा-रूपो वधूके संग समांगित अघोश्वर) श्रीयुत् ध्यानमें समागत कौन सामग्री भिन्न है, अर्थात् कोई सामग्री भिन्न नहीं है ॥१५४॥

शब्दभेदे सिद्धेऽपि अभेदाध्यवसायः ।

चिन्तारत्नं दृषदिह तरुः कल्पवृक्षोऽपि काम-

धेनुः साक्षात्पशुरपि जगद्दोषयुक्तं च द्रष्टम् ।

वैधीसृष्टिश्चतुरवयवा सार्वभौमं स्पृशेत् किं

लोकानन्दोप्रथमपुरुषं रूपकं दर्पदेवम् ॥१५५॥

कविसङ्घेतेन विधिसृष्टिसंबन्धेऽप्यसंबन्धः । अतिशयितग्रहसृष्टिना

प्रथमपुरुषेणाधोशेन चक्रिणः अभेदाध्यवसायः ।

श्वीशक्रः शतमन्युराश्रितवपुर्दाह्यग्निरप्यन्तको

वालादेरपि घातकोऽपि निवृत्तिः स्याद्राक्षसः प्राप्तवान् ।

पाश्याशामपि वारुणीं चलगतिर्वायुः कुबेरोः भवो ।

लुब्धो भैक्षपभृगित्यजेन हरितां पातादिमः स्थापितः ॥१५६॥

अष्टदिक्षु तत्पालसंबन्धेऽप्यसंबन्धः, आदिमस्य तत्पालनासंबन्ध उक्तः ।

श्रद्धा इत्यादिके अभेदमें भी भेदको कल्पना एक ही पदार्थकी अतिशयता कथनके लिए है । भिन्नताके कथनसे स्वतः शब्द भेद सिद्ध होनेपर भी अभेदका अध्यवसाय हुआ है ।

सम्बन्धमें असम्बन्धवर्णनारूप अतिशयोक्तिका उदाहरण—

इस सृष्टिमें चिन्तामणि पत्थर है, कल्पवृक्ष भी वृक्ष ही है । कामधेनु साक्षात् पशु है । इस प्रकार इच्छाओंको पूर्ण करनेवाले सभी पदार्थ दोषयुक्त हैं । विधाताकी चतुरवयवरूप सृष्टिमें प्रसिद्ध, साक्षात् कामदेवके समान सुन्दर एवं आनन्दप्रद प्रथम तीर्थंकर आदिनाथका कोई दोष स्पर्श कर सकता है, अर्थात् कदापि नहीं ॥१५५॥

कार्य संकेतसे विधिसृष्टिके सम्बन्धमें भी असम्बन्ध कहा गया है और ब्रह्माकी सृष्टिमें अत्यधिक सुन्दर प्रथम तीर्थंकर पुरुदेवसे चक्रोका अभेदाध्यवसाय हुआ है ।

हन्द्र शतमन्यु—अर्हकारी है; अग्निदेव अपने आश्रित शरीरके जलानेवाले हैं; समराज बच्चोंकी भी हत्या करते हैं; निवृत्ति राक्षस है, वरुण भी दारुणी (मदिरा) दिशाको प्राप्त किये हुए है, वामु चंचल गतिवाले है, कुबेर लोभी है; शंकर भिक्षात्रको खानेवाले हैं; अतएव दिशाओंके अधिपति इन आठों देवताओंमें दोषका देखकर विधाताने सम्पूर्ण दिशाओंको रक्षा करनेके हेतु आग्निदेव—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेवको स्थापित किया है ॥१५६॥

आठ दिशाओंमें उनके मालिकोंके सम्बन्धमें भी असम्बन्ध और आदिदेवका उन दिशाओंको पालकताके असम्बन्धमें भी सम्बन्ध कहा गया है । दिशाओंके पालकको

अत्र आदीशनागराजयोरेवंविधकथासंबन्धेऽपि संबन्ध उक्तः । इन्द्रेण चक्रिणोऽभेदाध्यवसायः ।

कार्यकारणयोर्विपरीतरूपाध्यवसायरूपत्वाभावेन भिन्नाऽपि प्रौढोक्त्याऽतिशयोक्तिरिष्यते । सा यथा—

कथं प्राग्भो निधीदृष्टेः शराः स्माराः पतन्त्यमी ।

स्मरोऽप्यस्य सुरूपेण जितस्तत्किङ्करोऽभवत् ॥१५९॥

कार्यभूतस्य स्मरशरपातस्य हेतुभूतात् प्रियावलीकनादुक्तं पूर्वकालत्वमिति पौर्वापर्यकृतं विपरीतत्वम् । उक्तिसाम्यालङ्कारप्रस्तावे अतिशयोक्तिहेतुका सहोक्तिः कथ्यते—

यत्रान्वयः सहार्थेन प्रोच्यतेऽतिशयोक्तितः ।

औपम्यकल्पनायोग्या सहोक्तिरिति कथ्यते ॥१६०॥

आदीश—ऋषभदेव और नागेशकी अपने जन्मकी श्रेष्ठ कथा पूछे जानेपर कह मुनायो । उपरि निदिष्ट कथा आदीश और नागेशसे असम्बद्ध होनेपर भी सम्बद्ध की गयी है ।

यहाँ आदीश्वर और नागराजके इस प्रकारके वार्त्तालापके असम्बन्धमें सम्बन्धका कथन है । इन्द्रके साथ चक्रो भरतका अभेदाध्यवसाय हुआ है ।

कार्यकारणमावन्विधम विपर्यय-वर्णनारूप अतिशयोक्तिका स्वरूप—

कार्य और कारणके विपरीतरूप अध्यवसायके अभावसे भिन्न रहने पर भी कविकी प्रौढोक्तिसे अतिशयोक्ति अलंकारकी निश्चयिती होती है ।

उदाहरण—

अरे ! भरत चक्रीके दृष्टिवधमें आनेके पूर्व ही ये कामदेवके बाण गिर रहे हैं । इसके सुन्दर रूपसे पराजित कामदेव भी इसका वास हो गया है ॥१५९॥

कारण भूत प्रिमावलीकनसे कार्यस्वरूप कामदेवके बाणपतनको बताया गया है । यहाँ पौर्वापर्य कृत विपरीतता है । उक्त साम्य होनेके कारण अलंकार क्रममें अतिशयोक्ति हेतुक सहोक्तिका लक्षण कहते हैं ।

सहोक्तिका स्वरूप—

जिस अलंकारमें सह अर्थवाले शब्दोंसे अन्वय किया जाये और अतिशयोक्तिके बलसे उपमानोपमेयभावकी कल्पना हो, उसे सहोक्ति अलंकार कहते हैं ॥१६०॥

१. मूलत्वाभावेन -क-ख । २. कथं प्राग्भोगि षीद् दृष्टिः....-ख । ३. हेतुता-ख । ४. योग्य....-ख ।

यत्रैकस्य प्राधान्येनान्वये सत्यन्यस्य सहार्थनान्वयेऽतिशयोक्त्या उपमानोपमेयत्वं परिकल्प्यते सा सहोक्तिः । कार्यकारणपूर्वापर्यविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूला अभेदरूपातिशयोक्तिः श्लेषगर्भा चारुत्वातिशयहेतुरिति सा द्विधा । क्रमेण यथा—

चक्रेशगुह्योरुभटप्रयुक्तकृपाणधारा रिपुमस्तकेषु^१ ।

पतन्ति साकं सुरचाह्नारीकरप्रमुक्तोरसुमप्रतानैः ॥१६१॥

अत्रासिपातोत्तरकालभावितोऽमरसुमव्रजपतस्य । समकालत्वमिति-

पूर्वापर्यविपर्ययः ॥

तेजोलक्ष्मीनिधीशस्य प्रतिवासरमुच्छति ।

उदयं द्योतिताशेषदिगन्ता मनुना सह ॥१६२॥

जिसमें एकका प्रधानके साथ तथा अन्यका सहार्थक शब्दके साथ अन्वय ही जानेपर अतिशयोक्तिसे उपमानोपमेयभावकी कल्पना की जाये, उसे सहोक्ति अलंकार कहते हैं । इसमें 'सह' शब्दके अर्थ—सामर्थ्यसे, एक शब्द द्वारा दो अर्थोंको ऐसी वाचकतामें देखा जाया करता है, जिसके मूलमें अतिशयोक्तिका रहना आवश्यक है ।

सहोक्ति अलंकारके भेद—

सहोक्ति अलंकारके मूलतः दो भेद हैं—(१) कार्यकारणके पूर्वापर्य विपर्ययरूप अतिशयोक्तिमूलक और (२) अभेदाव्यवसाय अतिशयोक्तिमूलक । चारुत्वातिशयका कारण अभेदाव्यवसायमूलक 'श्लेषमूलक' और 'अश्लेषमूलक' दो रूपोंमें विभक्त किया जा सकता है ।

प्रथमभेदका उदाहरण—

चक्रवर्ती भरतके विश्वसनीय सैनिकोंके द्वारा प्रयोग की गयी तलवारकी धारा देवताओंकी भुन्दरियोंके हाथसे छोड़े हुए पुष्पोंके समूहके साथ शत्रुओंके मस्तकपर गिरती है ॥१६१॥

यहाँ सैनिकों द्वारा तलवारका पतन और देवांगनाओं द्वारा गिरायी गयी पुष्पावलिका पतन समकालरूपसे वर्णित हैं । अतः कार्यकारणभावके पूर्वापर्यका विपर्यय हुआ है ।

द्वितीयभेदका उदाहरण—

सम्पूर्ण दिशाओंके प्रान्तभाग तककी प्रकाशित करनेवाली चक्रवर्तीकी तेज-रूपी लक्ष्मी मनुके साथ प्रतिदिन उदयको प्राप्त करती है ॥१६२॥

१. प्राधान्येनान्वयेन्यस्य....—ख । २. मूला भेदे अभेद....—क -ख । ३. दिपु—ख ।

४. प्रयुक्तो—ख । ५. पूर्वापर्य....—ख । ६. लक्ष्मी....—ख । ७. भानुना—क-ख ।

उदयमृच्छतीति श्लेषेणोदयाद्बभ्रुव्युदयस्याभेदो निश्चितः । सहोक्तिप्रति-
पक्षभूता विनोक्तिरुच्यते ॥

असन्निधानतो यत्र कस्यचिद् वस्तुनोऽपरम् ।

वस्तु रम्यमरण्यं वा सा विनोक्तिरिति द्विधा ॥१६३॥

अरम्यता यथा—

सम्यक्त्वव्रतशुद्धस्य विनोरुगुणवर्णनाम् ।

वस्तुतिः काव्यस्य कीदृक्षा शृण्वन्तु कविकुञ्जराः ॥१६४॥

व्रतेन वा सम्यक्त्वेन वा भद्रपरिणामेन वा शुद्धस्य गुणवर्णनया विना
काव्यसंपदोऽशोभनत्वम् । एतेन काव्यशोभामिच्छता कविना तादृशस्य राज्ञो
गुणा वर्णनीया इति विधिरेव द्योतितः ।

रम्यता यथा—

प्रकाशमाने भरताधिनाथे विना कलङ्केन सुलक्ष्मभाजि-

कलाप्रपूर्णं जगति प्रसन्ने नभःस्थितोऽपीन्दुरभून्मनोज्ञः ॥१६५॥

‘उदयमृच्छति’में श्लेषके द्वारा उदय-वर्षत और बभ्रुव्युदय इन दोनोंमें अभेद
निश्चित हुआ है ।

सहोक्ति का प्रतिपक्षी विनोक्ति अलंकार है ।

विनोक्तिका स्वरूप और भेद—

जिसमें किसी वस्तुके नहीं रहनेसे दूसरी किसी वस्तुका सौन्दर्य या असौन्दर्य
वर्णित किया जाता है, उसे विनोक्ति अलंकार कहते हैं । और इसके दो भेद हैं ॥१६३॥

तात्पर्य यह है कि एक वस्तुके विना दूसरी वस्तुको शोभन या अशोभन
बतलाया जाना, विनोक्ति अलंकार है । विनोक्तिके दो भेद हैं—(१) शोभन-विनोक्ति,
(२) अशोभन-विनोक्ति ।

अरम्यता या अशोभन-विनोक्तिका उदाहरण—

हे धोखे कविवर, सुनो, सम्यक्त्वव्रतसे त्रिशुद्ध काव्यके विस्तृत गुणोंके वर्णनके
विना काव्य रचना कैसी होगी ? ॥१६४॥

व्रतसे या सम्यक्त्वसे अथवा अच्छे परिणामसे शुद्ध काव्यत्वके गुण वर्णनके
विना काव्यरूपी सम्पत्ति अच्छी नहीं लग सकती है । अतएव काव्यकी शोभाको चाहने-
वाले कविको सम्यक्त्व गुणविशिष्ट राजाके गुणोंका वर्णन करना चाहिए । जो सम्यक्त्व
गुणसे रहित है, उसके गुणोंका वर्णन करनेसे सत्काव्य नहीं हो सकता है ।

रम्यता विशिष्ट—शोभन विनोक्तिका उदाहरण—

कलंकहीन अच्छे लक्षणोंसे युक्त सभी कलाओंसे विशिष्ट चक्रवर्ती भरतके

चक्रिणि प्रकाशमाने शशिनः कलङ्केन विना रम्यता ।

प्रस्तुतं वर्ण्यते यत्र विशेषणसुसाम्यतः ।

अप्रस्तुतं प्रतीयेत सा समासोक्तिरिष्यते ॥१६६॥

श्लिष्टविशेषणसाम्या साधारणविशेषणसाम्या चेति द्विधा क्रमेण यथा—

चक्रिदत्तं गुणारूढधर्मयुक्तसुखश्रिया ।

आलिङ्गितोऽरिवर्गोऽग्नाद्भावं कमपि चेतसि ॥१६७॥

विभ्रमविलासशोलादिगुणस्वभावयुक्तमौख्यप्रापणलक्ष्याश्लिष्टाः रिपवः
स्वेदानन्दाश्रुदृष्टिनिमोलनादिभावमगुरित्यप्रस्तुतं मौर्व्यारूढधनुःप्रयुक्तशोभन-
वाणश्रिया शतच्छिद्रीकृताङ्गा मूर्च्छादिभावमगुरिति प्रस्तुतोक्त्या प्रतीयते ।

विद्यमान रहनेपर अतीव प्रसन्न जगत्में आकाशस्थित भी चन्द्रमा अत्यन्त मनोहर प्रतीत हुआ ॥१६५॥

चक्रवर्ती भरतके प्रकाशित रहने पर चन्द्रमाकी कलङ्केके विना रम्यता प्रतीत हुई है ।

समासोक्ति अलंकारका स्वरूप—

जहाँ विशेषणोंकी अत्यधिक समताके कारण प्रस्तुत वस्तुका वर्णन किया जाये और अप्रस्तुत वस्तुकी प्रतीति हो, वहाँ समासोक्ति अलंकार होता है ॥१६६॥

समासोक्तिमें समानरूपसे समन्वित होनेवाले कार्य, लिङ्ग, और विशेषणके बलसे प्रस्तुतपर अप्रस्तुतके व्यवहारका आरोप किया जाता है ।

समासोक्तिके भेद—

श्लिष्टविशेषणसाम्य और साधारण विशेषण साम्यके भेदसे समासोक्ति दो प्रकार की है ।

श्लिष्टविशेषणसाम्या समासोक्तिका उदाहरण—

भरतके द्वारा प्रदत्त अत्यधिक वैभवशाली सुखप्रद लक्ष्मीके द्वारा समालिङ्गित विलासीके समान शत्रुसमूहने भरतके चाप चढ़ाये धनुषके तीक्ष्ण बाणके द्वारा विद्ध अंग होनेसे विलक्षण प्रकारके भावोंका अनुभव अपने चित्तमें किया ॥१६७॥

विभ्रम, विलास, शोला इत्यादि गुण और स्वभावसे युक्त सुखप्रद लक्ष्मीसे आलिङ्गित शत्रु, स्वेद, आनन्दाश्रु, दृष्टिनिमोलन इत्यादि भावोंको प्राप्त हुए । इस प्रकारके अप्रस्तुत की प्रतीति चाप चढ़ाये हुए धनुषसे छोड़े तीक्ष्ण बाणकी शोभासे सँकड़ों छिद्र किये हुए अंगवाले शत्रु मूर्च्छा आदिभाव रूप प्रस्तुत वर्णनसे हो रही है । इस प्रकार प्रस्तुत कथनसे अप्रस्तुतकी प्रतीति दिसलायी गयी है ।

१. विशेषण.... -ख । २. समासोक्तिरिष्यते -क-ख । ३. विशेषण-ख । ४. गुणारूढ -ख । ५. विभ्रमविलासदिगुण (शोलादि) स्वभाव-ख ।

ब्रीडानिद्राभिमानव्युत्तिगल्लपनादीक्षितस्वेदविन्दु-

श्लिष्टाङ्गं सस्तसर्वाभरणवरमहावस्त्रमाकम्पिताङ्गम् ॥

निर्यद्वाष्पाम्बुभावास्खलनयुतिमहाभोभिरालिङ्गितास्ते ।

सद्घोषाघुट्टनं श्रीनिधिपतिबलतस्तर्जिता रेमिरेऽरम् ॥१६८॥

अथ शृङ्गारभयानकसाधारणविशेषणबलादरीणां नायकत्वप्रतीतिः ।

समासोक्तौ द्वयोर्विशेषणविशेष्ययोः स्वीकाराभावात् श्लेषाभेदः ॥ इयमपि समासोक्तिः—

मन्दं यातुं गृहीतुं कचमधरसुधां पातुमामोदमाशु ।

घ्रातुं वक्षो विघातुं स्वभुजशुभमहापञ्जरे चाटु वक्तुम् ॥

अन्यां वृत्तिं च कतुं समरतपतिना षण्ड तस्मिन् मृगाक्षया ।

बन्धावर्ते सुमग्ने रतसुखजलधौ स्थीयते किन्तु तूष्णीम् ॥१६९॥

समासोक्तिका उदाहरण—

श्री निधिपति—भरतचक्रवर्तीके बलसे, शक्तिसे अथवा सेनासे तर्जित होकर साथ ही बड़ी डाँटसे घबराकर उचकत, नींद, कम्पिताङ्गव्युत्ति, गल्लपनादि—आँठसे भर्रायो वाबाजूका आना, ईक्षण, पसीनेकी बूँदोंसे अंग भर जाना, सभी प्रकारके आभरण, महावस्त्रका सरक पड़ना और अंगोंमें कोंकंपी हो जाना, आँखोंसे आँसू निकल पड़ना, बाक्-स्खलनसे युक्त महाभय आदिके कारण आपके शत्रुओंकी नारियोंने जो शत्रुओंका आलिङ्गन कर लिया उस समय घीघ्र उन शत्रुओंने एक प्रकारसे रमण कर लिया ॥१६८॥

इसमें ब्रीडा, नींद इत्यादि सभी विशेषण, शृङ्गार और भयानक दोनों ही रसोंमें समानरूपसे प्रयुक्त हैं । अतः उक्त पद्यमें चक्रवर्तीकी डाँटके भयसे शत्रु-नारियोंकी जो दशा हुई उससे रमणकी भी प्रतीति हो रही है ।

समासोक्तिका उदाहरण—

अरे नपुंसक ! कोई पति अपनी नायिकाके प्रति मन्द-मन्द गतिसे पहुँचने, केश पकड़ने, अघर सुधाका पान करने, सुगन्धको सूँघने, अपने भुजाखण्ड शुभ पिंजरेमें वक्षको बाँधने, चाटु-वाणी बोलने तथा अन्य प्रकारकी रतिकालिक क्रियाएँ करनेके लिए तुल्यरति-युक्त होते हुए प्रवृत्त हो तो उक्त रतिसुखके समुद्रमें जहाँ आवर्स अर्थात् भ्रमी बँध रहा हो, फलतः चकोहसे भरे रतिसुखके समुद्रमें डूबते समय मृगाक्षी नायिका द्वारा क्या चुपचाप रहा जाता है । अर्थात् वह भी पूर्ण रतिमें प्रवृत्त हो जाती है ।

यहाँ आवर्त्तोंसे पूर्ण जलधिमें सुमग्न होते समय तूष्णीभूत होकर नहीं रहा जा सकता । इसी अर्थत् 'वस्तु' का प्रतीति समासोक्ति द्वारा हुई है । इष्टवस्तु रति-सुख है ॥१६९॥

१. सद्घोटाऽऽघट्टनं—क-ख ।

२. भयानकशृङ्गारसाधारण...—ख ।

३. श्लेषाद्

भेदः—क-ख । ४. बन्धावृत्ते—ख ।

उक्तं च—

उच्यते वक्तुमिष्टस्य प्रतीतिजननक्षमम् ।

सधर्मं यत्र वस्त्वन्यत्समासोक्तिरियं यथेति ॥

अन्यथोदितवाक्यस्य काक्वा वाच्यावलम्बनात् ।

अन्यथा योजनं यत्सा वक्रोक्तिरिति कथ्यते ॥१७०॥

आसक्तो निर्भरत्वेन श्रियां मे वल्लभः सखि ।

अम्ब न्यूना श्रियोऽपि त्वं किं करोषि लघुं स्वकाम् ॥१७१॥

स्वभाषि श्रियः सकाशात् न्यूना न भर्त्सि अतस्त्वय्यपि पतिरासक्त एव
किमिति स्वकां लघुं करोषीति काक्वा प्रतीतिः ।

स्वभावमात्रार्थपदप्रकृतिः सा या स्वभावोक्तिरियं हि जातिः ।

जातिक्रियाद्रव्यगुणप्रभेदाः तीचाङ्गनात्रस्तसुताधिरम्या ॥१७२॥

समासोक्तिका लक्षण अन्यत्र बताया है—

विवक्षित अर्थमें प्रतीति उत्पन्न करनेके लिए जिस अलंकारमें उसके योग्य समान-
धर्मवाले किसी अन्य अर्थको उक्ति को जातो है, उसे समासोक्ति अलंकार कहते
हैं ॥१७०॥

वक्रोक्ति अलंकारका स्वरूप—

किसी अन्य प्रकारसे कथित वाक्यकी उसके वाच्यार्थके आधारपर काकुके द्वारा
दूसरे प्रकारसे योजना कर देनेपर वक्रोक्ति अलंकार होता है ॥१७०॥

वक्रोक्तिका उदाहरण—

हे सखि ! मेरा प्रियतम लक्ष्मीमें सम्पूर्णतया आसक्त हो गया है । सखि, उक्त
वार्तालापका उत्तर देती हुई कहती है कि हे अम्ब ! क्या तुम लक्ष्मीसे कम हो, तुम
अपनेमें तुच्छ बुद्धि क्यों करती हो अर्थात् अपनेको छोटा क्यों समझती हो ॥१७१॥

तुम भी श्रोसे कम नहीं हो, अतएव तुझमें तेरा पति आसक्त है ही तुम अपनेको
तुच्छ क्यों समझती हो । काकुसे उक्त अर्थकी प्रतीति होती है ।

स्वभावोक्ति अलंकारका स्वरूप—

जो केवल स्वभावके वर्णन करनेवाले पदोंसे रचित हो, उसे स्वभावोक्ति अलंकार
कहते हैं । निरवयव ही जाति है । जाति, द्रव्य और गुणके भेदसे यह अलंकार अनेक
प्रकारका होता है । भयभीत पुत्रवाली अत्यन्त रमणीय यह अंगना सुन्दरी है ॥१७२॥

१. स्वप्रती यत्रेति पदं नास्ति । २. यथा ॥ इति ॥ -ख । ३. सखी -ख ।

४. अम्ब इत्यस्य पूर्वम् (स्वभावोक्तिः) -ख । ५. प्रभेद.... -ख ।

अङ्गना प्रावृडारम्भे वनक्रीडापरायणा ।
 घनावनध्वनेर्भीताऽऽलिलङ्गात्मपतिं दृढम् ॥१७३॥
 हुंभारवं वितन्वानाः कुर्वाणा वलयनं गवाम् ।
 पुरो वत्सास्मुपृष्ठाङ्गा गोकुले भान्ति चारवः ॥१७४॥
 यत्र प्रकाशितं वस्तु साम्यगर्भस्वतः पुनः ।
 कुतोऽपिच्छाद्यते व्याजात् सा व्याजोक्तिरितीष्यते ॥१७५॥
 श्रीभूमिपाणिग्रहकालजातरोमाञ्चवृन्दे सति चक्र्यूदात्तः ।
 राजाऽभिषिक्ताम्बुकणद्वजः किं कर्तव्य इत्येक्षत मन्त्रिवर्गम् ॥१७६॥

उदाहरण—

वनक्रीडामें तत्पर, वर्षा ऋतुके प्रारम्भ हो जानेपर मेघके गर्जनसे भयभीत किसी रमणीने अपने पतिको दृढतापूर्वक गाढालिगन किया ॥१७३॥

यहाँ रमणीके स्वभावका चित्रण होनेसे स्वभावोक्ति है ।

हुंकार करते और गार्धोके आगे मुन्दर ढंगसे चलते हुए मजबूत अंगवाले सुन्दर बछड़े गोकुलमें शोभित हो रहे हैं ॥१७४॥

यहाँ पशु स्वभावका चित्रण है । बछड़ोंके स्वभावका वर्णन किया गया है ।

व्याजोक्ति अलंकारका स्वरूप—

प्रकट हो जाने वाली कोई बात अत्यन्त सादृश्य होनेसे किसी कारणवश बहाना करके छिपा दी जाये, उसे व्याजोक्ति अलंकार कहते हैं ॥१७५॥

व्याजोक्ति और अपह्लाव परस्पर मिल-भिन्न अलंकार हैं, क्योंकि व्याजोक्तिमें छिपानेवाला व्यक्ति विषय—उपमेयका निर्देश नहीं करता है अर्थात् वास्तविक वस्तु स्वयं प्रकट नहीं होती, कवि द्वारा प्रकट की जाती है और वादमें कवि उसे छिपाता है; किन्तु व्याजोक्तिमें वास्तविक वस्तु स्वयं प्रकट हो जाती है, पश्चात् कवि उसका गोपन करता है । निष्कर्ष यह है कि व्याजोक्ति गूढार्थ-प्रतीतिमूलक अर्थात् अलंकार है, पर अपह्लाव सादृश्यगर्भ अभेद प्रघात आरोपमूलक है । वास्तविकताको विगीर्णकर अवास्तविकताका प्रकटीकरण दोनोंमें होता है ।

व्याजोक्तिका उदाहरण—

श्रीभूमिदेवीके साथ विवाहके अवसरपर अत्यधिक रोमांच हो जानेपर उदात्त चक्रवर्ती भरतने अभिषेक किये हुए इन जलकणके समूहका क्या करना चाहिए, इसे पूछनेके लिए मन्त्रियोंकी ओर देखा ॥१७६॥

१. कुतो इत्यस्य पूर्वम् (व्याजोक्तिः) पदम् —अ ।

भूमिपाणिग्रहजनितं^१ रोमहर्षणं धीरोदात्ततया भरतचक्रिणा महाभिषे-
काम्बुकणव्याजेन प्रच्छादयता मन्त्रिणो बोधिताः । व्याजोक्त्या किञ्चित्-
साम्योन्मोलनं कथ्यते—

वस्तुना मोलनं यत्र प्रच्छाद्येतान्यं^२ वस्तुवत् ।

सहजागन्तुकाभ्यां तस्तिरोधानान्मिथो द्विधा ॥१७७॥

वस्तुना वस्त्वन्तरं यत्र प्रच्छादितं स मोलनालंकारः । स द्वेषा—

^३सहजेनागन्तुकतिरोधानं, आगन्तुकेन सहजतिरोधानं चेति ।

क्रमेण यथा—

श्रीमद्द्विविजयाभिमुख्यवति सच्चक्रेश्वरे शत्रुषु

ववापि^४ वस्तवपुष्पं लीनतनुषु प्रध्वानकैर्दुन्दुभैः^५ ।

गम्भीरैः परिगजितेषु^६ जनिताः कान्तव्यग्लिङ्गिताः ।

शत्रूणां मरुजोष्णतां न च विदन्त्यङ्गेषु लग्नामपि ॥१७८॥

भूमिके करग्रहणसे उत्पन्न रोमांचको धीरोदात्त होनेके कारण भरत चक्रवर्तीने
महाभिषेक जलकणके बहानेसे छिपाते हुए मन्त्रियोंकी ओर देखा ।

व्याजोक्तिसे कुछ समता रखनेके कारण मोलनालंकारका स्वरूप प्रतिपादित किया
जाता है ।

मोलनालंकारका स्वरूप—

जिसमें अन्य वस्तुके समान सहज और आगन्तुक वस्तुके द्वारा परस्पर कोई वस्तु
छिपा दो जाय, तो भेद वाला मोलनालंकार कहा जाता है ॥१७७॥

एक वस्तुसे दूसरी वस्तु जहाँ आच्छादित कर दो जाय, वहाँ मोलनालंकार
है । यह दो प्रकारका है—(१) सहज वस्तुसे आगन्तुक वस्तुका तिरोधान और (२)
आगन्तुक वस्तुसे सहज वस्तुका तिरोधान ।

रूप अथवा गुण साम्यसे दो पृथक् वस्तुओंका एकाकार हो जाना ही मोलित या
मोलनालंकार है । यह अभेद प्रधान आरोपमूलक अलंकार है । इसमें साधर्म्यके कारण
निर्बल वस्तु इस प्रकार छिप जाती है कि उसका भेद कुछ भी लक्षित नहीं होता ।

सहज वस्तुसे आगन्तुकका तिरोधानरूप मोलनका उदाहरण—

श्रीमान् भरत चक्रवर्तीके द्विविजयके लिए तैयार होनेपर गम्भीर तथा
विशेषधरनिवाले युद्ध वाद्यके वज्र जानेपर भयभीत तथा कहीं अपने शरीरको शत्रुओंके
द्वारा छिपा लेनेपर उत्पन्न कामध्वरसे युक्त पशुनादियाँ अपने शरीरमें लगती हुई
मार्गध्रम जनित अन्य उष्णताका अनुभव नहीं करती हैं ॥१७८॥

१. रोमहर्षणम्—ख । २. वस्तु यत्—क-ख । ३. आगन्तुकतिरोधानं चेति—ख ।

४. वस्तवपुष्प....—ख । ५. दुन्दुभैः—ख । ६. जनिता....—ख ।

सहजेन रिपुवधूगतेन स्मरानलौष्ण्येन मार्गदशादागन्तुकं मरुभूमि-
जातोष्णत्वं तिरोहितम् ।

श्रीमच्चक्रेश्वरस्य प्रथितभुजमहातेजसान्तर्भयानां

नित्यं स्वेदाश्रुकम्पाद्युपचयमपि सत्कामगोष्ठ्यां प्रजातम् ।

प्रेम्णोद्भूतं भवेदित्यवधत्तमत्तितो विद्वदस्मिन् स्म नारस्य ।

काम्याकृष्टिक्षमश्रीहसितयुतगुणश्रीकटाक्षाः वधूट्यः ॥१७९॥

भयजातेन स्वेदादिना आगन्तुकेन सहजं प्रेमजातं स्वेदादिकं तिरो-
हितम् ।

वस्त्वन्तरैकरूपत्वं सामान्यालङ्कृतियथा ॥१८०॥

भरतप्रशंसि लोके जृम्भमाणेऽत्तिशुभ्रे

शशधररजताद्विशीरवा रंशिमुख्ये ।

भुवि जनततिरीक्ष्याऽदृश्यमानेऽद्युताह्वया ।

प्रमदसुलपितास्याऽन्योऽन्यं मस्थादतीढा ॥१८१॥

यहाँ स्वाभाविक शत्रुनारियोंमें स्थित कामाग्निकी उष्णतासे मार्गश्रम जनित आगन्तुक मरुभूमिमें विद्यमान उष्णताका तिरोधान बताया गया है ।

आगन्तुकसे सहज तिरोधानका लक्षण—

श्रीमान् चक्रवर्ती भरतके प्रसिद्ध भुजदण्डके महान् तेजसे भयभीत शत्रुओंकी सुन्दर आकर्षणमें समर्थ हास्ययुक्त गुणशाली कटाक्षवाली युवतियाँ सर्वदा काम-गोष्ठीमें उत्पन्न स्वेद, अश्रु, कम्पन आदि लक्षण प्रेमके कारण उत्पन्न हुए हैं, ऐसा निश्चितरूपसे शीघ्र विश्वास नहीं करती हैं ॥१७९॥

यहाँ भयसे उत्पन्न स्वेद आदि आगन्तुक वस्तुमें प्रेम आदिले उत्पन्न स्वेद आदि सहज वस्तुका तिरोधान हुआ है ।

सामान्यालंकारका स्वरूप—

जहाँ अव्यक्त गुणवाले प्रस्तुत और अप्रस्तुतमें गुण-सादृश्यके कारण एकरूपताका वर्णन किया जाय, वहाँ सामान्य अलंकार होता है ॥१८०॥

सामान्य अलंकारका उदाहरण—

अत्यन्त स्वच्छ भरत चक्रवर्तिके यशके फैल जाने पर चन्द्र, रजत, हिमालय, शीरसागर आदि श्वेत वस्तुएँ आँखोंसे इस पृथ्वीपर नहीं दिखाई देनेके कारण आश्चर्यककित मद्युक्त मुखवाली जनता परस्पर एक दूसरेकी ओर देखती रह गयीं ॥१८१॥

१. प्रेम्णोद्भूतो—ख । २. वाराणि....—ख । ३. जनततिरीक्ष्या दृश्यमाने—ख ।
४. मस्थातीढा—ख ।

यद्यसि जृम्भते सति शशिप्रभृतीनां निर्मलवस्तूनां गुणसाम्येन तदै-
कात्म्यम् । अन्यगुणसंनिधानातिशयसाम्यात् तद्गुणः वक्ष्यते—

विहाय स्वगुणं न्यूनं संनिधिस्थितवस्तुनः ।

यत्रोत्कृष्टगुणादानं तद्गुणालङ्कृतिर्यथा ॥१८२॥

जिनाङ्घ्रिनखरुक्चान्द्रथा नम्रत्रिदशमौलयः ।

पद्मरागमणिद्योताः शुभ्रिमाद्द्वयतमीकृताः ॥१८३॥

तत्प्रतिपक्षोऽतद्गुण उच्यते ॥

यश इवेत होता है, उसके व्याप्त होनेसे सभी वस्तुएँ इवेत हो गयी हैं, अतः चन्द्रमा, रजत, हिमालय, धीरसागर आदिमें भेद दिखलाई नहीं पड़ रहा है । इवेत गुणसाम्यके कारण एकताका वर्णन किया गया है ।

तद्गुण अलंकारका स्वरूप—

अन्य गुणके सान्निध्यके कारण अतिशय साम्य होनेसे तद्गुण अलंकार होता है । मोलित, तद्गुण और सामान्य इन तीनों अलंकारोंमें वाच्य-वैचित्र्यके कारण स्पष्ट अन्तर है । तद्गुणमें एक पदार्थ अपने समीपस्थ पदार्थके लक्षण गुणोंके साथ मेल करता है, उसमें तिरोधान नहीं होता है । यहाँ केवल अपने गुणका त्याग अवश्य होता है ।

सामान्यमें निजगुण त्यागनेकी बात आती ही नहीं है । यहाँ प्रस्तुत और अप्रस्तुतको स्वरूपभित्तता का आभास सदा बना रहता है, केवल उसे सिद्ध करनेवाला व्यावर्तक धर्म अलक्षित रहता है । मोलितमें एक पदार्थ दूसरे पदार्थसे इतना घुल-मिल जाता है कि उनके भिन्न स्वरूपका आभास ही नहीं होता । निष्कर्ष यह है कि एक पदार्थके गोपनमें 'मोलित', गुणग्रहणमें 'तद्गुण' और एकरूपता वर्णनमें 'सामान्य' अलंकार होता है ।

जिसमें स्वरूप अपने गुणको छोड़कर समीप स्थित वस्तुके श्रेष्ठ गुण ग्रहणका वर्णन हो, उसे तद्गुणालंकार कहते हैं ॥१८२॥

तद्गुणका उदाहरण—

पद्मराग मणिसे प्रकाशित प्रणाम करनेके लिए झुके हुए देवताओंके मुकुट जिनेश्वरके चरणके नखकी कान्तिरूपी चन्द्रिकासे बहुत अधिक शुभ्र बना दिये गये ॥१८३॥

तद्गुण अलंकारका प्रतिपक्षी अतद्गुण अलंकार होता है । अब उसका लक्षण कहते हैं—

यत्र संतिधिरूपे तु हेतौ सत्यपि वस्तुनः ।

नेतरस्य गुणादानं सोऽलङ्कारो ह्यतद्गुणः ॥१८४॥

आदीशबाहुबल्यङ्गस्वर्णगारुत्मतत्त्विया ।

लोके किं मीलिते चक्रिकीर्तिः शौबल्यं न चात्यजत् ॥१८५॥

पुरुजिनस्य भुजबलिकेवलिनश्च कायप्रभाशबलिते जगति सर्वत्र व्याप्तस्य
चक्रियशसः स्वकीय एव धवलिभा जृम्भितः । विरोधस्यातद्गुणेन किञ्चित्प्रारब्ध-
स्वादिरोध उच्यते ॥

यत्राभासतयः पूर्वं विकृष्टत्वं नसीयते ।

परिह्रियेत पर्यन्ते विरोधालंकारित्यंथा ॥१८६॥

चतुस्त्रिद्वयैक जात्याद्यैस्तद्भेदाश्चतुरादयः ।

जातिक्रियामुणद्रव्यविरोधे क्रमतो दश ॥१८७॥

अतद्गुणका लक्षण—

जिसमें सामीप्यरूप हेतुके रहनेपर वस्तुके अपनेसे अतिरिक्त वस्तुके उत्कृष्ट
गुण ग्रहणका वर्णन न किया जाता हो, उसे अतद्गुणालंकार कहते हैं ॥१८४॥

आशय यह है कि जहाँ सामीप्य वस्तुके गुणग्रहणकी सम्भावना होनेपर भी गुण
न ग्रहण किया जाना वर्णित हो, वहाँ अतद्गुण अलंकार होता है ।

अतद्गुणका उदाहरण—

आदीश्वर और आहुबलीके स्वर्ण एवं मरकतमणिकी शारीरिक कान्तिके मिलने-
पर भी संसारमें चक्रवर्तीकी कीर्तने शुक्लताका त्याग नहीं किया ॥१८५॥

पुरुदेव और केवली बाहुबलीके शरीरकी प्रभासे मिले हुए जगत्में सभी जगह
व्याप्त चक्रवर्तीके यशका घाबल्य ही वर्णित है । अर्थात् स्वर्ण और गारुडमणिके
मिश्रितरूपने भरतके यशघाबल्यको तिरोहित या तद्गुणमय नहीं बनाया ।

विरोधका अतद्गुणसे कुछ आरम्भ हो जानेके कारण विरोधालंकारका वर्णन
किया जाता है ।

जिसमें आभास—असत्य प्रतीतिके कारण पहले विरोध प्रतीत हो, किन्तु
अन्तमें उसका परिहार कर दिया जाय, उसे विरोधाभास या विरोधालंकार कहते
हैं ॥१८६॥

विरोधके भेद—

जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यके साथ चार, तीन, दो और एक इस प्रकार दस
भेद होते हैं ॥१८७॥

जातेर्जातिक्रियागुणद्रव्यैर्विरोधे चत्वारो भेदाः ॥१८७३॥

क्रियायाः क्रियागुणद्रव्यैर्विरोधे त्रयो भेदाः । गुणस्य गुणद्रव्याभ्यां सह-
विरोधे द्वौ भेदौ । द्रव्यस्य द्रव्येण सार्धं विरोधे चैको भेदः ॥

एवं विरोधभेदा दश ।

पद्माकरोऽपि चक्रेशो जडाशय इति स्तुतः ।

जातेर्जात्या विरोधोऽयं श्लेषेणेति निरूपितः ॥१८८॥

धीवरोऽपि न मीनादेर्बाधाकारी निधीश्वरः ।

जातेः क्रियाविरोधोऽयं श्लेषेणेति निरूपितः ॥१८९॥

धीवरोऽपि रथाङ्गेशः स्यादज्ञानीति नोदितः ।

जातेर्गुणविरोधोऽयं श्लेषेणेति निरूपितः ॥१९०॥

जातिका जाति, क्रिया, गुण और द्रव्यके विरोधमें चार, क्रियाका क्रिया, गुण और द्रव्यके विरोधमें तीन; क्रियाका गुण और द्रव्यके विरोधमें दो एवं द्रव्यका द्रव्यके विरोधमें एक, इस प्रकार विरोधाभासके दस भेद होते हैं ॥

जातिसे जातिका विरोधाभास—

पद्माकर होनेपर भी चक्रवर्ती भरत जडाशय ऐसा कहकर प्रशंसित हुए हैं । यहाँ पद्माकर और जडाशयमें विरोध है, जो पद्मा नामक निषिका स्वामी है, वह जडाशय जडाशय—मन्दमति कैसे हो सकता है । पद्मनिषिका स्वामी जलाशय वाला सम्भव है अथवा भरत पद्माकर होनेपर भी जडाशय—उदासीन-संसारको प्रवृत्तियोंसे उदासीन है । यही श्लेष द्वारा जातिके साथ जातिका विरोध वर्णित है ॥१८८॥

जातिसे क्रियाका विरोधाभास—

धीवर होनेपर भी भरत मीन इत्यादिको कष्टप्रद नहीं हैं, जो धीवर-मछुआ होगा, वह मत्स्योंके लिए कष्टप्रद क्यों नहीं होगा, अतः विरोध है । परिहारके लिए धीवर—बुद्धिमान् अर्थ किया जाता है । यह जातिका क्रियासे विरोध है ॥१८९॥

जातिका गुणसे विरोधाभास—

धीवर होनेपर भी चक्रवर्ती भरत मूर्ख नहीं हैं, यहाँ जातिका गुणके साथ विरोध है; श्लेष द्वारा अर्थ करनेपर—धीवर—बुद्धिशालीसे विरोधका परिहार हो जाता है ॥१९०॥

रत्नाकरोऽपि सन्मार्गो भरताह्वयचक्रभृत् ।
जातेर्द्रव्यविरोधोऽयं श्लेषेणेति निरूपितः ॥१९१॥

सन्मार्गोऽयं सन्मार्गोऽयं सन्मार्गोऽयं सन्मार्गोऽयं
तत्त्वं सत्त्वादिना येन नैकेनाप्यवधारितम् ।

तद्विस्तथाप्यसावेव स सुपाशर्वोऽस्तु मे गुरुः ॥१९२॥

सत्त्वादिना अस्तित्वनास्तित्वादिना धर्मेण एकेनापि नावधारितं
किञ्चिदपि न^३ ज्ञातं तथापि तत्त्ववेदो सर्वथास्तित्वादिना न वेत्ति कथञ्चिदस्तित्-
त्वादिना जानातीति परिहारः । अनिश्चयक्रियाया विरोधः ।

विबुधेशविहारोऽपि गोत्रवात्सल्यमण्डितः ।

क्रियायास्तु गुणेनात्र विरोधः श्लेषतो मतः ॥१९३॥

जातिका द्रव्यके साथ विरोधाभास—

चक्रवर्ती भरत रत्नाकर—समुद्र होनेपर भी सन्मार्गगामी है, यह विरोध है, यतः समुद्र सन्मार्गो होता है, सन्मार्गो नहीं । परिहारके लिए रत्नाकर—बहुत रत्नवाला होनेपर भी सन्मार्गो है, अर्थ करना चाहिए ॥१९१॥

सन्मार्ग और गमनमें एकत्व होनेसे कथञ्चित् द्रव्यत्व माना गया है ।

अनिश्चय क्रिया विरोधका उदाहरण—

जिन्होंने अनेकान्तात्मक वस्तुमें सत्, या असत् आदिरूपसे वस्तुतत्त्वका निर्णय नहीं किया, तो भी तत्त्व—अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वके ज्ञाता वे भगवान् सुपाशर्वनाथ मेरे गुरु हैं ॥१९२॥

अस्तित्व, नास्तित्व इत्यादिरूपमें जिसने एकान्तरूपसे वस्तु स्वरूपका निर्धारण नहीं किया, अपितु अनेकान्तरूपसे वस्तु स्वरूपका निर्धारण किया है, अर्थात् सर्वथा अस्तित्वरूपसे जो वस्तुस्वरूपको नहीं जानता, कथञ्चित् रूपसे अस्तित्व, नास्तित्व आदि-का जो जानकार है । इस प्रकार विरोधका परिहार हो जाता है । यहाँ अनिश्चय—एकान्तरूपसे वस्तु अनिश्चय रूप क्रियाके साथ विरोध है, और इसका परिहार कथञ्चित् के द्वारा हो जाता है । यह अनिश्चय क्रिया विरोध है ।

गुणसे क्रियाका विरोध—

इन्द्रका विहार होनेपर भी पर्वत प्रेमसे सुशोभित है । यहाँ गुणसे क्रियाका विरोध श्लेषके बलसे माना गया है । इन्द्रविहारका सम्बन्ध पर्वतोंके कष्टके साथ है, प्रेमके साथ उसका विरोध है । परिहारके लिए विबुधेशका अर्थ विद्वान् मानना उपयुक्त है ॥१९३॥

१. अवधारितम्—ख । २. खप्रती 'सत्त्वादिना' पदं नास्ति । ३. विज्ञातं तत्त्ववेदो—ख । ४. अनिश्चय क्रियायाः निश्चयक्रियाया विरोधः—क । अनिश्चयक्रियायाः निश्चयक्रियाया विरोधः—ख ।

इन्द्रविहारस्य पर्वतवात्सल्यमिति क्रियागुणयोर्विरोधः । विबुधानां विदुषामोक्षोऽभीष्टदायी चक्री ॥

विकासमपि पदानां कुर्वन् राजा निधीश्वरः ।

द्रव्येणात्र क्रियायास्तु विरोधः श्लेषतो मतः ॥१९४॥

चन्द्रस्य परमतापेक्ष्यकत्वे न द्रव्यत्वम् ॥

रञ्जितापि त्वया राजन् भूमिः शुभ्रा बभूव भोः ।

^१गुणेनात्र गुणस्यास्ति विरोधः कविसंमतः ॥१९५॥

रक्तत्वशुभ्रत्वयोर्विरोधः ।

^२वेषप्रतापयुक्तोऽपि कलानिधिरिति स्तुतः ।

द्रव्येणात्र गुणस्यास्ति विरोधः कविभाषितः ॥१९६॥

धर्मराजोऽपि चक्रेशो राजराज इति स्तुतः ।

द्रव्येणात्र विरोधोऽस्ति द्रव्यस्य श्लेषतः स्फुटम् ॥१९७॥

इन्द्रविहार क्रियाका पर्वत वात्सल्य गुणके साथ विरोध है । विबुधानाम्—
विद्वानोंका, ईशः—अभीष्टदाता चक्री मान लेनेसे विरोधका परिहार हो जाता है ।

द्रव्यके साथ क्रियाका विरोधामास—

चक्रवर्ती राजा अथवा चन्द्रमा लक्ष्मी अथवा कमलको विकसित करता है । यहाँ द्रव्यके साथ क्रियाका विरोध श्लेष माना गया है ॥१९४॥

मतान्तरसे चन्द्रमामें स्थित एकत्वके कारण द्रव्यत्व नहीं है ।

गुणके साथ क्रियाका विरोध—

हे राजन् । आपके द्वारा लाल की हुई पृथिवी श्वेत है । यहाँ लाल करनेरूप क्रियाका श्वेत गुणके साथ कवियों द्वारा विरोध माना गया है ॥१९५॥

रक्तत्व और शुभ्रत्वका परस्पर विरोध है ।

द्रव्यसे गुणका विरोध—

वेश और प्रतापसे युक्त भी आप कलानिधि—चन्द्रमा है, ऐसा कहकर आपकी स्तुति की गयी है, यहाँ द्रव्यसे गुणका विरोध कवियोंके द्वारा कहा गया है ॥१९६॥

द्रव्यसे द्रव्यका विरोध—

धर्मराज—धराराज भी चक्रवर्ती राजराजः—कुबेर अथवा राजाओंके राजा है, ऐसा कहकर चक्रवर्ती भरतकी स्तुति की गयी । यहाँ द्रव्यसे द्रव्यका विरोध कहा गया है ॥१९७॥

१. —अभीष्टदायीत्वे चक्री —ख । २. गुणिनात्र —ख । ३. एष प्रताप...ख ।

४. स्फुटः—ख ।

एवं दशधा विरोधो दशितः श्लेषाश्लेषाभ्यां च विचारणीयः ।
अथ विरोधगर्भालंकृतयः कथ्यन्ते ।

आधारं विना यत्राधेयं विरच्यते स एको विशेषः । एकमनेकविषयमिति
द्वितीयो विशेषः । प्रकृतस्याशक्यवत्स्वन्तरकरणमिति तृतीय इति विशेषा-
लंकारस्त्रिधा । क्रमेणोच्यते—

आधाररहिताधेयविशेषालंकृतिर्यथा ।

पुरुभाषाश्रिता मैत्रीवासाच्चक्रिगिरा चिरम् ॥१९८॥

अत्रादोशस्य प्राचीनस्थाधारभूतस्य परममुक्तिं गतस्य तिरोधानेऽप्या-
श्रिताया उक्तेस्तत्र कालवर्तिचक्रिभाषया सह स्थितिः ।

एकस्यानेकधात्वे तु विशेषालंकृतिर्यथा ।

चक्र्यालोकेन सर्वत्र धावन्ति स्मारयो भयात् ॥१९९॥

इस प्रकार दस प्रकारका विरोध दिसलाया गया है । इसमें कहीं श्लेष है और
कहीं नहीं भी है, उसका विचार कर लेना चाहिए । अब विरोधगर्भ अलंकार कहते हैं ।

विशेष अलंकारका स्वरूप और भेद—

आधारके बिना आधेयकी स्थिति कही जाय, वही प्रथम; जहाँ एक वस्तुका एक
ही समयमें अनेकत्र वर्णन किया जाय, वही द्वितीय एवं जहाँ एक कार्यके आरम्भसे किसी
अग्य अशक्य कार्यको सिद्धिका वर्णन किया जाय, वहाँ तृतीय विशेष अलंकार होता है ।
क्रमशः इनके लक्षण और उदाहरण—

प्रथम विशेषका लक्षण एवं उदाहरण—

आधाररहित आधेयका जहाँ वर्णन होता है, उसे प्रथम विशेष अलंकार कहते
हैं । जैसे—पुरुभाषामें आश्रित मैत्रीचक्री भरतकी वाणीके साथ बहुत दिन तक रहे
॥१९८॥

यहाँ पूर्वमें आदीश्वर भगवान्के मुक्त हो जानेपर भी उत्तरकालमें होनेवाले
भरतचक्रीकी भाषाके साथ उनकी दिव्यध्वनिकी मैत्री—स्थिति बतलायी है ।

द्वितीय विशेषका स्वरूप एवं उदाहरण—

एक वस्तुका अनेक रूपसे वर्णन करनेसे द्वितीय विशेष अलंकार होता है ।
यथा—चक्रवर्ती भरतके सर्वत्र दिखलाई पड़नेसे शत्रु लोग भयके कारण सभी जगह
दौड़ रहे थे ॥१९९॥

१. कालवर्ति चक्रिभाषया सह स्थितः—ख । २. नेकधात्वे तु—ख ।

अत्र भयभ्रान्तानामरीणां सर्वत्र पुरोभागे पश्चाद्भागे पार्श्वयोरपि गृहस्य बहिरन्तर्वा धृतखड्गमरतेशदर्शनाद् धावनमिति एकोऽपि चक्री अनेकः प्रतीयते ।

अशक्यवस्तुनिष्पत्तिविशेषालंकृतिर्यथा ।

चक्रिदृष्टः सुरेन्द्रोऽपि कृतार्थः किं जनः परः ॥२००॥

चक्रिणः कृपाकोमलदृष्टिनिरोक्षितः शक्रोऽपि कृतार्थः । साधारणजनस्तत्प्रसाददृष्टः^२ किं प्राप्नोतीति अशक्यवस्तुन्तरकरणम् ।

आधाराधेयवैचित्र्येणाधिकालंकृतिर्यथा^३ ।

यत्र नास्त्यनुरूपत्वमाधाराधेययोर्मता ॥२०१॥

^४अधिकालंकृतिर्द्वेषा साधारण्यबहुत्वतः ।

ऊर्ध्वधोमध्यभेदत्रिभुवनभरिता कीर्तिरादीशसूनोः

स्वैरक्रीडां विधातुं निकुचिततनुका गूढमूर्त्या प्रवृत्ता ।

यहाँ भयसे भ्रान्त शत्रुओंको सभी जगह आगे, पीछे, अगल, बगल, घरके बाहर, भीतर, तलवार धारण किधे हुए भरतके दिखाई पड़नेसे दौड़नेरूप कार्यका वर्णन होनेसे द्वितीय विशेष अलंकार है । एक भरतचर्की अनेकरूपमें प्रतीत हो रहा है । अतः वे सर्वत्र भाग रहे हैं ।

तृतीय विशेषका स्वरूप एवं उदाहरण—

जिसमें अशक्य वस्तुकी उत्पत्तिका वर्णन हो, उसे तृतीय विशेषालंकार कहते हैं । यथा—चक्रवर्ती भरतके द्वारा कृपापूर्वक देखे हुए इन्द्र भी कृतार्थ हो सकते हैं, तब साधारण मनुष्योंके कृतार्थ होनेकी बात ही क्या है ॥२००॥

चक्रवर्तीकी कृपापूर्ण कोमलदृष्टिसे अवलोकित इन्द्र भी कृतार्थ है । साधारण मनुष्य उनकी प्रसन्न दृष्टिसे देखे जाने पर क्या नहीं प्राप्त कर लेते हैं, इस प्रकार अशक्य अन्य वस्तुका वर्णन है ।

अधिक अलंकारका स्वरूप और भेद—

जिसमें आधार और आधेयकी विचित्रताके कारण आधार तथा आधेयमें अनु-रूपता न हो, वहाँ अधिक अलंकार होता है । आधारके अल्प और बहुत्वके कारण उसके दो भेद होते हैं ॥२०१॥

आधेयकी बहुलताका उदाहरण—

ऊर्ध्व, पाताल और मध्यलोक भेदवाले तीनों भुवनोंमें व्याप्त, विक्रियाजगृद्धि प्राप्त आदीश्वरके पुत्र भरतकी कीर्ति उनके शरीरसे स्वच्छन्दतापूर्वक क्रीडा करने लगी,

१. दृष्टिबीक्षितः—ख । २. तत्प्रसाददृष्टः—ख । ३. रुच्यते—ख । ४. अधिकालंकृति द्वे इत्यस्य अनन्तरम् २०२ श्लोकपर्यन्तं भागो नास्ति—ख । अनाधारस्य इत्यारभ्य विद्यते—ख ।

इन्दुव्योमापगाश्रीहिमवदुरगिरिक्षीरवारशिमुखै-

स्तस्यान्त्रीभावरूपैः प्रकटिततनुका मध्यलोके रराजे ॥२०२॥

अत्राधारस्य भूम्याकाशजठरस्याल्पत्वम् आधेयस्य चक्रियशसो^१
विपुलत्वम् ।

प्राच्येदीप्यः इतीच्याः स्वहितसुपतयो दक्षिणात्याश्च सर्वे ।

हस्त्यश्वादिस्वसेनाविभगणसमाक्रान्तकाष्ठान्तरालाः ।

निर्मयदि बले श्रीभरतनिधिपतेः क्षीरसिन्धूयमाने ।

लीनाः पूर्णत्वमापुर्न च बलजलधेरल्पकोणेऽपि चित्रम् ॥२०३॥

आधारस्य चक्रियेनाब्धेर्वपुर्ल्यमाधेयानां प्राच्यादि-राजसेनानामल्पत्वम् ।

प्रसिद्धकारणाभावे कार्योत्पत्तिविभावना ।

विशेषोक्तिस्तु सामग्र्यां सत्यां कार्यस्य नोद्भवः ॥२०४॥

पुनः मध्यलोकमें अपने शरीरको प्रकट करती हुई अपने ही धनीभूत रूपवाले चन्द्रमा, आकाशगंगा, लक्ष्मी, हिमालय, रजताद्रि या मेरु और क्षीरसागर इत्यादि प्रधानरूपोंमें सुशोभित हुई ॥२०२॥

यहाँ आधार भूमि, आकाश और पातालकी लघुता तथा आधेयभूत भरत चक्रवर्तिके यशकी दीर्घताका वर्णन किया गया है । आधेय और आधारमें अनुपलब्धता नहीं है । आधेयकी अपेक्षा आधार लघु है, अतः आधेयकी बहुलतारूप अधिक अलंकार है । आधारकी अधिकता और आधेयकी अल्पतारूप अधिक अलंकार—

क्षीर समुद्रके समान प्रतीत होनेवाले संख्याहीन सेना समुद्र श्रीमान् राजा भरतकी सेनाके छोटे कोनेमें भी छिप जानेवाले हाथी, घोड़ा, सेना, सम्पत्ति इत्यादिसे दिशाओंके मध्यभागको आच्छादित कर देनेवाले पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिणके सभी मित्र पूर्वताको प्राप्त नहीं कर सके, यह आश्चर्य है ॥२०३॥

यहाँ आधारभूत चक्री भरतके सेनासागरको अधिकता और आधेय पूर्वीय इत्यादि राजाओंकी सेनाकी अल्पताका वर्णन है ।

विभावना अलंकारका स्वरूप—

प्रसिद्ध कारणके न रहनेपर कार्यकी उत्पत्तिका जिसमें वर्णन हो, उसे विभावनालंकार कहते हैं ॥२०३३॥

विभावनाका अर्थ है विशिष्ट भावना या कल्पना । विभावनामें कारणके अभावका अर्थ वास्तवमें कारणका न होना नहीं है, किन्तु तात्पर्य कारणान्तरसे है । कारण तो होता है, पर लोकप्रसिद्ध या सामान्य कारणका अभाव बताकर अप्रसिद्ध कविकल्पित कारणान्तर दिखाया जाता है । इस अलंकारका मूल है अभेद अव्यवसान ।

१. विमलत्वम्—स्व । २. वैमल्यम्—स्व । ३. प्राच्यसेनानामल्पत्वम्—स्व ।

चक्रिर्निजितशत्रूणां मुत्पेदेऽरात्रिकं तमः ।

दिवसेऽपि तेजांसि नोद्बभूवुस्तरां तदा ॥२०५॥

तिमिरोत्पादस्य प्रसिद्धस्य कारणं रात्रिस्तदभावेऽपि तदुत्पत्तिरुक्ता अप्रसिद्धहेतुता प्रीतिगोकारिणः दिङ्मूढतादिरूपस्य तमसः सद्भावात् । दिवसे किरणानां बाहुल्येऽपि तेजसामनुत्पाद इति विशेषोक्तिः । अत्रापि कोशदण्डधैर्यादि विरहोऽप्रसिद्धो हेतुरस्त्येव ।

कार्यकारणविरोधप्रस्तुतेरसंगतिरुच्यते—

कार्यकारणयोरेकदेशसंबन्धिनोरपि ।

भिन्नदेशस्थितियंत्रं तत्रासङ्गत्यलंकृतिः ॥२०६॥

विशेषोक्ति अलंकारका स्वरूप—

कारणरूप सामग्रीके रहनेपर भी जहाँ कार्यकी उत्पत्ति न हो, उसे विशेषोक्ति अलंकार कहते हैं । ॥२०४॥

यह विभावनाका प्रतिलोम है । विभावनामें चमत्कार 'फलसत्त्वके' कारण होता है और विशेषोक्तिमें फलाभावके कारण । विशेषोक्तिका अर्थ है—कारणके सद्भावमें भी कार्यकी उत्पत्ति और उक्तिका अर्थकथन ।

विभावना अलंकारका उदाहरण—

चक्रवर्ती भरतके द्वारा जीते गये शत्रुओंको रातके बिना भी घोर अन्धकार प्रतीत हुआ ॥२०४॥

विशेषोक्ति अलंकारका उदाहरण—

भरतके शत्रुओंके समस्त दिनमें भी प्रकाश प्रकट नहीं हुआ ॥२०५॥

अन्धकारकी उत्पत्तिका मुख्य कारण रात्रि है, यहाँ रात्रिके अभावमें भी अन्धकारकी उत्पत्ति कही गयी है । अन्धकारके अप्रसिद्ध कारण भय और शोक इत्यादिके द्वारा दिङ्मूढतादिरूप अन्धकारका वर्णन होनेसे विभावनालंकार है । दिनमें सूर्यकिरणोंकी अधिकता रहनेपर भी प्रकाशकी अनुत्पत्तिके वर्णन होनेसे विशेषोक्ति अलंकार है । इसमें भी कोश, दण्ड, धैर्य इत्यादिका अभाव स्वरूप अप्रसिद्ध कारण है ही ।

कार्य और कारणके विरोध प्रस्तुत होनेपर असंगति अलंकार होता है । इस अलंकारका स्वरूप निम्न प्रकार है—

असंगति अलंकारका लक्षण—

जिसमें एक स्थानमें रहनेवाले कार्यकारणकी पृथक्-पृथक् देलमें स्थितिका वर्णन हो, उसे असंगति अलंकार कहते हैं ॥२०६॥

१. उत्पेदे रात्रिकम्—ख । २. प्रसिद्धकारणम्—ख । ३. विरहो प्रसिद्धो—ख ।
खप्रती सर्वत्र अकार (५) प्रदलेपो नास्ति । ४. यथासङ्गत्य—ख ।

धुर्ये चक्रिणि षट्खण्डभारं वहति भूमुजि ।
राजानः शमितात्मानो बभूवुर्नतमौलयः ॥२०७॥

भारमन्यस्मिन्निधीशे बिभ्रति सति तदन्येषु रिपुषु नमनमिति । विरोध-
प्रस्तुतेविचित्रमुच्यते—

स्वविरुद्धफलापर्ययमुद्योगो यत्र तन्यते ।
विचित्रालंकारं प्राहुस्तां विचित्रविदो यथा ॥२०८॥

पुरोरग्रे त्रिलोकोशाः सुमुचुः संपदोऽस्त्रिणाः ।
सुनिर्वाधनमादातुमखिलाः संपदोऽनिशम् ॥२०९॥

सात्पर्य-यह है कि असंगतिमें कारण और कार्य भिन्न-भिन्न आश्रयोंमें वर्णित होते हैं । लोकप्रसिद्ध संगति यही है कि जहाँ 'कारण' रहता है, 'कार्य' भी वहीं उत्पन्न होता है; पर यदि कवि लोकातिक्रान्त प्रतिभा द्वारा कारण और कार्यका स्थान भिन्न-भिन्न बतावे, तो उसमें उत्पन्न काव्य-वैचित्र्य ही असंगति कहा जाता है ।

असंगति अलंकारका उदाहरण—

भार होनेमें समर्थ चक्रवर्ती भरतके षट्खण्डभूमिके भारको ढोते रहनेपर अपने को शान्त कर देनेवाले राजाओंने मस्तक झुका लिया ॥२०७॥

यहाँ भार ढोना और मस्तक झुकाना, इस कारण-कार्यको एकाश्रयमें रहना चाहिए था, पर उसका एकाश्रयमें वर्णन नहीं है । भार चक्रवर्ती ढोते हैं और मस्तक अन्य राजा झुकाते हैं, अतः कारण-कार्यकी भिन्न-भिन्न स्थिति होनेसे असंगति अलंकार है ।

विरोधके प्रस्तुत होनेपर विचित्र अलंकार होता है । अब प्रसंगप्राप्त विचित्र अलंकारके स्वरूपका वर्णन करते हैं ।

विचित्रालंकारका लक्षण—

जिसमें अपने अनभिमत फलकी प्राप्तिके लिए विस्तृतरूपसे उद्योग किया जाव, उसे विचित्र बातोंके जानकार विद्वान् विचित्रालंकार कहते हैं ॥२०८॥

आशय यह है कि इसमें इष्टफलकी प्राप्तिके लिए विपरीत कार्यके किये जानेका वर्णन रहता है ।

विचित्रालंकारका उदाहरण—

सभी देवगण बाधारहित सम्पूर्ण सम्पत्तिको प्राप्त करनेके लिए निरन्तर अपनी सम्पत्तिको पुरु महाराजके समक्ष रख देते थे ॥२०९॥

अत्रादातुं त्यजन्ति स्मेति विपरीतफलप्राप्त्यर्थः प्रयत्नः । विरोध-
मूलत्वादभ्योन्यस्याभ्योन्यं कथ्यते—

परस्परक्रियाद्वारमुत्पाद्योत्पादकत्वकम् ।

यत्र सूरिभिरुक्तान्नाभ्योन्यालंकारकृतिर्यथा ॥२१०॥

पुरुषारोहता मेरुं सिंहासनमलंकृतम् ।

नानारत्नभृता तेन पुरुरापाविकां श्रियम् ॥२११॥

जन्माभिषेकावसरे आरोहता नाभिशिशुना हेममयवपुषा सिंहासनं भूषितं
तेनायमिति पुरुषोष्ठप्रोरभ्योन्यभूष्यभूषकत्वम् । विरोधमूलं विषमं निरूप्यते—

हेतोर्विरुद्धकार्यस्य यत्रानर्थस्य चोद्भवः ।

विरूपघटना त्रेधा विषमालंकारकृतिर्यथा ॥२१२॥

यहाँ लेनेके लिए देते थे, इस विपरीत फलकी प्राप्तिके लिए प्रयत्न है । विरोध-
मूलक होनेके कारण अभ्योन्यालंकारका वर्णन किया जाता है—

अभ्योन्यालंकारका लक्षण—

जिसमें आपसमें एक क्रियाके द्वारा उत्पाद्य और उत्पादकत्वका वर्णन हो,
विद्वानोंने उसे अभ्योन्यालंकार माना है ॥२१०॥

वात्पर्य यह है कि जहाँ दो पदार्थ एक ही क्रिया द्वारा परस्पर एक दूसरेके
उत्कर्षकारक रूपमें वर्णित किये जायें, वहाँ अभ्योन्य अलंकार आता है ।

अभ्योन्यालंकारका उदाहरण—

पुरुदेवने मेरुपर्वतके समान सिंहासनपर आरूढ होते हुए उसे सुशोभित किया
और अनेक रत्नोंके धारण करनेवाले उस मेरुसे पुरुने अधिक सम्पत्ति—शोभाकी प्राप्त
किया ॥२११॥

जन्माभिषेकके अवसर पर मेरुपर बङ्गते हुए नाभिपुत्र पुरुदेवने सुवर्णके समान
शरीरसे सिंहासनको अलंकृत किया और उस सिंहासनने पुरुको शोभाकी वृद्धिगत
किया । अतएव पुरुदेव और सिंहासनका परस्परमें भूष्य-भूषकभाव होनेसे अभ्योन्या-
लंकार है ।

विरोधमूलक विषमालंकारका लक्षण—

अहाँ कारणसे विपरीत कार्यकी उत्पत्ति एवं अनर्थकी उत्पत्ति वर्णित हो, वहाँ
विषमालंकार होता है । विरूपघटनावली तीन प्रकारकी होती है, अतः विषमालंकार
भी तीन प्रकारका माना जाता है ॥२१२॥

विषमालंकारके तीन भेद हैं—(१) दो वे-मेल पदार्थोंके सम्बन्धका वर्णन, (२)
कार्य एवं कारणकी गुण-क्रियाओंका परस्पर विपरीत्य प्रतिपादन, (३) कार्यानुकूल फल-
प्राप्तिके स्थानपर तद्विपरीत परिणामका निरूपण ।

कालोरगाभखड्गेन कीर्तिर्गङ्गोपमोदभूत् ।

जयाशास्तां द्विषो युद्धे चक्रयालोकात् पतन्त्यमो ॥२१३॥

नोलवर्णाद्युधेन गङ्गाशुभ्रं यशो जातमिति कारणाद्विरुद्धकार्योत्पत्ति-
रित्येका विषमालंक्रुतिः ।^१ न केवलस्य रणोद्योगफलस्य जयस्य अनुत्पत्तिः किन्तु
प्राणनाशरूपस्यानर्थस्योत्पत्तिरपीत्यकार्यभूतस्यानर्थस्योद्भवे द्वितीयं विषमम् ।

निःशेषत्रिदशेन्द्रशेखरशिखारत्नप्रदीप्रावलि-

सान्द्रोभूतमृगेन्द्रविष्टरतटीमाणिक्यदीपावली ।

क्वेयं श्रीः क्व च निस्पृहत्वमिदमित्यूहातिगस्तौदृशः

सर्वज्ञानदृशश्चरित्रमहिमा लोकेशलोकोत्तरः ॥२१४॥

सस्पृहत्वयोग्यायाः श्रियो निस्पृहत्वस्य घटनमिति विरूपयोर्वस्तुनोः
संघट्टने तृतीयं विषमम् ।

^२यत्रान्योन्यानुरूपानामर्थानां घटना समम् ।

^३सुभद्रा भरतेशस्य लक्ष्म्या समभनूदरा ॥२१५॥

विषमालंकारका उदाहरण—

काल सर्पके समान तलवारसे गंगाके समान कीर्ति उत्पन्न हुई; युद्धक्षेत्रमें शत्रु
बक्रो भरतके देखते ही भयके कारण भूमिपर गिर पड़े ॥२१३॥

काले वर्णकी तलवारसे गंगाके समान श्वेत यश उत्पन्न हुआ । यहाँ कारणसे
विरुद्ध कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन है । अतः विषमालंकार है । केवल युद्धके उद्योगफल
जयकी उत्पत्तिका अभाव ही नहीं हुआ, किन्तु प्राणनाशरूप अनर्थकी उत्पत्ति भी हुई ।
अतएव अकार्यस्वरूप अनर्थकी उत्पत्ति होनेपर यह द्वितीय विषमालंकार है ।

तृतीय विषमालंकारका उदाहरण—

सम्पूर्ण देवेंद्रोंके मुकुटमणि स्वरूप दीपपंक्तिसे बनोभूत सिंहके निवास स्थान
स्वरूप गुफाके आस-पासके भाणिक्यरूपी दीपश्रेणोसे सुशोभित लक्ष्मी कहाँ और कहाँ यह
निस्पृहता ? इस प्रकार कल्पनाका अतिक्रमण करनेवाले सर्वज्ञान दृष्ट सम्पूर्ण लोकके
अधोश्वरके चरित्रकी महिमा कहाँ ? अर्थात् दोनोंमें महान् भेद है ॥२१४॥

स्पृहायुक्त लोगोंके योग्य लक्ष्मीका स्पृहारहितके साथ वर्णन होनेसे तृतीय प्रकार-
विषमालंकार है ।

सम अलंकारका स्वरूप और उदाहरण—

जिसमें परस्पर समानरूपवाले पदार्थोंका मिलाप वर्णित हो, उसे सम अलंकार
कहते हैं । यथा—भरतकी सुभद्रा लक्ष्मीके समान श्रेष्ठ प्रतीत हुई ॥२१५॥

१. न केवलं रणोद्योगस्य -क । न केवलं रणोद्योगफलस्य -ख । २. योत्पत्तिश्चेत्यकार्य
.... -ख । ३. प्रदीपावली -ख । ४. त्वादृशः -क-ख । ५. यत्रान्योन्यरूपाणा -ख ।
६. सुभद्राम् -ख ।

लक्ष्मीसुभद्रादेव्योरनुरूपयोर्योग इति समालंकारः ।

विषमपर्यन्तं विरोधमभालंकारा दर्शिताः ।

विषमवेसादृश्यात् सममुक्तम् । इदानीं गम्यमानौष्यालंकारा उच्यन्ते ।

केवलप्रस्तुतान्येषामर्थानां समधर्मतः ।

यत्रोपम्यं प्रतीयेत भवेत्सा तुल्ययोगिता ॥२१६॥

केवलप्रकरणिकाणां यथा—

भरते सिंहपीठस्थे कीर्तयो द्विषदङ्गनाः ।

नित्यभ्रान्तिद्युजो यान्ति सितिमानं प्रतिक्षणम् ॥२१७॥

यशसां रिपुयोषितां च प्रस्तुतत्वं, धुभ्रतां यान्तीति समानधर्मः । अन्येषां केवलाप्रस्तुतानां यथा—

इन्द्रनागेन्द्रसिंहाब्धि-दिग्दन्तिकुलपर्वताः ।

चक्रिणि आजमानेऽत्र मिथो निःसारतां गताः ॥२१८॥

यहाँ लक्ष्मी और सुभद्रादेवी इन दोनों समान योग्यतावाली वस्तुओंका वर्णन है, अतः सम अलंकार है ।

विषमालंकार तक विरोधमूलक अलंकार वर्णित हैं । विषममें सर्वथा असदृश— विपरीत होनेके कारण समालंकारका वर्णन किया गया है । अब प्रतीयमान उपमेयोपमानवाले अलंकारोंका वर्णन करते हैं ।

तुल्ययोगिता अलंकारका स्वरूप—

जिसमें प्रस्तुतसे भिन्न अर्थोंके सादृश्यके कारण सादृश्य प्रतीत हो, उसे तुल्य-योगिता कहते हैं ॥२१६॥

तुल्ययोगिताका उदाहरण—

चक्रवर्ती भरतके राजसिंहासनासीन होनेपर कीर्तिरूपी शत्रु-नारियाँ क्षण-क्षण शुभताको प्राप्त करती हैं ॥२१७॥

प्रस्तुत यश और शत्रु नारियोंका शुभताको प्राप्त करना सादृश्य है । अनेक प्रस्तुतोंका सम्बन्ध एक ही साधारण धर्मसे बताया गया है ।

अप्रस्तुतोंके सम्बन्धमें तुल्ययोगिताका उदाहरण—

इस लोकमें चक्रवर्ती भरतके देदीप्यमान रहनेपर इन्द्र, ऐरावत, सिंह, समुद्र, दिग्गज और कुलपर्वत ये सभी पदार्थ निःसारताको प्राप्त हुए ॥२१८॥

इन्द्रादीनामप्रस्तुतत्वम् । निःसारतां गता इति समानधर्मः । अप्र
गम्यमानोपम्यं वैवक्षिकं न वास्तवमिति कश्चित् । स न कविः । बन्ध्यासुतो
निःसारतां गत इत्यपि वक्तुं शक्यत्वप्रसङ्गात् । इयमपि तुल्ययोगिता ।

नाकश्येन्द्रः सुजागति रक्षणाय भुवो निधीत् ।

निरस्यन्तेऽसुरास्तेन राजानोऽनेन गविताः ॥२१९॥

तथा चोक्तं—

उपमेयं समीकतुं मुपमानेन युज्यते ।

तुल्यैककालक्रियया यत्र सा तुल्ययोगिता ॥२२०॥

तमसा लुप्यमानानां लोकेऽस्मिन् साधुवर्त्मनाम् ।

प्रकाशनाय प्रभुता भानोस्तव च दृश्यते ॥२२१॥

सामस्त्ये प्रस्तुतान्येषां तुल्यधर्मात्प्रतीयते ।

औपम्यं दीपकं तत्स्यादादिमध्यान्ततस्त्रिधा ॥२२२॥

इन्द्रादि यहाँ अप्रस्तुत हैं । निःसारताको प्राप्त हुए, यह समानधर्मा है । यहाँ
प्रतीतमान उपमानोपमेय भाव विवक्षाधीन है, वास्तविक नहीं है, ऐसा किसीका मत
है । किन्तु वस्तुतः यह कवि नहीं है, क्योंकि उक्त तथ्य स्वीकार कर लेनेपर बन्ध्याका
पुत्र निःसारताको प्राप्त हुआ, यह भी कहा जाने लगेगा ।

अथ उदाहरण—

इन्द्र स्वर्गकी और चक्रवर्ती भरत पृथिवीकी रक्षा करनेके लिए सावधान है ।
इन्द्र असुरोंकी और यह बमण्डो राजाओंकी दूर भगता है ॥२१९॥

अथ द्वारा कथित प्रकारान्तरसे तुल्ययोगिताका लक्षण और उदाहरण—

जिस अलंकारमें एक ही कालमें होनेवाली क्रियाके द्वारा उपमानके साथ उपमेय-
का समभाव स्थापित किया जाय, उसे 'तुल्ययोगिता' कहते हैं ॥२२०॥

इस संसारमें अन्धकार अथवा मोहसे आच्छादित सन्मार्ग किंवा सदाचारको
प्रकाशित करनेके लिए मगदान् सूर्य और आपका प्रताप ही दिखलाई देता है ॥२२१॥

यहाँ प्रस्तुत राजा और अप्रस्तुत सूर्य एक समयमें एक ही क्रियाका अनुष्ठान कर
रहे हैं, अतः तुल्ययोगिता नामक अलंकार है ।

दीपक अलंकारका स्वरूप और भेद—

जिसमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थोंमें एक धर्मका अभिसम्बन्ध होनेसे उपमानो-
पमेयभाव प्रतीत होता है, वहाँ आदि, मध्य और अन्तदीपकके भेदसे तीन प्रकारका
दीपक अलंकार होता है ॥२२२॥

प्रस्तुताप्रस्तुतानां समस्तानामेव यत्र ^१समधर्मयोगेनीपम्यं तद्दीपकम् ।

आराधनो विष्टरे जगत्पद्मः स्वर्गं सुरेश्वरः ।

आनन्दमन्दिरे क्षेत्रे भरते भरतेश्वरः ॥२२३॥

पद्यादिवर्तितो भातीतिपदस्य प्रत्येकमभिसंबन्धादादिदीपकम् ।

मौक्तिकैरुदधिर्भाति ज्वलत्तेजोभिरंशुमान् ।

शीतलैः किरणैरिन्दुः स्वगुणैर्भरतेश्वरः ॥२२४॥

मध्यदीपकम् ।

^२ज्योत्स्नया वरया चन्द्रः सुरतद्या महान्बुधिः ।

सुरेन्द्रो दिव्यया चक्रो कीर्त्या ^३चारु विराजते ॥२२५॥

अन्त्यदीपकमिदम् । श्लोकत्रयेऽत्र यथा—

तथेत्यीपम्यं गम्यते । क्वचिदीपम्याभावेऽपि दीपकं यथा—

जहाँ समस्त ही प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थोंका समधर्मके सम्बन्धसे औपम्य प्रतीत होता है, उसे दीपक कहते हैं ।

आदि दीपकका उदाहरण—

पातालमें नागराज, स्वर्गमें इन्द्र और इस आनन्दनिकेतन भरतक्षेत्रमें चक्रवर्ती भरत सुशोभित हो रहे हैं ॥२२३॥

पदके आदिमें रहनेवाले 'भाति' क्रियापदका प्रत्येकमें सम्बन्ध होनेसे यहाँ आदिदीपक है ।

मध्यदीपकका उदाहरण—

मौक्तियोंसे समुद्र, जलते हुए तेजोंसे सूर्य, शीतल किरणोंसे चन्द्रमा और अपने गुणोंसे राजा भरत सुशोभित ही रहे हैं ॥२२४॥

अन्त्यदीपकका उदाहरण—

सुन्दर चन्द्रिकासे चन्द्रमा, गंगासे समुद्र, सुन्दरमालासे इन्द्र तथा कीर्तिसे चक्रवर्ती भरत बहुत सुशोभित हो रहे हैं ॥२२५॥

यह अन्त्य दीपक है । तीनों पद्योंमें जिस किसी प्रकारसे उपमानोपमेयभाव प्रतीत हो रहा है ।

कहाँ उपमानोपमेय भावके न रहनेपर भी दीपक अलंकार होता है । यथा—

१. समधर्मयोगेनीपम्यम्—ख । २. ज्योत्स्नया —ख । ३. चक्रो—ख । ४. त्रयेपि अत्र —ख ।

कीलासाद्री मुनीन्द्रः पुरुरपदुरितो मुक्तिमाप प्रपूत-
श्चम्पायां वासुपूज्यस्त्रिदशपतिनुतो नेमिरप्यूर्जयन्ते ।
पावायां वर्धमानस्त्रिभुवनैगुरवे विशतिः तीर्थनाथाः
संमेदाद्री प्रजग्मुर्दधनु विनमतां निर्वृति नो जिनेन्द्राः ॥२२६॥
इदमलंकारद्वयं^३ पदार्थद्वयगतम् । अधुना वाक्यार्थगतमलंकारद्वयं
निरूप्यते ।

वाक्ययोर्यत्र सामान्यनिर्देशः पृथगुक्तयोः ।
प्रतिवस्तूपमा गम्योपम्या^४ द्वेषान्वयान्यतः ॥२२७॥

पृथगुक्तवाक्यद्वये यत्र वस्तुभावेन सामान्यं निर्दिश्यते तदर्थसाम्येन
गम्योपम्या प्रतिवस्तूपमा । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सा द्विधा क्रमेण यथा—

अमरेश्वर एवैकः शक्तः स्वर्लोकपालने ।
भरतेश्वर एवैकः क्षमः षट्खण्डपालने ॥२२८॥

कर्मकलंक रहित परम पवित्र मुनीन्द्र पुण्ड्रदेव—ऋषभदेवने केलासपर्यंतपर
मुक्तिको प्राप्त किया, देवेन्द्रोंसे पूजनोय वासुपूज्यने शम्पानगरीमें; नेमिनाथने ऊर्जयन्त
गिरिपर; वर्धमानने पावापुरीमें और शेष तीर्थकरोंने संमेदाचलसे मुक्तिको प्राप्त
किया । अतः सज्जनो ! इस त्रिभुवन श्रेष्ठ पर्वतको नमस्कार कीजिए ॥२२६॥

उक्त अलंकार दो पदार्थोंमें हैं । अब वाक्यार्थोंमें रहनेवाले अलंकारोंका निरूपण
करते हैं ।

प्रतिवस्तूपमाका स्वरूप—

जिसमें अलग-अलग कहे हुए दो वाक्योंमें वस्तुकी समतासे निर्देश हो, और
उनके अर्थको समतासे उपमानोपमेय भावकी प्रतीति होती हो, उसे प्रतिवस्तूपमा
अलंकार कहते हैं । यह अन्वय और तद्विपर व्यतिरेकके भेदसे दो प्रकारका होता
है ॥२२७॥

इस अलंकारके लिए चार बातें अपेक्षित हैं—(१) दो वाक्यों या वाक्यार्थोंका
होना, (२) दोनों वाक्यों या वाक्यार्थोंमें एकका उपमेय और दूसरेका उपमान होना,
(३) दोनों वाक्यों या वाक्यार्थोंमें एक साधारण धर्मका होना और (४) उस साधारण
धर्मका भिन्न-भिन्न शब्दों द्वारा कथन किया जाना ।

अन्वय प्रतिवस्तूपमाका उदाहरण—

एक ही इन्द्र स्वर्गके पालन करनेमें समर्थ है और एक ही भरतेश्वर छह खण्ड
भूमिके पालन करनेमें समर्थ है ॥२२८॥

१. स्वप्रती मुनीन्द्रः इति पदं नास्ति । २. गुरवो -क-ख । ३. पदार्थगतम् -क-ख ।
४. द्वेषान्वयान्यतः -ख । ५. वस्तुप्रतिवस्तुभावेन -ख । ६. गम्योपम्या-ख ।

वृषभेश्वर एवैकः शक्तो भव्यप्रतोषणे ।
 सूर्याद् विना क्षमो नान्यः सरोजपरितोषणे ॥२२९॥
 उभयत्र यथातथैतयोपम्यं गम्यते^१ ।
 पुरोर्बहुसुतेष्वेष चक्री भरत एव च ।
 किं ज्योतिषां गणः सर्वः सर्वलोकप्रकाशकः ॥२३०॥
 उक्तं च—

'अनुपात्तविवादीनां वस्तुनः प्रतिवस्तुना ।
 यत्र प्रतीयते साम्यं प्रतिवस्तूपमा तु सा ॥२३१॥
 बहुवीरेऽप्यसावेको यदुर्वशेऽद्भुतोऽभवत् ।
 किं केतक्या दलानि स्युः सुरभीष्यस्त्रिलान्यपि ॥२३२॥
 वाक्ययोर्यत्र भेदं विम्बप्रतिबिम्बतयोदिराम् ।
 सामान्यं सह दृष्टान्तः साधर्म्येतरतां द्विधा ॥२३३॥

व्यतिरेक प्रतिवस्तूपमाका उदाहरण—

केवल एक ऋषभदेव भगवान् ही भव्योंको सन्तुष्ट करनेमें समर्थ है; क्योंकि सूर्यके विना अन्य कोई कमलोंको सन्तुष्ट करनेमें समर्थ नहीं हो सकता है ॥२२९॥

दोनों पद्योंमें जिस किसी प्रकारसे उपमानोपमेय भाव प्रतीत होता है। पुरु महाराजके अनेक पुरोंमें चक्रवर्ती यह भरत ही हुए; क्या नक्षत्रोंका समस्त गण सम्पूर्ण लोकको प्रकाशित करता है ॥२३०॥

कहा भी है—

जिस अलंकारमें 'इव' इत्यादि उपमावाचक शब्दोंके न रहने पर भी प्रस्तुत और अप्रस्तुतमें साम्य दिखान्या जाता है, उसे प्रतिवस्तूपमा कहते हैं ॥२३१॥

उदाहरण—

यदुर्वशमें अनेक मोट्टा भरे पड़े हैं, तथापि श्रीकृष्ण उन सबसे अद्भुत हो हैं। क्यों न हों। क्या केतकीके सभी पक्षे सुगन्धित होते हैं ॥२३२॥

यद्यपि 'इव' इत्यादि उपमावाचक एक भी शब्द यहाँपर नहीं है, तो भी उपमेयभूत यदुर्वशा और उपमानभूत केतकीमें साधर्म्यकी प्रतीति होती है। अतएव यह 'प्रतिवस्तूपमा' है।

दृष्टान्तालंकारका स्वरूप और भेद—

जहाँ दो वाक्योंमें विम्ब-प्रतिबिम्बभावरूप सामान्य धर्मका कथन हो, वहाँ दृष्टान्तालंकार होता है। इसके दो भेद हैं—(१) साधर्म्य दृष्टान्तालंकार और (२) वैधर्म्य दृष्टान्तालंकार ॥२३३॥

१. गम्यते इत्यनन्तरं क-त्वप्रती 'इयमपि सा' अधिकः पाठः । २. अनुपात्तविवादीनाम्

वृक्षाश्चूतादयः श्रोफलकुसुममुखैः स्वाश्रितात्मोपकारं
 केचित् कुर्वन्तु कोऽपि स्फुटतरमहिमा कल्पवृक्षस्य दातुः ।
 सर्वाभीष्टस्य भूषाविभववितरणं कुर्वतां चक्रपाणे-
 र्जीवाजीवोररत्नप्रवरनिधिभृत्तः कोऽपि संपद्विशेषः ॥२३४॥
 कल्पशाखिनश्चक्रिणश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावोपम्यं गम्यते ।
 पुरुषाषोदयेनेव जाताः सम्यक्त्वसंपदः ।
 तावदञ्जानि निद्रान्ति यावन्नोदेति भास्करः ॥२३५॥

यथा भानूदयमात्रेण पद्मोन्मीलनं तथा पुरुजिनदिव्यध्वन्युदयमात्रेण
 सम्यक्त्वानि जातानि भव्यानामिति वैधर्म्येण बिम्बप्रतिबिम्बभावः । वाक्यार्थयो-
 रमुद्रानिष्पादितयोर्वस्तुनोरिव स्फुटे सादृश्ये प्रतिवस्तूपमा । बिम्बप्रतिबिम्ब-
 योरिव किञ्चिदस्फुटे तु दृष्टान्तः । न हि बिम्बप्रतिबिम्बयोः स्फुटतरं सादृश्यं
 नियमेन परस्परविरुद्धदिङ्मुखत्वात् ।

प्रतिबिम्बस्य हानोपादानयोग्यताविरहाच्च ।

उदाहरण—

कोई आम्र आदि वृक्ष अपने सुन्दर फल और फूल इत्यादिसे अपनी छायामें
 रहनेवालोंका उपकार भले ही करे, किन्तु सम्पूर्ण अभिमत वस्तुके प्रदान करनेवाले
 कल्पवृक्षकी महिमा स्पष्ट है । केवल अलंकार और सम्पत्तिके देनेवालों और जीव-अजीव
 सभीके लिए अत्यधिक सुन्दर रत्नादि विधिकी धारण करनेवाले चक्रवर्तीकी सम्पत्तिमें
 कोई बिलक्षण विरोधता है ॥२३४॥

यहाँ कल्पवृक्ष और चक्रकी बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव होनेसे उपमानोपमेय भाव
 प्रतीत होता है ।

पुरुदेवकी दिव्यध्वनिके उदय होते ही सम्यक्त्व आदि सम्पत्तियाँ ही गयीं, यत्तः
 तभीतक कमलोंका विकास नहीं होता, जबतक सूर्य उदित नहीं होते । जैसे सूर्योदय
 होने पर कमल विकसित हो जाते हैं, उसी प्रकार पुरुदेवकी दिव्यध्वनिसे सम्यक्त्वादि
 सम्पत्ति हो जाती है ॥२३५॥

जिस प्रकार सूर्योदयसे कमलोंका विकास होता है, उसी प्रकार पुरुदेवकी दिव्य-
 ध्वनिके उदयसे भव्यजीवोंको सम्यक्त्वका आविर्भाव होता है । इस प्रकार यहाँ वैधर्म्य
 द्वारा बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव है । दो वाक्यार्थोंमें अमुद्र और अनिष्पादित वस्तुओंके समान
 सादृश्यके सुस्पष्ट रहनेपर प्रतिवस्तूपमालंकार होता है । बिम्ब और प्रतिबिम्बके समान
 सादृश्यके कुछ अस्पष्ट रहनेपर दृष्टान्तलंकार होता है । परस्पर विरुद्धदिशामें मुख
 रहनेके कारण बिम्ब-प्रतिबिम्ब उतना सुस्पष्ट सादृश्य नियमतः नहीं होता है । प्रति-
 बिम्बमें त्याग और स्वीकारकी योग्यताका अभाव भी रहता है ।

१. भूषा -ख । २. किञ्चिदस्फुटे -ख ।

अत्र गम्यमानोपमेयप्रस्तावान्तिदर्शनेष्यते ।

‘उपमानोपमेयस्यो यत्र धर्मावसंभवौ ।

संयोज्याक्षिप्यते बिम्बक्रिया द्वेषा निदर्शना ॥२३६॥

उपमानोपमेयधर्मयोर्होपमेयोपमानाभ्यामन्वयाभावादन्वयसंबन्धार्थं प्रति-
बिम्बकरणमाक्षिप्यते यत्र सा निदर्शना द्विधा । उपमानधर्मस्य निबद्धस्योपमेय-
गतत्वेनासंभवात् प्रथमा । उपमेयधर्मस्योपमानगतत्वेनासंभवात् द्वितीया । सा
क्रमेणोच्यते ।

सुमनोनिलयस्तुङ्गो भूभृदोषो निधीश्वरः ।

रत्नसानोरभिख्यां स धत्ते विश्वभराभूतः ॥२३७॥

मेरोः शोभायाश्चक्रिण्यसंभवात्तदभिख्यां सदृशशोभां धरतीति प्रतिबिम्ब-
क्रियाक्षेपः ।

अत्र प्रतीयमान उपमानोपमेयका प्रकरण रहनेसे निदर्शनाका विचार प्रस्तुत
करते हैं ।

निदर्शनालंकारका स्वरूप और भेद—

जहाँ उपमान और उपमेयमें रहनेवाला धर्म सर्वथा असंभव हो, वहाँ अन्वय
करनेके लिए संयुक्तकर बिम्बक्रिया (औपम्य) का आक्षेप किया जाये, उसे निदर्शना
कहते हैं । इसके दो भेद हैं—(१) उपमानका उपमेयगतत्वेन असंभवा और (२)
उपमेयका उपमानगतत्वेन असंभवा ॥२३६॥

उपमान और उपमेय धर्मोंका उपमान तथा उपमेयके साथ अन्वय न हो सकनेके
कारण अन्वय सम्बन्ध करनेके लिए प्रतिबिम्ब करणका आक्षेप किया जाता है
उसे निदर्शना कहते हैं । यह दो प्रकार का है—(१) कवि निबद्ध उपमान धर्मका
उपमेयगतत्वेन असंभव होनेसे (२) उपमेय धर्मका उपमानगतत्वेन असंभव होने से ।

उदाहरण—

राजाधिराज चक्रवर्ती भरत देवताओंके निवास स्थान उन्नत सुमेरु पर्वतके
समान हैं । यह सुमेरु पर्वत रत्न शिखरको संज्ञाको धारण करता है और यह भरत
पृथ्वीपालकको अभिख्याको धारण करता है । निधीश्वर पक्षमें सुपनसःका अर्थ विद्वान्
है ॥२३७॥

सुमेरुकी शोभा चक्रवर्तीमें असंभव है, अतएव ‘तदभिख्याम्’—समान शोभाको
संज्ञाको धारण करता है । इस तरह प्रतिबिम्ब क्रियाका आक्षेप हुआ है ।

कारुण्यनिधिचक्रेशकीर्तिधावत्यसंपदः ।

दुग्धाब्धिमुकुरे शुभ्रे दृश्यन्ते विस्तृतात्मनि ॥२३८॥

यशोधावत्यस्य क्षीराब्धावसंभवेन साम्यनिश्चयात् यत्र प्रतीयते ।
प्रतिबिम्बनं भेदप्रधानं तु सदृक्षत्वं सधर्मणोः ।

अल्पाधिक्योक्तिभेदेन व्यतिरेको द्विधा यथा ॥२३९॥

सधर्मणोरुपमानोपमेययोरुपमानादुपमेयस्याल्पत्वेन आधिक्येन वा वचनेन
भेदमुख्यं सादृश्यं प्रतीयते स व्यतिरेकः ।

चन्द्रस्य त्वद्विषत्कीर्तः क्षीणत्वेनास्तु तुल्यता ।

किंतु चक्रंश तत्कीर्तौ नैवं वृद्धिः पुनः सदा ॥२४०॥

चन्द्रस्य पुनः पुनः पुनर्वृद्धिसंभवेनाधिक्यमुपमेयभूतस्य तु वैरियशसः
सदापि वृद्धयसंभव इति न्यूनत्वम् ।

अत्यन्त दयालु चक्रवर्तीको कीर्तिको उज्ज्वलतारूपी सम्पत्तिर्वा अत्यन्त विस्तृत
स्वरूपवाले स्वच्छ क्षीरसागररूपो दर्पणमें दिखाई पड़ती है ॥२३८॥

कीर्तिको उज्ज्वलताके क्षीराब्धिमें असंभव होनेके कारण साम्य निश्चय होनेके
प्रतिबिम्बभाव प्रतीत होता है ।

व्यतिरेकालंकारका स्वरूप और भेद—

जहाँ उपमान और उपमेयका भेद प्रधान सादृश्य प्रतीत होता हो, वहाँ व्यतिरेक-
रेकालंकार होता है । इसके दो भेद हैं—(१) उपमानसे उपमेयकी अल्पता और (२)
उपमानसे उपमेयकी अधिकता ॥२३९॥

आशय यह है कि व्यतिरेकमें उपमानकी अपेक्षा उपमेयका गुणोत्कर्ष दिखलाया
जाता है । उपमानसे उपमेयका विशेष अतिरेक—गुणोत्कर्ष व्यतिरेक अलंकार है ।

समानधर्मवाले उपमान और उपमेयमें उपमानकी अल्पता अथवा अधिकताके
कथनसे भेदप्रधान सादृश्यकी प्रतीतिके वर्णनको व्यतिरेक कहते हैं ।

व्यतिरेक अलंकारका उदाहरण—

हे चक्रवर्ती भरत ! चन्द्रमा और तुम्हारे शत्रुओंकी क्षीणताके साथ तुलना की
जा सकती है, किन्तु चन्द्रमाकी शुक्लपक्षमें वृद्धि होती है, पर तुम्हारे शत्रुओंके यशकी
कदापि वृद्धि नहीं होती ॥२४०॥

चन्द्रमाकी वृद्धि सम्भव है, अतः उपमानकी अधिकता है, पर शत्रुओंकी यशो-
वृद्धि कदापि सम्भव नहीं होनेसे उपमेयकी न्यूनता है ।

तव सिंहस्य चक्रेश पौरुषेणास्तु तुल्यता

किं तु ते भयतोऽरण्यमन्याशङ्का द्विषो गताः ॥२४१॥

वनस्थितमन्यं सिंहमशङ्कमाना रिपवोऽरण्यं गता इत्युपमेयस्य चक्रिणो अधिकत्वम् ॥

पदैभिर्नैरभिन्नैर्वा वाक्यं यत्रैकमेव हि ।

अर्थाननेकान् प्रब्रूते स श्लेषो भणितो यथा ॥२४२॥

भिन्नपदैरनेकार्थं वाक्यं यत्र वक्ति स श्लेषो यथा—

तन्वन् कुबलये तृष्टि वारिजोल्लासमाहरन् ।

कलानिधिरसो रेजे समुद्रपरिवृद्धिदः ॥२४३॥

पक्षे भूबलये अधिजातहर्षं मुद्रया युक्तानाम् । द्वितीयश्लेषो यथा—

राज्ञस्तस्योदये तोषकरेस्तापहरैः करैः ।

सिन्धुनाथो महावेलां प्राप्य संववृधे तराम् ॥२४४॥

अन्य उदाहरण—

हे चक्रवर्तिन् ? सिंहके पराक्रमसे तुम्हारे पराक्रमकी तुलना सम्भव है, किन्तु तुम्हारे भयसे सिंहकी आशंकावाले शत्रु जंगलमें चले गये ॥२४१॥

वनमें रहते हुए दूसरे सिंहके आशंका दूरी करनेवाले शत्रु तुम्हारे भयसे जंगलमें चले गये । यहाँ उपमेय चक्रवर्तीकी अधिकताका वर्णन किया गया है ।

श्लेष अलंकारका स्वरूप—

निश्चय ही जहाँ भिन्न या अभिन्न पदोंके द्वारा एक ही वाक्य अनेक अर्थोंको कहता हो, उसे श्लेष कहते हैं ॥२४२॥

भिन्न पदोंसे जहाँ अनेकार्थक वाक्य अनेक अर्थोंको कहता है, उसे श्लेष कहते हैं ।

प्रथमश्लेषका उदाहरण—

कुबलयो—रात्रिषिकासी कमलोंको सन्तुष्ट करता हुआ, वारिज—कमलोंके आनन्दका अपहरण करता हुआ—संकुचित करता हुआ एवं समुद्रके उल्लासको बढ़ाता हुआ चन्द्रमा शोभित ही रहा है ॥२४३॥

द्वितीय पक्षमें पृथिवी सण्डलपर आनन्दित मुद्रासे युक्तोंका आनन्दहरण कर रहा है ।

द्वितीय श्लेषका उदाहरण—

चन्द्रमारूपी उस राजाके उदित होनेपर सन्तुष्ट करनेवाली तथा सन्तापहरण करनेवाली उसकी किरणोंसे नीचे विशाल तटपर पहुँचकर समुद्रने अत्यधिक वृद्धिको प्राप्त किया ॥२४४॥

१. नवस्थित—ख । २. सिन्धुनाथो—ख ।

विशेषणवैचित्र्यमूलपरिकरः कथ्यते ।
 विशेषणे त्वभिप्राययुते परिकरो यथा ।
 स्वयोगे चक्रिणस्तापमह्नितेन्दुमुखी वधुः^१ ॥२४५॥
 तापहारित्वे इन्दुमुखोति विशेषणं साभिप्रायम् ।
 विशेष्ये साभिसंधौ तु मतः परिकराङ्कुरः ।
 चतुष्पमित्युयोगानां प्रणेतासी चतुर्मुखः ॥२४६॥
 चतुर्मुख इति विशेष्यं चतुरनुयोगोपदेशेन साभिप्रायं परिकराङ्कुरः ।
 परिकरापेक्षया किञ्चित् गूढत्वात्तद्भेदः ।
 वक्ष्यमाणोक्तयोर्यत्र निषेधाभाससंकथा ।
 विशेषप्रतिपत्त्यर्थं साक्षेपालंकृतिर्यथा ॥२४७॥
 उक्तविषये वस्तुनिषेधः कथननिषेधश्च वक्ष्यमाणविषये सामान्यप्रतिज्ञया
 विशेषनिषेधः । अंशोक्तावशान्तरनिषेध इत्याक्षेपश्चतुर्धा क्रमेण यथा ।

अब प्रारंभ प्राप्त विशेषणकी विचित्रतासे होनेवाले परिकरको कहते हैं ।

परिकर अलंकारका स्वरूप और उदाहरण—

किसी विशेष अभिप्रायसे विशेषणके प्रयुक्त होनेपर परिकर नामक अलंकार होता है । यथा—चन्द्रमुखी वधूने चक्रवर्तिके तापका हरण किया ॥२४५॥

यहाँ तापहरण करनेमें चन्द्रमुखी विशेषण साभिप्राय प्रयुक्त है ।

परिकराङ्कुर अलंकारका स्वरूप और उदाहरण—

साभिप्राय विशेष्यके प्रयुक्त होनेपर परिकराङ्कुर नामक अलंकार होता है । यथा—चतुर्मुख—समवशरण सभामें चारमुख दिखलाई देनेवाले आदिब्रह्मा—ऋषभ-देवने चारों अनुयोगोंका प्रणयन किया ॥२४६॥

यहाँ चतुर्मुख विशेषण चार अनुयोगोंके उपदेशसे अभिप्राय युक्त है, अतः परिकराङ्कुर अलंकार है । परिकरकी अपेक्षा कुछ गूढ़ होनेके कारण यह उससे भिन्न है । यों तो दोनों ही सादृश्यगर्भ गम्भीरम्याश्रयमूलक वर्गके विशेषणवैचित्र्यप्रधान अर्थालंकार हैं । दोनोंका अमत्कार गुणोभूतव्यंग्य और कभी-कभी श्लेषसे पुष्ट होता है । परिकरमें साभिप्राय होता है विशेषण, पर परिकराङ्कुरमें साभिप्राय होता है विशेष्य ।

आक्षेपालंकारका स्वरूप—

जहाँ कहे जानेवाले तथा कहे हुए विषयोंके विशेष ज्ञानके लिए निषेधाभासकी चर्चा हो, उसे आक्षेपालंकार कहते हैं ॥२४७॥

आक्षेपालंकारके भेद—

आक्षेपालंकारके चार भेद हैं—(१) कथित विषयमें वस्तुका निषेध, (२) कथनका निषेध, (३) वक्ष्यमाण विषयमें सामान्य प्रतिज्ञाका विशेष निषेध और (४) एक अंशके कहनेपर दूसरे अंशका निषेध ।

१. वधुः—स्व । २. सामान्यप्रतिज्ञायाः—स्व ।

चक्रेशिन् राजसंदेशहरा न वयमीश्वर ।

त्रिलोकीबान्धवे नारिस्त्वयि कश्चिदिति कथ्यते ॥२४८॥

रिपुनृपसंघिविग्रहकारिवचोहराणामुक्तौ न वयं संदेशहरा इति वस्तुनिषेधः । स च संदेशः कलहोचितकपटवचनपरिहारेण सत्यवचःपर्यवसानः ।

भोः सर्वलोकरक्षक त्वया ते राजानः शत्रवो नावलोकनीयाः । किंतु मे भृत्या इति पालनीया इत्यादिविशेषं सूचयति ।

मां पाहि जिनपेत्युक्तिर्जाघटीति कथं त्वयि ।

स्वस्य किञ्चिदनुद्दिश्य त्रिलोकी रक्षके पुरी ॥२४९॥

अत्र मां पाहीत्युक्ते कथननिषेधाभासास्मिन्निधमेन रत्नत्रयद्रधिणवितरणेन परिपालनीयोऽहमिति विशेष आश्लेष्यते ।

पृच्छामि किञ्चिदोशान त्वाग्रे पुरुदेव भोः ।

किं पृच्छयतेऽथवा विश्ववस्तु विद्योतभास्करः ॥२५०॥

प्रथमाक्षेपालंकारका उदाहरण—

हे चक्रवर्तिन् ! हे प्रभो ! हम लोग किसी राजाके सन्देशको नहीं लाये हैं । तीनों लोकके बन्धुस्वरूप तुम्हारे विषयमें कोई शत्रु नहीं है, यही कह रहे हैं ॥२४८॥

शत्रु राजाके सन्धि या विग्रहकारा दूतोंके वचनोंमें हम सन्देश पहुंचानेवाले नहीं हैं, इस प्रकार यहाँ वस्तुका निषेध है और वह सन्देश झगड़ा योग्य कपट वचनके निषेधसे अन्तमें सत्यवचनके रूपमें परिणत हो जाता है ।

हे सर्वलोक रक्षक ! तुम्हें राजाओंको शत्रुरूपमें नहीं देखना चाहिए; किन्तु तुमको समझना चाहिए कि वे तुम्हारे सेवक हैं, अतः तुम्हें उनका पालन करना है । इस प्रकार विशेषताका आक्षेप होता है ।

द्वितीयाक्षेपालंकार—

हे जिनेश्वर, निःस्वार्थभावसे तीनों लोकोंकी रक्षा करनेवाले तक्ष पुरुदेवमें मेरी रक्षा करो यह कथन किस प्रकार घट सकता है ॥२४९॥

यहाँ मेरी रक्षा करो ऐसा कहनेपर कथनके निषेधका आभास होता है । अतएव रत्नत्रयस्वी घनके वितरण करनेसे आपके द्वारा मैं पालन करने योग्य हूँ, इस प्रकारको विशेषताका आक्षेप होता है ।

तृतीयाक्षेपालंकारका उदाहरण—

हे प्रभो पुरुदेव ! आपके समक्ष कुछ पूछता हूँ अथवा हे संसारको समस्त वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाले सूर्य, सर्वज्ञ होनेके कारण आपसे क्या पूछा जाय ॥२५०॥

१. शत्रव इति नावलोकनीयाः क-ख । २. आश्लेष्यते ख- । ३. पृच्छते -ख ।

४. विद्योतिभास्करः-क ।

पृच्छामीति कथनसामान्यप्रतिज्ञया विशेषकथननिषेधाभासनादुत्तम-
धर्मप्रणयनेन पवित्रीकरणीयोऽहमित्यादिविशेषो गम्यते ।

त्वामाश्रिता वयं देव त्रिलोकीपालनक्षमम् ।

आदिब्रह्मन् किमुक्तेन बहुना कण्ठशोषिणा ॥२५१॥

त्वामाश्रिता इति अंशोक्तौ बहुनोक्तेन किमिति अंशान्तरनिषेधाभासा-
दभ्युदयनिःश्रेयसफलप्रदानेन रक्षणीया वयमिति भव्यार्थित्वविशेष आक्षिप्यते ।
“तुल्यार्थतया” अनिष्टविध्याभासोऽप्याक्षेप इष्टः । “निषेधस्यानुपपद्यमानत्वेना-
भासत्वं यथा तथा” ।

चकिशासनवैमुख्यं चेत्करोषि कुरु प्रिय ।

महाग्निकुण्डसंपातप्रकारोऽभ्यस्यते मया ॥२५२॥

पृच्छता है, इस तरहका कथन सामान्यकी प्रतिज्ञा करके विशेष कथनके निषेधका
आभास होनेके कारण में उत्तम धर्मके प्रणयनसे पवित्र करने योग्य है, इस प्रकारका
विशेष कथन आक्षिप्त होता है ।

चतुयन्त्रिपालकारका उदाहरण—

तीनों लोकोंके पालन करनेमें समर्थ हैं देव, हम आपकी शरणमें हैं ।
हे आदिब्रह्मन् ! कण्ठकी अधिक सुखानेवाले वचन कहनेसे क्या लाभ है ॥२५१॥

सुम्हारी शरणमें हैं, इस एक भागके कहनेपर अधिक कहनेसे क्या, इस अन्य
भागके कथनके निषेधका आभास होता है । अतः अभ्युदय तथा मुक्तिरूपी फलके दानसे
हम लोग रक्षा करने योग्य हैं, इस प्रकार भव्य याचक विशेषका आक्षेप होता है ।
तुल्यार्थक होनेसे अनिष्ट विधिके आभासका भी आक्षेप होता है । निषेधकी अनुपपद्यमानता
होनेसे आभास होता है ।

अन्य उदाहरण—

हे प्रियतम ! यदि तुम भरत चक्रवर्तीके शासनसे विमुक्त होना चाहते हो, तो हो
जाओ, पर मुझे अत्यन्त प्रज्वलित अग्निकुण्डमें कूदनेका अभ्यास करना पड़ रहा है
अर्थात् चक्रीके आदेशको ठुकरानेसे तुम मारे जाओगे और मुझे प्रज्वलित अग्निकुण्डमें
कूदना पड़ेगा ॥२५२॥

१. निषेधाभास—क । २. तुल्यार्थतया—ख । ३. अनिष्टविद्याभ्यासो—ख । ४. निषेध....
इत्यस्य पूर्वं क-ख । इष्टपदमधिकं वर्तते । ५. तथा इत्यस्यानन्तरम् तथानिष्टविधेरनु-
पपद्यमानत्वेन आभासत्वं यथा—क-ख ।

अनिष्टमाज्ञाविमुखत्वं तद्विधीयते स विधिरनुपपद्यमान आभासे पर्य-
वसितः । संपातप्रकारोऽभ्यस्यते इति रिपुस्त्रीवाण्या विध्याभास एवोक्तः ।

अलिङ्ग्य प्रतीतिर्वा प्रतिषेधश्च अत्रत्ये ।

आचक्षते तमाक्षेपमलंकारं ब्रुवा यथा ॥२५३॥

अलं दम्भोलिना चक्रं यद्ययोध्यापुरी यदि ।

किं तयाप्यमरावत्या किमिन्द्रेणापि चेन्निधीद् ॥२५४॥

यद्यस्त्यरण्यवासित्ववाञ्छा भो भूमिमालकाः ।

भवन्तु भरताधोशमहाज्ञाविमुखाश्चिन्तरम् ॥२५५॥

लक्षणमिदमुक्तेऽन्तर्भवति ।

निन्दास्तुतिमुखाभ्यां तु स्तुतिनिन्दे प्रतीतिगे ।

यत्र द्वेषा निगद्येत व्याजस्तुतिरियं यथा ॥२५६॥

आज्ञा विमुखत्वरूप अनिष्ट कार्यका विधान करते हैं । अतः यह विधि अनुपपद्य-
मान होते हुए आभासके रूपमें परिणत हो गयी है । संपात प्रकारका अभ्यास किया
जाता है, अतएव यह शत्रुनारोकी वाणीका विध्याभास ही कहा गया है ।

अन्याचार्यद्वारा प्रणीत आक्षेपका लक्षण—

जिस अलंकारमें प्रतिषेध-कथन अथवा प्रतिषेध-प्रतीति होती है, उसे बुद्धिमान्
छोग 'आक्षेपालंकार' कहते हैं ॥२५३॥

उदाहरण—

यदि चक्र है तो वज्रसे क्या प्रयोजन; यदि अयोध्यापुरी है तो उस अमरावतीसे
क्या कार्य; यदि चक्रवर्ती भरत हैं, तो इन्द्रसे क्या ? ॥२५४॥

हे राजाओ, यदि बहुत दिनोंतक वनमें रहनेकी इच्छा है, तो भरत चक्रवर्तीकी
आज्ञासे विमुख हो जाइए अर्थात् उनकी आज्ञा मत मानिए ॥२५५॥

यह लक्षण पूर्वोक्त लक्षणमें अन्तर्भूत हो जाता है ।

व्याजस्तुति अलंकारका लक्षण और भेद—

जहाँ निन्दाके द्वारा प्रशंसाकी प्रतीति होती है अथवा जहाँ स्तुतिसे निन्दाकी
प्रतीति होती है, वहाँ व्याजस्तुति अलंकार हीता है । इसके दो भेद हैं—(१) निन्दासे
स्तुति और (२) स्तुतिसे निन्दाकी प्रतीति ॥२५६॥

१. अलं दम्भोलिका चक्रम्—ख । २. किमिन्द्रेणास्ति चेन्निधीद् क-ख ।

निन्दामुखेन स्तुतिरेव यत्र प्रतीयते सा एका । स्तुतिमुखेन निन्दैव
गम्यते यत्र सा द्वितीया व्याजस्तुतिरिति ^३द्विधा क्रमेणोच्यते—

सर्वजीवदशाधारः पुरुस्त्वं गीयसे कथम् ।

येन ध्यानासिना-घातिवैरिवृन्दं विदारितम् ॥२५७॥

तव स्याद्वादिनो देव द्विषः ^३साहसिका अहो ।

दविष्टाबोवनीः सर्वा निःसहायाः प्रयान्त्यरम् ॥२५८॥

गम्यप्रस्तुतेरप्रस्तुतप्रशंसा कथ्यते—

प्रकृतं यत्र गम्येताप्रकृतस्य निरूपणात् ।

अप्रस्तुतप्रशंसा सा सारूप्यादेरनेकधा ॥२५९॥

सारूप्यात् सामान्यविशेषाभावात् कार्यकारणभावाच्च प्रस्तुतप्रतीतिर-
प्रस्तुतकथनादिरूपेण समासोक्तिव्यवच्छेदः । न च कायदिः कारणादिप्रतीतावनु-

प्रथम व्याजस्तुतिका उदाहरण—

हे पुरुदेव, तुम सभस्त प्राणियोंके दयाके आधार हो, इस रूपमें आपकी प्रशंसा
कैसे की जाय; क्योंकि आपने ध्यानरूपी तलवारके द्वारा घातिवा कर्मरूपी शत्रुओंको
विदीर्ण कर दिया है ॥२५७॥

यहाँ निन्दासे स्तुतिकी प्रतीति हो रही है ।

द्वितीय व्याजस्तुतिका उदाहरण—

हे देव, तुम स्याद्वादीके शत्रु बड़े साहसी हैं, जो विना किसीकी सहायताके
बहुत दूर नोचोंकी पृथिवीपर—नरकमें शीघ्र चले जाते हैं ॥२५८॥

यहाँ शत्रुओंकी प्रशंसाके रूपमें निन्दा की गयी है ।

अब प्रसंग प्राप्त प्रस्तुत अर्थके प्रतीयमान होनेपर अप्रस्तुत प्रशंसा नामक अलं-
कारको कहते हैं ।

अप्रस्तुत प्रशंसाका स्वरूप—

जहाँ अप्रासंगिकके निरूपणसे प्रासंगिक अर्थकी प्रतीति होती है, वहाँ अप्रस्तुत
प्रशंसा नामक अलंकार होता है और यह सारूप्य इत्यादिके भेदसे अनेक प्रकारका
है ॥२५९॥

सारूप्य, सामान्य विशेषभाव और कार्य-कारणभावसे अप्रस्तुतके कथनसे
प्रस्तुतकी प्रतीति होती है । इस कथनके द्वारा समासोक्तिसे विपन्नता दिखायी गयी है ।

१. निन्दामुखेन इत्यस्य पूर्व खप्रती निन्दास्तुतिस्तुतिनिन्दाम्यां व्याजस्तुतिः द्विधा ।
२. खप्रती द्विधा इति पदं नास्ति । ३. साहसिता - ख ।

मानान्तर्भावशङ्का द्वयोरपि गम्यगमकयोरनुमानालंकारे प्रकृतत्वोपगमनात् ।
एतेन पर्यायोक्तविच्छित्तिरपि ।

पलाशे कोकिला माध्वं सुस्वादुफलवजिते ।

आध्वं पववफलानघ्रे सहकारे सुखप्रदे ॥२६०॥

अत्र कोकिलवृत्तान्तेनाप्रकृतेन सर्वानामासासन् विहायानन्तसुखप्रदः
पुरुषेक एव भव्यः सेव्य इति प्रकृतं गम्यते । सारोपा तु—

भूपालकुञ्जराः श्रेष्ठाः शौर्यवैभवशालिनः ।

वेधसो महर्तो सृष्टिं सर्वमान्यां प्रचक्रिरे ॥२६१॥

चक्रिणो गुणमहत्त्वे प्रकृते नृपसामान्यविशेषप्रतीतिः ।

वस्तुकामापि न ब्रूते द्रष्टुकामा न पश्यति ।

स्पृशति स्पृष्टुकामापि न कान्ता सावतिष्ठते ॥२६२॥

कार्य इत्यादिसे कारणात् प्रतीति होनेपर अनुमानालंकारमें अन्तर्भाव होनेको
आशंका भी नहीं की जा सकती है; क्योंकि अनुमानमें गम्य और गमक दोनोंका प्रकृतमें
उपयोग होता है । इस कथन द्वारा पर्यायोक्ति और विच्छित्तिमें भी अन्तर देखा जा
सकता है ।

अप्रस्तुत प्रशंसाका उदाहरण—

हे कोकिलाओ ! स्वादिष्ट फलसे रहित पलाश वृक्षपर मत बैठो; किन्तु पक्व-
फलभारसे नसोभूत सुखदायी आम्रपर बैठो; इस अप्रकृतसे पुरु सेव्य है, इस प्रकृतकी
प्रतीति होती है ॥२६०॥

यहाँ प्रकृत कोकिलके वृत्तान्तसे आसुरूपसे प्रतीत होनेवाले सभी आसाभासोंको
छोड़कर अन्तः सुखदायी केवल पुरु ही भव्य जीवोंसे सेव्य हैं, इस प्रकृत अर्थकी प्रतीति
होती है । सारोपा लक्षणा द्वारा निम्नप्र अस्तुत प्रशंसा—

उत्तम तथा वीरता और सम्पत्तिसे युक्त गजराजोंके समान प्रतीत होनेवाले
राजाओंने आदिब्रह्माकी विस्तृत सृष्टिको सर्वमान्य बनाया ॥२६१॥

चक्रवर्तिके गुणोंका महत्त्व प्रकृत है, इसमें नृप सामान्यकी प्रतीति होती है ।

नवीन परिणीता वधू शोचता चाहती हुई भी नहीं कोलती है; देखना चाहती
हुई भी नहीं देखती है, एवं स्पर्श चाहती हुई भी स्पर्श नहीं करती है, वह केवल स्थित
है ॥२६२॥

१. प्रकृतत्वोपगमात् क-ख । २. सर्वानामासासन् विहाय -ख । ३. सारोपा तु इत्वस्य
स्थाने साहचर्यात् -क-ख । ४. श्रेष्ठाः इत्यस्य स्थाने सृष्टाः -ख । ५. नृपसामान्य-
मुक्तमिति सामान्याद्विशेषप्रतीतिः -क-ख ।

सुग्धस्त्रीणां नूतनसंगमे महति लज्जेति । सामान्ये प्रकृते विशेषात् सामान्यप्रतीतिः ।

सूर्यो तेजसा इवेन्दुश्च निष्कान्तिरिव जातवान् ।

भरतेशमहीनाथे शोभमाने भुवि स्फुटम् ॥२६३॥

^१सूर्यादिरतेजस्वादिभिः कार्यभूतैः ^२कारणभूतं च प्रतापादि गम्यत इति कार्यात् कारणप्रतीतिः ।

भरतेशमहीभतुः^३ कामधेनोरनश्वरीम् ।

स्थितां मयि दयादृष्टिं^४ पश्यन् विस्मयसे कथम् ॥२६४॥

पूर्वं दरिद्रस्त्वमिदानोमीदृशैश्वर्यवान्^५ कथं भवतीति कार्यं पृष्ठवते विस्मयं गताय मित्राय ^६कारणभूतचक्रिकृपादृष्टिरुक्तेति कारणात् कार्यप्रतीतिः गम्यत्वप्रस्तुतेः पर्यायोक्तं^७ दीयते ।

प्रस्तुतस्यैव कार्यस्य वर्णनात् प्रस्तुतं पुनः ।

कारणं यत्र गम्येत पर्यायोक्तं मतं यथा ॥२६५॥

मुग्धा नारियोंको प्रथम प्रियतम संगमें बड़ी लज्जा होती है, इस सामान्यके कथनमें प्रकृतमें विशेषरूपसे सामान्यको प्रतीति की गयी है ।

पृथ्वीमण्डलपर चक्रवर्ती भरतके स्पष्टतया देदीप्यमान होनेपर सूर्य तेजोविहीन तथा चन्द्रमा कान्तिहीनके समान प्रतीत हुए ॥२६३॥

सूर्य इत्यादिके कार्यभूत 'तेजोराहित्य' इत्यादिके द्वारा कारणभूत प्रतापादिकी प्रतीति होती है, अतः यहाँ कार्यसे कारणकी प्रतीति हुई है ।

भरत चक्रवर्तीरूपी कामधेनुकी मुक्षपर विद्यमान कभी न नष्ट होनेवाली कृपा-दृष्टिको देखकर आप क्यों आश्चर्यचकित होते हैं ॥२६४॥

पहले तुम दरिद्र थे, अब सम्पत्तिवाली कैसे हो गये, इस प्रकार पूछनेवाले आश्चर्यचकित मित्रको भरतचक्रवर्तीकी कृपादृष्टि बतलायी गयी है । अतएव यहाँ कार्यसे कारणकी प्रतीति हुई है ।

अब क्रमप्राप्त प्रस्तुतसे प्रतीयमान पर्यायोक्तका लक्षण कहते हैं—

पर्यायोक्त अलंकारका स्वरूप—

जहाँ प्रस्तुत कार्यके वर्णनसे प्रस्तुत कारणकी प्रतीति हो, वहाँ पर्यायोक्त अलंकार होता है ॥२६५॥

१. सूर्यादि....-ख । २. कारणभूतं चक्रिकृतं प्रतापादि....-ख । ३. पश्यन्ति स्मयते कथं -खप्रती । ४. ईदृगोश्वर्यवान् -ख । ५. कारणभूता चक्रि....-ख । ६. गीयते -ख ।

शत्रूद्यानमहापक्वफलतृप्ताः क्षुधातंत्रः ।

चक्रिसेनाचरा युद्धे शान्ताः शौर्यादिशालिनः ॥२६६॥

रिपुपुरोद्यानपक्वफलानुभवेन चक्रिसेनाचरकृतेन कार्येण रणप्रारम्भे एव स्वपुराणि त्यक्त्वा पलायिता रिपव इति कारणं गम्यते ।

^२ आक्षिप्तिरूपमानस्य कैमर्थक्याग्निगद्यते ।

^३ तस्योपमेयता यत्र तत्प्रतीपं द्विधा यथा ॥२६७॥

^४ लोकोत्तरस्योपमेयस्योपमानाक्षेपो यत्र तदेकम् । यत्र चोपमानस्योपमेयत्व-कल्पना तदाद्वितीयमिति प्रतीपं द्विधा यथा ।

त्रिलोकीं द्योतयत्येतां जिनेशो दिव्यभाषया ।

निर्लज्जः किमुदेत्येष सहस्रकिरणोऽधुना ॥२६८॥

शुभाणुपुञ्ज एवैष त्रिजगत्यपि दुर्लभः ।

अल्पज्ञैः कथमेतेन हेमाद्रिरुपमीयते ॥२६९॥

क्षुधापीडित, अत्यन्त वीर भरत चक्रवर्तीके सैनिक शत्रूद्यानमें बड़े-बड़े पके हुए फलोंको प्राप्त कर शान्त हो गये ॥२६६॥

रिपूके नगर के उद्यानके पके फलोंके खानेसे सन्तुष्ट चक्रवर्तीको सैनिकोंके द्वारा किये हुए कार्योंसे युद्धके प्रारम्भमें ही शत्रूगण अपने नगरको छोड़कर भाग गये, इस कारणकी प्रतीति हो रही है ।

प्रतीप अलंकारका स्वरूप और उसके भेद—

जहाँ 'किम्', 'उत' इत्यादि शब्दोंके अर्थसे उपमानका आक्षेप होता है अथवा उपमानकी ही अनादराधिक्यके कारण उपमेय बनाया जाता है, वहाँ प्रतीपालंकार होता है । इस अलंकारके दो भेद हैं ॥२६७॥

अलौकिक उपमेयसे जहाँ उपमानका आक्षेप होता है; एक वह प्रतीप अलंकार है और जहाँ उपमानकी उपमेयत्वरूपसे कल्पना की जाती है, दूसरा यह प्रतीप है । इस प्रकार प्रतीप अलंकारके दो भेद हैं ।

प्रथम प्रतीपका उदाहरण—

दिव्य प्रकाशके द्वारा जिनेशके इस त्रिलोकको प्रकाशित करते रहतेपर भी लज्जाविहीन यह सूर्य अब क्यों उदित होता है ॥२६८॥

द्वितीय प्रतीपका उदाहरण—

तीनों लोकोंमें अलभ्य यह कल्याणप्रद तीर्थकरका औदारिक शरीर ही है, अल्पज्ञोंके द्वारा सुमेधके साथ इसकी उपमा क्यों दी जाती है ॥२६९॥

१. फलानुभवनेन -ख । २. आक्षिप्ते ...-ख । ३. तस्योपमेयता -क-ख ।

४. लोकोत्तरत्वादुपमेयस्यो...-ख ।

तर्कन्यायमालालंकार उच्यते—

साधनात्साध्यविज्ञानमनुमानमिदं यथा ।

पदवाक्यार्थगो हेतुः काव्यलिङ्गं मत्तं यथा ॥२७०॥

पदार्थगतत्वेन वाक्यार्थगतत्वेन वा यत्र हेतुः प्रतिपद्यते स काव्यलिङ्ग-
लंकारः ।

चन्द्रप्रभं नीमि यदीकभासा, नूनं जित्वा चन्द्रमसो प्रभा सा ।

न चेत्कथं तर्हि तदङ्घ्रिलग्न-नखच्छलादिन्दुकुटुम्बमासीत् ॥२७१॥

इदमनुमानम् ।

अधिसाणोऽपि भव्यौघः पुनरुज्जीवनं गतः ।

पुरुदेवप्रसादश्रीजीवनोषधपानवान् ॥२७२॥

नरकादिघोरदुःखरूपमृतिप्राप्तानां भव्यानां पुनरुज्जीवने पुरुजिनधर्म-
प्रणोतिरूपप्रसादजीवनोषध हेतुः । पदार्थगतहेतुरिति काव्यलिङ्गमिदम् । तस्य
विशेषणगतत्वेन पदार्थगतत्वम् ।

अब तर्कन्यायमूलक अलंकारोंका प्रतिपादन किया जाता है ।

जहाँ कारणसे कार्यको जानकारी प्राप्त की जाय, वहाँ अनुमान अलंकार होता है । आशय यह है कि जहाँ कवि-कल्पित साधनके द्वारा साध्यका चमत्कारपूर्वक वर्णन किया जाय, वहाँ अनुमान अलंकार होता है ॥२६९२॥

काव्यलिङ्ग अलंकारका स्वरूप—

जहाँ पद और वाक्यार्थमें हेतु रहता है, वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार माना जाता है । अर्थात् वर्णनीय विषयके हेतुरूपमें किसी वाक्यार्थ या पदार्थका प्रतीयमान प्रतिपादन किया जाय, वहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार होता है ॥२७०॥

अनुमानालंकारका उदाहरण—

मैं तब चन्द्रप्रभ स्वामीकी स्तुति करता हूँ, जिनकी प्रभासे चन्द्रमाकी वह प्रसिद्ध प्रभा चदिनी जीत ली गयी थी, यदि ऐसा न होता तो चन्द्रमा समस्त परिवार नखोंके सहाने उनके चरणोंमें पया आ लगता ॥२७१॥

काव्यलिङ्गका उदाहरण—

मरता हुआ भी भव्यसमूह पुरुदेवकी कृपासे सुन्दर जीवनरूपी औषधिकी पी, पुनः जीवनको प्राप्त हुआ ॥२७२॥

नरक इत्यादि भयंकर कष्टरूपी मरणको पाये हुए भव्यजीवोंके पुनः जीवनमें पुरुदेवकी धर्मोपदेशरूपी कृपापूर्ण जीवनोषधि कारण है । पदार्थमें रहनेवाले हेतुके कारण यह काव्यलिङ्ग है । हेतुके विशेषणमें रहनेसे पदार्थमें स्थिति मानी गयी है ।

१. तर्कन्यायमूलकालङ्कार उच्यन्ते—क-ख । २. चन्द्रमसि—ख । ३. नरकादिघोररूप....
—ख । ४. रूपसाधनजीवनी—ख ।

नमः सिद्धेभ्य इत्येवं शुभा पञ्चाक्षरावली ।
बिभ्रतो हृदि यां भव्या लोकाग्रपदमाश्रिताः ॥२७३॥
काव्यार्थगतो हेतुरयम् ।

सामान्यविशेषत्वात् कार्यकारणभावेन ।
प्रकृतं यत्समर्थेतार्थान्तरन्यासनं मतम् ॥२७४॥

सामान्यविशेषभावेन कार्यकारणभावेन च प्रकृतस्य समर्थनं यत्र सोऽर्था-
न्तरन्यासः । सामान्याद्विशेषसमर्थनं यथा—

पलायमाना निधिपारिभूपा, भीताश्च चञ्चापुरुषेभ्य आरात् ।
अचेतनेभ्योऽपि तथाहि सर्वमन्तर्भयानां भयमातनोति ॥२७५॥

अन्तःकरणे चकितानां सर्वं भयं करोतीति सामान्यं तृणकृतनरेभ्यो
भीता इति विशेषं समर्थयति ।

महापुरुषसंसर्गादधीरपि सुधी भवेत् ।
पुरुदेवपदाश्रित्या तिर्यग्जीवो मुनीयते ॥२७६॥

'नमः सिद्धेभ्य' इस सुन्दर पाँच अक्षरवाले मन्त्रको हृदयमें धारण करते हुए
भय्य जीवोंने संसारके सबसे बड़े पद मुक्तिको प्राप्त कर लिया ॥२७३॥

यहाँ वाक्यार्थमें हेतु है ।

अर्थान्तरन्यासका स्वरूप—

सामान्य—विशेषभाव या कार्य-कारणभावसे जहाँ प्रकृतका समर्थन किया जाय
वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है ॥२७४॥

सामान्य-विशेषभाव या कार्य-कारण भावसे प्रकृतका समर्थन किया जाना,
अर्थान्तरन्यास अलंकार है ।

सामान्यसे विशेषका समर्थनरूप अर्थान्तरन्यासका उदाहरण—

भागते हुए चक्रवर्ती भरतके शत्रु राजा समीपमें रहे हुए जड़ तथा पशुओंको
डरानेके लिए बनाये हुए तृणमय पुरुषाकृतिसे भी डरते हैं; भीतरसे भयाक्रान्त मानवको
सभी वस्तुएँ भयदायिनी प्रतीत होती हैं ॥२७५॥

अन्तःकरणमें भयान्वितोंके लिए सब कुछ भयप्रद होता है, इस सामान्य कथनसे
तृणमय पुरुषसे भयभीत होनेपर विशेषका समर्थन किया गया है ।

विशेष द्वारा सामान्यसमर्थन रूप अर्थान्तरन्यासका उदाहरण—

महापुरुषके संसर्गसे मूर्ख भी विद्वान् हो जाता है । पुरुदेवके चरणोंका आश्रय
लेनेसे तिर्यच भी मुनिके समान आचरण करते हैं ॥२७६॥

१. इत्येया —ख । २. वाक्यार्थगतो —क-ख । ३. मतम् इत्यस्य स्थाने, खप्रती ततः ।
४. समर्थयते —ख ।

जिनपदाश्रयेण तिर्यग्जीवो मुनीयत इति विशेषेण अधोरपि सुधीः
स्यादिति सामान्यं समर्थ्यते ! इति विशेषात्सामान्यसमर्थनम् ।

कण्ठस्थः कालकूटोऽपि शम्भोः किमपि नाकरोत् ॥

सोऽपि दम्बह्यते स्त्रीभिः स्त्रियो हि विषमं विषम् ॥२७७॥

अत्र स्त्रियो हीति विशेषात् स्त्रीभिरिति विशेष-समर्थनमिति विशेषाद्-
विशेषसमर्थनं च ज्ञेयम् । अथवा सामान्याद्विशेषसमर्थनमेव स्त्रियो हीति सर्वस्त्री-
सामान्येन गिरिजादिस्त्रीविशेषस्य दाहकत्वसमर्थनात् । कार्यकारणभावेन
यथा—

भक्ता भवन्तु भो जीवा न निर्भक्ता जिनेश्वरे ।

सोऽभक्तसमभावोऽपि भक्तान् भाग्यं नयत्यरम् ॥२७८॥

भक्तिकार्येण भाग्यनयनेन भक्तत्वं कारणं समर्थितम् । कारणात् कार्य-
समर्थनं तु काव्यलिङ्गेऽन्तर्भूतमिति नोक्तमतोऽर्थान्तरन्यासस्य त्रयो भेदाः ।

जिनेश्वरके चरणों का आश्रय लेनेसे तिर्यच भी मुनिके समान आचरण करते
हैं, इस विशेष कथनसे मूर्ख भी विद्वान् हो जाते हैं, इस सामान्यकथनका समर्थन किया
गया है । अतः यह विशेषसे सामान्यके कथनका उदाहरण है ।

विशेषसे विशेषका कथन रूप अर्थान्तरन्यासका उदाहरण—

कण्ठमें विद्यमान विष भी शंकरजीका कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हुआ, वे ही
स्त्रियोंसे अत्यन्त पीड़ित होते हैं । अतः स्त्रियाँ अत्यन्त हलाहल हैं ॥२७७॥

यहाँ स्त्रियाँ भयंकर विष हैं, इस विशेष कथनसे स्त्रियोंसे पीड़ित इस विशेषका
समर्थन किया गया है । अतः विशेषसे विशेषके समर्थनका उदाहरण है । अथवा
सामान्यसे विशेषका भी समर्थन होता है । यतः सर्वस्त्री सामान्यसे पार्वती आदि विशेष
स्त्रीमें दाहकत्वका समर्थन किया गया है ।

कार्य-कारणमात्र अर्थान्तरन्यासका उदाहरण—

हे भव्य जीवो ! जिनेश्वरके भक्त बनो, उनके अभक्त भी हो सकते हैं, क्योंकि
वे अभक्तमें भी समता रखनेवाले हैं । पर उनके भक्त ही सौभाग्यकी प्राप्ति होते
हैं ॥२७८॥

भक्तिके कार्य भाग्य प्राप्तिमें भक्तित्वरूप कारणका समर्थन किया गया है । कारण-
से कार्यका समर्थन होनेसे काव्यलिङ्ग है, पर यहाँ कार्यमें कारणका समर्थन होनेसे अर्थान्-
तरन्यास है ।

उद्दिष्टा यैः क्रमेरर्थाः पूर्वं पश्चाच्च तैः क्रमैः ।

निरूप्यन्ते तु यत्रैतद् यथासंख्यमुदाहृतम् ॥२७९॥

चित्ते मुखे शिरसि पाणिपयोजयुग्मे

भक्ति स्तुति विनतिमञ्जलिमञ्जसैव ।

चेक्रोयते चरिकरीति चरीकरीति ।

यश्चकरोति तत्र देव स एव धन्यः ॥२८०॥

यत्र कस्यचिदर्थस्य निष्पत्तावन्यदापत्तेत् ।

वस्तु कैमुत्यैसंन्यायादर्थपत्तिरियं यथा ॥२८१॥

यत्रैकस्य वस्तुनो भावे तत्समानन्यायेन किमुतेत्यादिनाथान्तरमापत्ति
सार्थापत्तिः ।

यात्रामात्रेण चक्रचङ्घ्रयोः प्रणता मागधादयः ।

सुरेशाः कम्पितात्मानः किमन्ये नृपमानिनः ॥२८२॥

यथासंख्य अलंकारका स्वरूप—

पहले जिनक्रमोंसे अर्थ कहे गये हों, पीछे भी उन्हीं क्रमोंसे उनको कहा जाये, तो वहाँ यथासंख्य नामक अलंकार होता है । ॥२७९॥

यथासंख्यका उदाहरण—

हे जिनेश्वर, जो मनुष्य अपने मन, मुख, मस्तक और दोनों हस्तकमलोंमें भक्ति, स्तुति, नम्रता और अंजलिबन्धन को बार-बार करता है, पुनः पुनः स्तुति करता है, शिर झुकाता है और हाथ जोड़ता है, वही धन्य है ॥२८०॥

अर्थापत्ति अलंकारका स्वरूप—

जहाँ किसी अर्थकी निष्पत्तिमें कैमुत्य न्यायसे अन्य कोई दूसरी वस्तु आ पड़े, उसे अर्थापत्ति कहते हैं । इस अलंकारमें एक अर्थके आधारपर दूसरे अर्थका आक्षेप होता है ॥२८१॥

जहाँ एक वस्तुकी सत्तामें उसीके समान न्यायसे या 'किमुत' इत्यादिसे दूसरा अर्थ आ पड़े उसे अर्थापत्ति कहते हैं ।

अर्थापत्तिका उदाहरण—

केवल दिग्बिजय-यात्रासे मगध इत्यादि देशके राजा चक्रवर्तीके शरणोंमें झुक गये, सुरेश—इन्द्र भी काँप उठे । नृपमान्य—अपनेकी राजा माननेवाले झूठे दम्भी राजाओंका कहना ही क्या है ॥२८२॥

अवदुतटमटति झटिति स्फुटचटुवाचाटधूर्जटेजिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति सति का कथान्येषाम् ॥२८३॥

सर्वत्र संभवद्वस्तु यत्रैकं युगपत्पुनः ।
एकत्रैव नियम्येत परिसंख्या तु सा यथा ॥२८४॥

सा द्विधा-प्रश्नाप्रश्नपूर्वकत्वमेदात् । तद्व्ययमपि द्विधा-वर्ज्यस्य शाब्द-
त्वार्थत्वाभ्याम् । तत्र शाब्दवर्ज्या प्रश्नपूर्वा यथा—

आधारः कोऽस्ति जीवानां पुरुदेवो न विष्टपम् ।
अलंकारस्त्रिलोक्याः कः पुरुर्न च सुरालयः ॥२८५॥

अर्थवर्ज्या प्रश्नपूर्वा यथा—
तमोनिवारकः कोऽत्र वर्द्धमानजिनेश्वरः ।
शीतलीकुसुते लोकं को दिव्यध्वनिरहंतः ॥२८६॥

अन्य उदाहरण—

वादी समन्तभद्रकी विद्यमानतामें स्पष्टरूपसे चातुर्यपूर्ण अधिक बोलनेवाले
शिशुकी भी जिह्वा तुरत भटकने लगती है, तो दूसरोंकी बात ही क्या है ॥२८३॥

परिसंख्याका स्वरूप—

जहाँ एक वस्तुकी अनेकत्र स्थिति रहनेपर भी अन्यत्र निगिद्ध कर एक ही अर्थमें
नियमित कर दिया जाये, तो वहाँ परिसंख्या अलंकार होता है ॥२८४॥

वह परिसंख्या अलंकार दो प्रकारका है—(१) प्रश्नपूर्वक और (२) अप्रश्न-
पूर्वक ।

इन दोनोंके भी दो-दो प्रकार हैं—(१) शाब्दवर्ज्य और (२) अर्थवर्ज्य ।

शाब्दवर्ज्या प्रश्नपूर्वक परिसंख्याका उदाहरण—

जीवोंका आधार कौन है ? पुरुदेव जीवोंके आधार है विषय नहीं । त्रिलोकोंके
विभूषण कौन है ? पुरुदेव तीनों लोकोंके विभूषण है । स्वर्गलोक नहीं ॥२८५॥

अर्थवर्ज्या प्रश्नपूर्वा परिसंख्याका उदाहरण—

इस संसारमें अन्धकारको दूर करनेवाला कौन है ? वर्द्धमान जिनेश्वर
अन्धकारको दूर करनेवाले हैं । कौन इस संसारको शीतल करता है ? जिनेश्वर भगवान्-
की दिव्यध्वनि इस दुःखी संसारको शीतल करती है ॥२८६॥

१. खप्रती 'सति' पदं नास्ति । २. खप्रती 'तद्' पदं नास्ति । ३. वर्ज्यस्य शाब्द-
त्वार्थत्वाभ्याम्-ख । ४. त्रिलोक्याम्-ख ।

अप्रश्नपूर्वा शाब्दवर्ज्या यथा—

गोष्ठी विद्वत्सु न स्त्रीषु दया सत्त्वे न चैनसि ।

चिन्ता तत्त्वे न कामादौ भरताख्यरथाङ्गितः ॥२८७॥

अर्थवर्ज्याप्रश्नपूर्वा यथा—

परस्त्रीषु स जात्यन्धो निष्कार्येषु सदा लसः ।

मूकः परापवादेषु पङ्गुः प्राणिवधेषु च ॥२८८॥

इलेपेणाऽपि चारुत्वातिशयरूपा परिसंख्या यथा—

यत्रार्तवत्त्वं फलिताटवोषु, पलाशिताद्री कुसुमेऽपरागः ।

निमित्तमात्रे पिशुनत्वमासीन्निरोऽष्ट्यकाव्येष्वपवादिता च ॥२८९॥

ऋतुःप्राप्त आसामटवीनाम् आर्तवास्तासां भावः । आर्तवतो दुःखवतो भावश्च । द्री^१द्रुमे पर्णवत्ता मांसभक्षित्वं च । परागः पुष्परजः अपरागः, सन्तोषाभावः परेषामरागोऽपराधो वा । शुभाशुभकार्यसूचकत्वं कर्णेजपत्वं च पश्च वश्च

अप्रश्नपूर्वा शाब्दवर्ज्या परिसंख्याका उदाहरण—

चक्रवर्ती भरतकी गोष्ठी विद्वानोंमें होती थी, स्त्रियोंमें नहीं । उनकी दया प्राणियोंपर होती थी, पापमें नहीं । उनका चिन्तन सत्यके अन्वेषणमें होता था, कामादि विषयोंके सम्बन्धमें नहीं ॥२८७॥

अर्थवर्ज्या अप्रश्नपूर्वा परिसंख्याका उदाहरण—

यह परस्त्रीके अवलोकनमें जात्यन्ध, अनुचित कार्य करनेमें सर्वदा आलसी, दूसरोंको निन्दा करनेमें मूक और प्राणियोंका वध करनेमें पंगु था ॥२८८॥

इलेपजन्य चारुत्वातिशयरूपा परिसंख्या—

जहाँ फले हुए जंगलोंमें ऋतुमत्ता थी, कोई आर्तव—दुःखी नहीं था । पलाशवृक्ष या पत्तोंमें ही अधिकता थी, कोई पलाश—मांसाहारो नहीं था । पुष्पोंमें ही रक्तिमाका कभी अभाव था, किसी व्यक्तिमें अनुगागका अभाव नहीं था । केवल निमित्तमें शुभाशुभ फल सूचकता थी, किसी व्यक्तिमें चुगलखोरीका भाव नहीं था । ओष्ठ्य रहित वर्गवाले काष्ठोंमें पवर्मका अभाव था, किसी व्यक्तिमें लोकापवाध नहीं था ॥२८९॥

ऋतु प्राप्त है जिन वनोंमें, उन्हें आर्तव और उनके कर्मविशेषको आर्तवत्व कहते हैं । दुःखीके कर्मविशेषको भी आर्तवत्व कहते हैं । द्री—वृक्षमें पलाशिता—पव-समूह था, और मांस भक्षित्व । परागः—पुष्पोंका रज । अपरागः—सन्तोषका अभाव अथवा दूसरोंके अपराधका अभाव । निमित्तम्—शुभाशुभकार्य सूचकता या चुगलखोरी ।

१. खप्रती ऽ अकारप्रइलेपविह्वं नास्ति । २. आर्तवः -ख । ३. द्रुमे पलाशिता पर्णवत्ता -ख ।

'पवो आदौ येषां ते पवादयः । पकारादय ओष्ठ्यवर्णा न एषां तानि अपवादोनि च तेषां भावस्तत्ता निन्दावादिता च—

प्रश्नोत्तरे निबध्येते बहुधा चोत्तरादपि ।

प्रश्न उन्नीयते यत्र सोत्तरालङ्कृत्या द्विधा ॥२९०॥

यत्रानेकवारमुत्तरं प्रश्ननिरूपणपूर्वकं तदेकमुत्तरं यत्र च निबध्यमाना-
दुत्तरात्प्रश्न उन्नेयः तदुत्तरं द्वितीयम् । क्रमेण यथा—

को लघुर्याचकः कोऽरिः पाप्मा को बन्धुरागमः ।

का निद्रा मूढता धर्मं कश्चाता जगतः पुरुः ॥२९१॥

किमद्य जातव्यं बुधवरमहाभाग जगति

प्रभुः श्रीवीरारख्योऽजनि भुवि यदा कल्पविटपी ।

तदा जातो धर्मः परमविभवाः कामसुरनि-

महाजैनाश्चोद्यद्विवेषचरिताः प्रादुरभवन् ॥२९२॥

यदा वीरजिनो जातस्तदा धर्मः सुलभो जातः । जैनोत्तमाश्च नाना-
चारित्रभाजो बहवो जाताः । किं पृच्छ्यते स्वयाधुनेत्युत्तरात् श्रीवीरप्रभो सति

'प' और 'व' जिनके आदिमें हों, उन्हें पवादि पकार इत्यादि ओष्ठ्य वर्ण जिनमें न हों, वह अपवादि, उसमें स्थित कर्म विशेषको अपवादिता—निन्दावादिता—शिकायतवचन ।

उत्तरालंकारका लक्षण—

जिसमें प्रायः प्रश्न और उत्तर दोनों अंकित किये जायें अथवा उत्तरसे ही प्रश्न-
को कल्पना कर ली जाये, उसे उत्तरालंकार कहते हैं और यह दो प्रकारका है ॥२९०॥

जहाँ अनेक बार उत्तर प्रश्न निरूपण सहित हो, वहाँ एक और जहाँ अंकित
हुए उत्तरसे प्रश्नको कल्पना की जाये, वहाँ द्वितीय उत्तरालंकार होता है । इन दोनोंको
(१) प्रश्नोत्तर विगिष्ट और (२) उत्तरपूर्वक कहा जा सकता है ।

उदाहरण—

क्षुद्र कौन है ? याचक । शत्रु कौन है ? पाप । बन्धु कौन है ? शास्त्र । निद्रा
क्या है ? धर्ममें विमुखता । जगत्का रक्षक कौन है ? पुण्डरीक—ऋषभनाथ ॥२९१॥

हे बुद्धिशालियोंमें भाग्यशाली ! आज संसारमें जानने योग्य क्या है ? जब
कल्पवृक्षके समान महावीर तीर्थकरने इस भूमिपर जन्म लिया, तब सभी प्रकारकी
कामनाओंको पूर्ण करनेमें समर्थ कामधेनु तुल्य परम सम्पत्तिशाली धर्मका प्रादुर्भाव हुआ
और अनेक प्रकारके उत्तम चरित्रसे युक्त जैन प्रकट हो गये ॥२९२॥

जब महावीर तीर्थकर पैदा हुए, तब धर्म सबके लिए सुलभ हो गया । श्रेष्ठ
जैन अनेक प्रकारके चरित्रसे युक्त हुए । तुम क्या पूछते हो ? अधुना इस उत्तरसे

घर्मोदितोदितत्वमस्ति किं ? किं जेनाहन संपत्तिभावात् सन्तीति ? एवम् उच्यते ।^१

अथ वाक्यन्यायमूलप्रस्तावेन विकल्पः प्रस्तूयते—

विरोधे तु द्वयोर्यत्र तुल्यमानविशिष्टयोः ।

औपम्याद्युगपत्प्राप्तौ विकल्पालंकारिण्या ॥२९३॥

आज्ञा मन्दारमालास्य ध्वयतां मूर्ध्नि भो नृपाः ।

खड्गजाताग्निसंदीप्तज्वालामालाथवा द्रुवम् ॥२९४॥

चक्रिणि प्रभवति भूपानां संवित्रिग्रहणामौभ्यां तुल्यप्रमाणाभ्यामाज्ञा-
सुमधार्स्त्वकृपणाग्निज्वालामालाद्यारस्त्वे युगपदेव प्राप्ते विरोधाद्युगपद्यासंभवे
विकल्पः । एतत्प्रतिपक्षभूतः समुच्चय उच्यते—

क्रियाणां चामलत्वादिगुणानां युगपत्ततः ।

अवस्थानं भवेद् यत्र सोऽलंकारः समुच्चयः ॥२९५॥

श्रीवीर प्रभुके जन्म लेनेपर घर्मादिका अभ्युदय होता है क्या ? क्या जैन सम्पत्तिशाली है ? इन प्रश्नोंकी कल्पना की जाती है ।

इसके पश्चात् वाक्यन्यायके मूल प्रस्तावानुसार विकल्पालंकारको प्रस्तुत करते हैं ।

विकल्पालंकारका लक्षण—

जहाँ सम प्रमाणवाले उपमानोपमेयके औपम्यादिकी एक साथ प्राप्ति होनेपर विरोध प्रतीत होता हो, वहाँ विकल्प नामका अलंकार होता है ॥२९३॥

उदाहरण—

हे राजाओ ! इस चक्रवर्ती राजाकी आज्ञारूपी मन्दारपुष्पकी मालाकी अपने मस्तकपर धारण करो अथवा इसकी तलवारसे उत्पन्न अग्निसे प्रज्वलित ज्वालाकी पंक्तिको मस्तकपर धारण करो ॥२९४॥

चक्रवर्तीके समर्थ रहनेपर राजाओंके लिए तुल्य प्रमाणवाले सन्धि और विग्रहसे आज्ञारूपी पुष्पमालाकी धारण करना तथा अग्निकी ज्वालामालाकी धारण करना एक साथ प्राप्त है । विरोधी होनेके कारण दोनों एक साथ हो नहीं सकते, सन्धि और विग्रह दोनों विरोधी हैं, अतः यहाँ विकल्पालंकार है ।

विकल्पको विपरीत स्थितिवाले समुच्चय अलंकारका लक्षण निरूपित किया जाता है ।

समुच्चयका लक्षण—

त्रिसर्ग क्रिया तथा अमलत्वादि गुणोंका साथ-साथ वर्णन हो, उसे समुच्चय अलंकार कहते हैं ॥२९५॥

१. सन्तिवति-ए । २. अथ...प्रस्तूयते इति वाक्यं खप्रती नास्ति । ३. नामभ्याम् -ख ।

निष्क्रामति पुरुः स्वामी स्तुवन्ति स्तुतिपाठकाः
 अनुयान्ति महीपाला वहन्ति शिथिकां सुराः ॥२९६॥
 उदिते भासति ज्ञानदीपिणी पुरुभर्तारि ।
 विशदं भव्यैचेतोऽदृक् द्यूकानां कलुपं मनः ॥२९७॥
 उदाहरणद्वयमुक्तं भिन्नविषयत्वे । एकविषयत्वे यथा—
 आदिब्रह्माहितोपदेशविमुखा मिथ्यादृशो जन्तवः ।
 इवभ्रेषु प्रभवन्ति यान्ति दलनं वाञ्छन्ति सौख्यास्पदम् ।
 अश्रयन्त्युत्पत्तनं च यान्ति निहताः क्रन्दन्ति मूर्च्छन्ति ते ।
 धूर्णन्ते प्रलपन्ति दुःखनिवहं ते भुञ्जते सर्वदा ॥२९८॥
 गुणक्रियासाकल्येन यथा—
 आदिब्रह्माणि सूदिते विशदहृत्कीतूहलं निर्मल-
 स्फाराक्षं वदनारविन्दविकचं भेरीखव्यापनम् ।
 नानाभूषणकान्तिपुञ्जविसरव्याप्ताशमिन्द्रादयः
 राकेतं यमुत्तमाङ्गविनति कुर्वन्त आराद्धराः ॥२९९॥

उदाहरण—

पुरु स्वामी नगरसे बाहर निकलते हैं । स्तुतिपाठक उनकी प्रशंसा करते हैं, राजा लोग पीछे-पीछे चलते हैं और देवता लोग उनकी पालकीको बोते हैं ॥२९६॥

ज्ञानभानुस्वरूप पुरुस्वामीके उदित तथा देरीप्यमान होनेपर सज्जन पुरुषोंका चित्त स्वच्छ तथा दृष्टिविहीन उत्तल स्वरूप दुष्टोंका मन कलुपित हुआ ॥२९७॥

उपर्युक्त उदाहरण भिन्न विषयक है । एक विषयक उदाहरण निम्न प्रकार है—

आदिब्रह्मा—सीधेकर ऋषभदेवके हितकारी उपदेशसे विमुख मिथ्यादृष्टि नरक जाते हैं, जहाँ वे कूटे जाते हैं, सुखप्रद स्थानकी कामना करते हैं, गिरते हैं, उठते हैं, पीटे जानेपर वे रोते हैं, बेहोश हो जाते हैं, छटपटाते हैं, अप्रासंगिक बोलते हैं और वे सर्वदा दुःखको भोगते रहते हैं ॥२९८॥

गुण और क्रियाके समूहसे युक्त उदाहरण—

आदि ब्रह्माके अच्छी तरह उदित होनेपर हृत् इत्यादि देवगण स्वच्छ हृदय, कीर्तुक पूर्ण, स्रच्छ विकसित नयन तथा विकसित वदनारविन्द, भेरीकी ध्वनिके साथ अनेक प्रकारके आभूषणोंके कान्ति-समूहके विस्तारसे दिशाओंकी व्याप्त करते हुए तथा शिर अवनत किये हुए बहुत दूर सानेलपुरी—अयोध्यामें चले आते हैं ॥२९९॥

१. निष्क्रामति इत्यस्य पूर्वम् --ख-- 'आदिब्रह्माहितोपदेशविमुखा' इति पाठोऽस्ति ।
 २. भास्वति--ख । ३. चेतोदृक् --ख । ४. मिथ्यादृशो --ख । ५. भुञ्जते --क-ख ।

अनेकेषां कारणानामहमहमिकया यत्रैकं कार्यं साधयितुमुद्यमः सोऽपि समुच्चय एव । यथा—

शीघ्रं सत्यं क्षमा त्यागः प्रागल्भ्यं मृदुता ज्वलम् ।

वृत्तं चारुविवेकित्वं दयां पुष्पान्ति चक्रिणः ॥३००॥

शीघ्रादीनां कृपासंपादने प्रत्येकं कारणत्वेऽपि युगपदहमहमिकया संबन्धः ।

कार्यसिद्धयर्थमेकस्मिन् हेतौ यत्र प्रवृत्तिके ।

काकतालीयवृत्तोऽस्य समाधिरुदितो यथा ॥३०१॥

कार्यसिद्धये यत्रैकस्मिन् कारणे वृत्ते काकतालीयन्यायेन कारणमन्य-
दागत्य तत्कार्यं सुष्ठु करोति स समाधिः ।

चक्र्याश्लेषधियं कतुं विस्मस्तकुचवासलि ।

वध्वां पारावतस्तावच्चुकूज मणितध्वनिम् ॥३०२॥

तल्पास्थितचक्रिणः परिरम्भणधीजननार्थं कान्तया कुचवस्त्रविस्त्रंसने प्रवृत्तिके काकतालीयतया जातेन पारावतध्वनिना आलिङ्गनलक्षणकार्यस्य सुन्दरत्वम् । लोकन्यायमूलकअलंकारः रूपयन्ते—

अनेक कारणोंके रहनेपर 'मैं पहले, मैं पहले' इस प्रकारको क्रियासे एक कार्यको सिद्ध करनेके लिए जिसमें प्रयास दिखलाई पड़े, वह भी समुच्चयालंकार है । यथा—

पवित्रता, सत्य, क्षमा, दान, प्रागल्भता, मृदुता, सरलता, सुन्दरचरित्र और विवेक आदि गुण चक्रवर्तीकी दयाको पुष्ट करते हैं ॥३००॥

कृपा सम्पादनमें शीघ्रादि सभी गुण कारण होनेपर भी एक साथ 'मैं पहले, मैं पहले' इस क्रियासे सम्बन्ध है ।

समाधि अलंकारका लक्षण—

जिसमें कार्यसिद्धिके लिए एक हेतुके प्रवृत्त होनेपर अचानक दूसरे ही हेतुसे सुन्दरता पूर्वक कार्य सम्पन्न हो जाये, वहाँ समाधि अलंकार होता है ॥३०१॥

उदाहरण—

चक्रवर्ती भरतमें आलिप्त विषयक बुद्धि उत्पन्न करनेके हेतु नायिकाके वक्षस्थलका वस्त्र हट ही रहा था कि कबूतर मधुर ध्वनिसे कूज उठा ॥३०२॥

पलंगपर स्थित चक्रीमें आलिप्त विषयक भावना उत्पन्न करनेके लिए कान्ताके द्वारा वक्षस्थलका वस्त्र हटाया जा रहा था कि अचानक कबूतरके शब्दने आलिप्त नायिकाको सहजमें उत्पन्न कर दिया । अतः यहाँ समाधि अलंकार है ।

अथ लोकन्याय मूलक अलंकारोंका निरूपण करते हैं—

यत्रात्यद्भुतचारित्रवर्णनाद् भूतभावितोः ।

प्रत्यक्षायितता प्रोक्ता वस्तुधर्मविक्रमश्च ॥३०३॥

न चातीतानागतयोः प्रत्यक्षवदवभासित्वं विरुध्यते अत्याश्चर्यार्थवर्णनया भावकानां चेतसि भावनोत्पत्तेः । तथा च प्रत्यक्षायमाणत्वं भावनया पीनः-पुन्येन चेतसि निदर्शनाद् घटत एव ।

पिहिते कारागारे तमसि च सूचीमुखाग्रनिर्भद्ये ।

मयि च निमीलितनयने तथापि कान्ताननं व्यक्तम् ॥३०४॥

इत्याद्यदृश्यमानार्थेऽपि प्रत्यक्षायमाणत्वसंभवात् ।

चक्रिसेनाग्रतो रेजे चक्राब्जमरसद्दलम् ।

दलाग्रे यस्य वाबिन्दुरिवालक्ष्यत सर्वभूः ॥३०५॥

सकलद्वीपसागरयुक्तायाः सर्वभुवश्च^१ धारायां जलबिन्दुरूपतेति अद्भुतवर्णनया तत्र सा बिन्दुरेवेति भावनया भावकस्य प्रत्यक्षवत् प्रतीति-

भाविक अलंकारका लक्षण—

जहाँ अत्यन्त विशिष्ट चरित्रके वर्णनसे अतीत और अनागत वस्तुओंकी वर्तमानके समान प्रतीति होने लगे, वहाँ भाविक अलंकार होता है ॥३०३॥

यहाँ अतीत और अनागत वस्तुमें वर्तमानके समान प्रतीतिका होना विरुद्ध नहीं है, क्योंकि अत्यन्त आश्चर्यजनक वस्तुओंके वर्णनसे भावुकोंके चित्तमें भावनाकी उत्पत्ति हो सकती है । अतएव प्रत्यक्षके समान भावनाका बार-बार चित्तमें उत्पन्न होना विरुद्ध नहीं है ।

उदाहरण—

कारागारके बन्द रहनेपर सचन अन्धकारमें नेत्र बन्द कर लेनेपर भी प्रियतमाका मुख साफ दिखलाई पड़ता है ॥३०४॥

भावनातिरेकके कारण वस्तुके अदृश्य रहनेपर भी उसकी प्रत्यक्षके समान प्रतीति होती है ।

चक्रवर्तीकी सेनाके आगे चक्राकार अलयुक्त चक्रफमल सुशोभित हुआ । इस चक्रके दलके अग्रभागमें समस्त पृथ्वी जलबिन्दुके समान दिखलाई पड़ती थी ॥३०५॥

समस्त द्वीप और सागरोंसे युक्त सारी पृथ्वीका चक्रकी धारामें जलबिन्दुरूपसे विलक्षण वर्णन होनेके कारण वहाँ वह बिन्दुके समान प्रतीत होती है, यह प्रतीति भावुककी प्रत्यक्ष के समान है ।

संभवः । न चेयं स्वभावोक्तिरस्या विषयस्याद्भुतत्वेन भाव्यत्वाभावात् । नास्तुत्रेका भौतिकीः प्रत्यक्षस्येगाध्यवसायाभावात् । नेयं रसवदाद्यलंकृतिः अत्र विभावानुभावाद्यनुसंधानेन रसादेर्भाव्यत्वेन अद्भुतत्वाभावात् । भावनाया अभ्रान्तिनिरूपणान्न भ्रान्तिमानपि ।

यत्रेष्टतरवस्तुक्तिः सा प्रयोऽलंकृतिर्यथा ।

शृङ्गारादिरसोत्पुष्टिर्यत्र तद्रसवद् यथा ॥३०६॥

भो भव्याः पिवतादराच्छ्रुतिपुटैः कल्याणवार्तासुधा-

मादिब्रह्मजिनेशिनः सुरगिरौ जन्मामिषेकोत्सवः ।

जातस्तेन सुरालयोऽजनि गिरिः स्वर्गायिता भूरपि

देवाः पावनमूर्तयो जैनवराः सर्वे कृतार्थीकृताः ॥३०७॥

विश्वलोकप्रियतरस्य पुरुजिनजन्मामिषेकस्य प्रतिपादनम् ।

रहस्यु वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः सहासगर्जाः क्षितिपालवद्वाः ।

सकोपकन्दर्पधनुःप्रमुक्तशरौघहुङ्काररवा द्वाभुः ॥३०८॥

इस वर्णनमें स्वभावोक्ति भी नहीं है, क्योंकि इस विषयके अद्भुत होनेसे भाव्यत्वका सर्वथा अभाव है । यहाँ उत्प्रेक्षा भी नहीं है, क्योंकि भावो वस्तुओंका प्रत्यक्षत्वके साथ अध्यवसाय नहीं है । रसवद् अलंकार भी नहीं है, क्योंकि विभाव, अनुभाव इत्यादिके अनुसन्धानसे रसादिकी भाव्यताके कारण अद्भुतता नहीं है । भावनासे अभ्रान्तिका निरूपण होनेके कारण भ्रान्तिमान् भी नहीं है ।

श्रेयस् और रसवत् अलंकारोंके लक्षण—

जिसमें अत्यन्त अभिमत वस्तुका कथन हो उसे श्रेयस् अलंकार और जिसमें शृंगारादि रसको विशेष पुष्टिका वर्णन हो उसे रसवद् अलंकार कहते हैं ॥३०६॥

श्रेयस्का उदाहरण—

हे भगवतीजी ! आदिब्रह्मा जिनेश्वर भगवान्की कल्याणकारी उपदेशरूपी अमृतका आदरपूर्वक कानोंसे पान कीजिए । सुमेरु पर्वतपर उनका जन्मामिषेक हुआ इसलिए वह पर्वत भी देवताओंका निवासस्थान हो गया, पृथिवी भी स्वर्गजुल्य हो गयी तथा देव और मानव सभी पवित्र एवं सफल जीवन बन गये ॥३०७॥

यहाँ सम्पूर्ण लोकके अत्यन्त प्रिय पुरु जिनके अभिषेकका प्रतिपादन किया गया है ।

रसवद् अलंकारका लक्षण—

एकान्तमें रानिओंके वस्त्रोंके आकर्षणमें प्रवृत्त, हास्ययुक्त शब्द क्रुद्ध कामके धनुषसे छोड़े हुए बाणके समूहमें हुंकार शब्दके समान सुगोभित हुए ॥३०८॥

१. स्वभावोक्तिरस्याम्—ख । २. भूतभाविनोः—ख । ३. भावनाया अभ्रान्तिरूपरवात् भ्रान्तिमानपि—क-ख । ४. जिनवराः—ख ।

अत्र शृङ्गाररसस्य पोषणम् । एवं रसान्तरेष्वपि योज्यम् ।

यत्रात्मश्लाघनारोहो यथा सोऽर्जुनस्य ॥३०९॥

प्रत्यनीकं रिपुध्वंससाशकी तत्सङ्घिदूषणम् ॥३०९॥

यत्र समर्थस्य प्रतिपक्षस्य निराकरणासामर्थ्ये तत्संबन्धिनिराकरणं
प्रत्यनीकालंकारः सः ।

यत्सेजोऽनलदग्धनाकपदिगाद्याब्धिस्थदेवाधिपा

यत्पादश्रुतिवारिसिक्तशमिता मेघेश्वराख्यां गतः ।

तद्दत्तां मम गर्जितेन पतिता भूमौ कुलक्षमाभूत-

श्चक्रोट्सन्निभमेदमात्ररहिता श्लाघान्यघातेन का ॥३१०॥

अत्र जयकुमारस्यात्मश्लाघाः ।

चक्रिकीर्तिपरिस्फूर्तिजितस्वमहिमा शशी ।

तत्संबन्धिमहापद्मं पद्माकरमपास्यति ॥३११॥

चक्रिसंबन्धिनी महालक्ष्मीर्यस्य अथवा महापद्मा निधयः । पक्षे अम्बु-
जानि । १ तदास्यादितुल्यपङ्कजानां तत्संबन्धित्वं वा ।

यहाँ शृङ्गाररसका पोषण हुआ है । इसी प्रकार अन्य रसोंमें भी योजना कर
लेनी चाहिए ।

ऊर्जस्वी और प्रत्यनीक अलंकारोंके लक्षण—

जहाँ अपनी प्रशंसा अत्यधिक की जाये, वहाँ ऊर्जस्वी और जहाँ शत्रुके दधमें
असमर्थ रहनेपर संगीको दोष दिया जाये, वहाँ प्रत्यनीक अलंकार होते हैं ॥३०९॥

उदाहरण—

जिसकी प्रतापरूपी अग्निसे जले हुए देवगण पूर्वी समुद्रमें स्थित हैं; जिसके
पैरकी कान्तिरूपी जलके सिंचनसे शान्त होनेके कारण मेघेश्वरकी संज्ञासे विभूषित हैं
तथा गर्जनसे चक्रवर्तिके समान सुमेरुसे भिन्न अन्य सभी पर्वत भूमिपर गिर गये हैं, अतः
सुमेरुको खण्डित करें, अन्यके हनन करनेमें क्या बोरता है ? ॥३१०॥

यहाँ जयकुमारकी आत्मप्रशंसा है ।

चक्रवर्ती भरतकी कीर्तिकी महती दीप्तिसे पराजित महत्त्ववाला चन्द्रमा उससे
सम्बद्ध महालक्ष्मीवाले कमलसमूहको दूर कर देगा ॥३११॥

चक्रवर्ती सम्बन्धी महालक्ष्मी अथवा महापद्मनिधिकी, पदान्तरमें कमलोंको,
तुम्हारे मुखके तुल्य पंजड़ोंको अथवा उनसे सम्बद्धको ।

यद्वस्तु केनचिस्कर्त्रा येन साधितमन्यथा ।
 तत्तेनैवान्यकर्त्रा चेद् व्याघातः स प्रभाष्यते ॥३१२॥
 यद्वस्तु येन केनापि कर्त्रा येन साधनेन साधितं तेनैव साधनेन तद्वस्तु
 अन्येन कर्त्राऽन्यथाक्रियते चेत् स व्याघातः ।
 बाहुभ्यां लब्धमेदवयं गर्वपर्वतवैरिभिः ।
 निःसारोकृतमेताभ्यां महता चक्रपाणिना ॥३१३॥
 क्रमेणानेकमेकस्मिन्नेकं वा यदि वर्तते ।
 अनेकस्मिन् यथाधेयं पर्यायः स द्विधा यथा ॥३१४॥
 अनेकमाधेयमेकस्मिन्नाधारे यदि वर्तते एकः पर्यायः । क्रमेणेत्यनेन
 समुच्चयालंकारव्यवच्छेदः तत्रैकवानेकेषां युगपद्वर्तनात् ।
 यथाऽनेकस्मिन्नेकं यदि स द्वितीयः । अथारि क्रमेणेत्यनेन विशेषालंकार-
 विच्छेदः । तत्र अनेकत्र एकस्य युगपद्वर्तनात् ।

व्याघात अलंकारका स्वरूप—

जो वस्तु किसी कर्ताके द्वारा जिस साधनसे सिद्ध की गयी हो, वही वस्तु किसी दूसरे कर्ताके द्वारा उसी साधनसे दूसरे प्रकारसे सिद्ध की जाये, तो वहाँ व्याघात अलंकार होता है ॥३१२॥

जो वस्तु जिस किसी कर्ताके द्वारा जिस साधनसे सिद्ध की गयी हो, उसी साधनसे वह वस्तु दूसरे कर्ताके द्वारा विपरीत बना दी जाये, तो ऐसे स्थलपर व्याघात अलंकार होता है ।

उदाहरण—

अत्यन्त गर्विष्ठ पर्वतके समान शत्रुओंने बाहुओंसे धनार्जन किया था, पर महान् शक्तिशाली चक्रवर्तिने बाहुओंसे ही उस धनको विपरीत नष्ट कर दिया ॥३१३॥

पर्याय अलंकारका स्वरूप और भेद—

क्रमशः एकमें अनेक तथा अनेकमें एक आधेयका जहाँ वर्णन हो, वहाँ पर्याय अलंकार होता है । इसके दो भेद हैं ॥३१४॥

अनेक आधेय एक आधारपर हों तो एक पर्याय होता है । यहाँ क्रमशः इस कथनसे समुच्चयालंकारसे व्यावृत्ति हुई; क्योंकि उसमें अनेकको एक साथ स्थिति रहती है ।

जहाँ अनेक आधारमें एक आधेय हो, वहाँ द्वितीय पर्याय अलंकार होता है । यहाँ भी क्रमेण इस पदसे विशेषालंकारकी व्यावृत्ति होती है, क्योंकि विशेषालंकारमें अनेक आधारमें एक आधेयकी एक साथ अवस्थिति होती है ।

कुवादिनः स्वकान्तानां निकटे पश्योक्तयः ।
 समन्तभद्रयत्यग्रे पाहि पाहीति सूक्तयः ॥३१५॥
 अत्र विजिगीषोक्तिर्दैन्योक्तोभां एकाधारे 'अनेकेषां क्रमेण प्रवृत्तिः ।
 लक्ष्मीः पद्माकरस्था जङ्गूहमिदमित्याश्रिता चन्द्रमत्र
 स्थित्वा दोषाकरोऽयं त्वाति च पुनरतः संश्रिता मेहमत्र ।
 स्थित्वा गर्वोन्नतोऽयं भवति पुनरिति प्राप्य तस्मान्निधीशं
 तस्य श्रीर्वक्षसीद्धे स्थिरतरमहसि स्थैर्यमागात्तदृष्टिः ॥३१६॥
 एकस्याः लक्ष्म्याः सरःप्रभृत्यनेकत्र क्रमेण प्रवर्तनम् ।
 विदग्धमात्रबोध्यस्य वस्तुनो यत्र भासनम् ।
 कायाकारेऽङ्गिताभ्यां हि सा सूक्ष्मालंकृतियंथा ॥३१७॥
 सुभद्रा नवसंसर्गे प्रिये क्षुतवति द्रुतम् ।
 ईषदुद्भिन्नबिम्बोष्ठी स्वकर्णस्पर्शनं व्यधात् ॥३१८॥

उदाहरण—

कुवादियों—मिथ्यादृष्टियोंकी उक्तियां अपनी प्रियतमाओंके समक्ष पीरबधुक्त और आचार्य समन्तभद्रके समक्ष 'रक्षा करो—रक्षा करो' इस प्रकारकी होती हैं ॥३१५॥

यहाँ विजिगीषा और दैन्यकथन रूप अनेक आशेष एक ही आधारमें हैं, अतः प्रथम पर्याय अलंकार है ।

कमलसमूहसे युक्त सरोवररूपी गृहमें रहती हुई लक्ष्मीने उसे जङ्गूह मानकर चन्द्रमामें आश्रय लिया । अनन्तर उसे दोषाकर समक्ष वह वहाँसे हटकर मेहपर्वतपर चली गयी । पश्चात् मेरुकी गर्वोन्नत समक्ष वहाँसे हटकर वह चक्रवर्तीके पास आयी । यहाँ आकर उनके प्रदीप्त सुस्मिन् सेजवाले वदाःस्थलपर लक्ष्मीकी ओर ताकती हुई स्थिरताको प्राप्त हो गयी ॥३१६॥

यहाँ एक ही लक्ष्मीकी सरोवर आदि अनेक आधारोंमें क्रमशः स्थिति बतलायी गयी है, अतः द्वितीय पर्याय है ।

सूक्ष्म अलंकारका स्वरूप—

जहाँ आकार अथवा चेष्टासे पहचाना हुआ सूक्ष्म पदार्थ (अर्थ) भी किसी आलुर्धपूर्ण संकेतसे सहृदयवेष बनाया जाये, वहाँ सूक्ष्म अलंकार होता है ॥३१७॥

उदाहरण—

चक्री भरतकी पत्नी सुभद्राने प्रियतमके प्रथम संसर्गके अवसरपर छीक देनेके कारण थोड़ा खुले-खुले अघर पटवाली होती हुई कान्तका स्पर्श किया ॥३१८॥

नूतनसंगे लज्जया दीर्घायुर्भवेति वक्तुमशक्तया स्वकर्णस्पर्शनेन तदर्थः प्रकाशितः ।

महासमृद्धिरभ्याणां वस्तूनां यत्र वर्णनम् ।
विधीयते च तत्र स्याद्बुदात्तार्त्तक्रिया यथा ॥३१९॥
समवसरणमध्ये ^३ब्रह्मपादप्रणम्यान्
मुकुटघटितरत्नान् दिग्विराजप्रभाङ्गान् ।
त्रिदशमनुजराजान् स्तोत्रसंघट्टरम्यान्
प्रमुदितमनसस्तान् वीक्ष्य दृष्टः स चक्रो ॥३२०॥
भवेद्विनिमयो यत्र समेनासमतः सह ।
समन्यूनाधिकानां स्यात् परिवृत्तिस्त्रिधा यथा ॥३२१॥

समेन ^३समन्यूनाधिकशोरक्रमाभ्यामधिकन्यूनाभ्यां सह विनिमयः परिवृत्तिः । तत्र समेन सह परिवृत्तिर्यथा ।

प्रथम संगममें लज्जाके कारण दीर्घायु होइए, यह कहनेमें असमर्थ होती हुई अपने कानके स्पर्शसे उक्त अर्थ सूचित कर दिया ।

उदात्त अलंकारका स्वरूप—

जहाँ लोकोत्तर वैभव अथवा महान् चरित्रकी समृद्धिका वर्ण्यवस्तु अंगरूपमें वर्णन किया जाये, वहाँ उदात्त अलंकार होता है ॥३१९॥

उदाहरण—

वह चक्रवर्ती भरत समवसरणमें आदितीयंकरके चरणोंमें विनत, मुकुटोंमें जटिल रत्नवाले, दिशाओंमें सुशोभित प्रभापूर्ण अंगवाले, स्तोत्रपाठमें संलग्न रहनेसे सुन्दर, प्रसन्न मनवाले देवराजों और नरेशोंको देखकर प्रसन्न हुआ ॥३२०॥

परिवृत्ति अलंकारका स्वरूप—

जहाँ सम, न्यून और अधिकका जो समान नहीं है, उसका समानके साथ विनिमय—आदान-प्रदान हो, वहाँ परिवृत्ति अलंकार होता है । परिवृत्तिका अर्थ है परिवर्तन विनिमय अर्थात् वस्तुओंका आदान-प्रदान । कवि प्रतिभोत्पन्न विनिमयके वर्णनसे वमत्कृति उत्पन्न होती है ॥३२१॥

इसके तीन भेद हैं—(१) समपरिवृत्ति (२) न्यून परिवृत्ति और (३) अधिक परिवृत्ति । सम न्यून और अधिकका क्रमरहित अधिक और न्यूनके साथ विनिमयको परिवृत्ति कहा जाता है ।

१. नूतनसङ्गमे—ख । २. ब्रह्मपादे....—ख । ३. समेन समस्य न्यूनता....—क ।

स्तोत्रकोटिं वितीर्यास्मै चक्रिणे कविकुञ्जराः ।

धनकोटीं लभन्ते स्म दत्तां चक्रीशना सता ॥३२२॥

नतिमूलधनं दत्त्वा भव्यजीवीः स्वयंभुवे ।

श्रीणि रत्नानि लभ्यन्ते दुर्लभानि जगत्त्रये ॥३२३॥

प्रणाममूलधनतो रत्नत्रयस्याधिक्यमिति न्यूनाधिकपरिवृत्तिः ।

युद्धे जयकुमारेण जिता गदितभूभुजः ।

भूषणानि किरातेभ्यो दत्त्वा गुञ्जादि भोजिरे ॥३२४॥

स्यज्यमानमण्डनवस्त्रादे दीयमानगुञ्जामणिवल्कलादिकं न्यूनमिति

अधिकेन न्यूनपरिवृत्तिः शृङ्खलामूलालंकारानाह—

प्रत्युत्तरोत्तरं हेतुः पूर्वं पूर्वं यथा क्रमात् ।

असौ कारणमालाख्यालंकारो भणितो यथा ॥३२५॥

धर्मेण पुण्यसंप्राप्तिः पुण्येनाथस्य संभवः ।

अर्थेन कामभोगश्च क्रमोऽयं चक्रिणि स्फुटः ॥३२६॥

समपरिवृत्तिका उदाहरण—

श्लेष कविगण इस चक्रवर्तीकी प्रशंसामें करोड़ों स्तीत्र भेंटकर इससे करोड़ोंकी संख्यामें धनराशि प्राप्त करते हैं ॥३२२॥

न्यूनाधिक परिवर्तिका उदाहरण—

भव्यजीवोंके द्वारा आदि जिनेश्वरको नमस्काररूपी मूलधन देकर तीनों लोकोंमें अलम्य सम्पदादर्शन, सम्पदाज्ञान और सम्पदाचारित्र्यरूप तीन रत्न प्राप्त किये जाते हैं ॥३२३॥

रणमें जयकुमारसे पराजित हुए घमण्डी राजाओंने अपने बहुमूल्य आभूषणोंको किरातोंको देकर उनसे भुंजाफल प्राप्त किये ॥३२४॥

त्याग किये जाते हुए अलंकार और वस्त्रादिसे लिये जाते हुए गुंजा, मणि, वल्कलादि न्यून हैं; अतएव यहाँ अधिकसे न्यूनका विनिमय हुआ है ।

शृङ्खला न्यायमूलक अलंकारोंका वर्णन किया जाता है ।

कारणमालालंकारका स्वरूप—

जहाँ पूर्व-पूर्व वणित पदार्थ उत्तरोत्तर वणित पदार्थोंके कारणरूपमें वणित होते चलें, वहाँ कारणमाला अलंकार होता है ॥३२५॥

उदाहरण—

धर्मसे पुण्यकी प्राप्ति, पुण्यसे धनकी प्राप्ति और धनसे काम एवं भोगकी प्राप्ति, यह क्रम चक्रवर्ती भरतमें स्पष्ट था ॥३२६॥

१. धनकोटिम् ख-। २. चक्रीशना....-ख ।

यत्रोत्तरोत्तरं पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणम् ।
 क्रमेण कथ्यते त्वेकावलीसंज्ञायाः उच्यते ॥३२७॥
 'पुरुदेवपुरी चारुश्रावकमञ्जुशोभिता ।
 श्रावकाः स्थितधर्माणो धर्मो यत्र त्रयात्मकः ॥३२८॥
 इदमुदाहरणं स्थापनेन अपोहेनापि स्याद् यथा—
 न सा सभा कवित्वादिगुणिविद्वज्जनोज्जिता ।
 विद्वज्जना न ते श्रद्धासम्यग्ज्ञानविवर्जिताः ॥३२९॥
 यत्रोत्तरोत्तरं प्रत्युत्कृष्टत्वावहता भवेत् ।
 पूर्वपूर्वस्य वै चैतन्मालादीपकमिव्यते ॥३३०॥
 आदिग्रह्यापसद्बोधं बोधः प्रापार्थसंचयम् ।
 पदार्थनिबहोऽप्याप लोकालोकस्वरूपताम् ॥३३१॥

एकावली अलंकारका स्वरूप—

जहाँ पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तुके लिए उत्तरोत्तर वर्णित वस्तुका विशेषणरूपसे क्रमशः विधान किया जाता है, वहाँ एकावली अलंकार होता है ॥३२७॥

उदाहरण—

पुरु भगवान्की नगरी—अयोध्या श्रेष्ठ श्रावक समूहसे सुशोभित थी, श्रावक धर्मात्मा थे और धर्म रत्नत्रयरूप स्थिर था ॥३२८॥

यह उदाहरण स्थापनाविधिका है ।

अपोह अर्थात्—निषेधका उदाहरण—

कवित्वादि गुणशाली विद्वानोंसे रहित वह सभा नहीं है, श्रद्धा और सम्यग्ज्ञानसे रहित वे विद्वान् भी नहीं हैं ॥३२९॥

मालादीपकालंकारका स्वरूप—

जहाँ उत्तरोत्तर वस्तुके प्रति पूर्व-पूर्व वर्णित वस्तु की अपेक्षा उत्कृष्टता प्रतीत हो वहाँ निश्चय ही मालादीपक अलंकार होता है ॥३३०॥

उदाहरण—

आदिग्रह्याने सद्बोधको प्राप्त किया, सद्बोधने अर्थसंचयको प्राप्त किया । पदार्थ-समूह भी लोकालोक स्वरूपताको प्राप्त हुआ ॥३३१॥

१. पूर्वदेवपुरीत्यस्य पूर्वं—खप्रती पूर्वं पूर्वं प्रति यत्र यत्रोत्तरेषां विशेषणत्वस्यैकावली ।

२. धर्मो रत्नत्रयात्मकः—क-ख ।

यत्रोत्तरोत्तरोत्कर्षः सा सारालंकृतिर्यथा—

तत्त्वे जीवोऽथ भव्यस्त्रसपरिणमनोऽत्रापि^१ पञ्चाक्षरंसी
मर्त्योऽरोगो विवेको धनिक उरुकुलोऽत्रापि सम्यग्दृगत्र ।
कारुण्याद्भ्यो व्रताद्भ्योऽत्र च सकलयमो धर्मसध्यानकोऽत्र
शुक्लध्यान्यत्र कर्मक्षगक इह वरः केवली सिद्ध एव ॥३३२॥

त्रिदशलोकसारभूतं सिद्धपरमेष्ठिनं विषयीकुरुतः सार इत्यभ्यालंकार-
स्यान्वर्थसंज्ञा । इत्यर्थालंकारान् निरूप्येदानीं संसृष्टिसंकरौ कथ्येते । यथा
लौकिकानां कनकमयानां^२ च पृथक्-पृथक् सौन्दर्यकराणामपि हाराद्यलंकारा-
णामन्योन्यसंबन्धेन रम्यता दृश्यते तथैव रूपकादीनामलंकाराणामन्योन्य-
संबन्धेन रम्यतातिशयो रम्यते । तिलतण्डुलन्यायेन संयोगरूपः^३ क्षीरनीर-
न्यायेन समवायरूपश्चेति स च संबन्धो द्विधा । आद्येन न्यायेन संसृष्टि-
रन्त्येन संकरः ।

शुद्धिरेकप्रधानत्वमेकालंकारप्राधान्यरूपा स्यादिति शुद्धिमिच्छन्ति

सारालंकारका स्वरूप और उदाहरण—

जहाँ उत्तरोत्तर उत्कर्षकी प्रतीति हो, वहाँ सारालंकार होता है । यथा—

इस संसारमें भव्यजीव, उनमें भी मुक्तिप्रद पंचनमस्कारमन्त्रका पाठी, मनुष्य
होनेपर भी नीरोग, विवेकशाल, धनिक, उत्तमकुल, उसमें भी सम्यग्दृष्टि, महान् दयालु,
धर्मी, उसमें भी समस्त व्रत-नियमोंका पालक, उनमें धर्मका अनुसन्धान करनेवाला,
उनमें भी कर्मविनाशक शुक्लध्यानी और श्रेष्ठ केवलज्ञानी सिद्ध ही हैं ॥३३२॥

सम्पूर्ण लोकमें सारभूत सिद्धपरमेष्ठीको प्रत्यक्ष करना ही लोगोंके लिए 'सार'
है, यह इस अलंकारकी अन्वर्थ संज्ञा है ।

अब अर्थालंकारोंको निरूपित करनेके उपरान्त संसृष्टि और संकर अलंकारोंको
कहते हैं । जिस प्रकार लोकमें होनेवाले सुवर्णमय तथा भिन्न-भिन्न अगोंकी शोभा
बढ़ानेवाले 'हार' इत्यादि आभूषणोंके परस्पर सम्बन्धसे रम्यता देखी जाती है, उसी
प्रकार रूपक आदि अलंकारोंके परस्पर सम्बन्धसे अतिशय रम्यता प्रतीत होती है ।
यह सम्बन्ध दो प्रकारका है—(१) तिलतण्डुल न्यायसे संयोग स्वरूप, (२) क्षीर-
नीर न्यायसे समवाय स्वरूप । तिल-तण्डुल न्यायसे जहाँ अलंकारोंकी पृथक्-पृथक् प्रतीति
हो, वहाँ संसृष्टि और क्षीर-नीर—दूध-पानी न्यायसे अलंकारोंकी अपृथक् रूपसे
प्रतीति हो, वहाँ संकर अलंकार होता है ।

प्रधानरूपसे एक अलंकारका रहना शुद्धि है, अतः शुद्धि अभीष्ट है, संसृष्टि

१. पञ्चाक्षरंसी—क-ख । २. कनकमयानां मणिमयानां च—ख । ३. क्षीरन्यायेन—ख ।

संसृष्टिसंकरयोः पृथक्त्वं नेच्छन्ति । इह तु एतयोः पृथक् चारुत्वातिशयकारण-
त्वेन पूर्वोक्तालंकारेभ्यः पार्थक्यम् ।

^१तिलतण्डुलवच्छ्लेषा रूपकाद्या अलंक्रिया ।

यत्रान्योन्यं च संसृष्टिः शब्दार्थोभयतस्त्रिधा ॥३३३॥

तिलतण्डुलन्यायेन रूपकादयो यत्र परस्परं संबद्धा भवन्ति सा संसृष्टिः ।

तत्र शब्दालंकारसंसृष्टिर्यथा—

वन्दे चारुत्वां देव भो वियाततया विभो ।

त्वामजेय यजेम त्वातमितान्त ततामित ॥३३४॥

अत्र चित्रयमकयोः संसृष्टिः । ^३अर्थालंकारसंसृष्टिर्यथा—

रहस्यं ^४वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः ^५सहासगर्जाः क्षितिपालवध्वाः ।

सकोपकन्दर्पधनुःप्रमुक्तशरौषहुंकाररवा इवाभुः ॥३३५॥

और संकरकी पृथक्ता नहीं । यही पृथक् चारुत्वकी अतिशयताके कारण पूर्वोक्त
अलंकारोंकी अपेक्षा संसृष्टि और संकरकी भिन्नता है ।

संसृष्टि अलंकारका स्वरूप और भेद—

जहाँ तिल-तण्डुल न्यायसे रूपकादि अलंकारोंकी श्लिष्ट प्रतीति होती है, वहाँ
संसृष्टि अलंकार होता है । इसके शब्द, अर्थ और शब्दार्थनिष्ठके भेदसे तीन भेद
हैं ॥३३३॥

तिल-तण्डुल न्यायसे रूपकादि अलंकार जहाँ परस्पर सम्बद्ध हों, वहाँ संसृष्टि
होता है ।

शब्दालंकार संसृष्टिका उदाहरण—

हे अमित साहसिन् ! व्यापक सौन्दर्यधारक देव ! मैं आपकी वन्दना करता हूँ एवं
हे अज्ञानान्धकारके विनाशक, अजेय, विराट् देव ! मैं तुम्हारी भवना करता हूँ ॥३३४॥

यहाँ चित्र और यमककी संसृष्टि है ।

अर्थालंकार संसृष्टिका उदाहरण—

एकान्ठमें रानियोंके पटके आकर्षणमें प्रवृत्त हास्ययुक्त गर्जन शब्द क्रुद्ध कामके
धनुषके छोड़े हुए बाण जालके हुंकार शब्दके समान सुशोभित हुए ॥३३५॥

१. तिलतण्डुलवच्छ्लेषा—क । २. कप्रती वमितान्तसहामित । खप्रती समितान्त-
ततमित । ३. —खप्रती-अर्थालंकारसंसृष्टिर्यथा इति वाक्यं नास्ति । ४. वस्त्राभरणे
—ख । ५. सहासगर्जा —ख ।

उपमारसवदलंकारयोः संसृष्टिः । शब्दार्थोभयसंसृष्टिर्यथा—
एतच्चित्रं क्षितेरेव घातकोऽपि प्रपादकः ।

भूतनेत्रपतेऽस्येव शीतलोऽपि च पावकः ॥३३६॥

घातकोऽपि हिंसकोऽपि पक्षे घातिकर्मणां विनाशकः । प्रपादकः प्रपालकः । भूतानां जीवानां नेत्रं चक्षुः तस्य संबोधनम् । शीतलो भव्याह्लादकः दशमतीर्थकरो वा । अग्निः पवित्रश्च । एतद्वचनं भूलोकस्य विरुद्धमेव परिहारपक्षे क्षितेरेव न तु विदुषः । अत्र मुरजबन्धलक्षणचित्रालंकारविरोधालंकारयोः संसृष्टिः ।

क्षीरनीरवदन्वोन्मत्तव्या यत्र भाषिताः ।

उक्तालंकृतयः सोऽयं संकरः कथितो यथा ॥३३७॥

सजातीयविजातीयाङ्गाङ्गीभावद्वयेन सः ।

एकशब्दप्रवेशेन संदेहेनेति च त्रिधा ॥३३८॥

शब्दार्थोभयसंसृष्टिका उदाहरण—

पृथिवीके घातक होनेपर भी पालक, हे प्राणिमात्रके नयन ! हे स्वामि पावक—
अग्नि अथत् पवित्र, शीतल—विरोध परिहारपक्षमें शीतलनाथ तीर्थकर, आप हैं;
यह विलक्षण वास्तु है ॥३३६॥

घातकः—हिंसक होनेपर, पक्षमें—घातिया कर्मके विनाशक, प्रपादकः—
पालनकर्ता । हे प्राणियोंके नेत्र ! शीतलः—भक्ष्यजनोंके आह्लादक, दशम तीर्थकर ।
पावकः—अग्नि अथवा पवित्र । यह वचन भूलोकके लिए विरुद्ध ही है, विरोध
परिहारपक्षमें क्षितिका ही, विद्वानोंका नहीं । आशय यह है कि शीतलनाथ तीर्थकर
घातियाकर्मके विनाशक विश्वके पालनकर्ता, भव्यजीवोंके आह्लादक एवं पवित्र हैं ।

यहाँ मुरजबन्ध लक्षण चित्रालंकार और विरोधालंकारकी संसृष्टि है ।

संकर अलंकारका स्वरूप—

जहाँ रूपकादि पूर्वकथित अलंकार दूध और पानीके समान परस्पर एक दूसरेसे
मिले हुए वर्णित हों, वहाँ संकर नामक अलंकार होता है ॥३३७॥

संकरके भेद—

वह संकर सजातीय-विजातीय-अंगांगिभाव, एक शब्दप्रवेश और सन्देहके
भेदसे तीन प्रकारका होता है ॥३३८॥

१. पावकः अग्निः पवित्रश्च --क-ख । २. विजातीयाङ्गाङ्गीभाव....-ख ।

प्रत्यथिकुञ्जराश्चक्रिभटैः सिंहैरिवाहताः ।

भूभृद्वप्रोपरिन्यस्तक्रमैस्त्नतलङ्घिभिः ॥३३९॥

अत्र सिंहैरिवेत्युपमालंकारेण प्रत्यथिकुञ्जरा इत्यत्र उपमा प्रसाध्यते इति सजातीययोरङ्गाङ्गिभावः^१ । कुञ्जरा इति प्रत्यघिन इति^२ समामाश्रयणात् भूभृद्वप्रोपरीत्यत्र श्लेषमूलातिशयोक्तिः ।

अरातिमहिषाः स्वैरे मज्जन्त्वन्त्रेति वाकृतः ।

^३ तडागेऽजेन तत्कान्ताक्ष्यम्बुविश्वक्रिभूतले ॥३४०॥

मज्जन्तु तडागेऽनेति उत्प्रेक्षया अरातिमहिषा इत्यत्र रूपकं प्रसाध्यते इति विजातीययोरङ्गाङ्गिभावः ।

बहुतेजाः स्फुरत्कायः सर्वविद्योतनक्षमः ।

भानुमानिव रेजेऽसौ पुरुनन्दनचक्रभृत् ॥३४१॥

बहुतेजाः इति शब्दसाम्येन श्लेषः । स्फुरदित्यादौ अर्थसाम्यादुपमा । तानुपमाश्लेषौ भानुमानित्येकस्मिन्नेव शब्दे अनुप्रविष्टाविति एकवाचकानु-
प्रवेशेन संकरः ।

उदाहरण—

पर्वतरूपी चहारदोवारोपर पैर रखनेवाले तथा उन्नतशीलको लंगनेवाले सिंहके समान चक्रवर्ती भरतके सैनिकोंके द्वारा शत्रुनृपतियोंके हाथी मारे गये अथवा गजराजके समान बलशाली शत्रु मारे गये ॥३३९॥

यहाँ सिंहके समान इस उपमा अलंकारसे 'शत्रुगजमें' उपमा सिद्ध होती है, अतः यहाँ सजातीयोंमें अंगांगिभाव है । 'कुञ्जरा इति प्रत्यघिन'में समका आश्रय ग्रहण करनेसे 'भूभृद्वप्रोपरि'में श्लेषमूलक अतिशयोक्ति अलंकार है ।

इस तालाबमें शत्रुनृपतियोंके भैसे स्वल्पन्त्रतापूर्वक स्नान करें, इसलिए शत्रुओंकी नारियोंके नयनजल—अश्रुओंसे चक्रवर्ती भरतकी भूमिपर आज—किसी व्यक्ति-विशेषने तालाब बना दिया है ॥३४०॥

यहाँ तडागमें मज्जन करें, इस उत्प्रेक्षासे 'अरातिमहिषामें' रूपक सिद्ध किया गया है । अतएव विजातीयका अंगांगिभाव है ।

अत्यन्त तेजस्वी, देदोप्यमान जारोरिक कान्तिवाला, तथा सभी प्रकाशित—उल्लसित करनेमें समर्थ वह पुरुदेवका पुत्र भरत चक्रवर्ती सूर्यके समान सुशोभित हुआ ॥३४१॥

'बहुतेजाः'में शब्दकी समतासे श्लेष है । 'स्फुरद्'में अर्थ-साम्यसे उपमा

१. रङ्गाङ्गिभावः—ख । २. खप्रती इति इत्यस्य स्थाने ह्य विद्यते । ३. समामाश्रयणात्—ख । ४. तटाकोजेन—ख । ५. तटाके—ख । ६. सर्वोर्विद्योतनक्षमः—ख ।

श्रीमत्पार्थिवचन्द्रेण मुखपद्मेषु भूभुजाम् ।

किं भवेदिति तत्कान्तादिचिन्तयान्त स्म चेतसि ॥३४२॥

पार्थिवचन्द्रण मुखपद्मेष्वित्यत्र 'रूपकोपमयोः संशयादिति संदेह-
संकरः । 'पार्थिव एव चन्द्रः चन्द्र इव पार्थिवः 'मुखान्येव पद्मानि पद्मानि
मुखानीव इति समासद्वयसंभवात् 'स चात्र साधकं बाधकं वा प्रमाणम् 'अन्य-
तरस्य नास्तीति संदेह एव पर्यवसितः । साधकबाधकयोः सत्त्वे तु संदेह-
निवृत्तिः ।

श्रीयशः पुण्डरीकाणि भरतस्यादिचक्रिणः ।

शेखरोचक्रिरे विश्वदिवपाला अपि ताषतः ॥३४३॥

यशांस्येव पुण्डरीकाणीति रूपकालंकारे शेखरीचक्रिरे इति साधक-
प्रमाणम् । शेखरीकरणेन अभेदनिश्चयात् ।

शूरे रथाङ्गभृत्सिंहे षट्क्षण्डेषु विराजति ।

तद्विषत्कुञ्जरा शीरेः नाकलोत्पन्निशयान् । ३४४॥

है । ये दोनों उपमा और श्लेष 'मानुमान्' इस एक ही शब्दमें प्रविष्ट हैं, अतः एक
वाचकमें अनुप्रवेशमें यहाँ संकर अलंकार है ।

अति सुन्दर पार्थिव ही चन्द्र है अथवा चन्द्रके समान राजा है; राजाओंके
मुखकमलोंमें क्या है, इस प्रकार उनकी स्त्रियाँ अपने मनमें सोचने लगीं ॥३४२॥

'पार्थिवचन्द्र'से 'मुखकमल'में रूपक और उपमाका संशय होनेसे यहाँ सन्देह
संकर है । पार्थिव ही चन्द्र है अथवा चन्द्रके समान पार्थिव है; मुख ही कमल है अथवा
कमल मुखके समान है, इस प्रकार यहाँ दोनों समास हो सकते हैं । अतः दोनोंमें
साधक या बाधक प्रमाण न होनेसे सन्देहमें ही पर्यवसान होता है । साधक या बाधकके
रहनेपर तो सन्देहकी निवृत्ति हो जाती है ।

आदिचक्री भरतके यशरूपी कमलको सभी दिग्गजोंने बड़े ही सन्तोषसे अपने
मस्तकका आभूषण बनाया ॥३४३॥

यहाँ यश ही कमल है, इस रूपकालंकारमें 'शेखरीचक्रिरे' यह साधक प्रमाण
है । शेखरीकरणसे अभेदका निश्चय हो जाता है ।

षट्क्षण्डोंमें भरतके सिंहरूपी शीरोके सुशोभित रहनेपर डरे हुए उनके
शत्रुरूपी हाथी स्वर्ग चले गये ॥३४४॥

१. रूपकोपमेययोः—ख । २. पार्थिवचन्द्रः चन्द्र इव....—ख । ३. मुखान्येव पद्मानि,
पद्मान्येव मुखानि इति समास....—ख । ४. न चात्र—ख । ५. अन्यतरस्यास्तीति—ख ।

सिंह इव रथाङ्गभृत् कुञ्जरा इव द्विषन्तः इत्युपमायाः शूरे भोताः इति बाधकं प्रमाणं व्याघ्रादिभिर्गीणैस् तदनुक्ता इति । कोऽर्थः । येन गुणेन ते व्याघ्रादयः प्रवर्तन्ते स चेद् गुणः शब्देन न प्रतिपाद्यते तदा उपमेयवाचि सुबन्त-मुपमानवाचिना व्याघ्रादिना पुरुषसिंह इव समस्यते । यदा तु स गुणः शब्देन प्रतिपाद्यते तदा पुरुषव्याघ्रः शूर इति न भवतीति उपमासमासनिषेधात् । रथाङ्गभृदेव सिंहः द्विषन्त एव कुञ्जरा इति पारिशेष्याद्रूपकालंकार एव ।

वाक्यार्थस्तबके खण्डवाक्यार्थस्तबके ध्वनी ।

वाक्यार्थेऽपि पदार्थेऽपि दृष्टान्तादेरियं स्थितिः ॥३४५॥

वाक्यार्थस्तबके दृष्टान्तादयः । खण्डवाक्यार्थस्तबके दीपकादयः । ध्वनावनुप्रासादयः । वाक्यार्थे उपमात्प्रेक्षादयः पदार्थ रूपकादयः ।

इत्यलंकारचिन्तामणावधालंकारविवरणो नाम

चतुर्थः परिच्छेदः ॥३४॥

‘सिंहके समान चक्री, हाथीके समान शत्रु’ इस उपमाका ‘शूरे भोता’ बाधक प्रमाण है और गीण व्याघ्रादिसे अनुक्त है । इसका तात्पर्य क्या है ? जिस गुणसे व्याघ्रादि प्रवृत्त होते हैं, वह गुण शब्दसे नहीं कहा जाता, तब उपमेयवाची सुबन्ता उपमानवाची व्याघ्रादिके साथ ‘पुरुषसिंह इव’ समास होता है । किन्तु जब गुणका कथन शब्द द्वारा कर दिया जाता है, तब ‘पुरुषव्याघ्रः शूरः’ ऐसा नहीं होता है । उपमा समासके निषेधके कारण ‘रथाङ्गभृद् एव सिंहः’ ‘द्विषन्त एव कुञ्जराः’ इस परिशेषसे रूपकालंकार ही गठित होता है ।

वाक्यार्थसमूह, खण्डवाक्यार्थसमूह, ध्वनि, केवल वाक्यार्थमें भी और केवल पदार्थमें भी दृष्टान्त इत्यादिके होनेसे यह स्थिति है ॥३४५॥

वाक्यार्थसमूहमें दृष्टान्त इत्यादि, खण्डवाक्यार्थमें दीपक इत्यादि, ध्वनिमें अनुप्रास इत्यादि वाक्यार्थमें उपमा, उत्प्रेक्षा आदि एवं पदार्थमें रूपक इत्यादि अलंकार रहते हैं ।

अलंकार चिन्तामणिमें अलंकार विवरणनामक

चतुर्थ परिच्छेद समाप्त हुआ ॥३४॥

१. व्याघ्रादिभिर्गीणैस्तदनुक्तावित्यत्र सूत्रे तदनुक्ताविति—ख । व्याघ्रादिभिर्गीणैस्तदनुक्तावित्यत्र सूत्रे तदनुक्ताविति—क । २. व्याघ्रादिना पुरुषः सिंह इव पुरुषसिंह इति समस्यते—क-ख । ३. वाक्यार्थ इत्यस्य पूर्व—क-ख—एवं यथायोग्यं संसृष्टिसंकरौ बोद्धव्यावित्तरालंकारेष्वपि विशेषान्तरमाह ।

श्रीबीतरामाय नमः

पञ्चमः परिच्छेदः

क्षयोपशमने ज्ञानावृत्तिवोर्यान्तराययोः ।
इन्द्रियानिन्द्रियैर्जावि त्विन्द्रियज्ञानमुद्भवत् ॥१॥
तेन संवेद्यमानो यो मोहनीयसमुद्भवः ।
रसाभिव्यञ्जकः स्थायिभावश्चिद्वृत्तिपर्ययः ॥२॥

समवेदन या इन्द्रियज्ञानका स्वरूप—

ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमके होनेपर इन्द्रिय और मनके द्वारा प्राणोको इन्द्रियज्ञान उत्पन्न होता है ॥१॥

स्थायीभावका स्वरूप—

इन्द्रियज्ञानसे संवेद्यमान, मोहनीय कर्मसे उत्पन्न, रसकी अभिव्यक्ति करनेवाला ओ चिद्वृत्तिरूप पर्याय है, उसे स्थायीभाव कहते हैं ॥२॥

तात्पर्य यह है कि रसकी अभिव्यक्ति एक अलौकिक व्यापार है। जैनदर्शन, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनके द्वारा होनेवाले ज्ञानको इन्द्रियजन्य ज्ञान मानता है और यह इन्द्रियजन्य ज्ञान मोहनीय कर्मके उदय होनेपर चित्तको विशेष वृत्तिरूप परिणमन करता है। इसी चित्तवृत्तिको स्थायीभाव कहा गया है। यह स्थायीभाव रसका अभिव्यञ्जक है। वर्तमान भवोविज्ञान तीन प्रकारके अनुभव मानता है—(१) संवेदनात्मक (२) भावात्मक और (३) संकल्पात्मक। इन तीनोंको अंगरेजोंमें क्रमशः Sensation, Feelings and emotion कहते हैं। पुस्तक सामने है। यहाँ पुस्तकको स्थितिमात्रका अनुभव संवेदन है। जैनदर्शनकी दृष्टिसे यही इन्द्रियज्ञान है। व्यक्तिका ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम जिस कोटिका होगा उसी कोटिका यह ज्ञान भी स्पष्ट, स्पष्टतर और स्पष्टतम होगा। यदि वह पुस्तक स्वयं मेरे द्वारा लिखी गयी है तथा समाचार पत्रोंमें उसकी सुन्दर आलोचना प्रकाशित है तो उस आलोचनाके देखनेसे जो गौरव तथा हर्षका अनुभव होगा वह भाव या फीलिंग कहलायेगा। यदि वह पुस्तक ऐसे व्यक्तिके द्वारा लिखी गयी है जिसके प्रति मुझे घृणा है और उस पुस्तकके द्वारा उसने अनुचित ख्याति पायी है तो उस पुस्तकको देखकर जो घृणाका अनुभव होगा वह भी एक प्रकारका भाव है। वस्तुतः

१. खप्रतो वृषभजिनाय नमः ।

रतिहासशुचः क्रोधोत्साही भयजुगुप्सने ।

विस्मयः शम इत्युक्ताः स्थायिभावा नव क्रमात् ॥३॥

संभोगगोचरो वाञ्छाविशेषो रतिः । विकारदर्शनादिजन्यो मनोरथो हासः । स्वस्येष्टजनवियोगादिना स्वस्मिन् दुःखोत्कर्षः शोकः । रिपुकृताप-

भाव भी एक प्रकारका संवेदन ही है, पर इस संवेदनमें दार्शनिक दृष्टिसे मोहनीय कर्मका उदय अपेक्षित है । फलितार्थ यह है कि जैनदर्शनमें मोहनीय कर्मके उदय होनेपर इन्द्रिय-जन्य ज्ञान या संवेदन भावके रूपमें परिणत होता है और इसी भावसे रसकी अभिव्यक्ति होती है ।

हमारा श्रवणा मत है कि संवेदनाओंके गुणका नाम भाव है । जिस प्रकार प्रत्येक संवेदनमें मन्दता या तीव्रताका गुण रहता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्मके सद्भाव के कारण संवेदनमें सुखमय या दुःखमय होनेका भी गुण रहता है । इसी गुणके कारण संवेदनाएँ भावात्मक रूप ग्रहण करती हैं । जिनका मनोव्यवहार कल्पनाके ही संगमसे सम्बन्ध रखता है । अतएव कल्पनाओंका मूलाधार संवेदनाएँ ही हैं ।

संवेदनाओंके समान भावोंका कोई स्थान नहीं है । प्रत्येक संवेदन किसी-न-किसी इन्द्रियसे सम्बन्ध रखता है और जब यह संवेदन मोहनीय कर्मके कारण हर्ष या विपादसे जुड़ जाता है तो भावका रूप ग्रहण कर लेता है । भाव विषयोंसे सम्बन्ध रखते हैं और संवेदन विषयसे । भावोंका उदय या अस्त किसी बाह्य पदार्थकी उपस्थिति या अनुपस्थितिपर निर्भर नहीं रहता, पर संवेदन सदा किसी अन्य पदार्थकी अपेक्षा रखता है । अतः स्पष्ट है कि संवेदनके उत्तरकालमें ही भाव उत्पन्न होते हैं ।

स्थायीभाव चित्तकी वह अवस्था है, जो परिवर्तन होनेवाली अवस्थाओंमें एक-सी रहती हुई उन अवस्थाओंसे आच्छादित नहीं हो जाती, बल्कि उनसे पुष्ट होती रहती है । मुख्य भाव स्थायीभाव कहा जाता है । अन्य भाव स्थायीभावके सहायक एवं चर्द्धक होते हैं । साहित्यदर्पणकारने भी स्थायीभावकी व्याख्या करते हुए बताया है कि जो भाव अपनेमें अन्य भावोंको मिला ले और उनसे पराजित न हो वह स्थायीभाव है ।

स्थायीभाव के भेद—

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और शम ये नौ प्रकारके स्थायीभाव होते हैं ॥३॥

स्थायीभावोंका स्वरूप—

संभोग-विषयक इच्छाविशेषको रति कहते हैं । विकृत वस्तुओंके दर्शन आदिसे उत्पन्न मनोरथको हास कहते हैं । स्वइष्टजनके वियोग आदिसे अपनेमें उत्पन्न

१. रिपुकृतापकारेण चेतसि-क-ख । २. 'साहित्यदर्पण', चौबथा विद्याभवन, वाराणसी-१, सन् १९५७, ३।१ ।

कारिणश्चेतसि प्रज्वलनं क्रोधः । कार्येषु लोकोत्कृष्टेषु स्थिरतरप्रयत्न उत्साहः ।
रौद्रविलोकनादिना अनर्थशिङ्खनं भयम् । अर्थानां दोषविलोकनादिभिर्गर्हा
जुगुप्सा । अपूर्ववस्तुदर्शनादिना चित्तविस्तारो विस्मयः । विरागत्वादिना
निर्विकारमनस्त्वं क्षमः ।

शृङ्गारादिरसत्वेन स्थायिनो भावयन्ति ये ।

ते विभावानुभावो द्वौ सात्त्विकव्यभिचारिणौ ॥४॥

नाटकादिषु काव्यार्थां पश्यतां शृण्वतां रसात् ।

विभावयेद् विभावश्चालम्बनोद्दीपनाद् द्विधा ॥५॥

दुःखके उत्कर्षको शोक कहते हैं । शत्रुओंके द्वारा किये हुए अपकारखालेके चित्तमें होने-
वाले दाहविशेषको क्रोध, सांसारिक उत्कृष्ट कार्योंमें किये जानेवाले अत्यन्त सुस्थिर
प्रयासको उत्साह, भयंकर वस्तुओंके दर्शन इत्यादिसे अनर्थकी आशंकाको भय, वस्तुओंके
दोषावलोकन आदिसे उत्पन्न घृणाको जुगुप्सा, विलक्षण वस्तुओंके देखने इत्यादिसे
उत्पन्न चित्तविस्तारको विस्मय एवं वैराग्य आदिके कारण भवकी निर्विकारताको
क्षम कहते हैं ।

जो स्थायी भावोंको शृंगार आदि रसोंके रूपमें भावित करते हैं, अर्थात् आस्वाद-
गोचर बनाते हैं, वे दो हैं—(१) विभाव और अनुभाव, (२) सात्त्विक और
व्यभिचारी ॥४॥

भाव, ज्ञान और क्रियाके बीचकी स्थिति है । यह एक प्रकारका विकार है ।
कोई विकार स्वयं उत्पन्न नहीं होता और न सहजमें उसका नाश होता है । एक
विकार दूसरे विकारोंको उत्पन्न करता है । जो व्यक्ति, पदार्थ वा बाह्य परिवर्तन या
विकार मानसिक भावोंको उत्पन्न करते हैं उनकी विभाव कहते हैं और जो शारीरिक
विकार क्रियाके प्रारम्भिक रूप होते हैं उन्हें अनुभाव कहते हैं । स्थायीभाव, संचारीभाव,
विभाव और अनुभाव ये चारों ही रसके अंग हैं ।

सात्त्विकभाव और संचारीभाव प्रायः एक हैं । कई अलंकारशास्त्रियोंने
सात्त्विकभावकी भणना संचारियोंके अन्वर्गत की है । सात्त्विकभावका अर्थ है कि
जिनकी उत्पत्ति सत्त्व अर्थात् शरीरसे हो, वे सात्त्विकभाव हैं । इनकी संख्या आठ
होती है ।

विभावका स्वरूप—

नाटक इत्यादिके देखनेवालों तथा काव्य आदिके सुननेवालोंके चित्तमें स्थित
रति आदि को जो आस्वादोत्पत्तिके योग्य बनाते हैं, उन्हें विभाव कहते हैं । विभाव दो
प्रकार हैं—आलम्बन और उद्दीपन ॥५॥

१. विलोकनादिभिः—ख । २. आलम्बनोद्दीपनो—ख ।

यानालम्ब्य रसो व्यक्तो भावा आलम्बनाश्च ते ।
 अत्योन्ध्यालम्बनत्वेन दम्पत्यादिषु ते स्थिताः ॥६॥
 रसस्योपादानहेतुरालम्बनभावः । उदाहरणम्—
 पादास्ताब्जा मुजङ्घास्तमदनशरविश्वञ्चद्रुवंस्तरम्भा-
 स्तरम्भाशुम्भन्नितम्बप्रजितमनसिजक्रोडनाद्रिः सुनाभि-
 प्रत्यारूपातस्मरक्रीडनवरसरसी श्रीकुचाद्यस्तसर्व-
 कामश्रीस्सा सुभद्रा निधिपतिरभवत् तत्पतिः केन वप्यो ॥७॥
 उद्दीप्यते रसो यैस्ते भावा उद्दीपना भताः ।
 शृङ्गारादौ स्पुरुद्यानचन्द्रिकासर आदयः ॥८॥
 रसस्य निमित्तहेतूद्दीपनभावः ।
 गुणालंकारचेष्टाः स्युरालम्बनगतास्तथा ।
 तदस्थारुचेति संप्रोक्ताः चतुर्धोद्दीपनस्थितिः ॥९॥

आलम्बन विभाव का स्वरूप—

जिन्हें आलम्बन कर—आधार बनाकर रस अभिव्यक्त होता है, उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं । ये आलम्बन विभाव परस्पर एक दूसरेके आधार—आलम्बन होनेके कारण दम्पति आदिमें रहते हैं ॥६॥

रसके उत्पादक हेतुको आलम्बन विभाव कहते हैं । यथा—अपने पैरोसे कमलकी शोभाको तिरस्कृत करनेवाली, सुन्दर जंघासे कामदेवके सरकशको परास्त करनेवाली, सुन्दर ऊरुसे कदलोस्तम्भकी शोभाको हरण करनेवाली, कमनीय गोल नितम्बसे कामदेवके क्रीडा-पर्वतको जीतनेवाली, गहरी नाभिसे कामदेवके अत्यन्त रमणोय सरोवरको तिरस्कृत करने वाली एवं अपने कमनीय स्तनोंसे कामदेवको श्रोको समाप्त करनेवाली उस सुभद्रा और उसके पतिका वीन वर्णन कर सकता है ॥७॥

उद्दीपन विभावका स्वरूप—

जिन भावोंसे रस उद्दीप्त—आस्वादन-योग्य होता है, उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं । जैसे—शृंगार इत्यादि रसोंमें उद्यान, चन्द्रिका, सरोवर, एकान्त स्थान आदि उद्दीपन होते हैं ॥८॥

रसके निमित्तकारणको उद्दीपन विभाव कहते हैं ।

उद्दीपनकी चार प्रकारकी स्थिति—

आलम्बन—नायक, नायिकामें स्थित गुण, अलंकार, चेष्टा तथा तदस्थता इस प्रकार चार प्रकारकी उद्दीपनकी स्थिति मानी गयी है ॥९॥

१. रसस्यालम्बनहेतु—ख । २. सरसि—ख । ३. कामश्री स्यात्—ख । ४. वप्यो—ख ।
 ५. रसस्य उद्दीपनहेतुः—ख । ६. चतुर्थो—ख ।

आलम्बनगुणः कायवयोरूपादिशोभनम् । उदाहरणम्—

मुक्तागुणच्छायमिषेण तन्वया रसेन लावण्यमयेन पूर्णं ।

नाभिहृदे नाथनिवेशितेन विलोचनेनानिमिषेण जज्ञे ॥१०॥

मुक्तादामच्छाविः । छायाशब्दस्य समासवशान्नपुंस्त्वे^१ ह्रस्वत्वम् । मिषेण व्याजेन । रसेन अमृतेन । अनिमिषेण निमेषरहितेन मत्स्येन च जज्ञे जातम् ।

हारनूपुरकेयूरप्रभृतिस्तदलंक्रिया । उदाहरणम्—

अमर्षणायाः श्रवणावतंसमपाङ्गविद्युद्विनिवर्तनेन ।

स्मरेण कोशादवकृष्यमाणं रथाङ्गमुर्वीपतिराशशङ्के ॥११॥

*अमर्षणायाः कटाक्षच्युतेः पुनर्व्यवर्तनेन रथाङ्गं चक्रायुधम् । तच्छ्रेष्ठा वयसा जातभावहावादिकं यथा—

रहस्यु वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः सहासगर्जाः क्षितिपालवध्वाः ।

सकोपकन्दर्पधनुःप्रमुक्तशरीषट्ङ्काररवा इवाभूः ॥१२॥

आलम्बनके गुण—

सुन्दर शरीर, युवा अवस्था, विभिन्न सुन्दर शारीरिक चेषाएँ, रूप-लावण्य इत्यादि आलम्बनके गुण हैं । यथा—कृशांगीके मोतीकी चमकके प्रतिदिम्बके बहाने अत्यधिक लावण्ययुक्त रससे परिपूर्ण नाभिरूपी सरोवरमें प्रियतमके द्वारा प्रवेश कराये हुए नयन निमेषरहित हो गये ॥१०॥

मोतियोंकी मालाकी चमकके समान कान्ति । छाया शब्दको समासमें नपुंसक होनेसे ह्रस्व हुआ है । मिषेण = बहानेसे । रसेन = अमृतसे । अनिमिषेण = निमेष रहित । मीन हो गये ।

नायिकाओंके अलंकार—

हार, नूपुर, केयूर प्रभृति नायिकाओंके अलंकार हैं । उदाहरण—

राजाने विद्युत् रूपी नयन कोणके चुमानेसे असहनशील मानिनोंके कर्ण भूषणको कामदेव द्वारा तरकशसे धौंवा हुआ चक्रायुध है, ऐसी आशंका की ॥११॥

असहनशीलाका कटाक्ष कान्तिके परिवर्तन करनेसे चक्रायुध माना गया है ।

तच्छ्रेष्ठा—अवस्थाके अनुसार हावभाव आदि होते हैं । यथा—एकान्त में, रानीके वस्त्रोंके आकर्षणमें प्रवृत्त हास्य-युक्त शब्द, क्रुद्ध कामके धनुषसे छोड़े हुए बाणके समूहमें टुंकार शब्दके समान सुशोभित हुए ॥१२॥

१. नपुंसकत्वे—क-ख । २. अमर्षणायाः प्रणयकोपवत्याः श्रवणावतंसं कर्षणम् । अपाङ्गे-त्यादि । निजपार्श्वस्थितं पतिं सामर्षणं निरोक्ष्य तदा पत्रवित् कर्णक्षितंसायाः कटाक्षच्युतेः—क-ख ।

पिकेन्दुमैन्दवाताद्यास्तटस्थाः कथिता यथा ।
चक्रद्याश्लेषधियं कर्तुं विस्रस्तकुचवाससि ।
वध्वां पारावतस्तावन्नुकूज मणितध्वनीः ॥१३॥
रसोऽनुभूयते भावैर्येऽल्पन्तोऽनुभावरसैः ।
तेऽनुभावा निगद्यन्ते कटाक्षादिस्तनुद्भवः ॥१४॥

उदाहरणम्—

श्रीमद्भिः सत्कटाक्षैर्मनसिजतरलैर्हीजडैर्दन्तकान्ति-
श्रीमन्मन्दप्रहासद्विगुणधवलिमश्रीभिरङ्गेषु लग्नैः ।
श्रीवध्वा तत्सुसंगव्यपगमनभिया रज्जुभी राजतीभि-
र्वद्धो वासी रराजे शयनतलगतः सार्वभौमः सुसौम्यः ॥१५॥
सत्त्वं हि चेतसो वृत्तिस्तत्र जातास्तु सात्त्विकाः ।
स्युस्ते च स्पर्शनालापनितम्बस्फालनादिषु ॥१६॥
रोमहर्षणवैस्वर्यस्वेदस्तम्भालयोऽश्रु च ।
कम्पो वैवर्ण्यमित्यष्टौ सात्त्विकाः परिभाषिताः ॥१७॥

कोयल, चन्द्र, मन्द वायु इत्यादि तटस्थ कहे गये हैं । यथा—चक्रवर्ती भरत
आलिंगन विषयक बुद्धि उत्पन्न करने हेतु नायिकाके वक्षस्यलका वस्त्र हटा ही रहा था
कि पारावत मधुर ध्वनिसे कूज उठा ॥१३॥

अनुभावरस स्वरूप—

उत्पन्न रस जिन अनुभव कराने वाले भावोंसे अनुभूत होता है उन कटाक्ष
इत्यादि शरीरमें उत्पन्न होने वाले भावोंको अनुभाव कहा जाता है ॥१४॥

यथा—सुन्दर, कामसे चंचल, लज्जासे जड़, मन्द-मन्द हास द्वारा दाँतोंकी
कान्तिकी दुमुनी धवलिमासे सुशोभित, अंगोंमें लगे हुए सुन्दर बाँदोंकी डीरोके समान
कटाक्षोंसे उसके संगमके दूर होनेकी आशंकासे सुन्दर वधू द्वारा बाँधे गयेके समान
बिछोना पर स्थित सौम्य वधू सार्वभौम सुशोभित हुआ ॥१५॥

सत्त्व और सात्त्विकका स्वरूप—

चित्तकी वृत्तिकी सत्त्व कहते हैं । उसमें होने वाले भावोंको सात्त्विक कहते हैं ।
सात्त्विक भाव नायक-नायिकाके परस्पर स्पर्श, वार्तालाप, नितम्बस्फालन इत्यादिमें
होते हैं ॥१६॥

सात्त्विक भावके भेद —

रोमांच (रोमहर्षण), वैस्वर्य, स्वेद, स्तम्भ (जड़ता), लय, अश्रु, कम्प
और वैवर्ण्य ये आठ सात्त्विक भाव कहे गये हैं ॥१७॥

१. मन्दवत्याद्याः—ख । २. ध्वनिः—ख, 'ध्वनीन्' होना चाहिए । ३. व्यपगतमनभिया—ख ।
४. वासा—ख ।

एषां स्वरूपमुदाहरणं च—

रोमाञ्चः पुलकोत्पत्तिः सुखाद्यतिशयाद्यथा ।

पुलकव्याजतस्तं सा द्रष्टुं सर्वाङ्गदृक्त्वभूत् ॥१८॥

वैस्वर्यं^१ तद्गदालापः प्रमोदाद्यद्भ्रुवो यथा ।

^२रत्यङ्गे गद्गदोक्त्यर्थः स्मरेणापि न निश्चितः ॥१९॥

रत्यातपादिसंजातः स्वेदस्तनुजलोद्गमः ।

स्मरेण कीर्णपुष्पा वा तदङ्गे चर्मविन्दवः ॥२०॥

भोतिरागादिना स्तम्भः कायनिष्क्रियता यथा ।

चक्रिलग्नदृशः कान्ताः प्रतिमा इव भित्तिगाः ॥२१॥

सुखदुःखादिनाक्षाणां मूर्च्छनं प्रलयो दृढम् ।

चक्र्यालोकनतः स्त्रीणां मूर्च्छन्तीन्द्रियसंचयः ॥२२॥

साहित्यदर्पणमें आचार्य विश्वनाथ ने (१) स्तम्भ (२) स्वेद (३) रोमांच (४) स्वरभंग (५) वेपथु (६) वैवर्ण्य (७) अश्रु और (८) लय इन आठ सात्त्विक भावोंका उल्लेख किया है ।

साहित्यिक भावके भेदोंका स्वरूप—

रोमांच—हर्ष, विस्मय, भय आदिके कारण रोंगटोंके खड़े होनेको रोमांच कहते हैं । यथा—बहु नायिका उस नायकको देखनेके लिए रोमांचके वहाने सत्रांगमें नयनमय हो गयी अर्थात् उसके शरीरमें रोंगटे नहीं खड़े हुए, अपितु उसका सारा शरीर ही नयनमय हो गया ॥१८॥

वैस्वर्य—अत्यधिक आनन्द, हर्ष, पीड़ा आदिके कारण उत्पन्न गद्गद आलापको वैस्वर्य कहते हैं । जैसे—सुरतिके समय होनेवाली गद्गद वाणीका अर्थ तो कामदेव भी नहीं जान सका ॥१९॥

स्वेद—रतिप्रसंग, आतप (धूप), परिश्रम आदिके कारण शरीरसे निकल पड़नेवाले जलको स्वेद कहते हैं । जैसे—उस नायिकाके अंगोंमें कामदेवने फूल बिछा दिये अबदा उसके अंगोंमें पसीनाके जलकण हैं ॥२०॥

स्तम्भ—भय, राग, हर्ष आदिके कारण शरीरके व्यापारोंके रुक जानेको स्तम्भ कहते हैं । जैसे—चक्रवर्ती भरतके शरीरकी ओर दृष्टिपात करती हुई रमणियाँ भित्तिपर लक्ष्मीर्ण मूर्तियोंके समान सुशोभित हुई ॥२१॥

लय—सुख या दुःख इत्यादिके कारण इन्द्रियोंकी सुस्थताकी प्रलय या लय कहते हैं । यथा—चक्रवर्ती भरतके अवलोकन-मात्रसे स्त्रियोंकी इन्द्रियाँ मोहित हो गयीं ॥२२॥

१. गद्गदालाप—ख । २. रत्यन्ते—ख ।

^१दोषरोषातिदुःखाद्यैरश्रुनेत्रोदकं यथा ।
 वासगेहं गते नाथे स्नातानन्दाश्रुभिः सती ॥२३॥
 भीरोषतोषणादिभ्यः कम्पोऽङ्गीकम्पनं यथा ।
 चक्रिभोतेऽब्बिगे शत्रौ तत्कम्पात् स च कम्पते ॥२४॥
 मदरोषविषादादेवैवर्ण्यं भिन्नवर्णता ।
 चक्रचर्कं भासमानेऽरेरास्यं ^२ध्वान्तग्रहं व्यभात् ॥२५॥
 उद्भवन्त्यः ^३प्रणश्यन्त्यो वीचयोऽब्धौ तथात्मनि ।
 बहुधा संचरन्तो ये भावाः संचारिणो मताः ॥२६॥
 भी-शंका-ग्लानि-चिन्ता-श्रम-धृति-जडता-गर्व-निर्वेददैन्य-
 क्रोधेर्ष्या-हर्षितौघ्य-स्मृतिमरणमैथोद्बोधनिद्राबहिर्त्याः ।
 तर्कह्यावेगमोहाः सुमतिरलसता भ्रान्त्यपस्माररोगाः
 सुप्त्योत्सुष्ये विषादो भवति चपलता ते त्रयस्त्रिंशदुक्ताः ॥२७॥

अश्रु—दोष, रोष तथा अति दुःख इत्यादिसे उत्पन्न नेत्रजलको अश्रु कहते हैं ।
 यथा—स्वामीके विलास भवनमें जानेपर पतिव्रता आनन्दके अश्रुओंसे नहा गयी ॥२३॥

कम्प—भय, क्रोध, सन्तोष इत्यादिसे उत्पन्न होनेवाली शरीरकी कंपकंपीको कम्प कहते हैं । यथा -- चक्रवर्ती भरतके भयके मारे उनके शत्रु समुद्रमें डूब गये और उनके काँपनेसे समुद्रका जल भी कम्पित होने लगा ॥२४॥

वैवर्ण्य—मद, क्रोध, दुःख और आश्चर्य आदिके कारण मुखके वर्णमें विकृति हो जानेको वैवर्ण्य कहते हैं । यथा—चक्रवर्ती रूपी सूर्यके देदीप्यमान होनेपर शत्रुका मुख अन्धकारसे वसित होनेके समान काला प्रतीत हुआ ॥२५॥

संचारी भावका स्वरूप—

जिस प्रकार समुद्रमें लहरें उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं उसी प्रकार आत्मामें अनेक तरहसे संचरण करनेवाले भाव संचारी भाव कहलाते हैं ॥२६॥

संचारी भावोंको व्यभिचारी भाव भी कहा जाता है । ये स्थायी भावके अनुकूल रहते हुए भी कभी प्रकट और कभी विलीन हो जाते हैं । ये स्थायी भावके सहायक और पोषक होनेके कारण अनुकूलतासे व्याप्त रहते हैं । इनके व्यभिचारी भाव कहे जानेका कारण यही है कि एक ही भाव भिन्न-भिन्न रसोंके साथ पाया जाता है ।

संचारीभावोंके भेद—

(१) भय (२) शंका (३) ग्लानि (४) श्रम (५) धृति (६) जडता (७) गर्व (८) निर्वेद (९) दैन्य (१०) क्रोध (११) ईर्ष्या (१२) हर्ष (१३) स्मृति (१४) मरण

१. तोषरोषादि-क । तोषरोषाति-ख । २. ध्वान्तग्रहम्-क-ख । ३. प्रणश्यन्त्य-ख ।
 ४. मदीद्बोधनिद्रा-ख ।

एषां स्वरूपमुदाहरणं च—

भीराकस्मिकसंत्रासाच्चित्तसंक्षोभणं यथा ।

क्रोडन्ती सरसीशानं सालिलिङ्गधनध्वनेः ॥२८॥

रोषादिकारणं शङ्कानिष्ठाभ्यागमशङ्कनम् ।

मनोऽस्तोशिनि रोमाञ्चदौलिभिः किमबोधि तत् ॥२९॥

मनो मे पत्यो निष्पन्दमास्ते तन्मनः सखीभिः पुलकैरवबुद्धं

किमिति शङ्का ।

वैवर्ण्यरतिहेतुर्या ग्लानिः शक्त्यपचेतृता ।

भृभृज्जिब्रष्णमुपावकोरुयमरक्षः श्रीप्रचेतो जगत्-

प्राणश्रीदमहेडनेकपमहार्भोगेशसत्कच्छपाः ।

भर्त्तरिः सकला भुवोऽपि विधिना ये स्थापितास्तेऽप्ययं

घतुं भोरसि तं क्षमास्मि कदलीभ्रमांतिमृद्धि ध्रुवम् ॥३०॥

(१५) उद्बोध (१६) निद्रा (१७) अवहित्या (१८) तर्क (१९) लज्जा (२०) आवेग
(२१) मोह (२२) सुमति (२३) अलसता (२४) भ्रान्ति (२५) अपस्मार (२६) चिन्ता
(२७) रोग (२८) सुप्ति (२९) औत्सुक्य (३०) विषाद (३१) चपलता (३२) औग्र्य
और (३३) कार्पण्य ये ३३ संचारीभाव हैं ॥२७॥

संचारीभावोंके स्वरूप और उदाहरण—

भीः (भय)—अकस्मात् उपस्थित भयके कारण होनेवाले चित्तविक्षेपको 'भीः' कहते हैं । जैसे—तालाबमें क्रीड़ा करती पावतीने भेजके गर्जनसे भयभीत होकर शिवका आलिमन किया ॥२८॥

शंका—रोष इत्यादिके कारण अनभिमत वस्तुको प्राप्तिके सन्देहको शंका कहते हैं । यथा—मेरा मन चक्रवर्तीमें लगा है, इस तथ्यको मेरे रोमांचसे राखियोंने जान लिया है क्या ? ॥२९॥

मेरा मन पतिमें सुस्थिर है, मेरे इस मनको रोमांचके कारण क्या राखियोंने जान लिया है, यह शंका है ।

ग्लानि—चेहरपर उदासी और दुःखके कारण जो शक्तिकी क्षीणता है, उसे ग्लानि कहते हैं । यथा—पर्वत, इन्द्र, अग्नि, महाशक्तिशाली थम, नैर्ऋत, वरुण, वायु, कुबेर, शिव, दिग्गज, शेष और कच्छप इत्यादि जो भी भुवनाधिपति ब्रह्माके द्वारा निर्मित हैं, वे सभी इस चक्रवर्तीके स्वरूप ही हैं । अतएव कदलीके भीतरी हिस्सेके समान कोमल शरीरवाली मैं इसे निश्चित रूपसे कैसे धारण कर सकती हूँ ॥३०॥

१. दलिभिः—ख । २. भोगीश—ख ।

कुलपर्वताः भूपोषकाश्च । इन्द्रो जयशीलश्च । अग्निः पवित्रश्च । उरुः
यावज्जीवधृतव्रतश्च । नैऋतः रक्षतीति रक्षा श्रौर्यस्य । जरि जरस्त्वेवेति
विकल्पितलुक्त्वात् । वरुणः प्रकृष्टं चेतो यस्य च । वायुः लोकं प्राणयत्युज्जीव-
यतीति च । अनेकानाश्रितान् पातीति । कं सुखं च्छतीति कच्छः दरिद्रस्तं
पातीति च । सर्वभूवां पालका धर्तारश्च ये त एव चक्री ।

शून्यत्वतापकृच्चिन्ता स्वेष्टानभिगमस्मृतिः ।

प्रियानुबद्धचित्ता सा न पश्यति न वक्ति च ॥३१॥

स्वेदोत्कर्षणकृत्खेदो मार्गस्त्यादिजः श्रमः ।

स्त्रिन्नाड्यनिलवाञ्छागाद्रतान्ते लुलितालका ॥३२॥

वासगेहाद् बहिर्गता ।

बोधाभीष्टागमाद् येन मनोनिःस्पृहता भृतिः ।

भरते कृतकृत्या सा मन्यते तृणवज्जगत् ॥३३॥

इष्टानिष्टागमोद्भूता जाड्यमप्रतिपत्तिघोः ।

चक्रिण्यभ्यागते तुष्टा नाभ्युत्थानोपचारकृत् ॥३४॥

भूमत् = कुलपर्वत, पृथ्वीपोषक । जिष्णु = इन्द्र तथा विजयशील ।
पावक = अग्नि, पवित्र । उरुः = महान्, जीवन-भर अतको धारण करनेवाला । रक्षः =
निरति, रक्षा है श्री जिसकी । 'जरि जरस्त्वे वा' सूत्रसे विकल्पसे लुक् हुआ है । प्रचेतः =
वरुण अथवा प्रकृष्ट चित्त है जिसका । जगत्प्राणः = वायु या लोकमें पहुँचाने या जिलाने-
वाला । अनेकप = विगज या अनेकको पोसनेवाला । कच्छः = कपठ अथवा दरिद्रोंका
पोषक । भुवः धर्तारः = सम्पूर्ण पृथ्वीका पालक या धारण करनेवाला । उक्त विशेषणोंसे
विशिष्ट जो हैं, वे ही चक्री हैं ।

चिन्ता—अभिमत जनकी अप्रामि और उससे उत्पन्न शून्यता, ताप, उद्विग्न
करनेवाली स्थिति विशेषको चिन्ता कहते हैं । यथा—त्रिथतममें संसक्त चित्तवाली वह
नायिका न तो देखती है और न बोलती है ॥३१॥

श्रम—मार्ग चलने या सुरति इत्यादिसे उत्पन्न स्वेद, स्वासका तेजीसे चलना,
शैथिल्य, थकावट इत्यादि उत्पन्न करनेवालेको श्रम कहते हैं । यथा—सुरतिके अन्तमें
अस्त-व्यस्त केशवाली, स्वेदसे आर्द्र नायिका पवनसेवनकी इच्छासे वातायनकी ओर
गयी ॥३२॥

विलास-भवनसे बाहर गयी ।

भृति—उत्स्वज्ञान, साहस एवं इष्टके आगमन इत्यादिसे मनकी निस्पृहताको भृति
कहते हैं । यथा—भरतमें सफल मनोरथवाली वह नायिका संसारकी तृणके समान
समझती है ॥३३॥

जाड्य—अभिमत या अनभिमत वस्तुके आगमनसे उत्पन्न विवेकशून्यता—

आत्मोत्कषोऽन्यधेवकाराद् गर्वः शीयंश्लोदिजः ।
 समाग्रे नृपकीटानां स्थितिः केति जयोऽगदीत् ॥३५॥
 निर्वेदोऽफलधीर्दुःखेष्यातिस्वप्रजतादितः ।
 दैन्यचिन्ताःश्रुनिश्वासाः संभवन्त्यत्र तद् यथा ॥३६॥
 कर्पूरेण कृतं हिमांशुकिरणैः किं चन्दनैः किं विसैः
 पर्याप्तं भृगनाभिभिः किसलयैः किं मन्दवातेरलम् ।
 हारेणालमलं कुशेशयदलश्रीतालवृन्तेन किं
 तं चक्रेश्वरमौलिसर्वगुणिनं शीघ्रं त्वमाकारय ॥३७॥
 कार्पण्यं स्यादनीदृत्यं दैन्यं सत्त्वत्रिमोचनम् ।
 नद विकवर मा मा कूज पारावत स्वम्
 चिरय सदुदयात्रचन्तस्त्वमिन्दो सुवाहि ।

किं कर्तव्यमिदृशताको जाड्य कहते हैं । यथा—चक्रवर्ती भरतके आनेपर सन्तुष्ट नायिका
 स्वागत तथा उपचार न कर सकी, केवल टकटकी लगाकर देखती रह गयी ॥३४॥

गर्व—दूसरोंको घिक्कारने—दूसरोंको असितुच्छ समझने तथा अपने पराक्रम
 और बलसे उत्पन्न अपने उत्कर्षको गर्व कहते हैं । यथा—मेरे आगे कीटोंके समान अन्य
 राजाओंकी क्या भयादा है, इस प्रकार जयकुमारने कहा ॥३५॥

निर्वेद—दुःखा, ईर्ष्या, तत्त्वज्ञान, प्रज्ञा इत्यादिसे अपनेको व्यर्थ समझनेको
 बुद्धिको निर्वेद कहते हैं । इस निर्वेदके होनेपर चिन्ता, दीनता, अश्रुपतन, शीघ्र निश्वास
 इत्यादि मनोविकार उत्पन्न होते हैं । यथा— ॥३६॥

हे सखि ! कर्पूरको कोई आवश्यकता नहीं, चन्द्रमाकी किरणोंसे क्या ?
 चन्दनसे क्या ? विस—कमलतन्तुओंकी कोई आवश्यकता नहीं, नूतन रक्त आम्रपल्लवोंसे
 क्या ? मन्द पत्रकी क्या आवश्यकता ? हार भी बिलकुल बेकार है, कमलके पत्तोंके
 पंखेकी क्या आवश्यकता है ? हे सखि ! तू सर्वगुणसम्पन्न उस चक्रवर्ती भरतको
 शीघ्र बुलाकर ला ॥३७॥

कार्पण्य और दैन्य—

अनीदृत्यको कार्पण्य और पराक्रमसे रहित होनेको दैन्य कहते हैं । तात्पर्य यह
 है कि प्रसन्नताका न रहना कार्पण्य है और दुर्गति आधिके कारण उत्पन्न निस्तेजसिद्धता-
 को दैन्य कहा जाता है । कार्पण्यमें मुखपर प्रसन्नता नहीं रहती और दैन्यमें मुखपर
 मलिनता रहती है । यथा—हे कोयल ! मत बोली, मत कूबो । हे पारावत ! तुम ध्वनि
 मत करो । हे चन्द्रमा ! सुन्दर अभ्युदयसे युक्त जलके भीतर चिरकाल तक निवास

अनिल ससुरभे त्वं मेऽतिसंशिक्षयाशु
 स्मर पदनतिमेत्यानेतुमाली गतेशम् ॥३८॥
 क्रोधः कृतापराधेषु पुनः प्रज्वलनं यथा ।
 रे धावन्तु विदिक्षु दिक्षु यदि नो विधिष्यतेऽन्त्रोत्करः
 श्रोकौक्षेयककुक्षिघोटनभवो भक्ष्येत पक्ष्यादिभिः ।
 इत्याद्युक्तिकठोरताप्रकटितक्रोधानिलाः सद्भूरा-
 श्चक्रेशो दिषतोऽखिलास्तत इतः संकम्पयन्ति स्म ते ॥३९॥
 ईर्ष्या सा स्यात् परोत्कर्षासहिष्णुत्वं स्फुटं यथा ।
 तस्यां सर्वापि सम्पत्तिः किमत्रागम्यते सर ॥४०॥
 स्वेदकम्पादिकृद्धर्षः प्रसादस्तूरसत्रादितः ।
 कृतार्थाद्य भवाम्यस्य संगस्थोत्सवतोऽचिरात् ॥४१॥
 तर्जनादिकृदुग्रत्वं चण्डतागति वीक्षिते ।
 खण्डिताधर गच्छेति तर्जितोऽस्याः पदे नतः ॥४२॥

करो । हे सुगन्धित मन्द-मन्दवाही पवन ! तुम मुझे अच्छी तरह गति सिललाओ ।
 हे कामदेव ! तुम पैरोंपर गिरनेकी मुझे शिक्षा दो । स्वामीको लानेके लिए गयो हुई मेरी
 सखी आ रही है ॥३८॥

क्रोध—अपराध करनेवालोंपर पुनः-पुनः प्रज्वलित होनेको क्रोध कहते हैं अर्थात्
 अपराधोके प्रति पुनः-पुनः रोष उत्पन्न करना क्रोध है । यथा—रे कायरो ! दिशाओं
 और विदिशाओंके कोनोंमें तब तक भागो, जब तक तुम्हारे आँतोंका समूह फाड़कर फेंक
 दिया नहीं जाता अथवा तलवारसे युक्त कुक्षिका काटा हुआ मांस इत्यादि पक्षियोंके
 द्वारा खा लिया नहीं जाता । इस प्रकार हे चक्रवर्तिन् ! कठोरतासे अपनी क्रोधाग्निको
 प्रकट करनेवाले सम्पूर्ण सैनिक शत्रुओंको हथर-उधर कौपा रहे हैं ॥३९॥

ईर्ष्या—स्पष्टतः दूसरोंकी उन्नतिकी असहनशीलताको ईर्ष्या कहते हैं । यथा—
 प्रतिनायिकापर नायकके प्रेमको न सहन करती हुई कोई नायिका नायकसे कहती है कि
 सारो सम्पत्ति तो उसीके पास है, यहाँ क्यों आते हैं ? वहीं जाएँ ॥४०॥

हर्ष—उत्सव इत्यादिके कारण पसीना निकलना और कौपा देनेवाली प्रसन्नताको
 हर्ष कहते हैं । यथा—आज इस मिलनके उत्सवके पश्चात् मैं कृतकृत्य हो रही हूँ ॥४१॥

उग्रता—अपराध जान लेनेपर ताड़नादि कार्यसे युक्त चण्डताको उग्रता कहते हैं ।
 यथा—हे कटे हुए ओठवाले ! यहसि भागो । इस प्रकार नायिकासे डराया हुआ नायक
 उसके पैरोंपर गिर गया ॥४२॥

१. स्मर पदनति मे स्या नेतु-ख । २. कोपः-ख । ३. मनः प्रज्वलनम्- ख ।

४. -खप्रती स्म पदं नास्ति ।

स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविज्ञानं कथितं यथा ।
चकिन्तित्यमहोरस्थश्रीमुखं कोऽनु वर्णयेत् ।
यत्सकृत्परिरब्धाया मे सुखं वर्णनास्ति ॥४३॥

मरणाय प्रयत्नो यः सा मृतिः कथिता यथा ।

रथाङ्गैः अभियोगासहा कामिनी सा
विधत्ते श्रुतो कोकिलारावशक्ते ।

दृशाविन्दुदृष्टो तनुं मन्दवायु-
स्पृशं घ्राणमम्भोरुताघ्राणशैकम् ॥४४॥

मद्यादिविहितो मोहदृष्टिव्यतिकरो मदः ।

अयुक्तसंजल्पनवान् प्रमत्तः सभ्रान्तिरस्या मधुपः सुवक्षः ।

प्रविष्टवान् रागगतः सलीलं यथा त्रिसिन्या मधुपोऽन्तरङ्गम् ॥४५॥

स्मृति—पूर्व अनुभूत पदार्थोंकी यादगारको स्मृति कहते हैं । स्मृतिका अभि-
प्राय है कि पहले कभी अनुभवमें आयी हुई किसी वस्तुका पुनर्जाति । इसकी उत्पत्ति सतत
वस्तुके अनुभव अथवा चिन्तनसे होती है । कुछ विद्वान् स्वास्थ्य, चिन्तन, दृढ़ अभ्यास,
सदृशावलोकन आदि कारणोंसे स्मृतिका उद्भव मानते हैं । यथा—चक्रवर्ती भरतके नित्य
महावक्षपर स्थित लक्ष्मीके सुखका कौत वर्णन करे ? जिसने एक बार ही मुझे आलिंगन
किया था, वह सुख वर्णनातीत है ॥४३॥

मृति और मरण—विभोग इत्यादिसे उत्पन्न कष्टके कारण मरनेके लिए जो
प्रयत्न किया जाता है उसे मृति कहते हैं । प्राणत्यागका नाम मरण है । शरीरादिके
द्वारा यह सम्भव है और इसमें अंगभंग, शरीरपात हुआ करते हैं । मरणरूप व्यभिचारी
भावका वास्तविक अभिप्राय मृत्यु नहीं, अपितु मृत्युकी पूर्व अवस्था है । यह अवस्था
व्याधि, अभिघात आदि कारणोंसे उत्पन्न होती है । यथा—चक्रवर्ती भरतके वियोगको
सहनेमें असमर्थ कोई कामिनी कोयलके शब्दोंमें अपने कानोंको, चन्द्रबिम्बमें अपनी
आँखोंको, मन्द पवनके स्पर्शमें अपने शरीरको और कमल पुष्पोंके सूँघनेमें अपनी नासिका
को लगा रही है ॥४४॥

मद—मद्यपान इत्यादिसे प्राप्त मोहके साथ आनन्दके सम्मिश्रणको मद कहते
हैं । मद सोभाग्य, यौवन, गर्व आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है । यथा—अनाप-सनाप
शकता हुआ मतवाला खबरसहृष्ट युक्त रागी कोई मद्यपायी उस नायिकाके सुन्दर वक्ष-
स्थलमें लोलापूर्वक कैसे ही प्रविष्ट होता है जैसे मतवाला अमर कमलके पुष्पके भीतरी
भागमें प्रविष्ट होता है ॥४५॥

उद्बोधश्चेतनाप्राप्तिर्जम्भाक्षुन्मीलनादिकृत् ।

राशुन्मिषन्ति सन्मार्गं गते कुवलयश्रियः ॥४६॥

चेतोनिमीलनं निद्रा स्वप्नेषितनृपाधरत् !

व्यादत्ते च्चुम्बितुं स्वास्यं गगने मीलिताक्षपसौ ॥४७॥

अवहित्थाकृतेर्गुप्तिः ।

हारच्छविप्रेक्षणदम्भभाजि प्रपश्यति प्रेमभरेऽधिनाथे ।

कुचौ नतास्या हृदयातिहृष्टा क्षीमाञ्जलेन स्थगितौ व्यधात्सा ॥४८॥

(अवहित्थाकृतेर्गुप्तिः) संशयाद्बहुकल्पना ।

तर्कः संकोचनं चित्ते व्रीडा भङ्गकथादिभिः ॥४९॥

उद्बोध—निद्रा इत्यादिको दूर करनेवाले कारणोंसे उत्पन्न चैतन्य-लाभको उद्बोध कहते हैं । उद्बोधमें चेतनाकी पुनः प्राप्ति होती है । इसमें जंभाई लेना, आँख खोलना, अवलोकन करना इत्यादि कार्य होते हैं । यथा—राजाके सन्मार्गपर चलनेपर पृथ्वीमण्डलकी श्रीका विकास होता है अथवा चन्द्रमाके उदय होनेपर कुमुदिनीका विकास होता है ॥४६॥

निद्रा—परिश्रम इत्यादिसे उत्पन्न चित्तका बाह्य विषयोंसे पृथक् होना अथवा चित्तकी निवृत्तता या निश्चेष्टता निद्रा है । यथा—आँखोंको बन्द की हुई कोई नायिका स्वप्नमें अवलोकित किसी प्रियतमके अधरका पान करनेके लिए आकाशमें अपने मुखको खोलती है ॥४७॥

अवहित्था—भय या लज्जा इत्यादिके कारण आकृतिके अवगूहनको अवहित्था कहते हैं । अवहित्थाका अभिप्राय है प्रसन्न मुद्रा, काममुद्रा आदिको छिपाना । इसके कारण भय, लज्जा, गौरव आदि हैं । यथा—वृद्धस्वल्पपर सुशोभित हारके देखनेके लोंग करनेवाले प्रेमसे भरपूर प्रियतमके देखते रहनेपर हृदयमें अतिप्रसन्न होती हुई वह कामिनी नीचे मुख किये हुई रेशमी वस्त्रके अंजलके कोनेसे अपने स्तनोंको आच्छादित करने लगी ॥४८॥

तर्क—किसी प्रकारके विचार उठनेपर सन्देह होनेसे की जानेवाली अनेक प्रकारकी कल्पनाको तर्क कहते हैं । तर्कका अभिप्राय है सन्देहके कारण उत्पन्न विचार ।

व्रीडा—पराजय इत्यादिकी चर्चके कारण चित्तमें उत्पन्न होनेवाले संकोचको व्रीडा कहते हैं । यह दुराचरणके कारण शिष्ट व्यक्तिमें उत्पन्न होती है । सिर नीचा होना, मुँहका रंग उड़ना आदि विकार व्रीडामें उत्पन्न होते हैं ॥४९॥ यथा—

लक्ष्मीर्वक्षसि भारती च वदने बाहो च वीरेन्द्रिरा
कुत्रासा इति पृष्ठया वरयशो दूत्या निधीनां पतेः ।
सत्कायान्तरितोरितं न भणितस्तत्र प्रवेशक्रमः
कीदृशः स कियान् कियत्सदर्वाधः कोऽयं त्वितीयं स्थिता ॥५०॥

त्रैलोक्यं धवलं मयाजनि तथाप्येषोऽमराद्रिश्चछवि
हैमी न त्यजतीति दुग्धजलघो स्वाङ्गं ह्रिया क्षालितम् ।
नो चेज्जन्मसंवेऽस्य वारिकलनात्सोऽद्रिर्वलक्षः कथं
कीर्तरेवमभिष्टुतो निधिपतेरयुत्तमाङ्गेनतम् ॥५१॥

चेतः सञ्चम आवेग इष्टानिष्टागमोद्भवः ।

कृत्वा दिग्विजयं पुरीं प्रविशति ब्रह्मात्मजे काचना-
वस्तस्तीरुकुचांशुकामणिमयस्तम्भं कराभ्यां धृतम् ।
भोत्प्रभ्यर्णगतं स्वनायकमिव प्रोत्तुङ्गगपीनस्तैनी
श्रोकामागमवेदिनी वसुधधूराह्व्य तं प्रेक्षते ॥५२॥

वधाःस्थलपर लक्ष्मी, मुखमें सरस्वती, बाहुमें वीरश्री कहाँ है, इस प्रकार पूछी हुई यशोदूतीने निधिपतिके सुन्दर शरीरमें स्थित हैं ऐसा कहा, किन्तु उनके प्रवेशका क्रम नहीं बतलाया । वह निषोच कैसा है ? कितना है ? कितनी उसकी अवधि है ? यह कौन है ? इस प्रकार पूछनेपर मौन रह गयी ॥५०॥

मैंने तीनों लोकोंको ध्वस्त कर दिया, तो भी यह सुमेरु सुवर्णमयी कान्तिको नहीं छोड़ता है । इस लज्जासे अपने अंगको क्षीर सागरमें धो लिया, नहीं तो जन्मके अभि-
षेकके समय इनके स्नानके जलके धारण करनेसे वह पर्वत श्वेत कैसे हुआ ? इस प्रकार निधिपतिकी कीर्तिकी प्रशंसा होनेपर शत्रुश्रीका मस्तक झुक गया ॥५१॥

आवेग—अचानक इष्ट या अनिष्टकी प्राप्तिसे होनेवाली चित्तकी व्याकुलताको आवेग कहते हैं । आवेगके कई भेद हैं—(१) हर्षज आवेग, (२) उत्पातज आवेग, (३) अग्निज आवेग, (४) राजद्रिद्रवज आवेग, (५) गजादि जन्य आवेग, (६) वायुज आवेग, (७) इष्टज आवेग, (८) अनिष्टज आवेग । इस प्रकार भिन्न-भिन्न निमित्तों से उत्पन्न कई प्रकारके आवेग हो सकते हैं । यथा—दिग्विजय कर ब्रह्मतनय श्री मरुतके अपनी नगरीमें प्रवेश करनेके समय विशाल स्तनोंसे स्खलित हुए वस्त्रवाली तथा अत्यन्त उच्च, सुदृढ़ स्तनवाली, शोभा-सम्पन्न कामदेव आ गये, इस बातको समझनेवाली कोई वारांगना दोनों हाथोंसे पकड़े हुए मणिमय स्तम्भको भयके मारे अपने पास आये हुए अपने नायकके समान उनपर चढ़कर देखने लगी ॥५२॥

१. कोऽयं त्वितीयम्—ख । २. जन्मसंवेद्य—ख । ३. स्तनि—ख । ४. वेदिनि—ख ।

भीदुःखावेशचिन्ताभिः त्वाम्लोहो मूर्च्छनं तथा ।

संप्रेक्ष्य दूतीश्चिरमत्यधीशे तदेन्दुपादैः प्रहता लताङ्गी ।

संप्रेषिता सान्तसखीव तं ताः संतजितुं मूर्च्छितमूर्त्तिरासीत् ॥५३॥

मतिरर्थविनिर्णोतिस्तत्त्वमार्गानुसंधितः ।

प्रतापश्चक्रिणः सोऽर्थं वह्निरेव न संशयः ।

यत्प्रवेशनमात्रेण निर्दग्धा रिपुसंततिः ॥५४॥

अलसत्वं तु कर्तव्ये या मन्दोद्यमता यथा

समास्तां गृह्ण्यापृती किवदन्ती स्वकायोपचारेऽपि मन्दप्रयत्ना ।

पिको पञ्चमोक्तिश्रुतिप्रेरिता सा बलात्कारतश्चक्रि कृत्ये प्रवृत्ता ॥५५॥

तुल्यवर्तनमुन्मादश्चेतनाचेतनेष्वपि ।

चक्रयानकध्वनिभ्रान्ता मन्त्रयन्तेऽरयो द्रुमेः ॥५६॥

मोह—भय, दुःख, चबराहट, चिन्ता इत्यादि कारणोंसे मूर्च्छित हो जाने या चित्तकी विकलताको मोह कहते हैं । यथा—वापस लौटती हुई दूतियोंको देखकर तथा प्रियतमको विलम्ब करते हुए देख वह लतांगी चन्द्र किरणोंसे बहुत सन्तापित हुई और पुनः उन्हें बुलानेके लिए मानो अन्तिम बार दूतीको उनके पास भेजा और उन्हें मयभौत करनेके लिए मूर्च्छित ही गयी ॥५३॥

मति—यथार्थ मार्गके अनुसन्धान इत्यादिके कारण किसी अर्थ-निर्णयको मति कहते हैं । मतिका वास्तविक अभिप्राय है वस्तुतत्त्वके निश्चयसे । इसके कारण नीति-मार्गके अनुसरण आदि हैं । इसके होनेपर मुसकराहट, धैर्य, सन्तोष और आत्मसम्मान आदि स्वभावतः हुआ करते हैं । यथा—वह यह चक्रवर्ती भरतका प्रताप अग्नि ही है, इसमें कोई संशय नहीं; जिसके प्रताप-भावसे शत्रु-समूह जलकर भस्म हो जाता है ॥५४॥

आलस्य—सामर्थ्य होनेपर भी अवश्य करने योग्य कार्यमें उत्साहहीनताको आलस्य कहते हैं । यथा—घरके कार्योंमें उसकी शिकायत है; यहाँ तक कि उसके शारीरिक कार्योंमें भी उसकी शिथिल प्रवृत्ति रहती है । कोयलके पंचम स्वरके सुननेसे प्रेरित वह बलपूर्वक चक्रवर्ती भरतके कार्योंमें प्रवृत्त हुई ॥५५॥

उन्माद—काम, शोक, भय इत्यादिके कारण चेतन और अचेतनमें समान व्यसहारको उन्माद कहते हैं । यथा—चक्रवर्ती भरतके रणवाद्यकी ध्वनिसे भ्रान्त शत्रु वृक्षोंके साथ परामर्श करते हैं ॥५६॥

१. लतांगि-ख । २. चित्तसखीव-ख । ३. स्वप्रती 'समास्तां' नास्ति ।

दुःखमोहादिना वेगोऽपस्मारः कायतापकृत् ।

निधिपतिविरहिण्यः स्वप्नतो वीक्ष्य चन्द्र-

मुदयगिरिनिषण्णं रक्ष मा वीक्ष पांसून् ।

इति वचनविधानाः संभ्रमोत्था लुठन्त्यः

स्वगृहभुवि सखीस्ता व्यस्तनाम्नाह्वयन्ति ॥५७॥

व्याधिर्ज्वराधिकस्तापश्चेतसोऽभिभवाद्यथा ।

स्वर्गगते चक्रिरणोऽरिवृन्दे सहप्रयातुं वनितास्तदीयाः ।

जाज्वल्यमाने मदनज्वराग्नि-कुण्डे पतन्ति स्म वपुर्निराशाः ॥५८॥

निद्रायास्तु समुद्रेकः सुप्तिः सा कथिता यथा ।

राज्ये समस्तेऽरिजयान्निवीश सुस्थे रिपुश्चो^१ स्वसितानिलेन ।

क्षोभद्वियुक्तोऽपि तदक्षिवाभिर्वाधिर्मुंरारेणं भिनत्ति निद्राम् ॥५९॥

अपस्मार—अवस्था विशेषमें काम, दुःख, मोह इत्यादि शरीरमें ज्वलन उत्पन्न करनेवाले वेग-विशेषको अपस्मार कहते हैं। अपस्मारका अर्थ वित्तकी विशिष्टता है। इसके कारण ग्रह, भूत, प्रेत आदिके आवेश हैं। अपस्मारके होनेपर पृथ्वीपर लोटना, मुँहसे क्षाग निकलना, पसीना निकलना, लार टपकना आदि हुआ करते हैं। यथा—निधिपति भरतकी विरहिणी स्त्रियाँ स्वप्नमें उदयाचलपर विद्यमान चन्द्रमाको देखकर कहती हैं कि हे चन्द्र ! अपनी किरणोंसे हमें मत जलाओ, बचाओ, हमें पापिनी मत समझो, इस प्रकार कहती हुई धरराहटसे उठती हैं और अपने भजनकी भूमिपर लोटती हैं तथा अपनी सखियोंका ऊटपटांग नाम लेती हुई पुकारती हैं ॥५७॥

व्याधि—नायक इत्यादिके अस्वीकृति रूप अपमानके कारण चित्तमें ज्वरादिकी अपेक्षा भी अधिक तापदायक रोग-विशेषको व्याधि कहते हैं। व्याधिका अभिप्राय है वात, पित्त आदिके प्रकोपसे ज्वर आदि रोगोंका होना। इसमें नीचे लोटना, कँपकँपी आदि विकार हुआ करते हैं। यथा—शक्रवर्ती भरत द्वारा युद्धमें शत्रु-समूहके मारे जानेपर अपने जीवनमें निराश जनको स्त्रियाँ अपने पतिश्रीके साथ जानेके लिए अत्यन्त प्रज्वलित कामाग्नि-कुण्डमें गिर रही हैं ॥५८॥

सुप्ति—निद्राके अतिशय आधिक्यको सुप्ति कहते हैं। यथा—हे निधीश ! शत्रुओंके ऊपर विजय प्राप्त कर लेनेके कारण सम्पूर्ण राज्यके सुस्थिर होनेपर शत्रु-नारियोंके निःश्वास-रूपी पवनसे क्षुब्ध एवं शत्रु-नारियोंके नयन जलसे वृद्धिगत समुद्र मुरारिकी निद्राको नहीं तोड़ रहा है ॥५९॥

१. रक्ष माविक्षिपांसून्-ख । २. इति वचनविधानास्तंभ्रमात्सी लुठन्त्यः-ख । ३. व्याधि-
र्जरादिभिश्चेतस्तापाद्यभिभवाद्यथा-ख । ४. स्वसितानिलेन-ख ।

कालासहनमौत्सुक्यं चेतस्तापत्वरादिकृत् ।

विनीता नगरोनार्यो विभूष्य कृतसंभ्रमाः ।

विलम्बितं सहन्ते स्म कुच्छ्रेण निधिपागमे ॥६०॥

उपायापायचिन्ताभिविषादो भञ्जितं हृदः ।

प्रेषितं चित्तमाह्वानुं लग्नं तत्रैव चक्रिणि ।

न स्मरते कति मां मूर्खता कर्तव्यं किं नु भोः सखि ॥६१॥

द्वेषरागादिसंभूता चापल्यं त्वनवस्थता ।

विलोक्य चक्रिणं कान्ता लोलदृङ्मृदुहासिनो ।

काञ्चीव्यावृत्तिनी कर्णपत्रसंस्पर्शिनो स्थिता ॥६२॥

सात्त्विका व्यभिचारिणश्चानेकरससाधारणत्वेन सामान्यापेक्षयोदाहृताः । तत्र विशेषः कथ्यते । शृङ्गारे ते सर्वे संभवन्ति । हास्येऽवहित्थान्स्लानिश्रम-
चापल्यहर्षाः । करुणे हर्षमदगर्ववृत्तिव्रीडोभ्रतौत्सुक्यरहिताः शेषाः । रौद्रे

औत्सुक्य—अभीष्टकी प्राप्तिमें विलम्बके असहनको औत्सुक्य कहते हैं । इसमें चित्तसन्ताप, आतुरता, क्षोभता इत्यादि होते हैं । यथा—अपनेको विभूषित कर आकुलता सहित विनम्र नगर-नारियाँ चक्रवर्ती भरतके आगमनके विलम्बको कठिनाईसे सहन करती थीं ॥६०॥

विषाद—इष्टप्राप्ति या अनिष्ट-निवारणमें उपायाभावको चिन्ता आदिके रहनेके कारण हृदयका टूट जाना अर्थात् उत्साहहीनताको विषाद कहते हैं । यथा—कोई नायिका कह रही है कि प्रियतम चक्रोको बुलानेके लिए अपने चित्तको भेजा, किन्तु वह वहाँ जाकर चक्रवर्ती भरतमें रम गया और यहाँ काम मुझे छोड़कर अन्यत्र जा नहीं रहा है । हे सखि ! अब मुझे क्या करना चाहिए ॥६१॥

चापल्य—मस्सर, द्वेष, राग आदिके कारण चित्तकी अनवस्थिति—अस्थिरता-को चापल्य कहते हैं । यथा—चक्रवर्ती भरतको देखकर चंचल नयनवाली और कोमल हास्यसे युक्त कोई कामिनी अपनी करधनीको इधर-उधर घुमाने तथा कर्ण-आभूषण आदिका स्पर्श करनेके कारण उनके सामने बहुत देरतक स्थित रह गयी ॥६२॥

सात्त्विक और व्यभिचारी भावोंके सम्बन्धमें विशेष कथन—सात्त्विक और व्यभिचारी भाव अनेक रसोंमें साधारणतया रहते हैं, अतएव सामान्यापेक्षया उनका सोदाहरण निरूपण किया गया है, अब उनमें विशेषता बतलायी जाती है—

शृंगार रसमें सभी सात्त्विक और व्यभिचारी भाव रह सकते हैं । हास्य रसमें अवहित्था, स्लानि, श्रम, चापल्य और हर्ष पाये जाते हैं । करुण रसमें हर्ष, मद, गर्व, घृति, व्रीडा, उग्रता एवं औत्सुक्यके अतिरिक्त सभी पाये जाते हैं । रौद्ररसमें शंका,

१. वेलासहन—ख । २. त्वनवस्थिता—ख ।

शंकारलानिदैन्यालस्यचिन्तात्रीडावेगविषादजडतानिद्रासुप्तिभयापस्मारावहित्थारोमोन्मादहीनाः शेषाः । वीरे निर्वेदसहिता रौद्रोक्ताः सर्वे । भयानके धृतिमदव्रीडागर्वसुप्तिनिद्राहर्षावहित्थामतीर्ष्याग्रतारहिताः शेषाः । बीभत्सेऽद्भुते च भयचिन्तादयो यथासंभवमूह्याः । शान्ते धृतिनिर्वेदौ ।

रसभावाभिनेतृत्वेऽधिकृते नर्तके रसाः ।

भावा न किं तु सभ्रेषु स्मृतपूर्वरसादिषु ॥६३॥

उद्देशक्रमाभावेऽपि रसनिरूपणस्य भावनिरूपणपूर्वत्वात् भावा उक्ताः ।

अथ दशावस्थाः शृङ्गाररसस्य अङ्कुरितत्वेपल्लवितत्वहेतवः कथ्यन्ते ।

रत्युल्लाससमुद्भावाः खलु दशावस्थाश्च चक्षुर्मनः

प्रीत्यासक्तियुगं पुनर्भुवि तथा संकल्पको जागरः ।

संप्रोक्ता तनुता तथा च विषयद्वेषश्चपा नाशनं

मोहो मूर्च्छनमप्यतो मृतिरिति प्रोक्ता दशा विच्युतेः ॥६४॥

शान्ति, दैन्य, आलस्य, चिन्ता, व्रीडा, आवेग, विषाद, जडता, निद्रा, सुप्ति, भय, अपस्मार, अवहित्था, रोग और उन्मादसे भिन्न शेष सभी पाये जाते हैं । वीर रसमें निर्वेदके साथ रौद्ररसमें गिताये भावोंके अतिरिक्त अन्य सभी व्यभिचारी भाव मिलते हैं । भयानक रसमें धृति, मद, व्रीडा, गर्व, सुप्ति, निद्रा, हर्ष, अवहित्था, मति, ईर्ष्या और उग्रतासे रहित अन्य सभी व्यभिचारी भाव पाये जाते हैं । बीभत्स और अद्भुत रसमें भय, चिन्ता इत्यादि यथासंभव अनेक रह सकते हैं । शान्त रसमें प्रायः धृति और निर्वेद भाव पाये जाते हैं ।

रसकी स्थिति—रस और भावका अभिनय करनेवाले अधिकारी नर्तकमें शृंगारादि रसोंकी स्थिति रहती है; पर पहले रस इत्यादिके स्मरण करनेवाले सभ्योंमें भाव नहीं रहते हैं ॥६३॥

उद्देश क्रमके नहीं रहनेपर भी रस-निरूपणमें भाव-निरूपण कारण है, अतएव भावोंका निरूपण पूर्व में किया गया है ।

इसके अनन्तर शृंगार रसको अङ्कुरित और पल्लवित करनेवाली कामजन्य दस अवस्थाओंका वर्णन करते हैं ।

कामकी दस अवस्थाएँ—रति और उल्लाससे उत्पन्न कामकी दस अवस्थाएँ हैं—(१) दृष्टिका अभीष्टमें लगना (२) मनका अभीष्टमें लगना (३) अभीष्टकी प्राप्तिके लिए मनमें संकल्पका होना (४) जागरण (५) कृतज्ञता (६) विषय-भात्रके प्रति द्वेषका होना (७) लज्जाका नाश (८) मोह (९) मूर्च्छा (१०) मृति—इस प्रकार आचार्योंने कामजन्य अवस्थाओंका वर्णन किया है ॥६४॥

आदरप्रेक्षणं यत्र चक्षुः प्रीतिर्यथा^१ पुनः ।
 सक्तिमुद्दुमुद्दुश्चिन्ता प्रतिकृत्यादिभिर्यथा ॥६५॥
 अधरस्तननाभ्यन्तश्रेणीचरणवीक्षणैः ।
 परावृत्तेक्षितैश्चक्रे सा तस्य स्मरदीपनम् ॥६६॥
 त्वद्रूपसाम्यमनसा करिसत्करो च
 मेरोः प्रवाहशिखरे शशिनं च^२ पथम् ।
 मेरुं नितम्बसुभगं विलिलेख^३ कान्ता
 त्वां लज्जिता मम पुरो विलिखन्त्यपीयम् ॥६७॥
 वाञ्छा शुभप्रियावाप्तौ संकल्पो भणितो यथा ।
 निद्राक्षयः प्रियालाभादनिशं जागरो यथा ॥६८॥
 तावारुहो च दुर्मोचप्रेमबन्धो मनोरथम् ।
 दुर्लभाश्लेषसंभोगफललाभार्थमथिनो ॥६९॥

चक्षुःप्रीति और आसक्ति—जहाँ नायक-नायिका परस्पर एक दूसरेको अत्यन्त आदरपूर्वक देखें उसे चक्षुःप्रीति कहते हैं । प्रतिकृति—चित्र इत्यादिके द्वारा नायकके रूप-लाक्षण्यको देखकर बार-बार उससे सम्बद्ध चिन्ताको आसक्ति कहते हैं ॥६५॥ यथा—

उसने घूमकर अबलोकन, अधर, स्तन, नाभिका भीतरो भाग, कमर, चरण, इत्यादिके दर्शनसे उसके हृदयमें कामवासनाकी प्रवृद्धि की ॥६६॥

कोई सखी या दूती किसी नायकसे नायिकाका वर्णन करती हुई कह रही है कि तुम्हारी कान्ताने तुम्हारे रूपकी सभताकी इच्छासे सुन्दर हाथीकी सूङ्गके समान दो बाहुओंको मेरुके प्रवाह शिखरपर स्थित चन्द्रमा और कमलको नितम्ब भागसे अत्यन्त शोभित होनेवाले मेरु पर्वतका चित्र बनाया । इस प्रकार मेरे समक्ष तुमसे व्याजसे तुम्हारा चित्र बनाती हुई वह लज्जित हो गयी ॥६७॥

संकल्प और जागरण—सुन्दर प्रिया या प्रियतम द्वारा परस्पर एक दूसरेकी प्राप्तिकी इच्छाको संकल्प कहते हैं तथा प्रिया-प्रियतमकी परस्पर प्राप्ति न होनेके कारण रात-दिन निद्राके न आनेका नाम जागरण है ॥६८॥ यथा—

अलम्य आलिंगन और संभोग रूपो फलके चाहने तथा अत्याज्य प्रीति बन्धन-धाले वे दोनों अपनी मनोभिलाषाकी पूर्तिके लिए आग्रही हैं ॥६९॥

१. यथा मनः—क । २. पथी—ख । ३. कान्ता स्थाने—लक्ष्मी 'तान्ती' पाठः ।
 ४. लाभत्वं—ख ।

कामिनी विरहतस्तवाब्रवीदित्यसौ निशि मुजागरादपि ।
 आलि मां रविकरात् स्रुतादिनीं रक्ष-रक्ष नृपशीतभानुना ॥७०॥
 कामज्वरेण कायस्य तापनं तनुता यथा ।
 भिन्नवस्त्वसहिष्णुत्वं विषयद्वेषणं यथा ॥७१॥
 नीलाब्जखण्डनृपते वनितेन्दुरेखा
 तन्वद्भिनी विबुधनुत्यमृतप्रपाना^३ ।
 पक्षद्वयेऽपि विरहात् परिवृद्धिहीना
 किं ते मनः कुमुदमीप्सति सुप्रवेष्टुम् ॥७२॥
 संगीतसंगिरमसौ सुनिशम्य भीता
 सख्यास्यदर्पणयुगं^४ न च पश्यतीयम् ।
 मुग्धा न निर्वसिति कोकिलचन्द्रबिम्ब-
 मन्दानिलाशयगता नृप मन्मथार्ता ॥७३॥

कोई सखी या दूती किसी नायकसे कह रही है कि हे भाग्यशालिन् ! तुम्हारे विरह और रात्रि जागरणसे पीड़ित वह कामिनी सूर्य-किरणके सम्पर्कसे अत्यन्त कष्ट भोगती हुई कहती है कि हे सखि ! मुझे उस नृपति रूपी चन्द्रमासे वचाओ ॥७०॥

कृशता और विषय-विद्वेषण—कामजन्य व्याधिसे शरीरमें होनेवाली पीड़ाको कृशता कहते हैं अर्थात् काम पीड़ासे शरीरमें जो क्षीणता उत्पन्न होती है, उसीका नाम कृशता है ।

परस्पर नायक-नायिकाके अभीष्ट वस्तुओंसे भिन्न वस्तुओंके देखनेकी इच्छाके अभावको विषय-विद्वेषण कहते हैं ॥७१॥ यथा—

हे नीलकमलके टुकड़ेके समान कान्तिवाले राजन् ! देवताओंसे प्रशंसित अमृत पानकी इच्छावाली कृशांगी वनितारूपी पतली चन्द्ररेखा दोनों पक्षोंमें वृद्धिहीन होकर तुम्हारे मनरूपो कुमुदके भीतर प्रवेश करना चाहती है । क्या कुमुदके समान स्वच्छ और शीतल तुम्हारे मनमें प्रवेश करनेके लिए ही इतनी दुर्बलांगी हो गयी है ॥७२॥

कोई सखी या दूती नायिकाकी अवस्थाओंका वर्णन करती हुई कहती है कि हे राजन् ! कामपीड़ित आपकी वह प्रेयसी संगीतकी मधुर ध्वनिको सुनकर भयभीत हो जाती है और सखीके द्वारा दिये गये दर्पणमें अपने मुखको नहीं देखती है । कामसे सतायी हुई वह मुग्धा कोयल, चन्द्र बिम्ब, मन्द पवन, जलाशयादिको देखनेपर भी श्वास नहीं लेती ।

अर्थात् संसारकी सभी सुन्दर वस्तुओंके प्रति उसे अरुचि हो गयी है, पर वह मुग्धा है, अतएव उसकी यह अरुचि सर्व-साधारण द्वारा प्रतीत होने योग्य नहीं ॥७३॥

१. सप्रती कामिनि । २. तानवम्-ख । ३. प्रपाना इत्यस्य स्थाने प्रवाहा-ख ।
 ४. च न-ख ।

त्रपानाशो 'गुरुत्वस्यागणनान्मानमोचनम् ।
मनोर्विकल्पतो मोहः स्यादुन्मादो यथा द्वयम् ॥७४॥

मन्दानिले^१ वहति गुञ्जति च द्विरेफे
मत्ते निकूजति पिके कलकूजनाद्ये ।
पारावते च नृप सा विजहाति मानं
गन्तुं पदे तव समिच्छति मन्मथार्ता ॥७५॥

^२माकन्दमञ्जुललतामवलम्ब्य मुग्धा
जल्पे हि पश्य वचनादनुनीय खिन्ना ।
आनेतुमक्षमतया गलदश्रुनेत्रा
कोपेन सा वसति भो वरचक्रभाणे ॥७६॥

मूर्च्छां सेन्द्रियर्विकल्पान् मुहुरजातृता यथा ।
प्राणहानिः प्रियालाभात् तत् क्षणं च मृतिर्यथा ॥७७॥

महू विषय-विद्वेषणका उदाहरण है ।

लज्जानाश और उन्माद—गुञ्जनोंको कोई परवाह न कर मान छोड़ देना
अर्थात् गुञ्जनोंके समझा ही आने-विषयके जानना प्रिय का विषयक लता परपर एक
दूसरेका गुणगान करना लज्जानाश है और मनकी अत्यधिक विकलताके कारण मोह
बुद्धिसे विपरीत कार्य-सम्पादन करना उन्माद है ॥७४॥ यथा—

किसी नायिकाकी लज्जा-नाश अवस्थाका वर्णन करती हुई कोई दूती कहती है
कि हे राजन् ! मन्द-मन्द पवनके बहनेपर, भ्रमरोंके गुंजार करनेपर तथा मधुर कूजनसे
व्यास भतवाले कोकिल और पारावतके कूजनेपर वह लज्जाको छोड़ देती है और काम-
पोषित होकर तुम्हारे चरणोंको सेवामें आना चाहती है ॥७५॥

हे श्रेष्ठ चक्रवर्तिन् ! तुममें आसक्त, उन्मादिनी वह तुम्हारी मुग्धा प्रियसी आज्ञाकी
सुन्दर लताको पकड़कर निश्चय ही मैं बोल रही हूँ देखो, इस प्रकार अनुनय करके
अत्यन्त दुःखी हो रही है । क्रोधके कारण आँसुसे विरन्तर आँसू बरसाती हुई समय-
दापन कर रही है ॥७६॥

मूर्च्छा और मृति—अभोधकी प्राप्ति न होनेपर हृद्भिषोंकी विकलताके कारण
होनेवाली अचेतनताको मूर्च्छा कहते हैं ।

प्रियजनकी प्राप्ति न होनेके कारण उसी क्षण होनेवाली प्राण-हानिको मृति
कहते हैं ॥७७॥ यथा—

१. गुरुत्वस्य गणना—ख । २. --सप्रती वहति पदं नास्ति । ३. माकुन्द—ख ।

आमीलिताम्बकयुगा मलयोज्ज्वोरु-
 इचर्चा स्खलत् प्रलपिता गलितोरुहारा ।
 मूर्च्छायुता कलयते सुरतान्त्यसौख्यं
 श्रीराजराजवनिता परिरम्भतां सा ॥७८॥
 अत्रान्तरे यदि न गच्छसि तत्समीपं
 श्रोत्रह्यसूनुनृपते मदनः कृशाङ्गीम् ।
 नेष्यत्यशेषवनितातिलकायमाना-
 मन्त्यां दशां सुमशरप्रतिजर्जराङ्गीम् ॥७९॥
 प्रलापसंस्वरयुक्ता द्वादशावस्था इति केचिदिच्छन्ति ।
 प्रियस्य गुणसंलापः प्रलापः कथितो यथा ।
 विरहात् तनुसंतापः संस्वरः कथितो यथा ॥८०॥
 कलासु निपुणः सौम्यो मधुरोक्तिर्मनोहरः ।
 स राजराज एवेति वचो गोष्ठी बधुष्वभूत् ॥८१॥
 मोघीकृतमृणालादिशीतोपचरणा बधूः ।
 विरहञ्चरसंतप्ता त्वन्मुखेन्दुं नृपेच्छति ॥८२॥

दोनों आँखोंको मूँदकर समस्त शरीरमें मलयगिरि चन्दनका लेप की हुई एक-
 एककर प्रलाप करनेवाली तथा बसस्थलसे गिरे हुए सुन्दर हारवाली मूर्च्छित वह प्रेमसी
 सुरतकी अन्तिम सोमाका सुख अचेतनावस्थामें भोग रही है । हे चक्रवर्तिन् ! अपनी
 प्रियतमाका आलिंगन कीजिए ॥७८॥

हे आदिनाथ भगवान्के पुत्र भरत महाराज ! इस स्थितिमें आप अपनी प्रिय-
 तमाके पास नहीं जाते तो कामदेव जगत्की स्त्रियोंमें सर्वश्रेष्ठ अपने बाणोंसे जर्जरोभूत
 शरीरवाली उस कृशाङ्गीको अन्तिम दशा—मृतिमें पहुँचा देगा ॥७९॥

कोई-कोई आचार्य प्रलाप और संस्वरको भी मिलाकर बारह प्रकारकी काम-
 दशाएँ मानते हैं ।

प्रलाप और संस्वर—प्रियतम या प्रियतमाके गुणोंके विषयमें निरन्तर बोलते
 रहनेको प्रलाप और प्रियतम या प्रियतमाके विरहसे होनेवाले शरीरके तापको संस्वर
 कहते हैं ॥८०॥ यथा—

सभी कलाओंमें कुशल, सुन्दर मृदुभाषी, मनको चुरानेवाला वह चक्रवर्ती ही
 है, इस प्रकार अन्तःपुरकी नारियोंमें निरन्तर चर्चा हो रही थी ॥८१॥

हे चक्रवर्तिन् ! जिसके विषयमें कमलका डंठल, पत्र, चन्दन हत्यादि शोशोपचार
 बिलकुल व्यर्थ हो गये । अतएव तुम्हारे विरहसे अत्यन्त तीव्र ज्वरसे सन्तप्त अंगवाली
 वह तुम्हारी प्रियतमा केवल तुम्हारे मुख-चन्द्रका दर्शन करना चाहती है ॥८२॥

१. मूर्च्छायुते कलायुते सुरतान्त—स । २. दयिता—स । ३. स्व प्रती वदन्ति ।

रसं जीवितभूतं तु ज्ञानधामं वृषेऽधुना ।
विभावादितुष्केण स्थायीभावः स्फुटो रसः ॥८३॥

नवनीतं यथाज्यत्वं प्राप्नोति परिपाकतः ।
स्थायीभावो विभावाद्यैः प्राप्नोति रसतां तथा ॥८४॥

अथ रसविशेषः ।
शृङ्गारो हास्यकरुणौ रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च रसाः स्थायिकमात्रव ॥८५॥

पोष्यते या रतिर्भाविः स शृङ्गाररसो मतः ।
संभोगविप्रलम्भाख्यभेदाभ्यां स द्विधा मतः ॥८६॥

संपदन्वितयोः कान्ताकामिनोर्युक्तयोर्मिथः ।
संभोगः संनिकर्षः स्यादुरसौख्यप्रदो यथा ॥८७॥

मुरारिरपि रुक्मिणीतनुलताद्विरेफस्तदा
चिरं रमितया तथा रमितरम्यमूर्तिनिशि ।

रसका स्वरूप—काव्यके आत्मा-स्वरूप रसका वर्णन करते हैं । वस्तुतः बड़े-बड़े प्रबन्धकाव्योंका आनन्द रससे ही प्राप्त होता है । विभाव, अनुभाव, संचारी आदि चारों भावोंके द्वारा व्यक्त स्थायी भाव ही रस रूपसे परिणत होता है ॥८३॥

जिस प्रकार परिपाक हो जानेसे नवनीत ही घृत रूपमें परिणत हो जाता है उसी प्रकार स्थायी भाव ही विभाव, अनुभाव और संचारी भाव इत्यादिके संयोगसे रस रूपमें परिणत हो जाता है ॥८४॥

रसभेद—(१) शृंगार (२) हास्य (३) करुण (४) रौद्र (५) वीर (६) भयानक (७) बीभत्स (८) अद्भुत और (९) शान्त ये नव रस स्थायी भावोंके क्रमानुसार माने गये हैं ॥८५॥

जो रति नामक स्थायी भाव-विभावादिके द्वारा पुष्ट किया जाता है वही शृंगार रस रूपमें परिणत हो जाता है । शृंगार सम्भोग और विप्रलम्भके भेदसे दो प्रकारका माना गया है ॥८६॥

सम्भोग शृंगार—माना प्रकारकी सम्पत्तिवाले तथा एक साथ रहनेवाले कान्त और कामिनीके अत्यधिक सुखप्रद सामीप्य सम्बन्धको सम्भोग शृंगार कहते हैं ॥८७॥ यथा—

तव श्री रुक्मिणी जी के शरीररूपी लताके अभिलाषो ध्रमरके समान रमण किये तथा सुन्दर शरीरधारे, सुगुन, सुदृढ़ प्रियतमाके कठोर पयोधर, भुजा, मुख

अशेत शयनस्थले मृदूनि गूढगूढाङ्गना-
घनस्तनभुजाननस्पर्शलब्धनिद्रासुखः ॥८८॥

संभोगस्यान्योन्यदर्शनस्पर्शनसङ्गान्चुम्बनालिङ्गनाइनेकव्यापारमयत्वेन
बहुत्वादेकविधत्वेन गणना कृता ।

अथालम्बनभेदाद् भेदः—

प्रच्छन्नश्च प्रकाशश्च संभोगः स द्विधा मतः ।

पण्याङ्गनायामन्यः स्यादनूढादिषु चादिमः ॥८९॥

स्वकीया परकीया च सथानूढा पणाङ्गना ।

आद्या त्रिवर्णिणश्चान्याः केवलस्मरसेविनः ॥९०॥

वन्धुपित्रादिसाक्ष्येण स्वकीया स्वकृता वधूः ।

दशाशौचक्षमाशीलसत्यादिगुणभूयिता ॥९१॥

इत्यादि अंगोंके स्पर्शसे अच्छी तरह निद्राको प्राप्त करनेवाले श्रीकृष्णने रात्रिमें बहुत देर तक रमण की हुई उस प्रियतमा श्रीरुक्मिणीके साथ अत्यन्त मृदुल विस्तरपर शयन किया ॥८८॥

नायक-नायिकाका परस्पर दर्शन, स्पर्शन, परस्पर प्रेमपूर्वक कथोपकथन, चुम्बन, आलिगन इत्यादि अनेक व्यापारमय होनेके कारण सम्भोग शृंगारके असंख्य भेद हो सकते हैं । अतएव विद्वानोंने इसे एक ही प्रकारका कहा है । यों तो आलम्बनके भेदसे सम्भोग शृंगारके भी दो भेद हैं ।

सम्भोग शृंगारके भेद—सम्भोग शृंगार आलम्बनके भेदसे दो प्रकारका माना गया है—(१) प्रच्छन्न सम्भोग और (२) प्रकाश सम्भोग । वेश्या इत्यादिमें प्रकाश सम्भोग और अविवाहिता—परकीयामें प्रच्छन्न सम्भोग माना गया है ॥८९॥

नायिकाओंके चार भेद—स्वकीया, परकीया, अनूढा और वारांगना इन चार प्रकारकी नायिकाओंमेंसे धर्म, अर्थ और काम चाहनेवालोंके लिए केवल स्वकीया सेवनीय है और विषय-वासनाको पूर्ति चाहने वालोंके लिए परकीया, अनूढा और वारांगना भी अभिलषणीय है ॥९०॥

स्वकीया नायिका—बन्धु-बान्धव, माता-पिता इत्यादिके साक्ष्यमें परिणीत दया, पवित्रता, सहनशीलता, सच्चरित्रता, सत्यवादिता इत्यादि गुणोंसे विभूयित नायिकाको विद्वानोंने स्वकीया नायिका कहा है ॥९१॥

१. स्पर्श शब्दके कारण यहाँ छन्दोभंग हो रहा है । २. खप्रती केवलम् । ३. स्त्रीकृता

अनुरक्ते सुरक्ते न स्वीकृते स्वयमेव ये ।
अनूढापरकीये ते भाषिते क्षिथिलव्रते ॥९२॥

अपि द्वे ते अनूढे च वाच्यभेदोऽस्ति चानयोः ।
प्रियमाल्यैव वक्त्येका स्वयमन्यापि कामुको ॥९३॥

प्रियं वल्लभमुपपत्तिमेकानूढाल्यैव सखीमुखेनैव वक्ति अन्या परकीया
अतिकामुकी सती स्वयमपि प्रियं वक्ति ।

साधारणाङ्गना वेश्या कपटोक्तिर्धनिप्रिया ।
मर्त्यायितत्वसीत्कारनाट्यगीतादिवेदिनी ॥९४॥

अभिलाषादिभिर्भेदैर्विप्रलम्भाऽप्यनेकधा ।
उदाहरणमेतेषामवस्थामु विलोकयताम् ॥९५॥

स्वाधीनपतिकाद्यवस्थामु ।
हासाल्यः स्थायिभावो यो विभावाद्यैः प्रगृह्यते ।
विदूषकाद्यैरालम्बैः प्रोक्तो हास्यरसो यथा ॥९६॥

परकीया और अनूढा—प्रेमांके द्वारा गुरुजनकी स्वीकृतिके दिना स्वयं स्वीकार की गयी, अत्यन्त प्रेम करनेवाली, चरित्र हीन कामुकोंको परकीया और अनूढा कहा गया है ॥९२॥

परकीयाके भेद—परकीया भी अनूढा ही होती है; पर इसके दो भेद हैं—एक तो अपने प्रियतमसे स्वयं कुछ नहीं कहती, केवल विश्वसनीय सखी द्वारा ही सब कुछ कहती है । दूसरी परकीया अत्यन्त विषयाभिलाषिणी होती है और स्वयं ही अपने प्रियतमसे बातचीत कर लेती है ॥९३॥

वारंगना—नानाविध छल-पृक्त वचन बोलनेवाली, घनिकोंके साथ प्रेम करनेवाली, विपरोक्ष रतिकी ज्ञाता, चीत्कार ध्वनि करनेवाली, नृत्य, अभिनय, गीत इत्यादि-की ज्ञाता और सर्वसामान्यकी उपभोग्या नायिकाको वारंगना कहा जाता है ॥९४॥

विप्रलम्भ शृङ्गार—अभिलाष इत्यादिके भेदसे विप्रलम्भ शृङ्गार अनक प्रकारका होता है । इनके उदाहरण नायक-नायिकाओंकी कामावस्थाओंके विवर्णमें विद्यमान हैं ॥९५॥

स्वाधीनपतिका आदि आठ नायिकाओंकी अवस्थाओंमें भी विप्रलम्भके उदाहरण पाये हैं ।

हास्यरस—जो विदूषक इत्यादि आलम्बन विभावादिकोंसे हास नामक स्थायीभाव परिपुष्ट किया जाता है, वह हास्य रस रूपमें परिणत हो जाता है ॥९६॥ यथा—

१. अपि कामुकी—ख ।

कन्तोः शास्त्रमधीत्य कोऽपि वृषलः पीनस्तनीं स्वस्त्रियं
केदारान्त्यगतां निधाय पशुवत् तद्योनिमाघ्राय च ।

^१व्यादायास्यमुपर्यवेक्षितग्दस्तावत्परेणायता-
गोवद्वृत्तिमता भुजेन निहतस्तत्तद्रतं दृष्टवान् ॥१७॥

तन्मुग्धत्ववेदिनाऽन्येन वृषलेन आगच्छता एकस्मिन् पशौ गामारोहति
सति अन्यः समागत्य तं निहत्य स्वयमाराहति यथा तथा वर्तमानेन निहत्य
निष्कासितः तयोः ^२पशुवद्वृत्तं दूरतो दृष्टवान् ।

अत्रोद्दीपनभावाः स्युस्तदालापकरक्रियाः ।

भावकेष्वनुभावाः स्युरक्षिविस्फालनादयः ॥१८॥

सात्त्विका अश्रुवैषण्यवैस्वर्याद्या निरूपिताः ।

कपोलाक्षिविकासि स्थातुर्गो मृदुभाषणम् ।

विदीर्णास्यशिरःकम्पि मध्यमे हसितं मतम् ॥१९॥

शिरःकम्पाश्रुमत्कायचलं सद्ब्रह्मविन्दुकम् ।

आनन्दशपनध्वान्तमधमे हसितं मतम् ॥१००॥

कोई शूद्र कन्तुके शास्त्र (कामशास्त्र) को पढ़कर कठोर पीनस्तनी अपनी
पत्नीको क्यारीके पास स्थितकर पशुके समान उसकी योनिको सूँघकर तथा मुख खोल-
कर दौत दिखा रहा था तब तक आते हुए पशुके समान व्यवहार करनेवाले किसी
अन्य व्यक्तिने अपने बाहुसे उसे मारा और उसने उन-उन प्रकारके रतों—मैथुनोंको
देखा ॥१७॥

उसकी सरलताको जाननेवाले आते हुए दूसरे शूद्रने पशुवत् आचरण कर प्रथम
व्यक्तिको मारकर भगा दिया, उसके बाद दूसरे प्रथम शूद्र व्यक्तिने दूसरे शूद्र व्यक्तिके
मानाविव रतोंको देखा ।

हास्यरसकी अन्य सामग्री—यहाँ हास्य रसमें आलम्बनका वार्तालाप और
हासकी क्रिया चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव हैं और उन्हीं आलम्बन विभावोंमें आँसु फाड़-फाड़-
कर देखना और नाता प्रकारसे उसे बचाना अनुभाव है ॥१८॥

उत्तम पुरुषमें कपोल और आँसुको विकसित कर देनेवाले कोमल भाषणका तथा
मध्यममें मुख खोलकर सिरको कंपाते हुए हसित इत्यादिका वर्णन किया जाता है ॥१९॥

अधम पुरुषमें मस्तकको हिला देनेवाले, आँसुओंमें अश्रु ला देनेवाले, सभस्त
शरीरको कम्पित कर देनेवाले, आनन्द और गाली इत्यादिक शब्दसे युक्त हसित होता
है ॥१००॥

पुष्टः शोको विभावाद्यः स एवं करुणो द्विधा ।

इष्टनाशादनिष्टाप्तेर्जातिरालम्बनं यथा ॥१०१॥

हा जगत्सुभग हा जगत्पते, हा जनाश्रयण हा जनार्दन ।

हापहाय गतवानसि क्व मां हानृजेहि लघु हेति चारुदत् ॥१०२॥

इष्टस्य विष्णोर्नाशेनात्र ।

हा निधीक्ष करुणाकर त्वया मोक्ष्यतां मम पतिः कुधोरयम् ।

त्वद्भटेन विहितासिपञ्जरे लग्नविग्रहतयातिदुःखितः ॥१०३॥

अत्रानिष्टस्यासिपञ्जरलग्नत्वस्य प्राप्त्या ।

स्वजनाक्रन्दनाद्याः स्युर्भावा उद्दीपना इह ।

अनुभावा विलापोष्णनिःश्वासरुदितादयः ॥१०४॥

सात्त्विकास्तम्भ^१वैवर्ण्य^२वैस्वर्याश्रुमुखा मताः ।

क्रोधः पुष्टो विभावाद्यः स रौद्ररसतां गतः ॥१०५॥

करुणरस—विभाव, अनुभाव इत्यादिते परिपुष्ट शोक ही करुण रसके रूपमें परिणत हो जाता है । यह दो प्रकारका होता है—(१) इष्ट जनके नाशसे उत्पन्न और (२) अनिष्टके संयोगसे उत्पन्न करुण रसका आलम्बन जातिको माना गया है ॥१०१॥ यथा—

हाय ! संसारमें सबसे सुन्दर ! हाय ! पृथ्वीके स्वामी ! हाय ! मनुष्योंके आश्रय देनेवाले, हाय ! जनार्दन ! मुझे छोड़कर कहीं चले गये । हे छोटे भाई ! जल्दी आओ । इस प्रकार अपने अनुजको मृत्युपर बलरामने विलाप किया ॥१०२॥

यहाँ इष्टजन विष्णु—कृष्णकी मृत्युपर विलाप करनेके कारण करुण रस है ।

हे निधिपति ! हे दयाके निधान ! तुम्हारे शिकोंके द्वारा बनाये हुए तलवारके पिजड़ेमें लगे हुए—बन्द शरीरके कारण अत्यन्त दुःखी और बुद्धिहीन मेरे पतिनो छुड़वा दीजिए ॥१०३॥

यहाँ अनिष्ट पंजरके शरीरमें लग्नतारूपी अनिष्ट प्राप्तिते करुण है ।

इस करुण रसमें आत्मीय मनुष्योंका विलाप आदि उद्दीपन हैं एक विलाप, गर्म, निःश्वास, रुदन इत्यादि अनुभाव हैं ॥१०४॥

करुण रसके सात्त्विक-भाव स्तम्भ वैवर्ण्य मुख, वर्णका परिवर्तित होना वैस्वर्य, गद्गद स्वर, अश्रुपतन इत्यादि करुण रसमें सात्त्विक भाव होते हैं ।

रौद्ररस—विभाव आदिते परिपुष्ट क्रोध नामक भाव ही रौद्र रसमें परिवर्तित होता है ॥१०५॥ यथा—

१. अत्रानिष्टस्थापि पञ्जर-रस । २. वैस्वर्यवैवर्ण्य-रस ।

हस्ताभ्यां किमु मृदनामि पूर्वदैरिणमेनकम् ।
खगेभ्यो नखनिभिन्नं खे बलिं विकिरामि किम् ॥१०६॥

१ अत्रालम्बनभावाः स्युर्नराद्याः द्वेषगोचराः ।
तद्व्यापाराभिलाषाद्या भावा उद्दीपना मताः ॥१०७॥

अनुभावाः शिरोऽक्षयोष्ठभ्रुकुटोस्पन्दनादयः ।
सात्त्विकाः स्वेदवैवर्ण्यवैस्वर्यप्रमुखा मताः ॥१०८॥

उत्साहो यो विभावः श्रेष्ठो वीररसो मताः ।
सोऽपि दानदयायुद्धभेदेन त्रिविधो यथा ॥१०९॥

अन्यागोचरसंपदस्ति ममतां धत्तां च सत्साधवो
नो गृह्णन्ति गृहाश्रमी च कसमः पूज्यो महासंपदा ।
ये साणुव्रतवृत्तयो गृहिवरास्ते तर्पणीया धनै-
रित्याचिन्त्य धनित्वमेषु कृतवांसचक्रयन्यजन्मन्यपि ॥११०॥

इस क्षुद्र शत्रुको हाथोंसे मसल डालूँ क्या ? अथवा नखोंसे काड़े हुए इसे आकाशमें पक्षियोंके लिए बलिके रूपमें छोड़ूँ क्या ? ॥१०६॥

रौद्ररसके आलम्बन और उद्दीपन—इसमें शत्रुता करनेवाले मनुष्य आदि आलम्बन तथा उनके कार्य-कलाप और इच्छा इत्यादि उद्दीपन विभाव होते हैं ॥१०७॥

रौद्ररसके अनुभाव और सात्त्विकभाव—इस रौद्ररसमें सिर, माँस, ओष्ठ, भौंह आदिका फड़कना, स्फुरित होना प्रभृति अनुभाव होते हैं । स्वेद, वैवर्ण्य, वैस्वर्य आदि सात्त्विक भाव होते हैं ॥१०८॥

वीररसका स्वरूप और उसके भेद—विभाव इत्यादिसे परिपुष्ट जो उत्साह नामक स्थायोभाव है वही वीररसके रूपमें परिणत हो जाता है । यह वीररस दान, दया और युद्ध वीरके भेदसे तीन प्रकारका होता है ॥१०९॥ यथा—

दूसरोंको न दिखलाई पड़नेवाली मेरे पास गुप्त सम्पत्ति है उसे ग्रहण करें । उसे यदि अपरिग्रही साथु ग्रहण नहीं करते हैं तो इतनी अधिक सम्पत्तिसे कौन गृहस्थप्रवर पूजने योग्य है । अणुव्रतको धारण करने वाले श्रेष्ठ गृहस्थोंको चक्रवर्तिनि अच्छी तरह सन्तुष्ट किया । इस तरह दान द्वारा चक्रवर्तिनि दूसरे जन्ममें भी अपनेको धनिक बनाये रखनेका उपाय किया ॥११०॥

१. अत्रालम्बना भावा—ख । २. नोराद्या—ख । ३. भ्रुकुटि—ख । ४. गृह्णाति—ख ।

श्रेयोमार्गानिभजानिह भवगहने जाज्वलद्दुःखदाव-
स्कन्धे चक्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान् ।

इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य-

प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपदमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽभ्यात् ॥१११॥

यत्तेजोऽनलैर्दुग्धनाकपतिगाद्यब्धिस्थदेवाधिपा

यत्पादद्युतिवारिसिक्तशमिता मेघस्वराख्यां गतः ।

तद्दत्तां मम गजितेन पतिता भूमौ कुलक्षमाभृत-

^३श्चक्रोत्पुंनिमेषैरुमात्परहित्वा अशान्तप्रभातेन का ॥११२॥

आलम्बस्तत्रये पात्रं^४ दीनवैरिश्रयं क्रमात् ।

उद्दीपो दानसुस्तोत्रैर्दानोक्त्याजिस्वनादयः ॥११३॥

अत्यधिक प्रज्वलित हुए दुःख रूपी वनाग्नि समूहवाले इस संसाररूपी घोर वन-
में परिभ्रमण करनेवाले, कल्याणमार्गसे च्युत, दुःखियोंका अत्यन्त आश्चर्य पूर्वक कौड़े
उद्धार कर्ते ? इस प्रकारके मस्तिष्कमें आनेवाले महान् अनुग्रह रससे संयुक्त भावना द्वारा
पुण्यसे प्राप्त वाक्यावलिसे ही भगवद्गीर्णोंको मुक्ति मार्गका जो निर्देश करते हैं वे भगवान्
बर्हन् हम लोगोंकी रक्षा करें ॥१११॥

जिसके तेजरूपी अग्निसे प्रज्वलित स्वर्गके अधिपति रूपी समुद्रमें देवताओंके
अधिपतिमोंने निवास किया तथा जिसके चरणके कान्तिरूपी जलसिंचनसे शान्त मेघेश्वर
इस नामको प्राप्त किया । चक्रवर्तीके समान केवल मेघ पर्वतको छोड़कर अन्य कुलाचल
गर्जनके साथ जमीनपर गिर पड़े, उन्हें स्रष्टित कीजिए । दूसरोंके वषकी क्या प्रशंसा
की जाये ॥११२॥

वीररसके आलम्बन और उद्दीपन विभाव—

उक्त तीनों प्रकारके वीररसोंमें क्रमशः दान देने योग्य व्यक्ति, दया करने योग्य
श्रीन और शत्रु ये तीन आलम्बन विभाव हैं । दानकी प्रशंसा, दीनकी उक्ति और युद्धके
शब्द इत्यादि उद्दीपन विभाव होते हैं ॥११३॥

वीररसके अनुभाव—

प्रसन्नता, अस्त्र इत्यादिका ग्रहण करना तथा इसके अतिरिक्त रोमांच आदिका
होना वीररसके अनुभाव है ।

१. शिवपदमुचिता नास्ति योऽर्हन् स नोऽभ्यात्—ख । २. दुग्धनाकपदिगाद्यब्धि—ख ।

३. -श्चक्रोत् । ४. दीन—ख । ५. दीनोक्त्या—क-ख ।

अनुभावः प्रसादोऽस्त्रग्रहोऽन्ये पुलकादयः ।
 भीः पुष्टा या विभावाद्यैर्भयानकरसो यथा ॥११४॥
 चक्रिवोरनितम्बिन्यः सूच्यभेद्यतमस्ततो ।
 गुहायां नेत्रभाभारं तमोहरममुक्षत ॥११५॥
 दैरिभल्लूकरुर्गद्या भया आलम्बन- मतः ।
 उद्दीपना विभावास्तु मतास्तद्गर्जितादयः ॥११६॥
 अनुभावा दिगालोककण्ठशोषस्त्रलदगिरः ।
 अष्टौ च सात्त्विकाः सर्वे दैन्याद्याः व्यभिचारिणः ॥११७॥
 जुगुप्सैव च तैः पुष्टा स बीभत्सरसो द्विधा ।
 जुगुप्स्याः लोकवैराग्यभेदाभ्यां स मतो यथा ॥११८॥
 भूप त्वद्पादसेवादिमुखरिपुगणस्त्वत्क्रपाणप्रघात-
 प्रोद्भूतारुः स्रवच्छोणितसहितमहापूतिपूयार्द्रकायः ।

भयानकरस—

विभाव इत्यादिके द्वारा परिपुष्ट भय स्थायीभाव ही भयानक रसके रूपमें परि-
णत हो जाता है ॥११४॥ यथा—

चक्रवर्ती भरतके शत्रुओंकी युद्धतियोने गाढ़ अन्धकार समूहवाली गुफाओंमें नेत्र
कान्ति समूहहृषी प्रकाश—सूर्यको छोड़ा ॥११५॥

भयानक रसके आलम्बन और उद्दीपन विभाव—

शत्रु, भालू, सर्प इत्यादि भयानक रसमें आलम्बन होते हैं तथा इनके गर्जन
आदि उद्दीपन विभाव माने गये हैं ॥११६॥

भयानक रसके अनुभाव और व्यभिचारी भाव—

दिशाओंको देखना, कण्ठका सूखना, रुक-ठककर बोलना आदि आठों सात्त्विक-
भाव भयानक रसमें अनुभाव होते हैं तथा दैन्य इत्यादि सभी व्यभिचारी भाव माने
गये हैं ॥११७॥

बीभत्सरस—विभाव, अनुभाव आदिसे परिपुष्ट जुगुप्सा ही बीभत्सरस है ।
घृणायोग्य पदार्थोंके अवलोकन तथा वैराग्यके कारण इसके दो भेद माने गये हैं
॥११८॥ यथा—

हे राजन् ! तुम्हारे चरणोंकी सेवासे विमुख स्रगुण तुम्हारी तलवारके आघातसे
निकले हुए तथा बहुत अधिक रक्तके साथ अत्यन्त दुर्गन्धमुक्त पीवसे आर्द्र देहवाले, राज्य

१. तमोहरममुक्षत—ख । २. उद्दीपनविभावास्तु—ख । ३. गर्जनादयः—ख । ४.—खप्रती
सहितपदं नास्ति ।

नीराज्यो यत्र तत्र प्रवसति जनता दुर्जुगुप्स्यश्च तस्मा-
त्तस्मान्निष्कासितोऽभूत्तनुमलकलितो विस्रयन् सर्वकाष्ठाः ॥११९॥

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य
नाडोन्नयनं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य ।

प्रच्छन्नपातुकमनङ्गमहाहिरन्ध्र-
माहुर्वृधा जघनरन्ध्रमधः सुदत्याः ॥१२०॥

आलम्बनविभावा ये जुगुप्स्यपुरुषादयः ।
उद्दोपनविभावाः स्युर्व्रणगन्धादयस्त्रिवह ॥१२१॥

नासाच्छ्रदत्तवेगाद्या अनुभावास्तु सार्विकाः ।
पुलकाद्यास्तु निर्वेदप्रमुखा व्यभिचारिणः ॥१२२॥

विभावाद्यैस्तु यः पुष्टो विस्मयः साऽद्भुता यथा ।
चक्रे नेत्रे च सूतोऽपरपरसमयो वाजिनः सूतभेदाः
सूताभिन्नो रथो च त्रिजगति नियता जग्रा रथो वायुत्तत्वम् ।

रहित, जनतासे तिरस्कृत, इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं तथा ये शरीरके मलको धारण किए हुए सभी पिशाचोंके दुर्गन्धनाश करनेके हुए उन उन स्थानोंसे निकल गये हैं ॥११९॥

विद्वानोंने रमणियोंके बराङ्गको विषयी मानवोंका वर्चोगृह—मलमूत्रत्यागस्थान, कामके अस्त्रका नाडीग्रण, कठिन निवृत्तिरूपी पर्वतकी युग कन्दरा तथा कामरूपी सर्पका भयंकर बिल कहा है ॥१२०॥

श्रीमत्स्य रसके आलम्बन और उद्दोपन विभाव—

बोभत्सरसमें घृणा करने योग्य पुरुष आदि आलम्बन विभाव है तथा ग्रण, दुर्गन्धि, पीष इत्यादि उद्दोपन विभाव होते हैं ॥१२१॥

श्रीमत्स्यरसके सार्विक और व्यभिचारी भाव—

बोभत्सरसमें नाकको बन्द करना, वेग इत्यादि तथा रोमांच आदि सार्विक भाव हैं । निर्वेद इत्यादि व्यभिचारी भाव होते हैं ॥१२२॥

अद्भुतरस—विभाव, अनुभाव इत्यादिसे परिपुष्ट विस्मय स्थायीभाव ही अद्भुतरसके रूपमें परिणत हो जाता है । यथा—

जिसमें दृष्टि ही चक्र है, पूर्वापर समय ही सारथि है, शुद्धाशुद्ध, सद्भूतासद्भूत, निश्चय व्यवहाररूपी नय ही घोड़े हैं, भावी जिन ही रथो है, तीनों लोकोंमें निश्चित दया ही घनुषकी प्रत्यंघा है, वायुत्तत्व—निःसंगत्व ही रथ है, अत्यन्त स्थिर ध्यान ही

बाणः स्थेमस्थसूतो मनसिजजनकः कामुकं सूतदृश्यं

स्वादृश्यं लक्ष्यचक्रं रणमिदमवतु प्रस्तुतं प्राणिवृन्दम् ॥१२३॥

नेत्रे दृष्टी भेदाभेदसम्यक्त्वे च । अपरपरसमयः पूर्वापरकालः । अपरस्य स्वमतस्य परस्य परमतस्य समयो ज्ञानं श्रुतज्ञानमित्यर्थः । सूतभेदाः श्रुतविकल्पा शुद्धाशुद्धसद्भूतासद्भूतनिश्चयव्यवहारा तथाश्चत्वारः । सूताभिन्नः श्रुतात् कथञ्चिदभिन्नो भाविजिनः । त्रिजगति नियता सर्वत्र नियमेन वृत्ता दया । वायुत्त्वं वायोरिव निस्संगत्वमात्मनः स्वरूपम् । स्थेमस्थसूतः स्थिरतरश्रुतबोधः ध्यानमित्यर्थः । मनसिजजनकः विष्णुः पक्षे मनसिजो^३ विशुद्धिपरिणामस्तदुत्पादकश्चित्तविशेषः क्लिष्टं मन इत्यर्थः । सूतदृश्यं श्रुतज्ञानस्य ह्यम् । स्वादृश्यं स्वेन रथिना व्याघ्रादृश्यं कर्म चक्षुराद्यगोचरत्वात् ।

शास्त्रिणां चित्तचमत्कारि वस्त्वालम्बनमीरितम् ।

उद्दीपनविभावोऽरमहोजल्पादिवर्णनम् ॥१२४॥

अनुभावाः कपोलाक्षिविकासाद्यास्तु सात्त्विकाः ।

प्रस्वेदपुलकाद्याः स्युः प्रोक्ता हर्षादियः परे ॥१२५॥

बाण है, कामकी उत्पन्न करनेवाला मन ही वनुष है, श्रुतिज्ञानसे दृष्टव्य, ध्यानसे अदृश्य, दिव्यार्थ देने योग्य चक्रवाला प्रस्तुत यह युद्ध प्राणिमात्रकी रक्षा करे ॥१२३॥

नेत्रे = दृष्टि, भेद, अभेद और सम्यक्त्व । अपरपरसमयः = पूर्व और पर समय । अपरस्य = अपने मत का । परस्य = दूसरेके मतका । समयः = ज्ञान अर्थात् श्रुतज्ञान । सूतभेदाः = श्रुत, विकल्प या शुद्धाशुद्ध, सद्भूतासद्भूत, निश्चयव्यवहार आदि चार नय । सूताभिन्नः = श्रुतसे कथञ्चित् अभिन्न—भाविजिन । त्रिजगतिनियता = तीनों लोकमें निश्चित ध्यात दया । वायुत्त्वम् = हवाके समान संग रहित अर्थात् निःसंगत्व । स्थेमस्थसूतः = सुस्थिर ध्यान । मनसिजजनकः = मन या विष्णुः । सूतदृश्यम् = श्रुतज्ञानसे प्रत्यक्ष । स्वादृश्यम् = ध्यान करनेवालेसे अदृश्य, कर्मचक्षु इत्यादिसे अगोचर ।

अद्भुत रसके आलम्बन और उद्दीपन विभाव—

विद्वानोंके चित्तको चमत्कृत कर देनेवाले पदार्थ इस अद्भुत रसके आलम्बन तथा शोभता, उत्सव, जल्प—व्यर्थवातालाप इत्यादिके वर्णन उद्दीपन विभाव माने गये हैं ॥१२४॥

अद्भुत रसके अनुभाव और व्यभिचारी भाव—

कपोल, नेत्र इत्यादिके विकास आदि तथा प्रस्वेद, रोमाञ्च, गद्गदम्बर इत्यादि इस अद्भुत रसके अनुभाव हैं और हर्ष, औरसुक्य आदि व्यभिचारी भाव कहे गये

शमः पुष्टो विभावाद्यैरेव शान्तरसो यथा ।
 पुत्रं पौत्रं कलत्रं श्रियमपि निखिलां प्राणिनां भ्रान्तिहेतुं
 भुक्त्वा लोलायमानं कपिवदपि मनःश्रीपुरोरङ्घ्रियुग्मे ।
 रुध्वाहन्त्यं सुखाढ्यं कलुषततिहरं भावयन्पापशत्रुं
 जेतुं कोणे वसामि क्वचिद्गुह्ययतः किं परैः पापिसंगैः ॥१२६॥
 आलम्बनविभावाः स्युराहन्त्यपदवीमुखाः ।
 उद्दीपनास्त्वनेकान्तशास्त्रसंभाषणादयः ॥१२७॥
 अनुभावोऽत्र भाष्येत सर्वत्र समदर्शिता ।
 निष्पन्दतादयः सूक्ताः सात्त्विका मुनिसत्तमैः ॥१२८॥
 निर्वेदो धृतिरुद्बोधस्तर्कः स्मृतिमती तथा ।
 इति संचारिणो भावाः स्युः शान्तरसनामके ॥१२९॥

शान्तरस—विभाव, अनुभाव आदिसे परिपुष्ट 'शम' नामक स्थायी भाव ही शान्तरसके रूपमें परिणत हो जाता है । यथा—

प्राणियोंको इस संसारमें भ्रान्त करनेके कारणस्वरूप पुत्र, पौत्र, भार्या, सम्पूर्ण-सम्पत्तिको भी छोड़कर वानरतुल्य चञ्चल मनको आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेवके दोनों चरणोंमें अवरुद्ध करता है और सुखशान्तिसे परिपूर्ण पाप समूहको नष्ट करनेवाले आगम शास्त्रको उपादेय मानता है तथा कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेके लिए शान्ति-परिपूर्ण किसी एकान्त स्थानमें निवास करता है । यतः शत्रुस्वरूप पापियोंकी संगतिसे क्या लाभ है ? ॥१२६॥

शान्तरसके आलम्बन और उद्दीपन विभाव—

जिनेन्द्र भगवान्के चरण आदि शान्तरसके आलम्बन विभाव तथा अनेकान्त शास्त्रके अध्ययन करनेवालोंके साथ वार्तालाप करना आदि उद्दीपन विभाव है ॥१२७॥

शान्तरसके अनुभाव और सात्त्विक भाव—

इस शान्तरसमें सर्वत्र समदर्शिता अनुभाव है और श्रेष्ठ मुनियोंने इसमें निष्पन्दता आदिको सात्त्विक भाव कहा है ॥१२८॥

शान्तरसके व्यभिचारी भाव—

शान्तरसके नाथकमें निर्वेद, धृति, उद्बोध, तर्क, स्मृति और मति ये व्यभिचारी भाव होते हैं ॥१२९॥

१. कलुषतटहरम्—ख । २. वसामः—ख । ३. निष्पन्दत्वादयः ख ।

उभौ शृङ्गारबीभत्सो द्वौ च वीरभयानकौ ।
 उभौ रौद्राद्भुतौ हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः ॥१३०॥
 शृङ्गारजनितो हास्यो रौद्रोत्पन्नः करुणो मतः ।
 अद्भुतो जायते वीराद् बीभत्सान्ध्र भयानकः ॥१३१॥
 शान्तः सर्वोत्कृष्टत्वात् केनचिन्मैत्रीं विरोधं च न लभते ।
 जीवस्य परिणामत्वात् रसो रक्ततादिभाक् ।
 तथापि काव्यमार्गेण कथ्यते तत् क्रमोऽधुना ॥१३२॥
 श्यामाभो विष्णुरिन्दुद्युतिरिभ्रवदनस्त्वट्कषायो यमो वै
 रक्तो रुद्रोऽपि गौरत्विडपि सुरपतिर्धूम्रवर्णो महादिः ।
 कालो नीलश्च नन्दी कनकरुचिरजः शुभ्रवर्णः परादि
 ब्रह्मा शृङ्गारमुख्ये क्रमत इह मतो वर्णभेदोऽर्ध^३दैवम् ॥१३३॥

रसोंका परस्पर विरोध—

शृंगार और बीभत्स; वीर और भयानक; रौद्र और अद्भुत; हास्य और करुण ये परस्पर विरोधी रस हैं ॥१३०॥

रसोंकी निष्पत्तिका हेतु—

हास्यरसकी निष्पत्ति शृंगाररससे; करुणको रौद्ररससे; अद्भुतकी वीररससे; और भयानककी निष्पत्ति बीभत्सरससे होती है ॥१३१॥

सभी रसोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ होनेके कारण शान्तरसका किसी रससे मैत्रीभाव या विरोध नहीं है ।

अर्थापि जीवका परिणाम होनेके कारण शृंगार आदि रसोंमें रक्त, श्याम आदि वर्ण नहीं हो सकते, तो भी काव्यकी पद्धतिके अनुसार उनका लक्ष वर्णन करते हैं ॥१३२॥

रसोंके वर्ण और देवता—

शृंगाररसका वर्ण श्याम और देवता विष्णु हैं । हास्यरसका वर्ण चन्द्रमाके समान शुभ्र और देवता गणपति हैं । करुण रसका वर्ण कपोत चित्रित और देवता यमराज हैं । रौद्ररसका वर्ण रक्त और देवता रुद्र हैं । वीररसका वर्ण गौरकान्ति और देवता इन्द्र हैं । भयानकरसका वर्ण धूम्र और देवता महाकाल हैं । बीभत्सरसका वर्ण नील और देवता काल हैं । अद्भुतरसका वर्ण सुवर्णके समान पीत और देवता ब्रह्मा हैं । शान्तरसका वर्ण श्वेत और देवता शान्तभूति परादि ब्रह्म हैं ॥१३३॥

१. परिणामत्वात्—ख । २. कालोनीलश्च नन्दित—ख । ३. देवम्—ख ।

गुणसंश्लिष्टशब्दोपसंदर्भो रीतिरिष्यते ।
 त्रिविधा सेति वैदर्भी गौडी पाञ्चालिका तथा ॥१३४॥
 मुक्तसंदर्भपाठ्यान्तिदीर्घसमासिका ।
 उज्ज्वला कठिनैः शब्दैर्वैदर्भी भणिता यथा ॥१३५॥
 प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितिः
 प्रास्ताशः प्रतिभापरः प्रज्ञमवान् प्रागेव दृष्टोत्तरः ।
 प्रायः प्रवृत्तसहः प्रभुः परमनोहारो परानिन्दया
 ब्रूयाद्धर्मकथां गणो गुणनिधिः प्रस्पष्टमृष्टाक्षरः ॥१३६॥
 ओजःकान्तिगुणा पूर्णा या सा गौडी मता यथा ।
 श्रोमन्नसुरामुराधिपचलन्मौलिप्रभास्वन्मणि-
 श्रेणो श्राणितसंततार्घ्यविभवो यत्पादपीठीतटः ।

रीतिका स्वरूप और उसके भेद—

गुणसहित सुगठित शब्दावलिपुक्त सन्दर्भको रीति कहते हैं । रीतिका अर्थ विशिष्टलेखन पद्धति है । संस्कृतके अन्य आचार्योंने भी विशिष्ट पद-रचनाको रीति कहा है । यह विशिष्टता गुणोंपर आधारित है । वस्तुतः रीति वह रचना पद्धति है जिसका सम्बन्ध समाससे है ।

रीतिके तीन भेद हैं—(१) वैदर्भी (२) गौडी (३) पाञ्चाली ॥१३४॥

वैदर्भी रीति—सन्दर्भके पाठ्य—काठिन्यसे रहित छोटे-छोटे समासवाली तथा कर्कश शब्दावलिसे रहित रीतिको वैदर्भी रीति कहते हैं ॥१३५॥ यथा—

जो त्रिकालवर्ती पदार्थोंको विषय करनेवाला प्रज्ञासे सहित है, समस्त शास्त्रोंको जान चुका है, लोक व्यवहारसे परिचित है, अर्थज्ञान, पूजा, प्रतिष्ठा आदिकी दृष्ट्यासे रहित है, नवीन-नवीन कल्पनाकी सत्कारूप अथवा शोभ्य उत्तर देनेकी योग्यतारूप उत्कृष्ट प्रतिभासे सम्पन्न है, शान्त है, प्रवृत्त करनेके पूर्व ही जैसे प्रवृत्तके उपस्थित होनेकी सम्भावनासे उसके उत्तरको देख चुका है, प्रायः अनेक प्रकारके प्रवृत्तोंके उपस्थित होनेपर उनको सहन करनेवाला अर्थात् न तो उनसे धक्का और न उत्तेजित हो होता है, श्रोताओंके ऊपर प्रभाव डालनेवाला है, उनके मनको आकर्षित करने वाला है अथवा उगके मनोगत भावोंको जाननेवाला है तथा उत्तमोत्तम अनेक गुणोंका स्थानभूत है ऐसा संघका स्वामी आचार्य दूसरोंको निन्दा न करके स्पष्ट एवं मधुर शब्दोंमें उपदेश देनेका अधिकारी होता है ॥१३६॥

गौडी रीति और उसका उदाहरण—

जो ओज गुण और कान्तिगुणोंसे परिपूर्ण हो उसे गौडीरीति कहते हैं । यथा—

लक्ष्मोयुक्त, विनम्रदेश तथा दानार्थोंके अधिपतियोंके चञ्चल मुकुटोंमें अटित चमकती हुई मणियोंकी श्रेणीसे जिसका पादपीठ निरन्तर अर्घ्य देनेसे भास्वर सम्पत्तिवाला

वाचोयुक्तिविविक्तवस्तुविसरो दुष्कर्मनिमूलनो
जीयात्सूरिसुभाषिताजितमहः सोऽयं जिनेन्द्रप्रभुः ॥१२७॥

उक्तरीत्युभयात्मा तु पाञ्चालीति मता यथा ।

न स्नेहाच्छरणं प्रयाञ्चि भगवन् पादद्वयं ते प्रजा

हेतुस्तत्र विचित्रदुःखनिचयः संसारघोरार्णवः ।

अत्यन्तस्फुरदुग्ररश्मिनिकरव्याकीर्णभूमण्डलो

श्रेष्ठमः कारयतीन्दुपादसलिलच्छायानुरागं रविः ॥१३८॥

प्रसादादिसर्वगुणपूर्णा असमस्ता द्वित्रिपदसमस्ता वा वर्गद्वितीयाक्षर-
प्रचुरा स्वल्पघोषाक्षरा वैदर्भी । समस्तात्युद्धटपदा महाप्राणाक्षरा कान्त्योजो-
गुणा गौडो । समस्तपञ्चषपदा ओजःकान्तिसौकुमार्यमाघूर्यान्विता पाञ्चाली ।
सकलरीतिसमिश्रा मृदुसमासा बहुयुक्ताक्षररहिता स्वल्पघोषाक्षरा लाटी ।

होता है अर्थात् जिसके चरण नमस्कार करनेवाले देव-दानवाधिपतियोंके मुकुटोंमें लगी हुई मणियोंसे निरन्तर प्रकाशमान रहते हैं तथा वचनयुक्तिके द्वारा जो पदार्थोंके विस्तारको प्रकट करनेवाला है अर्थात् जिसको दिव्य ध्वनिसे पदार्थोंका निरूपण हुआ है और जिसने दुष्कर्मोंकी जड़को उत्पादित कर दिया है अर्थात् जिसने कर्मकालिकाको नष्ट कर दिया है तथा जिसने आचार्योंके द्वारा स्तुति किये जानेसे महत्त्वको प्राप्त किया है वह जिनेन्द्र महाप्रभु सर्वत्र विजयी हों ॥१३७॥

पांचाली रीति और उसका उदाहरण—

पूर्वोक्त दोनों रीतियोंके सम्मिश्रणको पांचाली रीति कहते हैं । यथा—है भगवन् ! स्नेहके कारण मनुष्य आपके चरणोंकी शरणमें नहीं आते, किन्तु शरणमें आनेका विचित्र हेतु है कि सारे संसारके प्राणी भयंकर सांसारिक दुःखोंसे संतप्त हैं; अतः वे उस दुःखकी निवृत्तिके हेतु आपके चरणोंकी शरणमें आते हैं । अत्यन्त चमकते हुए तेज किरणसमूहसे व्याप्त भूमण्डलवाला श्रेष्ठकालिक सूर्य-चन्द्रमाकी किरणोंसे शीतल जलकी छायामें प्रीति करा देता है ॥१३८॥

प्रसाद इत्यादि सभी गुणोंसे युक्त, असमस्त अथवा दो या तीन पदोंके समाससे युक्त वर्गोंके द्वितीय अक्षरसे पूर्ण अति स्वल्प घोष वर्णवाली वैदर्भी रीति होती है । समस्त तथा अत्यन्त उत्कट पदवाली महाप्राण अक्षरोंसे युक्त कान्ति और ओजगुणसे मण्डित गौडी रीति होती है । समस्त पाँच-छह पदवाली ओज, कान्ति, सौकुमार्य, माघूर्य गुणयुक्त पांचाली रीति होती है । सम्पूर्ण रीतियोंसे मिश्रित कोमल समाससे युक्त

१. असमस्तादिपदसमस्ता वा—ख । २. मृदुसमासा बहुयुक्ताक्षररहिता स्वल्पघोषा लाटी—ख ।

इति रीतिचतुष्टयमिच्छन्ति केचित् तदपि ज्ञेयम् । अथ शय्यापाकौ कथ्येते ।

पदानुगुण्यरूपा या मैत्री शय्येति कथ्यते ।

पाकोऽर्थानां गभीरत्वं द्राक्षापाकोऽपरो द्विधा ॥१३९॥

प्रावृत्काले सविद्युरप्रपतितसलिले वृक्षमूलाधिवासा

हेमन्ते रात्रिमध्ये प्रतिविगतमयाः काष्ठवत्त्यक्तदेहाः ।

श्रीष्मे सूर्याशुतप्ता गिरिशिखरगतस्थानकूटान्तरस्था-

स्ते मे धर्मं प्रदद्युर्मुनिगणवृषभा मोक्षनिश्रेणिभूताः ॥१४०॥

अत्र बन्धस्य पदविनिमयासहत्वेन पदान्योन्यमैत्रोरूपा शय्या ।

द्राक्षापाकः स अर्धस्य बाह्याभ्यन्तस्फुरद्वसः ।

स्यान्नारिकेलपाकोऽयमन्तर्गूढरसो यथा ॥१४१॥

रहस्मु वस्त्राहरणे प्रवृत्ताः सहाममर्जाः क्षितिपालवध्वाः ।

सकोपकंदर्पधनुःप्रमुक्त-शरौघहंकाररवा इवाभुः ॥१४२॥

अधिक संयुक्त अक्षरोंसे रहित अत्यन्त स्वल्प घोष अक्षरवाली लाठी रीति होती है ।

इस प्रकार अन्य आचार्योंके मतसे चार रीतियाँ भी मानी गयी हैं ।

शय्या और पाक—

पदोंके अनुगुण रूपवाली मैत्रीको शय्या कहते हैं और अर्थोंकी गभीरताको पाक कहते हैं । पाक दो प्रकारका होता है—(१) द्राक्षापाक और (२) नारिकेल-पाक ॥१३९॥

जो बिजलीके साथ गिरते हुए जलवाले वर्षा ऋतुके समय वृक्षोंके नीचे निवास करते हैं अर्थात् वर्षा ऋतुमें वृक्षोंके नीचे रहनेसे वर्षा एक जानेपर भी वर्षाका जल शरीरपर गिरता रहता है । हेमन्त ऋतुकी मध्यरात्रियोंमें निर्भय होकर काष्ठवत् शरीरको दृढ़ किये हुए खुले आकाशमें जो तप करते हैं और श्रीष्म ऋतुमें जो सूर्यकी किरणोंसे तपे हुए पर्वतोंके शिखरोंपर निवास करते हैं ऐसे मोक्षकी सीढ़ीके सदृश मुनिगण हमें धर्म प्रदान करें ॥१४०॥

इस रचनामें—पद्यमें पद-परिवर्तन नहीं सह सकनेके कारण पद्यमें परस्पर मैत्री होनेसे शय्या है ।

द्राक्षापाक और नारिकेलपाकका स्वरूप—

बाहर और भीतर दृश्यमान रसवाले पाकको द्राक्षापाक और केवल भीतर छिपे हुए रसवाले पाकको नारिकेल पाक कहते हैं ॥१४१॥ यथा—रानियोंके एकान्तमें वस्त्रोंके हटानेमें प्रयुक्त हास्यके साथ गर्जन करनेवाले क्रोधयुक्त कामदेवके धनुषसे छोड़े हुए बाणसमूहके हंकारके समान सुशोभित हुए ॥१४२॥

१. शय्यापाकौ—ख । २. पाकौ—ख । ३. वृक्षमूलेऽधिवासा—ख ।

श्रेयोमार्गानभिज्ञानिहभवगहने जाज्वलद्दुःखदाव-
स्कन्धे चक्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान् ।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावतोपात्तपुण्य-
प्रक्रान्तैरेव वाक्यैः शिवपथमुचितान्शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात् ॥१४३॥

अत्र न शोघ्रमर्थप्रतीतिः । एवं वस्तुअलंकारप्रतिपत्तावपि पाकद्वयमिदं
द्रष्टव्यम् । पुनरन्येऽपि पाका यथासम्भवमूह्याः । अथ सामग्री निरूप्यते ।

शोभा^१ साहायकश्चित्प्रकृतय इव चोत्कर्षदा रीतयः स्युः
शौर्याद्या वा गुणाः स्युः पदसदनुगुणच्छेदरूपा तु शय्या ।
शय्येवालंक्रियाश्चाभरणवदपि वा वृत्तयो^२ वृत्तये वा
पाकाः पाकारसास्वादनभिद इति सत्काव्यसामग्र्यसौ स्यात् ॥१४४॥

पुनः-पुनः अथवा अत्यन्त प्रज्वलित दुःखरूपी घनाग्निसे प्रसृत स्कन्धवाले वृक्षोंके
समान इस संसाररूपी काननमें निरन्तर भ्रमण करनेवाले इन विचारे मोक्षमार्गके अन-
भिज्ञोंका अत्यन्त आश्चर्यपूर्वक कीसे उद्धार कर दूँ ? इस प्रकार मस्तिष्कमें उत्पन्न हुए
विचारोंसे दूसरोंपर अनुग्रह करनेमें जिन्हें आनन्द प्राप्त होता है और निःस्वार्थ कल्याण
भावनासे प्रेरित हो भव्य जीवोंकी मोक्षमार्गका उपदेश देते हैं वे अर्हन्त भगवान् हमारी
रक्षा करें ॥१४३॥

यहाँ शोघ्र अर्थकी प्रतीति नहीं होती । इस प्रकार वस्तु और अलंकारके ज्ञानमें
सो समझना चाहिए । अन्य वस्तुओंके रूप, गुणोंके आधारपर अन्य पाकोंकी भी कल्पना
की जा सकती है ।

काव्य-सामग्री—

सहायकमें आश्रित प्राकृतिक शोभाके समान रीतियाँ काव्यके उत्कर्षको बढ़ाने-
वाली होती हैं । जैसे—विरता इत्यादि गुण आत्माकी शोभाको बढ़ाते हैं उसी प्रकार
ओज इत्यादि गुण काव्यकी उत्कृष्टतामें वृद्धि करते हैं । जैसे—शय्या विश्रान्ति प्रदान
करती है वैसे ही पदोंके अनुरूप रचना काव्यका उत्कर्ष बढ़ाती है । जिस प्रकार हारादि
अलंकार शोभाकी वृद्धि करते हैं उसी प्रकार उपमा आदि अलंकार भी काव्य-शोभाके
प्रवर्द्धक हैं । वृत्तियाँ अर्थ-प्रकाशनके कारण काव्यका महत्त्व सूचित करती हैं ।
रसके स्वादकी भिन्नताको प्रकट करनेवालेको पाक कहते हैं । ये सब पदार्थ काव्यकी
सामग्री हैं ॥१४४॥

१. साहायिकश्चोत्कृतय-ख । २. -ख प्रती 'वृत्तये' पदं नास्ति ।

साहायकं श्रिता शोभा आत्मोत्कर्षाविहाः^१ स्वाभा इव रीतयः शौर्यादय
इव श्लेषादयो गुणाः । शय्येव पदानुगुण्यविश्रान्तिः शय्या । अर्थनिरूपणात्पूर्वं
वचनं विचार्यते । तच्च ।

शब्दः पदं च वाक्यं च खण्डवाक्यं तथा पुनः ।

^२महावाक्यमिति प्रोक्तं वचनं काव्यकोविदैः ॥१४५॥

विभक्त्युत्पत्तियोग्यो यः^३ शास्त्रीयः शब्द उच्यते ।

रूढयोगिकमिश्रेभ्यो भेदेभ्यः स त्रिधा^४ पुनः ॥१४६॥

शास्त्रीय इति शङ्खकाह्लादिध्वनिनिवृत्तिः । एतावता लिङ्गघातुस्व-
रूपप्रकृतिः शब्दः । रूढो यथा—

निर्योगास्फुटयोगाभ्यां योगाभासात् त्रिधाऽदिमः ।

ते च^५ भूवादिवृक्षादिमण्डपाद्याः क्रमान्मताः ॥१४७॥

प्रकृतिप्रत्ययविभागो योग इत्यते । यस्मादर्थं शब्दो व्युत्पद्यते स योग इति
व्युत्पत्तेः । निर्योगो भूवादिः । न हि सत्तायां कयाचिद् व्युत्पत्त्या भूघातुः प्रवर्तते ।

सहायकमें श्रित शोभा आत्माके उत्कर्षको बढ़ानेवाली अपनी आभाके समान
रीतियाँ हैं । शौर्य आदिके समान श्लेष इत्यादि गुण हैं । शय्याके समान पदोंके
अनुरूप विश्रान्ति देनेवाली शय्या है । अर्थ-निरूपणके पूर्व वचनका विचार करते हैं :—

काव्यशास्त्रके विद्वानोंने शब्द, पद, वाक्य, खण्डवाक्य और महावाक्य इन
सबको वचन कहा है ॥१४५॥

जो सु, औ इत्यादि विभक्तिकी उत्पत्तिके योग्य हो उसे शास्त्रके अनुसार शब्द
कहते हैं । शब्दके तीन भेद हैं—(१) रूढ़, (२) योगिक और (३) योग-
रूढ़ ॥१४६॥

शास्त्रीयपदके कथनसे शंख, काहल इत्यादिकी ध्वनिकी शब्द नहीं कह सकते
हैं । इससे यह स्पष्ट है कि लिंग, घातुस्वरूप जो प्रकृति है उसे शब्द कहते हैं ।

रूढ़—पहला अर्थात् रूढ़ शब्द निर्योग, अस्फुट योग और योगाभासके भेदसे
तीन प्रकारका होता है—(१) जिसमें योगिक अर्थकी प्रतीति न हो, जैसे 'भूः' इत्यादि,
(२) जिसमें योगिक अर्थको स्पष्ट प्रतीति न हो, जैसे वृक्षा इत्यादि (३) जिसमें
वस्तुतः योगिक शब्दकी प्रतीति न होनेपर भी योगिक शब्दके समान प्रतीति हो, जैसे
मण्डप इत्यादि ॥१४७॥

प्रकृति प्रत्यय विभागको योग कहते हैं । जिससे अर्थमें शब्दका योग किया
जाता है उसे योग कहते हैं, ऐसी व्युत्पत्ति है । योगहीन 'भूः', 'वा' इत्यादि हैं । किसी

१. स्वभावा इव—ख । २. महावाक्यमिति—ख । ३. शास्त्रिय यः—ख । ४. त्रिधामतः—ख ।

५. स्वरूपा प्रकृतिः—क-ख । ६. भूवादिवृक्षादि—ख । ७. यस्मादर्थेन शब्दो—ख ।

योगः क्वचिद् विद्यमानोऽप्यस्फुटः ।^१ स हि वृक्ष इत्यत्र आसर्पं वृश्चतीति व्युत्पत्तिः कस्यचिज्जायते । योगाभासो मण्डपादिः । मण्डं पिबतीति विद्यमानार्जपि व्युत्पत्तिरर्थासंगतेराभासरूपा । मण्डपायित्वान्मण्डपो न हि । अपितु महु भूषायाम् मण्डनं मण्डः तं पातीति व्युत्पत्तिर्वरं घटते ।

^२शुद्धतन्मूलसंभिन्नभेदैस्त्रेधा स यौगिकः ।

ते च स्थितिलसद्दीप्तिमार्कण्डेयादयः क्रमात् ॥१४८॥

स्थानं स्थितिरित्यत्र शुद्धो योगः । निर्योगः प्रकृतिप्रत्ययोत्पन्नत्वात् । लसद्दीप्तिरिति यौगिकमूलः । लसद्दीप्तिशब्दाभ्यां शुद्धयौगिकाभ्यां निष्पादितत्वात् । अयं तु विशेषः । समासशब्दे प्रकृतिमात्रजन्यो योगः अथवा प्रत्ययोपयोगस्तत्राप्यस्ति । मार्कण्डेयशब्दस्तु संभिन्नः । मृकण्डुवा अपत्यमिति योगस्य अव्यक्तयोगमूलमृकण्डुशब्दनिष्पाद्यत्वात् । रूढयौगिकयोर्मिश्रं लक्षयति ।

तन्मिश्रोऽन्योऽन्यसामान्यविशेषपरिवृत्तितः ।

^३जलधिर्जलजं दुग्धवारिधिः स्वर्गभूरुहः ॥१४९॥

व्युत्पत्ति से भू धातु सत्ता अर्थमें नहीं है । योग कहीं रहनेपर भी स्पष्ट नहीं रहता है । जैसे—वृक्ष । इस शब्दमें आसर्पको दूर करता है ऐसी व्युत्पत्ति किसीकी ही होती है, सबकी नहीं । योगाभासमें मण्डप इत्यादिमें माँड़को पीता है यह व्युत्पत्ति है तो भी अर्थकी संगति न होनेसे आभास है । वस्तुतः व्युत्पत्ति न रहनेपर भी प्रतीत होती है । मण्ड पीनेके कारण मण्डप नहीं बना है, किन्तु ✓महु भूषायाम् धातुसे मण्ड बना । उस मण्डको पाति रक्षति इस व्युत्पत्तिके अनुसार मण्डप बन जाता है ।

यौगिक—यौगिक शब्द भी शुद्ध, शुद्धमूलक और संभिन्न भेदसे तीन प्रकारके होते हैं । इन तीनोंके क्रमशः उदाहरण स्थिति, लसद्दीप्ति और मार्कण्डेय इत्यादि शब्द हैं ॥१४८॥

'स्थानं स्थितिः' में शुद्ध योग है । निर्योग प्रकृति प्रत्ययसे उत्पन्न होनेके कारण । 'लसद्दीप्ति' यह शब्द यौगिक मूल है । शुद्ध यौगिक लसद्दीप्ति शब्दोंसे बने हुए होनेके कारण यहाँ यह विशेषता है । समास शब्दमें केवल प्रकृतिसे उत्पन्न योग है अथवा प्रत्ययका उपयोग यहाँ भी है । मार्कण्डेय शब्द तो संभिन्न है । 'मृकण्डु'का अपत्य यह योग अव्यक्त योगमूलक मृकण्डु शब्दसे बना है । रूढ और यौगिकके मिश्रणको बताते हैं ।

परस्पर सामान्य और विशेषके परिवर्तनसे बने शब्दको मिश्रित—रूढ यौगिक कहते हैं । यथा—जलधिः = समुद्र, जलज = कमल, दुग्धवारिधिः = क्षीरसागर, स्वर्गभूरुह = कल्पवृक्ष इत्यादि ॥१४९॥

१. न हि वृक्ष—क-ख ।

२. शुद्धसंभिन्नतन्मूल—ख ।

३. —ख प्रती 'जलधिः'

पदं नास्ति ।

अन्योन्यमिति कोऽर्थः ? सामान्यस्य विशेषतया परिवर्तिततः विशेषस्य तु सामान्यरूपतया । अयमेक एव भेदः, परिवृत्तिद्वयं तु हेतुवशात् ।

तत्र जलानि धीयन्तेऽस्मिन्निति योगस्य सामान्याश्रयत्वेऽपि विशेषपरिवृत्त्या समुद्र एव न तटाकादिः । जलजशब्देन तु पद्ममेव न शाल्यादिः । द्वितीय-परिवृत्ति वक्ति । वारिधारणविशेषस्य तु सामान्यरूपतया परिवृत्तौ वारिधिशब्देन समुद्रमात्रमुच्यते । दुग्धवारिधिरित्यत्र यदि दुग्धमयस्तत्कथं वारिधिरिति न विरोधदोषावकाशः, एवं यदि स्वर्गप्रभवस्तत्कथं भूरूह इति । सुबन्तं पदं पदम् । पदब्यूहोऽर्थसमाप्तितो वाक्यम् । उदाहरणम्—

कैलासाद्रौ मुनीन्द्रः पुरुरपदुरितो मुक्तिमाप प्रणूतः ।

अर्थसमाप्तियुक्तार्थता^१ मुक्तपदब्यूहः खण्डवाक्यम् । अर्थसमाप्तियुक्त इत्यनेन वाक्यनिरासः । युक्तार्थतामुक्त इत्यनेन समासपदनिरासः समासोपयुक्तः परस्परान्वयविशेषो युक्तार्थता । उदाहरणम्—देवानां प्रिय इति एतच्च पदमलुक्समासादेकमेव न खण्डवाक्यम् । चम्पायां वासुपूज्य इत्यादौनि खण्डवाक्यानि मुक्ति-

'अन्योन्यम्' इसका क्या अर्थ है ? सामान्यका विशेषसे तथा विशेषका सामान्यसे परिवर्तन । यह एक ही भेद है, किन्तु हेतुके कारण दो तरहका परिवर्तन है । जहाँ 'जलानि धीयन्ते अस्मिन्' जल जिसमें रखा जाता है, इस योगका सामान्य आश्रय होनेपर भी विशेष परिवर्तनसे समुद्रका ही बोधक होता है, तटादिका नहीं । जलज शब्दसे कमलका ही बोध होता है, शान्य इत्यादिका नहीं । द्वितीय परिवर्तनके अनुसार—जल-धारण विशेषका सामान्य रूपसे परिवर्तन करनेपर वारिधि शब्दसे केवल समुद्रको कहा जाता है । 'दुग्धवारिधि' इस शब्द से यदि वह दुग्धमय है तो वारिधि कैसे होगा, इस विरोधका अवसर नहीं । इसी प्रकार यदि वह स्वर्गमें उत्पन्न है तो भूरूह—पृथ्वीमें उत्पन्न कैसे होगा ।

सुद्ध जिसके अन्तमें ही उसे पद कहते हैं । अर्थकी समाप्तिसे पदसमूहको वाक्य कहते हैं । उदाहरण—

प्रशंसित, पापरहित मुनीन्द्र उस आदि तीर्थंकर पुरुदेवनं कैलाश पर्वतपर मुक्ति-को प्राप्त किया ।

अर्थ-समाप्ति युक्त अर्थतासे रहित पदसमूहको खण्डवाक्य कहते हैं । अर्थ-समाप्तिसे रहित इस कथनसे वाक्य लक्षणमें दोष नहीं हुआ । युक्तार्थतासे रहित इस कथनसे समासपदमें खण्डवाक्यका लक्षण वटित नहीं हुआ । समासके उपयोगी परस्परमें अन्वय विशेषको युक्तार्थता कहते हैं । यथा—'देवानां प्रियः' यह पद अलुक् समास होनेके कारण एक ही है, खण्डवाक्य नहीं है । 'चम्पामें वासुपूज्य' इत्यादि खण्डवाक्य 'मुक्ति

१. परिवृत्तिः—क-ख । २. प्रणातः—ख । ३. मुक्तः पदसमूहः—ख ।

भाषेत्यन्वय एव वाक्यातीति स्थितिः । 'एकार्थविश्रान्तान्यनेकानि वाक्यानि महावाक्यम् ।

उदाहरणम्—

चन्द्रप्रभं नमि यदङ्गकान्ति ज्योत्स्नेति मत्वा द्रवतीन्दुकान्तः ।

चकोरयूथं पिबति स्फुटस्ति कृष्णेऽपि पक्षे किल कैरवाणि ॥१५०॥

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभेदेन त्रिविधोऽर्थः । वाचकलक्षकव्यञ्जकत्वेन शब्दानां त्रैविध्यात् । व्यङ्ग्यार्थे एव तात्पर्यार्थः । न पुनश्चतुर्थः । शब्दवृत्तयस्त्रिधा अभिधालक्षणाव्यञ्जनाभेदात् । लक्षणाविशेष एव गौणवृत्तिः । तयोः सम्बन्ध-मूलत्वाविशेषात् । गङ्गा मुख्यस्तटो लक्ष्यो व्यङ्ग्यः शीतलादिकम् । 'सिंहो माणवक इति केचिदिच्छन्ति । अत्र तु मुख्यो वाच्य एव । सिंहो माणवक इति सादृश्यसम्बन्धविशिष्टमाणवकप्रतीतेर्गौणो लक्ष्य एव । 'सङ्केतितार्थविषया शब्द-व्यापृतिरभिधा । सा रूढादिभेदात् सूक्ता । वाच्यार्थवदनेन तत्संबन्धिनि समा-

पाया' के साथ अन्वित होनेपर ही वाक्य बनता है । एक अर्थमें विश्रान्त होनेवाले अनेक वाक्योंको महावाक्य कहते हैं । यथा—

जिस चन्द्रप्रभ भगवान्के शरीरको कान्तिको चन्द्रिका मानकर चन्द्रकान्तमणि द्रवित होने लगती है । चन्द्रिका मानकर ही चकोरका झुण्ड उस कान्तिका पान करने लगता है तथा उसे चन्द्रकिरण मानकर ही कैरव विकसित हो जाते हैं । उस चन्द्रप्रभ भगवान्को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१५०॥

अर्थप्रकार एवं वृत्तियोंके स्वरूप—

वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्यके भेदसे अर्थ तीन प्रकारका होता है, क्योंकि वाचक, लक्षक और व्यञ्जकके भेदसे शब्द तीन प्रकारके होते हैं । व्यङ्ग्यार्थको ही तात्पर्यार्थ कहते हैं । अतः चार प्रकारके अर्थ नहीं हैं । अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके भेदसे तीन प्रकारको शब्द-वृत्तियाँ हैं । गौणवृत्ति लक्षणा ही एक प्रकारकी है, क्योंकि वे दोनों ही सम्बन्धमूलक हैं । गंगा मुख्य है, तट लक्ष्य है और शीतलादि व्यङ्ग्य है । कोई 'सिंहो माणवकः' का उदाहरण देते हैं, उसमें मुख्य वाच्य अर्थ ही है । 'सिंहो माणवकः' इस पदमे सादृश्य सम्बन्ध से युक्त प्रतीति होनेसे जो गौण है वह लक्ष्य ही है । संकेतित अर्थका बोध करनेवाली शब्द-व्यापृति—व्यापारको अभिधा कहते हैं । वह रूढ इत्यादिके भेदसे अनेक प्रकारकी कही गयी है । वाच्य अर्थके अन्वित न होनेसे वाच्यार्थ सम्बन्धीमें

१. स्थितं--ख । २. वाक्यार्थविश्रान्त--ख । ३. व्यञ्जघत्वभेदेन--ख । ४. तटोप-लक्ष्यो--ख ।

रोपितशब्दव्यापारो लक्षणा । सा द्विधासादृश्यहेतुका^१ संबन्धान्तहेतुका चेति । संबन्धान्तहेतुकापि द्विधा जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति सादृश्यहेतुका द्विधा । सारोपा साध्यवसाया चेति । एवं लक्षणा चतुर्धा । तत्र जहल्लक्षणा यथा—

उत्पन्ने पुंसदेवेऽत्र त्रिलोकीरक्षणक्षमे ।

नृत्यद्गायज्जगज्जातं रोमहर्षणजृम्भितम् ॥१५१॥

जगतोऽचेतनस्य नाट्यगानरोमाञ्चासंभवाद् वाच्यस्याभावः । अज-

हल्लक्षणा यथा—

पुरोः समवसृत्यन्तराश्रितं सिंहविष्टरम् ।

अलंचक्रुः किरीटानि नानारत्नमरोचिभिः ॥१५२॥

अत्र^२ अलंकारसिद्धये किरीटैराश्रयभूता इन्द्रादयो लक्ष्यन्ते । विषय-विषयिणोरुक्तयोरभेदनिश्चितिरारोपः । सारोपलक्षणा यथा—

चक्रिकण्ठीरवः शौर्यसंपदान्वितविग्रहः ।

परिपन्थिमहादन्तिनिवहभ्रमणं व्यधात् ॥१५३॥

अच्छी तरहसे आरोपित शब्द व्यापारकी लक्षणा कहते हैं । यह दो प्रकारकी है—सादृश्य हेतुका और सम्बन्धान्तरहेतुका । सम्बन्धान्तरहेतुका—सादृश्य सम्बन्धसे अतिरिक्त कारणवाली लक्षणा भी दो प्रकारकी है—(१) जहद्वाच्या—अपने वाच्यार्थको छोड़ने-वाली, (२) अजहद्वाच्या—अन्य अर्थ लेते हुए भी अपने वाच्यार्थको नहीं छोड़नेवाली । सादृश्य हेतुवाली लक्षणाके भी दो भेद हैं—(१) सारोपा और (२) साध्यवसाया । इस प्रकार लक्षणा चार प्रकारकी होती है ।

जहल्लक्षणाका उदाहरण—

यहाँ तीनों लोकोंकी रक्षा करनेमें समर्थ पुंसदेवके उत्पन्न होनेपर रोमांच इत्यादि से बड़ा हुआ संसार नाचने-गाने लगा ॥१५१॥

यहाँ अचेतन संसार का अभिनय, गान, रोमांच इत्यादि सर्वथा असम्भव होनेसे वाच्यका अभाव है ।

अजहल्लक्षणाका उदाहरण—

पुंसदेवके समवसरणमें सिंहासनपर आरूढ़ होनेपर उन्हें नाना रत्नोंकी कांक्षितमें भुक्तियों विभूषित किया ॥१५२॥

यहाँ अलंकारकी सिद्धिके लिए किरीट पदसे उनके आश्रयभूत इन्द्रादिककी प्रतीति लक्षणाके द्वारा होती है । पूर्व कथित विषय और विषयोंके अभेद निश्चयको आरोप कहते हैं । आरोपके साथ रहनेवाली लक्षणाको सारोपा कहा जाता है । यथा— शूरता तथा सम्पत्तिसे युक्त शरीरवाले चक्रवर्तीरूपी सिंहने शत्रुहारी गजराजोंके समूहको विचलित कर दिया ॥१५३॥

१. हेतुका-स्थाने अप्रती हेतुता । २. अलंकारद्वये किरीटैराश्रयभूता—स ।

अध्यवसायो विषयनिगरणेनाभेदप्रतीतिः ।

साध्यवसायलक्षणा यथा—

इक्ष्वाकुकुलवारांशिवृद्धये शिशिरद्युतिः ।

अभूदेष प्रजातोषकरणक्षयसत्कलः ॥१५४॥

भरतेश इन्दुत्वेनाध्यवसीयते । इक्ष्वाकुकुलवारांशीत्यारोपश्च । अनुगतेषु वस्तुषु वाक्यार्थोपस्काराय भिन्नार्थगोचरः शब्दव्यापारो व्यञ्जनावृत्तिः । सा त्रिधा ।

शब्दशक्तिमूला, अर्थशक्तिमूला, उभयशक्तिमूलेति । क्रमेण यथा—

वाहिन्यो व्यासमैदिन्यश्चक्रिणः कृतसंभूमाः ।

कवन्धापूर्णमातेनुः प्रत्यर्थिबलवारिधिम् ॥१५५॥

अत्र अर्थप्रकरणादिना वाहिनीकवन्धशब्दयोररिसेनायां छिन्नमस्तक-
क्रियायुक्तशरीरपूर्णत्ववाचकतया नियमोऽपि शब्दशक्तिमूलेति निम्नगाजलं
प्रतीयत इति व्यञ्जनावृत्तिः ।

साध्यवसाया लक्षणाका स्वरूप और उदाहरण—

अध्यवसायः = विषयोके द्वारा विषयको कुक्षिस्थ कर लेनेपर अभेदरूपसे जो प्रतीति होती है उसे साध्यवसाया लक्षणा कहते हैं । यथा—

प्रजाको सन्तुष्ट करने में समर्थ सुन्दर कलावाला यह चन्द्रमा इक्ष्वाकुकुलरूपो समुद्रको वृद्धिके लिए उत्पन्न हुआ है ॥१५४॥

यहाँ भरतेशका चन्द्ररूपसे अध्यवसाय किया गया है और इक्ष्वाकुकुलमें समुद्रका आरोप हुआ है ।

व्यञ्जनावृत्तिका स्वरूप और उसके भेद—

अनुगत पदार्थोंमें वाक्यार्थको आस्वादनोय बनानेके लिए अन्यार्थके प्रत्यायक शब्दव्यापारको व्यञ्जनावृत्ति कहते हैं । यह तीन प्रकारकी होती है—(१) शब्दशक्ति-
मूला, (२) अर्थशक्तिमूला और (३) उभयशक्तिमूला । यथा—

शीघ्रता करनेवाली तथा पृथ्वीपर व्यास चक्रवर्ती भरतकी सेनाने शत्रुके सेना-
रूपो समुद्रको कवन्धसे पूर्ण कर दिया अर्थात् कवन्ध—मस्तकरहित घड़से सेनाको
व्यास कर दिया ॥१५५॥

यहाँ अर्थके प्रसंग इत्यादिसे सेना और कवन्ध शब्दोंका शत्रुसेनामें कटे हुए
मस्तक क्रियासे युक्त शरीरको पूर्णता, वाचकताके कारण नियमबद्ध है, अतः शब्द-
शक्तिमूला व्यञ्जनावृत्ति है । यहाँ इस वृत्तिसे नदीजलकी भी प्रतीति होती है ।

१. इक्ष्वाकुकुलवारांशि-स । अथत्रापि वारांशि इत्यस्य स्थाने वारांशि इति-ख ।

२. क्रिया—इत्यस्मान्तरम् -ख ।

अभिधा तु प्रकृतार्थपर्यवसिता अप्रकृतार्थं ज्ञापयितुं न शक्नोति । अप्रकृतार्थ-
स्यापि वाक्यार्थं शोभायं कविना विवक्षणोयत्वात् । अर्थतस्तदप्रतिपत्तेः^१
शब्दस्यैव व्यापरो व्यञ्जनाख्यः ।

श्रीमत्समन्तभद्राख्ये महावादिनि चागते ।

कुवादिनोऽल्लखन् भूमिमङ्गुष्ठैरानताननाः ॥१५६॥

कुवादिनो विषण्ण इत्यर्थशक्त्या व्यज्यते ।

अर्थशक्तिमूलव्यञ्जनायामनुमानशंका न कर्तव्या । व्यङ्ग्यव्यञ्जकघोर-
विनाभावित्वासंभवात् ।^२ भूलेखननतत्वादिकार्याणां विषाद एव कारणमिति
नियमाभावात् ।

अनन्तद्योतनसर्वलोकभासकविग्रहः ।

आदिब्रह्मजिनः सर्वश्लाघ्यमानमहागुणः ॥१५७॥

'अनन्तं सुरवर्त्म स्वमिति अनन्तद्यातनो रविः । पक्षे अनन्तबोध इति
^३व्याख्यानादनन्तद्योतन इत्यत्र शब्दशक्तिमूलत्वम् । सर्वलोकभासकविग्रहः सर्व-

प्राकराणिक अर्थमें पर्यवसित होनेवाला अभिधावृत्ति अप्राकराणिक अर्थका बोध
करानेमें समर्थ नहीं हो सकती है । वाक्यार्थमें शोभाके लिए अप्राकराणिक भी कविके
द्वारा कथनीय है । अर्थसे उसका बोध नहीं होनेके कारण व्यञ्जना नामक व्यापार शब्दका
ही माना गया है ।

बहुत बड़े शास्त्रार्थी श्रीमान् समन्तभद्रके आ जानेपर मस्तक झुकाये हुए
कुवादी असमर्थ प्रतिद्वन्द्वी लोग अँगुठोंसे पृष्ठोको खोदने लगे ॥१५६॥

यहाँ कुत्सित शास्त्रार्थी लोग उदास हो गये, यह अर्थशक्तिसे अभिव्यक्त
होता है ।

अर्थशक्तिमूलक व्यञ्जनामें अनुमानकी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि
व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावमें अविनाभाव सर्वथा असम्भव है । जो जिसके बिना न रह सके उसे
अविनाभाव कहते हैं । भूलेखन और नताननत्व इत्यादि कार्योंमें विषाद ही कारण है,
ऐसा निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता ।

समस्त संसारके प्रकाशक देहवाले सभीसे प्रशंसनीय अत्यधिक सुगमगणशाली
आदिब्रह्म जिनेश्वर पुत्रदेव सम्पूर्ण आकाश को प्रकाशित करनेवाले सूर्यके समान
असीम बोधवाले हैं ॥१५७॥

अनन्त = देव मार्ग आकाश । द्योतनः = प्रकाशक सूर्य, पुरुषजमें असीम
बोध । व्याख्यासे अनन्त द्योतनमें शब्द शक्तिमूलता है । 'सर्वलोकभासक विग्रह' तथा

१. ज्ञापयितुं न शक्नोति विद्यते । भव्यस्य पदानि न सन्ति । २. तदप्रतीतेः—ख ।

३. भूलेखनत्वादि—ख । ४. व्याख्यादनन्त—ख ।

श्लाघ्यमानमहागुण इत्यर्थशक्तिमूलत्वमित्युभयशक्तिमूलः पुरुरव्योरुपमालंकार-
ध्वनिः ।

रसावस्थानसूचिन्यो वृत्तयो रचनाश्रयाः ।

कौशिकी चारभट्टयन्या सात्वती भारती परा ॥१५८॥

वृत्तयस्तु चतस्रो रचनाश्रितत्वेन रसावस्थितिसूचिनः । रसरहित-
वर्णनरचनाया दोषत्वेन प्रसिद्धं रचनाया अपि रसव्यञ्जकत्वम् ।

द्वावत्यन्तसुकोमली च करुणः शृङ्गार इत्याह्वयो

द्वौ वीभत्सरसोऽपि रोद्र इति तत्त्वत्युद्धती भाषितौ ।

ईषट्प्रौढरसो भयानकरसो वीरोऽति संभाषितौ

स्युः किञ्चित्सुकुमारभावनियता हास्यश्च शान्ताद्भुतौ ॥१५९॥

अत्यन्तमृदुसंदर्भः शृङ्गारकरुणौ रसौ ।

वर्ण्यते यत्र धीमद्भिः कौशिकी वृत्तिरिष्यते ॥१६०॥

‘सर्वश्लाघ्यमानमहागुण’ में अर्थशक्तिमूलकता है । अतएव उभयशक्तिमूलकता
उदाहरण है । यहाँ पुरु और रविमें उपमा अलंकारकी ध्वनि है ।

वृत्तिका स्वरूप और इसके भेद—

रसोंकी स्थितिका बोध करानेवाली तथा रचनाओंमें विद्यमान वृत्तियाँ होती हैं ।
इनके चार भेद हैं—(१) कौशिकी, (२) आरभटी, (३) सात्वती और (४)
भारती ॥१५८॥

रचनामें आश्रित होनेके कारण रसकी अवस्थितिसे सूचित वृत्तियाँ चार
होती हैं । रसहीन वर्णनवाली रचनाको दोष माना गया है, अतएव रसकी अभिव्यञ्जिका
रचना होती है, यह सिद्ध हुआ ।

रसोंके स्वभाव—

करुण और शृङ्गार ये दोनों रस अत्यन्त कोमल हैं । वीभत्स और रोद्र ये दोनों
अत्यन्त उद्धत हैं । भयानक और वीर कुछ प्रौढ़ स्वभाववाले कहे गये हैं तथा हास्य,
शान्त और अद्भुत रस सुकुमार भाववाले होते हैं ॥१५९॥

कौशिकी वृत्तिका स्वरूप—

जिस रचना विशेषमें बुद्धिमानोंके द्वारा अत्यन्त सुकोमल सन्दर्भसे शृङ्गार और
करुण रसका वर्णन किया जाता है वहाँ कौशिकी वृत्ति होता है ॥१६०॥

१. कौशिकी —क । २. सूचिका:—ख । ३. रसरहितवर्णनरचनाया —ख । ४. कौशिकी
—क-ख ।

वृषभनूपतिकायः कान्तसूरांशुहारी
 मृदुललिततनुतां लोचनैः कामिनीनाम् ।
 स्थलमृदुलसरोजैः सारगन्धं किरद्भिः
 सुरभङ्गिभ्यो वा संदग्धि हेमकान्तिः ॥१६१॥
 वर्ण्यते रौद्रवोभत्सो रसो यत्र कवोक्ष्वरैः ।
 अतिप्रौढस्तु संदर्भभवेदारमटी यथा ॥१६२॥
 स्फूर्जच्छात्रवदिच्छिदारुरनलज्वालोघमावर्षता
 स्फूर्जत्खड्गविषट्टनोद्भवलसरस्फारस्फुलिङ्गध्वजैः ।
 गर्जनमेघतिभेरुडवपुषा श्रीमञ्जयेन द्विष-
 विच्छन्नाङ्गाः स्रवदमुजालकलिताः भूताद्यजोर्णं व्यधुः ॥१६३॥
 ईषत्प्रौढी निरूप्येते यत्र वीरभयानकौ ।
 अनतिप्रौढसंदर्भत्सात्वतीवृत्तिरुच्यते ॥१६४॥

उदाहरण—

उत्तम सुगन्धिको विकीर्ण करनेवाली कोमल गुलाबके फूलोंके समान मृदुल एवं सुन्दर शरीरवाली सुवर्तियोंके लोचनोंसे आदरपूर्वक देखा जाता हुआ श्रेष्ठ वृषभके समान पुण्ड्रिक महाराज सुन्दर सूर्यकी किरणोंको हरण करनेवाले सुवर्णके समान कान्तिवाले देव या शेषनागके समान सुशोभित हुए ॥१६१॥

आरमटी वृत्तिका स्वरूप—

जिस रचना-विशेषमें श्रेष्ठ कवियोंके द्वारा अत्यन्त प्रौढ़ सन्दर्भोंसे रौद्र और वीभत्स रसोंका वर्णन किया जाता है, वहाँ आरमटी वृत्ति मानी गयी है ॥१६२॥ यथा—

चमकते हुए सन्धियोंके परस्पर टकरानेसे उत्पन्न अत्यन्त तेजस्वी अग्निकणोंके समूहोंसे उछलते हुए शत्रुओंके शिखरसे वृद्धिको प्राप्त अभिज्वाला समूहको निरन्तर वर्षा करते हुए गर्जनसहित मेघके समान कान्तिवाले श्रीमान् जयकुमार सुशोभित थे । इनके द्वारा काटे हुए अंगवाले तथा टपकते हुए शिखरसमूहको धारण करनेवाले शत्रुओंने कच्चे मोस खानेवाले भूत-पिशाच हत्यादिकर्मोंको अजोर्ण नामक व्याधिसे युक्त कर दिया ॥१६३॥

सात्वती वृत्तिका स्वरूप—

जिस रचना-विशेषमें कुछ प्रौढ़ वीर और भयानक रस साधारण प्रौढ़ सन्दर्भोंसे वर्णित होते हैं, वहाँ सात्वती वृत्ति मानी जाती है ॥१६४॥

विधवत्राणसमर्थजेतूनिधिपप्रस्थानभेरिध्वनि
 श्रुत्वा घोरमहावातोयित्तममो प्रत्यर्थिनः पाथिवाः ।
 संत्रासज्वरपूर्णकर्णबधिराः शोघ्रं गताश्चक्रभृत्-
 तेजोदुन्दुभिनादवाडवमहानिर्घोषमप्यम्बुधिम् ॥१६५॥
 हास्यशान्ताद्भुता ईषत्सुकुमारा निरूपिताः ।
 यत्रेषत्सुकुमारेण संदर्भेण हि भारती ॥१६६॥
 त्वं शुद्धात्मा शरीरं सकलमलयुतं त्वं सदानन्दमूर्ति-
 देहो दुःखैकगोहं त्वमसि सकलवित्कायमज्ञानपृञ्जम् ।
 त्वं नित्यश्रीनिवासः क्षणश्चिसदृशाशाश्वतैकाङ्गमङ्गं
 मा गा जीवात्र रागं वपुषि भज निजानन्दसौख्योदयं त्वम् ॥१६७॥
 मध्याभारभरो मध्यकौशिकी द्वे इमे पुनः ।
 वृत्ती रसेषु सर्वेषु स्यातां साधारणे मते ॥१६८॥

उदाहरण—

भयंकर महावज्रको ध्वनिका अनुकरण करनेवाले, संसार रक्षणमें समर्थोंको भी जोतनेवाले चक्रवर्ती भरतके आक्रमणके समयकी रणभेरीकी ध्वनिको सुनकर भयके कारण उत्पन्न हुए ज्वरसे पीड़ित होनेके कारण शत्रुराजा बहरे हो गये और चक्रवर्ती भरतके तेजरूपी दुन्दुभिनादसे बड़वानलकी ध्वनि व्याप्त हुई जिससे शत्रुराजा समुद्रमें चले गये । आशय यह है कि जैसे इन्द्रके वज्रके भयसे भयभीत पर्वत समुद्रमें जाकर छिप गये उसी प्रकार चक्रवर्तीकी रणभेरीको ध्वनिको सुनकर शत्रुराजा उरकर समुद्रके किनारे चले गये ॥१६५॥

भारती वृत्तिका स्वरूप और उदाहरण—

जिस रचना-विशेषमें कुछ सुकुमार सन्दर्भ, हास्य, शान्त और अद्भुत रसमें वर्णित हों उस रचना विशेषकी वृत्ति भारती मानी जाती है ॥१६६॥ यथा—

हे जीवात्मन् ! तुम विशुद्ध आत्मस्वरूप हो । सदा आनन्दस्वरूप ही तुम्हारा शरीर है । तुम सब कुछ जाननेवाले हो—ज्ञाता, द्रष्टा हो एवं सर्वदा तुम्हारे पास लक्ष्मीका निवास है । यह शरीर सभी प्रकारकी अपवित्र वस्तुओंसे भरा हुआ है, अज्ञानकी राशि है । इसका लाक्षण्य विद्युत्के समान क्षणस्थायी है । अतएव इस शरीरमें प्रीति न करके निजानन्द सुखस्वरूप परमात्माका ही भजन करना चाहिए ॥१६७॥

वृत्तियोंका साधारणत्व—

मध्यमा आरभटी और मध्यमा कौशिकी ये दो वृत्तियाँ सभी रसोंमें रहती हैं, इसलिए ये दोनों ही साधारण मानी गयी हैं ॥१६८॥

अतिप्रौढसंदर्भा मृदुलार्थेऽपि मध्यमा ।

कौशिकी विपरीतातो मध्यमारभती यथा ॥१६९॥

ईषत्प्रौढरचना अतिसुकुमारयोः शृंगारकरुणयोर्न दुष्यति किन्त्वति-
कठिनरचना मध्यमारभती । अतिप्रौढयोरपि रौद्रवीभत्सयोरल्पसुकुमारसंदर्भा
न दुष्यति । किन्त्वतिमृदुरचना विरुध्यते । मध्यकौशिकी यथा—

सखीसभायां चतुरङ्गकेली चुचुम्ब संरक्षितुमादृतस्य ।

ह्यस्य याञ्छाकपटेन कामां मृहर्मुहः स्मेरमूर्खी कपोले ॥१७०॥

मध्यमारभती यथा—

यस्यासिधाराविनिपातभोक्तास्त्यजन्तु पद्माकरसंगमानि ।

विमुक्तवन्तः किल राजहंसाः स्वमुत्तराशाश्रितमानसं च ॥१७१॥

मध्यमा आरभती और मध्यमा कौशिकीका स्वरूप—

कोमल अर्थ होनेपर भी साधारण सन्दर्भवाली रचनाको मध्यमा कौशिकी कहते
हैं और ठीक इसके विपरीत स्वरूपवाली वृत्तिको मध्यमा आरभती कहा जाता है ॥१६९॥

अति सुकुमार शृंगार और करुण रसमें कुछ साधारण प्रौढ रचना दूषित नहीं
होती, किन्तु अत्यन्त कठोर रचना मध्यमा आरभतीमें दूषित होती है । अत्यन्त प्रौढ
रौद्र और वीभत्स रसमें भी सुकुमार रचना दूषित नहीं मानी जाती, किन्तु अत्यन्त
कोमल रचना दूषित मानी जाती है ।

मध्यमा कौशिकीका उदाहरण—

विजयके लिए धरनपूर्वक संरक्षित छोड़ेके माँगनेके व्याजसे किसी कामी पुरुषने
शतरंज खेलनेके समय सखियोंके बीचमें बैठी हुई और मन्द-मन्द मुसकराहटसे विकसित
मुखवाली प्रेमसीके गालपर धार-धार चुम्बन किया ॥१७०॥

मध्यमा आरभतीका उदाहरण—

जिस विजयीपु चक्रवर्तीकी तलवार-वृष्टिसे भयभीत बड़े-बड़े राजाओंने भविष्य-
में होनेवाली उन्नतिसे उत्साहित मन और धनको उमो प्रकार छोड़ दिया जैसे अत्यधिक
वृष्टिके होनेके भयसे राजहंस कमलोंसे युक्त तालाबों और उत्तर दिशामें स्थित मान-
सरोवर आदिको छोड़ देते हैं ॥१७१॥

१. विपरीता तु— ख । २. दुष्यतीत्यन्तरम्—कप्रती प्रौढेऽप्यर्थेऽल्पमृदुरचना मध्य-
मारभती । खप्रती तु दुष्यतीत्यन्तरं किन्त्वतिकठिनरचना विरुध्यते । प्रौढेऽप्यर्थेऽल्प-
मृदुरचनामध्यमारभती, अतिप्रौढयोरपि... । ३. मध्यमकौशिकी यथा ख । ४. याज्ञात-
पटेन कामि...ख ।

एवं रसेषु सर्वत्रोदाहार्यम् । वैदर्भीप्रभृतिरोतीनामर्थविशेषनिरपेक्षत्वेन शब्दगुणाश्रयाणां केवलरचनासौकुमार्यप्रौढत्वमात्रगोचरत्वात् कौशिक्यादिवृत्तिभ्यो भेदः । असंयुक्तकोमलाक्षरबन्धोऽतिमुकुमारसन्दर्भ उच्यते । परुषाक्षरविकटबन्धत्वमतिप्रौढत्वम् । संयुक्तमुकुमारवर्णत्वमोषन्मृदुत्वम् । ईषत्प्रौढत्वमविकटसन्दर्भपरुषवर्णता । शोभामाह—

शोभा सिद्धोऽपि चेद्दोषो गुणसूक्त्या निषिध्यते ।

वृथा निन्दन्ति संसारं यत्र चक्री प्रपूज्यते ॥१७२॥

सिद्धोऽपि संसारस्य दोषो भरतेशप्रपूजागुणसंकीर्तनेन निषिध्यते ।

गौणागौणास्फुटत्वेभ्यो व्यंग्यार्थस्य निगद्यते ।

काव्यस्य तु विशेषोऽयं त्रेधामध्यो वरोऽधरः ॥१७३॥

व्यंग्यस्यामुख्यत्वेन मध्यमकाव्यं गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्युच्यते । प्राधान्ये उत्तमं काव्यं ध्वनिरित्युच्यते । अस्फुटत्वे अधमं तत् चित्रमिति निरूप्यते । तथाहि—

इसी प्रकार सभी रसोंमें उदाहरण देना चाहिए । शब्द तथा गुणमें विद्यमान वैदर्भी इत्यादि रीतियाँ अर्थ विशेषकी अपेक्षा नहीं रखती हैं और शब्द तथा गुणमें आश्रित कौशिकी इत्यादि वृत्तियाँ केवल रचनाकी सुकुमारता और प्रौढताका बोध कराती हैं, यही रीति और वृत्तियोंमें भेद है । संयोगरहित कोमल अक्षरोंसे विरचित रचनाको अतिमुकुमार सन्दर्भ कहा जाता है । कर्कश अक्षर और विकट रचनाको अति प्रौढ़ सन्दर्भ कहते हैं । संयुक्त और सुकुमार वर्णवाली रचनाको ईषत् मृदु कहते हैं । थोड़ी प्रौढता और अविकट रचनाको परुष रचना कहते हैं ।

शोभा और उच्चका उदाहरण—

जहाँ युक्तियोंसे सिद्ध भी दोष गुणकी सूक्तिसे निषिद्ध कर दिया जाता है, उसे शोभा कहते हैं । जैसे—जिस संसारमें चक्रवर्ती भरत पूजे जाते हैं उस संसारको व्यर्थ ही लोग निन्दा करते हैं ॥१७२॥

यहाँ सिद्ध भी संसारका दोष भरत चक्रवर्तीकी पूजाके कथनसे निषिद्ध होता है । काव्यके भेद—

व्यंग्यार्थके अप्रधान, प्रधान और अस्पष्ट रहनेके कारण काव्यके क्रमशः मुख्य, उत्तम और जघन्य ये तीन भेद कहे गये हैं ॥१७३॥

व्यंग्यार्थके मुख्य न होनेपर मध्यम या गुणीभूत व्यंग्य; व्यंग्यार्थके मुख्य रहनेपर उत्तम या ध्वनिकाव्य और व्यंग्यार्थके अस्पष्ट रहनेपर अधम या चित्रकाव्य कहा जाता है ।

१. प्रौढत्वमिति विकट—ख । २. भरतेशप्रपूजागुण—क । भरतेशपूजागुण—ख । ३. वरोऽधरः—ख । ४. सप्रती—मध्यमकाव्यं गुणीभूत इत्यस्यानन्तरं व्यङ्ग्यत्वं तदनन्तरं चन्द्रस्य निष्कला...१७५ तमं छन्दो वर्तते । मध्यस्य पाठः न विद्यते ।

पटुखण्डभूमोवनिला नवांढामालोकमापे निधिपे सुपीठे ।

तिष्ठत्यशेषैरवनोऽनरैस्तत्कार्यं व्यधायि प्रयदोऽस्य येन ॥१७४॥

लब्धराज्याभिषेकस्य भरतेशिनोऽग्रेऽवनिपानां शरणार्थिनां स्वोचितकार्य-
प्यवचनं प्रणमनादिकं व्यस्यं तत्कार्यं व्यधायीति वाच्यादतिशयाभावेन गुणीभूत-
व्यंग्यत्वम् ।

चन्द्रस्य निष्फलस्याब्धेर्गाधस्य कुलभूभृताम् ।

नीचैः किं करणेनेति सृष्टश्चक्री विरञ्जना ॥१७५॥

चक्रिणश्चन्द्रातिशायि सकलकलापूर्णत्वमम्बुधरतिशायि गाम्भोर्यं कुला-
चलातिशायि समुत्तुङ्गत्वं च व्यज्यते । कुलनिधिर्जलनिधिकुलाचलनिर्माणसम्भ्र-
मातिशयितश्चक्रिनिर्माणविभवः सर्वसंभवोति व्यज्यते । चित्रं शब्दार्थोभयभेदेन
त्रिधा । यथा—

गुणीभूत या मध्यम काव्यका उदाहरण—

तुरत अपने यशमें की हुई छह खण्डवाली वसुधारुपी कामिनीका अवलोकन
करते हुए चक्रवर्ती भरतके सुन्दर राजसिंहासन पर बैठ जानेके पश्चात् सम्पूर्ण भूपतियों-
ने वह-वह काम किया जिससे उन्हें विशेष गर्व हुआ ॥१७४॥

राज्याभिषेकको प्राप्त करनेवाले चक्रवर्ती भरतके आगे राजाओंका शरणागत-
रूपमें अपने योग्य दीन बचनोंका उच्चारण और प्रणाम इत्यादि करना व्यंग्य है और इस
व्यंग्यने ऐसा कार्य किया है जिससे वाक्यार्थको अपेक्षा विशेष चमत्कार न होनेसे गुणी-
भूत व्यंग्य है, अतएव मध्यम काव्य है ।

ध्वनिकाव्य—

कलाविहीन चन्द्रमा समुद्र और कुलपर्वतोंको नीचा करनेके लिए ब्रह्माके द्वारा
भरत चक्रवर्ती बनाये गये हैं क्या ? ॥१७५॥

चक्रवर्तीमें चन्द्रमाको अपेक्षा सम्पूर्ण कलाकी पूर्णता, समुद्रकी अपेक्षा अत्यधिक
गाम्भोर्य और कुलपर्वतोंकी अपेक्षा अत्यधिक उत्तंगता व्यंग्य है । चन्द्रमा, समुद्र और
कुलपर्वतकी रचनाके सम्भ्रमकी अपेक्षा चक्रवर्ती भरतके निर्माणकी विभूति सभी प्रकार-
से अधिक सम्भव है, इस की अभिव्यक्ति होती है ।

शब्दचित्र, अर्थचित्र और शब्दार्थचित्रके भेदोंसे चित्रकाव्य तीन प्रकारका माना
गया है ।

१. निजैः—ख । २. पृष्टश्चक्री—क-ख । ३. जलधि—ख । ४. अत्र शब्दार्थो—ख ।

किं ममण्डिभिनन्नभोकरतरोर्दुष्कर्मगर्मद्वगणः^१

किं दुःखज्वलनावलीविलसितैर्निलेहि देहश्चरम् ।

किं गर्जद्यमतूर्यभंरवरवं नाकर्णार्थाक्षिण्यं

येनायं न जहाति मोहविहितां निद्राममन्दां जनः ॥१७६॥

अर्थचित्रं यथा—

निपीड्य लक्ष्मीमपहृत्य चक्रिरे ठकाः^२ स्वर्कं जीवनमात्र शेषकम् ।

अपीदमायान्त्यपहतुमित्यगादपानिधिर्वपथुं मूमिभिर्न तु ॥१७७॥

● जन्माभिषेकाय क्षोरानयनार्थं सुरेष्वागच्छत्सु सत्सु वारिधिरेवमभूत् ।

अरिष्टहर्म्यस्य सवच्चवेदेर्बालाङ्गनोलङ्घतिपूरितस्य ।

मध्ये विरेजुर्नवदोपमाला माला मणोनामिव वारिराशेः ॥१७८॥

अनुप्रासोपमाभ्यामुभयचित्रता । ध्वनिविशेषं न ब्रूमो विस्तरत्वात् ।

संयोगादिभिरनेकार्थवाचकः शब्दोऽभिधामूलः अवाच्यं व्यनक्त्येति व्यञ्जना-
विशेष उच्यते ।

शब्दचित्रका उदाहरण—

पापभूषो बलमश्लिकाओंके समूहने भयोत्पादक वृक्षके मर्मस्थलको नहीं काटा है क्या ? दुःखामिसमूहकी चेष्टाओंसे यह शरीर नहीं चाटा—सुलसाया गया है क्या ? गरजते हुए यमराजके भयंकर वाद्यका शब्द नहीं सुना गया है क्या ? जिससे यह महा-
मानव अज्ञानसे उत्पन्न महानिद्राको नहीं छोड़ता है ॥१७६॥

अर्थचित्रका उदाहरण—

पहले मन्थनकर लक्ष्मीको छीनकर दरिद्र कर दिया, अब मेरे बचे हुए इस जीवनको हरण करनेके लिए आ रहे हैं, इसलिए समुद्र चंचल लहरोंसे काँप रहा है क्या ? ॥१७७॥

जन्मसमय अभिषेकके हेतु जल लानेके लिए देवताओंके आनेपर समुद्रकी ऐसी दशा हुई ।

शब्दार्थचित्रका उदाहरण—

बालककं अंगको नीलकान्तिसे युक्त प्रभूतिगृहको मणिमय वेदीकी नूतन दीप-
मालिका समुद्रके मणिघोंकी मालाओंके समान सुशोभित हुई ॥१७८॥

यहाँ अनुप्रास और उजमाकी योजना द्वारा शब्द और अर्थ चित्रित है । विस्तार-
के भयसे ध्वनि विशेषकी नहीं कहा जा रहा है ।

१. ममण्डिभिनन्न—छ । २. अवनमश्लिकाणां समूहः । प्रथमप्रती पादभागे । क-खप्रती मर्म्युद्गणः । ३. निद्रामभटां जनः--क । निद्रामनिद्रां जनः--ख । ४. स्वकाः--ख । ५. मूमिभिर्न क-ख । ६. व्यञ्जन इति विशेष उच्यते--ख ।

संयोगार्थविरोधिते^१ प्रकरणं स्यात् विप्रयोगोचितो
 सामर्थ्यं स्वरसाहचर्यपरशब्दाभ्यर्णताव्यक्तयः ।
 देशो लिङ्गमतोऽपि काल इह चेष्टाद्याः कवीनां मताः
 शब्दार्थेष्वनैवच्छिन्ने स्फुटविशेषस्य^२ स्मृतेर्हेतवः ॥१७९॥
 सदम्भोलिहृरिर्मातीत्यस्त्रसंयोगतः सुरेष्ट ।
 स^३ स्याद्वादे जिनः सेव्य इत्यर्थादाहंती मतिः ॥१८०॥
 हरिः पद्मविरोधोति विरोधाच्चन्द्रमा मतः ।
 मां वेत्ति देव इत्युक्तेः प्रस्तुतात् सत्यता गतिः ॥१८१॥
 अपविहृरिस्त्रियायोगात् कृष्णः प्रतीयते ।
 औचित्यात् स जिनोऽव्याद् व इति संमुखता गतिः ॥१८२॥
 कोकिलो रीति चेत्युक्तिसामर्थ्यान्मधुमासधोः ।
 वेदे स्वरेण काव्येऽर्थघोर्न चेति कुदृष्टयः ॥१८३॥

व्यंजनाका स्वरूप—

संयोग इत्यादिके कारण अनेकार्थ वाचक अभिधामूलक शब्द अवाक्य अर्थको अभिव्यक्त करता है, अतएव उसे व्यंजना कहते हैं ।

अर्थविशेषके कारण—

संयोग, अर्थ विरोधिता, प्रकरण, विप्रयोग, औचित्य, सामर्थ्य, स्वर, साहचर्य, अन्य शब्दसात्रिष्य, व्यक्ति, देश, लिङ्ग, काल और कवियोंकी चेष्टा इत्यादि अर्थविशेषके कारण होते हैं ॥१७९॥

उदाहरण—

वज्रयुक्त हरि इस वाक्यमें वज्रके संयोगसे हरि शब्द इन्द्रका वाचक है । स्याद्वादेमें वह जिनसेव्य है, यहाँ जिनका अर्थ अहंन् है ॥१८०॥

पद्मविरोधी हरिः, इस वाक्यमें पद्मविरोधी होनेके कारण हरिका अर्थ चन्द्रमा है । 'देवः मां वेत्ति' इस वाक्यमें प्रकरणवश 'मां' से सत्यवादिका बोध होता है ॥१८१॥

'अपविः हरिः' इस वाक्यमें अस्त्रयोग न रहनेसे कृष्णकी प्रतीति होती है । 'स जिनः वः अव्यात्' इस वाक्यमें औचित्यके कारण सम्मुखताका बोध होता है ॥१८२॥

'कोकिलो मधो रीति' इस वाक्यमें मधुका अर्थ सामर्थ्यके कारण कसन्त माना जाता है । वेदमें जिस प्रकार स्वरके कारण अर्थ बदल जाता है उस प्रकार काव्यमें अर्थ परिवर्तन नहीं होता, ऐसा कतिपय कुदृष्टि (गलत विचारकों) का मत है ॥१८३॥

१. विरोधित्वे-ख । २. वच्छेदि-ख । ३. विशेषणस्य-ख । ४. स्याद्वादि.... ।

साहचर्येण कृष्णः स्यात्सीरिमाधवयोरिति ।
 १ राजा सज्योत्सन् इत्यस्य शब्दसंनिध्यतो विधौ ॥१८४॥
 अभान्मित्रमिति व्यक्त्या सुहृदो निश्चयो मतः ।
 अभान्मित्र इति लक्षणा सूर्यमण्डलनिश्चयः ॥१८५॥
 देवोऽत्र भाति चेत्युक्ते देशादत्रनिपस्मृतिः ।
 अङ्गजो मीनकेतुः स्यादिति लिङ्गात् स्मरस्मृतिः ॥१८६॥
 ३ विभाति सवितेत्युक्ते रात्रौ चेज्जनको मतः ।
 दिवसे चेद् रविः कालादर्थो निश्चीयते बृधैः ॥१८७॥
 एतन्मात्रकुचेत्युक्ते चेष्टयार्थविनिश्चितिः ।
 वस्त्वपि व्याप्तं तस्य व्यञ्जकं सहकृत्वतः ॥१८८॥
 नीरजेश्च निमोलद्भिर्नीडं गच्छद्भिरण्डजैः ।
 उत्पलैर्विकसद्भिश्च स्यादस्तंभतसूर्यधीः ॥१८९॥
 इति व्यङ्ग्यादिभणितिः ।
 गुणानां भेदं सूचयन्तो दोषाः कथ्यन्ते—

‘सीरिमाधवयोः’ इस वाक्यमें सीरिके साहचर्यसे माधव कृष्णका धौतक हुआ ।

‘सज्योत्सन्ः राजा’ इस वाक्यमें ‘सज्योत्सन्ः’के सांनिध्यसे राजा शब्द चन्द्रमाका बोध कराता है ॥१८४॥

‘अभान् मित्रम्’ इस वाक्यमें व्यक्तिके कारण ‘मित्रम्’का सुहृद् अर्थ है तथा ‘अभान् मित्रः’ ऐसा कहनेपर मित्रका अर्थ सूर्यमण्डल होता है ॥१८५॥

‘अत्र देवो भाति’ इस वाक्यके कहनेपर देशके कारण देव शब्द राजाका बोधक है । ‘अङ्गजः मीनकेतुः स्यात्’ इस वाक्यमें पुल्लिङ्ग निर्देशके कारण अंगज शब्द कामदेवका बोधक है ॥१८६॥

‘विभाति सविता’ इस वाक्यके कहनेपर रात्रिमें सविताका अर्थ जनक लिया जायेगा और दिनमें सूर्य अर्थ विद्वान् लोग कालसे अर्थनिर्णय करते हैं ॥१८७॥

‘एतन्मात्रकुचा’ इस वाक्यके कहनेपर चेष्टासे अर्थका निश्चय होता है । साथ रहनेके कारण वस्तु भी अर्थका व्यञ्जक मानी गयी है ॥१८८॥

संकुचित होते हुए कमलों, घोंसलेमें आते हुए पक्षियों तथा विकसित होते हुए कुमुदोंसे सूर्यास्तका बोध होता है ॥१८९॥

गुणोंके भेद कहते हुए दोषोंको सूचित किया जाता है ।

१. राजा सज्योत्सन् इत्यन्यशब्द—कन्ध । २. निधौ—ख । ३-४. विभातीत्यारम्य भणितिपर्यन्तं सप्रती मास्ति ।

काव्यहीनत्वहेतुर्यो दाषः शब्दार्थगोचरः ।

स शब्दार्थगतत्वेन द्वेषा संक्षेपतो मतः ॥१९०॥

पदवाक्यगतत्वेन शब्दगतोऽपि द्विधा । तत्र पदगतदोषा निरूप्यन्ते ।

नेयापुष्टनिरन्यगूढपदपूर्वार्थं विरुद्धाशय

ग्राम्यं क्लिष्टमयुक्तसंशयगताश्लोलाप्रतीतं च्युत ।

संस्कारं परुषाविमृष्टकरणीयांशं तथायोजक-

मन्यच्चास्ति तथासमर्थमिति ते सप्तोत्तराः स्मृदंश ॥१९१॥

नेयार्थं तु स्वसंकेतरचितार्थं मतं तथा ।

विकासयति नोरेजनिवहं गरुडध्वजः ॥१९२॥

गरुडध्वज इत्युक्ते विष्णुः स च हरिः हरिरित्युक्ते सूर्य इति ।

प्रस्तुतानुपयोग्यार्थमपुष्टार्थं मतं यथा ।

द्वादशाद्वाद्भिर्नाणि कल्पितानि महेश्वरे ॥१९३॥

दोषकी परिमाधा और उसका भेद—

काव्यके महत्त्वको बटानेका कारण शब्द और अर्थमें रहनेवाला दोष है, अतः शब्द और अर्थमें रहनेके कारण दो प्रकारके दोष माने गये हैं ॥१९०॥

पद और वाक्यमें रहनेसे शब्दमें स्थित दोष दो प्रकारके होते हैं । इनमेंसे पहले पदस्थित दोषोंका निरूपण किया जाता है ।

पददोष—नेयार्थ, अपुष्टार्थ, निरर्थ, अन्यार्थ, गूढपदपूर्वार्थ, विरुद्धाशय, ग्राम्य, क्लिष्ट, अयुक्त, संशय, अश्लोला, अप्रतीत, च्युतसंस्कार, परुष, अविमृष्टकरणीयांश, अयोजक और असमर्थ इस प्रकार सप्तह पददोष हैं ॥१९१॥

नेयार्थका स्वरूप और उदाहरण—

अपने संकेतसे युत निमित्त अर्थको नेयार्थ कहते हैं । यथा गरुडध्वज शब्द विष्णुका वाचक है, विष्णुको हरि कहते हैं और हरि कहनेसे सूर्यका भी बोध होता है । अतएव यहाँ गरुडध्वजका सूर्यकी वाचकतामें नेयार्थ दोष है ॥१९२॥

गरुडध्वज ऐसा कहनेसे विष्णुका बोध हुआ, वे हरि हैं और सूर्यको भी हरि कहा जाता है, अतएव गरुडध्वज यहाँ सूर्यका वाचक है ।

अपुष्टार्थका स्वरूप और उदाहरण—

प्रकृतमें अनुपयोगी अर्थको अपुष्टार्थ कहते हैं; यथा बारहके आधाके आधा नेत्र महेश्वरमें कल्पित है ॥१९३॥

श्रीणि लोचनानीति प्रस्तुते द्वादशाब्दार्द्धिनेत्राणीत्यनुपयोगः ।

यत्पादपूरणायैव निरर्थकमिदं यथा ।

अहं जिनेश्वरं वन्दे तु हि वै च महाधियम् ॥१९४॥

प्रच्युतं व्यक्तरूढैर्यत्तदन्यार्थं मतं यथा ।

विदग्धधर्मसद्भावो मिथ्यादृष्टिरभूदयम् ॥१९५॥

विदग्धशब्देन विशेषेण दग्धधर्मास्तित्वस्य अवचनात्, विद्वानिव धर्मवानिति (अ) वचनात् ।

यदुक्तमप्रसिद्धार्थं तद्गूढार्थमिदं यथा ।

मित्रोदयोऽब्जसंघातं विकासयति सर्वतः ॥१९६॥

मित्रशब्दः सूहृदर्थे प्रसिद्धः सूर्ये दुष्यति ।

विपरीतार्थधीकारि यद्विरुद्धाशयं यथा ।

भूतलोपकृदादोशः प्रबभौ तीर्थकृज्जिनः ॥१९७॥

प्रकृतमें तीन नेत्र कहना है, अतः यहाँ धारहके आधाका आधा कहना अनुप-
युक्त है ।

निरर्थकका स्वरूप और उदाहरण—

केवल पदका पूर्तिके लिए ही जिसका प्रयोग हुआ हो, उसे निरर्थक कहते हैं,
यथा—निश्चय ही मैं अत्यन्त बुद्धिशाली—केवलश्रान्ती जिनेश्वर भगवान्की स्तुति
करता हूँ ॥१९४॥

अन्यार्थका स्वरूप और उदाहरण—

स्पष्ट रूढिसे प्रच्युत अर्थको अन्यार्थ कहा गया है; यथा—उत्तम धर्म और स्व-
भाववाला यह मनुष्य मिथ्यादृष्टि ही गया है ॥१९५॥

यहाँ 'विदग्ध' शब्दसे, विशेष रूपसे दग्ध धर्मको सत्ताके नहीं कहे जानेसे और
विद्वान्के समान धर्मवान् कहनेसे अन्यार्थ दोष है ।

गूढार्थ दोषका स्वरूप और उदाहरण—

जो अप्रसिद्ध अर्थमें कहा गया हो, उसे गूढार्थ कहते हैं; यथा—मित्रका उदय
सभी प्रकारसे कमलसमूहको विकसित करता है । यहाँ 'मित्र' शब्द सूहृद् अर्थमें प्रसिद्ध
है, अतः सूर्य अर्थमें प्रयुक्त होनेसे गूढार्थ नामक दोष है ॥१९६॥

विरुद्धाशयका स्वरूप और उदाहरण—

जो विपरीत अर्थका बोध कराता है, उसे विरुद्धाशय कहते हैं । यथा—सम्पूर्ण
पृथिवीके प्राणियोंका उपकार करनेवाले आदि तीर्थकर विशेष सोभित हुए ॥१९७॥

१. प्रस्तुतं त्यक्त (व्यक्त) रूढैर्यत् तदस्यार्थं यथा -ख । २. धर्मवानित्यर्थवचनात् -क ।
धर्मवानित्यवचनात् -ख । ३. कृताधीशः -ख ।

भूतानां जीवानां लोपं करोतीति विरुद्धार्थमतिकृत् ।

यत्पामरप्रयोगे तु प्रसिद्धं ग्राम्यमिष्यते ।

योषितो गल्लमालोक्य दर्पणं स्मरति स्म सः ॥१९८॥

गल्लशब्दस्य कपोलवाचकतया ग्राम्यप्रयोगः ।

यैत्रार्थनिश्चयो दूरदूरः क्लिष्टमिदं यथा ।

जिनो रात्वीश्वरापोडसमुत्पत्तिस्थलोद्भवाम् ॥१९९॥

ईश्वरस्यापीडचन्द्रसमुत्पत्तिस्थलं समुद्रस्तत्र जातां लक्ष्मीमित्यति-
दूरत्वम् ।

कविभिर्न प्रयुक्तं तदप्रयुक्तं मतं यथा ।

प्रमाणाः पुरुषाः शर्वे स्याद्वादन्याद्वैचिनः ॥२००॥

प्रमाणा इति कविप्रयोगाभावः ।

अर्थसंदिग्धकारि स्यात्तत्संदिग्धमिदं यथा ।

जायते नितरां क्रीडा नितम्बेषु महीभृताम् ॥२०१॥

यहाँ भूलोपकृत् अर्थात् प्राणियोंका लोप करनेवाला इस अर्थको प्रतीतिको सम्भावनाके कारण विरुद्धार्थमतिकृत् दोष है ।

ग्राम्यदोषका स्वरूप और उदाहरण—

जो शब्द तुच्छ व्यक्तियोंके प्रयोगमें प्रसिद्ध है, उसे ग्राम्यदोष कहते हैं । यथा—
वह नारीके कपोलको देखकर दर्पणका स्मरण करता है ॥१९८॥

इस पद्यमें 'गल्ल' शब्दका प्रयोग कपोल अर्थमें किये जानेके कारण ग्राम्य-
दोष है ।

क्लिष्टार्थ दोष और उसका उदाहरण—

जिस पद्यमें अर्थका निश्चय दूर तक कल्पना करनेपर होता हो उसे क्लिष्ट कहते हैं । यथा—जिन भगवान् चन्द्रके उत्पत्तिस्थान समुद्रसे उत्पन्न लक्ष्मीको प्रदान करें ॥१९९॥

कवियोंके द्वारा जिसका प्रयोग न हुआ हो उसे अप्रयुक्त कहते हैं । यथा—
स्याद्वादन्यायके जाननेवाले सभी पुरुष प्रमाण है ॥२००॥

'प्रमाणाः' ऐसा प्रयोग कवि लोग नहीं करते हैं, यहाँ यह शब्द अप्रयुक्त है,
अतएव अप्रयुक्त दोष है ।

संदिग्धत्व और उसका उदाहरण—

जो अर्थमें सन्देहजनक हो, उसे संदिग्धत्व कहते हैं । यथा—राजाओंको क्रीडा
नितम्बोंपर सदा हुआ करती है ॥२०१॥

१. यथार्थयो दूरतरः—ख । २. चन्द्रस्तस्य समुत्प...ख । ३. अर्थसंदिग्धकारि...क-ख ।

राजां स्वस्त्रीजघनेषु क्रीडा वा आहोस्विद् गिरीणां सानुष्विति संशयात् ।

जुगुप्सामङ्गलघ्रीडाधीकृदश्लोकं त्रिधा ।

सोऽध उत्सर्गवास्तन्त्रः कृतान्तस्य महात्रिकः ॥२०२॥

अधोगतिवजितः शास्त्रकृत्परः महानत्रिमुनिः । पक्षे—अध उत्सर्ग इत्यत्र अधोवायुप्रतीतेर्जुगुप्सा । कृतान्तस्य तन्त्र इत्यत्र यमाधोनत्वप्रतीतेरमाङ्गल्यम् । महात्रिक इति पृष्ठवंशाधरे त्रिकमिति प्रतीतेर्घ्रीडा ।

शास्त्रेणैव प्रसिद्धं तदप्रतीतमिदं यथा ।

प्रशस्तौघ इवारीणां प्रशमाय क्षमो निघोत् ॥२०३॥

प्रशस्तौघः असंयतादिगुणस्थानमिति ओघ आगममात्रप्रसिद्धः ।

विरुद्धं शब्दशास्त्रेण च्युतसंस्कारमीरितम् ।

उत्पन्ति शक्तिक्षारेण नत्वा वैकुण्ठजिनेन्द्र ॥२०४॥

यहाँ राजाओंकी क्रीडा स्त्रियोंके जघनस्थलोंपर या पर्वतके शिखरोंपर हुआ करती है, इसमें सन्देह होनेसे सन्दिग्धत्व दोष है ।

अश्लीलत्वदोष और उसके भेद—

जुगुप्सा, अमंगल और घ्रीडा उत्पादक शब्द जब श्लोक या पद्यमें आते हैं तो वहाँ अश्लीलता दोष माना जाता है । यह तीन प्रकारका होता है—(१) जुगुप्सा उत्पादक, (२) अमंगल सूचक, (३) घ्रीडा उत्पादक । यथा—अधोगतिसे रहित यमराजके शास्त्रके निर्माणकर्ता महामुनि अत्रि है ॥२०२॥

अधोगतिसे रहित शास्त्रनिर्माता महान् अत्रि मुनि । दूसरे पक्षमें अधः उपसर्ग यहाँ अधोवायुकी प्रतीति करानेसे जुगुप्सा सूचक है । 'कृतान्तस्य तन्त्रः' इस पदमें यमाधोनताकी प्रतीति होनेसे अमंगल सूचक है । 'महात्रिकः'में पृष्ठवंशके आधारकी प्रतीति त्रिक घ्रीडाजनक है ।

अप्रतीतित्वदोष और उसका उदाहरण—

जो केवल शास्त्रमें ही प्रसिद्ध हो उसे अप्रतीतत्व दोष कहते हैं । यथा—असंयत गुणोंके शास्ता चक्रवर्ती भरत शत्रुओंको शान्त करनेमें सर्वथा समर्थ है ॥२०३॥

'प्रशस्तौघः' इस पदमें ओघ शब्द असंयतगुणका वाचक है, पर केवल आगममें ही यह शब्द उक्त अर्थका वाचक माना गया है । लोकमें इस अर्थमें ओघ शब्द प्रचलित नहीं है ।

च्युतसंस्कारका स्वरूप और उदाहरण—

जो व्याकरणके अनुसार अशुद्ध हो उसे च्युतसंस्कार दोष कहते हैं । यथा—भक्तिभावनासे विनीत देवगण जिनेन्द्र भगवान्की वन्दना करते हैं ॥२०४॥

१. घ्रीडाधिकृताश्लोकम्—ख । २. शास्त्रतत्परः—क-ख । ३. उत्सर्गवानित्यत्र—ख ।

४. तदप्रतीतं यथा—ख । ५. प्रशस्तौघ ख ।

परुषाक्षरवलृप्तं यत् परुषं कथितं यथा ।

उर्वर्तिर्नोपदेष्टा स्यात्स्त्रष्ट्रा धर्मान्निरूपितात् ॥२०५॥

अविमृष्टविधेयांशं विधेयगुणता यथा ।

व्यर्थप्रतापशत्रूणां कथं वृत्तिस्तु सहाते ॥२०६॥

प्रतापस्य व्यर्थत्वेन मुख्यतया विधेये तस्य गौणत्वं प्रतीयते ।

विशेषावचनं यत्तदप्रयोजकमुच्यते ।

तत्त्वोपदेशतः पूर्वं मिथ्यादृष्टिं जिनं नमः ॥२०७॥

मुखप्रदं जिनं नम इति प्रकृते तत्त्वोपदेशश्रवणात् पूर्वं मिथ्यादृष्टिमिति

विशेषणेन विशेषाकण्ठान् !

प्रयुक्तं योगिकादेवासमर्थमिह तद्यथा ।

अम्भोधर इवात्यन्तगम्भीरो भरतेश्वरः ॥२०८॥

अम्भोधरशब्दः समुद्रवाचकत्वेनासमर्थः ।

‘वन्दन्ति’ यह पद व्याकरणकी दृष्टिसे अशुद्ध है, क्योंकि वदि घातु आत्मनेपदो है । अतएव ‘वन्दन्ते’ पद होना चाहिए, वन्दन्ति नहीं ।

परुषत्व दोषका स्वरूप और उदाहरण—

जो पद्य कर्कश अक्षरोंके योगसे निर्मित हों, उनमें परुषत्व दोष होता है । यथा—उपदेश देनेवाले एवं शत्रु (सर्जक) द्वारा निरूपित धर्मसे अधिक कष्ट नहीं होता ॥२०५॥

अविमृष्टविधेयांश दोष—जहाँ विधेय गौण हो जाये वहाँ अविमृष्टविधेयांश दोष होता है । जैसे—व्यर्थ प्रतापवाले शत्रुओंका व्यवहार कैसे सहा जा सकता है ॥२०६॥

प्रतापके व्यर्थ होनेसे मुख्य होनेके कारण विधेय अर्थमें उसकी गौणता प्रतीत होती है ।

अप्रयोजक दोष—जहाँ विशेषणसे विशेष कुछ न कहा गया हो वहाँ अप्रयोजक दोष होता है । यथा—तत्त्वोपदेशके पूर्व मिथ्यादृष्टिं जिनको नमस्कार है ॥२०७॥

यहाँ मुखप्रदं जिनको नमस्कार है, इस प्रकरणमें तत्त्वोपदेश सुननेके पहले मिथ्या-दृष्टि इस विशेषणसे विशेष कुछ भी नहीं कहा गया है ।

असमर्थत्व दोष—जहाँ केवल योगिकसे ही प्रयुक्त शब्द हों वहाँ असमर्थत्व नामका दोष होता है । यथा—चक्रवर्ती भरत अम्भोधरके समान गम्भीर है ॥२०८॥

यहाँ ‘अम्भोधर’ शब्द मेघ अर्थमें प्रसिद्ध है । अतः समुद्र वाचक अर्थमें असमर्थ है अर्थात् समुद्रका बोध योगिक अर्थ होने पर ही किसी प्रकार सम्भव है, अन्यथा नहीं ।

छन्दोरोतियतिक्रमाङ्गवसंबन्धार्थसंविच्युतं
 व्याकीर्णं पुनरुक्तमस्थितिसमासं सर्गलुप्तं तथा ।
 वाक्याकीर्णमुवाक्यगर्भितपतत्प्रोक्तृष्टताप्रक्रम-
 भङ्गन्यूनपरोपमाधिकपदं भिन्नोक्तिलिङ्गे तथा ॥२०९॥

समाप्तपुनरात्तं चापूर्णाभित्येवमीरिताः ।
 चतुर्विंशतित्रा वाक्यदोषा ज्ञेयाः कवीश्वरैः ॥२१०॥

छन्दोभङ्गवदुक्तिर्या छन्दोभ्रष्टमिदं यथा ।
 जिनेश्वरं वन्दामहे भव्यबन्धुं त्वां विभवम् ॥२११॥

रसानुरूपरीतिर्नो यत्र रीतिच्युतं यथा ।
 अखण्डचण्डदोर्दण्डमण्डिता हा मृता इमे ॥२१२॥

करुणेऽक्षराडम्बरमनुचितम् ।
 विश्रान्तिभ्रंशनं यत्र यत्तिभ्रष्टमिदं यथा ।
 जिनेशपदयुग्मं वन्दे भक्तिभरसनतः ॥२१३॥

चौथीस वाक्य दोष—(१) छन्दश्च्युत, (२) रीतिच्युत, (३) यतिच्युत, (४) क्रमच्युत, (५) अंगच्युत, (६) शब्दच्युत, (७) सम्बन्धच्युत, (८) अर्थच्युत, (९) सन्धिच्युत, (१०) व्याकीर्ण, (११) पुनरुक्त, (१२) अस्थिति-समास, (१३) विसर्गलुप्त, (१४) वाक्याकीर्ण, (१५) मुवाक्यगर्भित, (१६) पतत्प्रोक्तृष्टता, (१७) प्रक्रमभंग, (१८) न्यूनपद, (१९) उपमाधिक, (२०) अधिकपद, (२१) भिन्नोक्ति, (२२) भिन्नलिङ्ग, (२३) समाप्त, पुनरात्त और (२४) अपूर्ण ॥२०९-२१०॥

(१) छन्दश्च्युत—जिस पद्यमें छन्दका भंग हो उसे छन्दोभ्रष्ट या छन्दश्च्युत कहते हैं । यथा—भव्य बन्धु तथा तुल्य मुक्त जिनेश्वरको हम प्रणाम करते हैं । यहाँ छन्दोभंग या छन्दश्च्युत दोष है ॥२११॥

(२) रीतिच्युत—जिस पद्यमें रसके अनुरूप रीति—पदगठन न हो वहाँ रीति-च्युत नामका दोष होता है । यथा—हा ! खेद है कि अखण्ड और भयंकर बाहुदण्डोंसे सुखोभित ये वीर मृत्युको प्राप्त हुए ॥२१२॥

करुण रसमें अक्षरोंका आडम्बर सर्वथा अनुचित है ।

(३) यतिच्युत—जिस पद्यमें यतिका भंग हो उसे यतिभ्रष्ट या यतिच्युत दोष कहते हैं । यथा—भक्तिके भारसे अच्छी तरह झुका हुआ मैं जिनेश्वरके दोनों चरणोंको नमस्कार करता हूँ ॥२१३॥

शब्दो वाऽर्थोऽक्रमो यत्र क्रमश्रष्टमिदं यथा ।

सुप्रदा स्नात्वा गुणं स्नाता जिने कश्चित् प्रवन्दते ॥२१४॥

अर्थक्रमः ।

गम्भीरिमौन्नतिद्वन्द्वे मग्नौ मेरुदधी अपि ।

शाब्दोऽक्रमः । गम्भीरत्वे उदधिरोन्नत्ये मेरुरिति शब्दक्रमाभावात् । गम्भीरिमौन्नत्ययोर्मेरुदधी इति यथोचित्यमर्थान्वये सिद्धे अर्थविरोधो न किन्तु शाब्द एव क्रमभङ्गः ।

क्रियापदेन हीनं यदशरीरं मतं यथा ।

भीतानरीन् रथाङ्गेशः षट्खण्डपरिरक्षकः ॥२१५॥

अबद्धशब्दवाक्यं यच्छब्दहीनमिदं यथा ।

सुखं संगच्छते नात्र विषयान्ध्याच्च्युतत्रताः ॥२१६॥

(ध) क्रमच्युत—जिस पदमें शब्द या अर्थ क्रमसे न हों उसमें क्रमच्युत दोष होता है । यथा—कोई सोकर, स्नानकर, गुणको प्रणाम कर जिनेश्वरकी वन्दना करता है ॥२१४॥

यहाँ अर्थका क्रमभंग है ।

चक्रवर्ती भरतकी गम्भीरता और उन्नति इन दोनोंमें मेरुपर्वत और समुद्र दोनों मग्न हो गये ।

यहाँ शब्द क्रमच्युत है । गम्भीरतामें समुद्र और ऊँचाईमें मेरु इस प्रकारका क्रम होना चाहिए था । 'गम्भीरता' और उन्नत्यमें मेरु और उदधिका यथायोग्य अर्थमें अन्वय करनेपर दोष नहीं है इसलिए अर्थ विरोध भी नहीं है । अतः यह शब्द सम्बन्धी ही क्रमभंग है ।

(न) अंगच्युत—जो पद क्रिया पदसे रहित हो उसमें अंगच्युत दोष मानते हैं । यथा—षट्खण्ड भूमिके संरक्षक चक्रवर्ती भरत डरे हुए शत्रुओंको ॥२१५॥

(द) शब्दच्युत—जो अबद्ध शब्द वाला वाक्य हो उसे शब्दच्युत दोष कहते हैं । यथा—विषयान्धतासे नष्ट नियमवाला मनुष्य इस संसारमें सुख नहीं पाता है ॥२१६॥

'सुखं न संगच्छते' इन दो पदों के प्रयोगमें दोष निश्चयके कारण वाक्य दोष ही है, पददोष नहीं । सम् पूर्वक $\sqrt{\text{गम्}}$ धातुके आत्मनेपद होनेमें कर्मकारकका ग्रहण नहीं होता ।

सुखं न संगच्छते इति पदद्वयप्रयोगे दोषनिश्चयाद् वाक्यदोष एव, न पददोषः । सम्पूर्वस्य गम्घातोरात्मनेपदत्वे कर्मकारकस्याग्रहणीयमानत्वात् ।

अनन्वयमिहोक्तं यत्तत्संबन्धच्युतं यथा ।

पाठं शिला घटो राजा प्रतापो भूमिरन्धकः ॥२१७॥

वक्तव्यं यत्र यन्नोक्तं वाच्यच्युतमिदं यथा ।

मतं जीवितमस्माकं दुश्चेष्टावशवर्तिनाम् ॥२१८॥

दुश्चेष्टावशवर्तिनामपीति अपिशब्दे वक्तव्ये नोक्तः ।

सन्धिसादी विरूपो वा सन्धिच्युतश्च यथा ।

विद्या इह अमुत्र त्वां पातुं स्वेष्टमुपे जिनः ॥२१९॥

सुसमर्थो हर्षायाभवदित्यर्थे स्वेष्ट इति सन्धिविरूपता ।

मिथोऽन्वये विभक्तीनां कीर्णे व्याकीर्णमिष्यते ।

पुरोरुक्त्यमृतं पश्यन् पिबन्नाननमास्थितः ॥२२०॥

(७) सम्बन्धच्युत—पद्यमें समागत पदोंका परस्पर अन्वय जहाँ नहीं कहा गया हो वहाँ सम्बन्धच्युत नामक दोष होता है । यथा—पीठ, शिला, घट, राजा, प्रताप, भूमि, अन्धक इन शब्दोंका परस्पर अन्वय नहीं है ॥२१७॥

(८) अर्थच्युत—जिस पद्यमें आवश्यक शक्तव्य न कहा गया हो उसे वाच्यच्युत या अर्थच्युत कहते हैं । यथा—दुश्चेष्टाके अधीन हमलोगोंका जीवन माना गया है ॥२१८॥

यहाँ दुष्ट चेष्टाके वशमें रहनेवालोंके पश्चात् अपि शब्दका प्रयोग करना चाहिए था, पर उस का प्रयोग नहीं किया गया है, अतः अर्थच्युत दोष है ।

(९) सन्धिच्युत—सन्धिका अभाव या विरूप सन्धिको सन्धिच्युत दोष कहते हैं । यथा—‘विद्या इह’ में सन्धिका अभाव है । यहाँ इस लोक और परलोकमें विद्या तुम्हारी रक्षा करे । जिन भगवान् आनन्ददायक हैं ॥२१९॥

अच्छी तरहसे समर्थ आनन्दके लिए हुआ इस अर्थमें यहाँ ‘स्वेष्ट’ शब्द है, अतः ‘स्वेष्ट’में सन्धि विरूपता है तथा ‘विद्या इह अमुत्र’ में सन्धिका अभाव है ।

(१०) व्याकीर्ण—विभक्तियोंके आपसमें अन्वय व्याप्त रहनेपर व्याकीर्ण नामका दोष होता है । यथा—पुरुके उक्तिरूपो पीयूषको पीते तथा पुरुके मुखको देखते हुए रह गये ॥२२०॥

१. मानीयमानत्वात् —इ । २. पान्तु स्वेष्टमुधे जिनः —क-ख ।

वाक्सुधां पिबन्नास्यं पश्यन्निश्चिन्वयः ।

वानर्यं शब्दार्थयोः पातरुक्त्ये तत्पुनरुक्तिकम् ।

भात्यास्थाने विभुः सायमास्थानविहितस्थितिः ॥२२१॥

समासो लोचितो यत्र ह्यपदस्यसमासकम् ।

कुतोऽस्मासु विधिदुर्दृगिति रक्ताम्बकाननाः ॥२२२॥

कुतोऽस्मासु विमुखो निधिरिति ब्रह्मणे कुप्यतां रिपूणां वचने न समासः,
अपि तु कविवचने समासः कृत इत्यस्थानस्थसमासः^१ ।

विसर्गो बहुधा यत्र लोपमोत्वं च वाप्नुयात् ।

प्रोक्तं लुप्तविसर्गं तद् वाक्यदोषविदा यथा ॥२२३॥

मनोहरो मनोऽभीष्टो वरो धर्मो जिनोदितः ।

पूज्या वन्द्या वरा वीरा गप्या वीरा जिना इमे ॥२२४॥

यहाँ पुरुके लक्षित अमृत और आनन दोनोंमें पिबन् ग्याप्त रहनेसे व्याकीर्ण दोष है अर्थात् वाक्य रूपी अमृतको पाता हुआ और मुँहको देखता हुआ इस प्रकार अशक्य है ।

(११) पुनरुक्त दोष—शब्द और अर्थकी पुनरुक्ति होनेपर पुनरुक्तत्व नामका दोष होता है । यथा—सायंकाल सभामण्डपमें स्थिति करनेवाले विभु सर्वव्यापक सभामण्डपमें सुशोभित हो रहे हैं । यहाँ 'आस्थान' शब्दकी पुनरुक्ति है ॥२२१॥

(१२) अस्थिति समास—जिस पदमें समास उचित नहीं है वहाँ अपदस्य समास नामका दोष होता है । यथा—हम पर विधि रूढ है, अतः हमारे पास रक्ताम्बकानन कहाँ है । २२२॥

क्या हमपर विधि विमुख है, इस प्रकार ब्रह्मापर कुपित होनेवाले शत्रुओंके वचनमें समास नहीं है, इसके विपरीत कविके वचनमें समास है, अतः यह अस्थिति समास नामक दोष है ।

(१३) विसर्ग लुप्त—जहाँ विसर्ग अधिकतर ओत्व या लुप्तको प्राप्त हो उसे वाक्यदोषके जानकारोंने लुप्तविसर्ग नामक दोष कहा है ॥२२३॥ यथा—

जिनेश्वरसे कहा हुआ धर्म अच्छा, मन्तारहारी और मनकी अभिलाषाको पूर्ण करनेवाला है । यहाँ अनेक बार विसर्गका ओत्व हुआ है । 'मनोहरो मनोऽभीष्टो वरो धर्मो' आदिमें विसर्गका ओत्व है तथा पदके उत्तरार्धमें अनेक बार विसर्गका लोप हुआ है ॥२२४॥

पूर्वाद्धे ओत्वं विसर्गस्य बहुधान्यश्च तु लोपः ।

अन्यवाक्यपदाकीर्णं वाक्यसंकीर्णमिष्यते ।

खड्गः प्राप्नोति तद्बाहौ यशो बाभाति दिक्तटम् ॥२२५॥

यशो दिक्तटं प्राप्नोति तद्बाहौ खड्गो बाभातीति वाक्यद्वयपदानां परस्परसङ्कीर्णता ।

यस्य वाक्यान्तरं मध्ये भवेत् तद्वाक्यगर्भितम् ।

जिनेनोक्तो विधुः खेऽभाद् धर्मो रक्षति विष्णुम् ॥२२६॥

जिनेनोक्तो धर्मो लोकं पातीति वाक्यमध्ये खे विधुरभादिति भिन्न-वाक्यप्रवेशः ।

पत्तप्रकर्षमेतत्स्थितप्रकर्षो विश्लथो यथा ।

धात्रदेणे चलद्ब्याघ्रे विन्ध्यारण्येऽरयः स्थिताः ॥२२७॥

सचलद्ब्याघ्रे पलायमानहरिणे इति वक्तव्ये न तथोदितम् ।

पूर्वार्धमें ओत्व और उत्तरार्धमें विसर्गलोप आया है ।

(१४) वाक्याकीर्ण—दूसरे वाक्यके पद दूसरे वाक्यमें व्याप्त हों वही वाक्य-संकीर्ण नामक दोष होता है । यथा—उसके बाहुपर तलवार गिरती है और उसका यश दिशाओंके अन्तमें बार-बार प्रकाशित होने लगता है ॥२२५॥

यश दिशाओंके अन्तमें पहुँचता है और उसके बाहुओंपर तलवार चमकती है । इन दोनों वाक्योंके पद परस्परमें मिले हुए हैं ।

(१५) सुवाक्यगर्भित—जिस वाक्यके बीचमें दूसरा वाक्य आ पड़े, उसे सुवाक्यगर्भित कहते हैं । यथा—जिनेश्वरसे कहा हुआ धर्म लोगोंको रक्षा करता है, इस वाक्यके बीचमें चन्द्रमा आकाशमें चमकता है, यह वाक्य आ पड़ा है, इसलिए यहाँ वाक्यगर्भित नामका दोष है ॥२२६॥

जिनश्लोक 'धर्म 'लोकं पातीति' वाक्यके मध्यमें 'खे विधुरभादिति' भिन्न वाक्य प्रविष्ट हो गया है ।

(१६) पत्तप्रकर्षता—जिस पदमें क्रमशः प्रकर्ष शिथिल सा दीख पड़े उसमें पत्तप्रकर्षता नामका दोष होता है । जैसे—घूमते हुए व्याघ्रवाले तथा दौड़ते हुए हिरण-वाले विन्ध्याचल पर्वतके जंगलमें सशु भागकर छिप गये ॥२२७॥

यह अच्छी तरहसे घूमते हुए व्याघ्रवाले तथा दौड़ते हुए हिरणवाले विन्ध्य जंगलमें कहना चाहिए था, किन्तु नहीं कहा गया, इसलिए दोष है ।

प्रारब्धनियमत्यागि^१ भिन्नप्रक्रमकं यथा ।

गुञ्जा मुक्ता लताः कान्ता विन्ध्यारण्यं पुरं द्विषाम् ॥२२८॥

बहुवचनत्वेन प्रारम्भे विन्ध्यारण्यं पुरमित्येकवचने^३ प्रक्रमभङ्गः ।

न्यूनं यत्रोपमानं तन्न्यूनोपममिदं यथा ।

स्त्रीबाहुनखपीडोऽरिर्वने कण्टकमेदवान् ॥२२९॥

स्ववधा बाहुभ्यां नखैः संपीडितश्चक्रिणोऽरिः तद्भयादरण्ये कण्टकैः पीडयत इत्यत्र नखस्थाने कण्टकवचनं बाहुस्थाने किमपि लोक्तमिति न्यूनोपमात्वम् ।

उपमानाधिक्यं तदधिकोपमकं यथा ।

म्लानास्थाऽरिवधूर्ग्रीष्मे म्लानाऽब्जोत्पलसिन्धुवत् ॥२३०॥

म्लानवक्त्रायाश्चक्रिरिषुषोषितः उपमाभूतायां नद्यां म्लानाब्जमात्रं वक्तव्यं म्लानोत्पलमित्यधिकम् ।

(१७) प्रक्रमभंग—जिस पद्यमें प्रारम्भ किये हुए किसी नियमका त्याग होता है वहाँ भग्नप्रक्रम नामका दोष आता है । जैसे—चक्रवर्ती भरतके शत्रुओंके लिए गुंजाफल—मोती; लताएँ—स्त्रियाँ एवं विन्ध्याचलका अरण्य नगर हो गया । यहाँ 'गुंजाफल मुक्ता बन गये हैं', में गुंजाः मुक्ताः को बहुवचनसे प्रारम्भ किया गया है, किन्तु अन्तमें इसका त्यागकर 'पुरं' में एकवचनका प्रयोग किया है, इसलिए यहाँ प्रक्रमभंग नामका दोष है ॥२२८॥

बहुवचनसे प्रारम्भकर एकवचनमें अन्त कर देनेसे क्रमका निर्वाह नहीं हुआ है, अतः प्रक्रमभंग नामक दोष है ।

(१८) न्यूनोपमदोष—जहाँ उपमेयकी अपेक्षा उपमान न्यून आन पड़े वहाँ न्यूनोपमदोष होता है । जैसे—अपनी स्त्रीके बाहु और नखोंसे पीड़ित भरतका शत्रु जंगलमें कंटकोसे छिद गया ॥२२९॥

अपनी स्त्रीके बाहु और नखोंसे संपीडित भरतका शत्रु उसके भयसे धनमें कण्टकसे पीड़ित हुआ । यहाँ नखके स्थानमें कण्टक तो कहा गया है, पर बाहुके स्थानमें कुछ नहीं कहा है, अतः न्यूनोपम दोष है ।

(१९) उपमाधिक—जिस पद्यमें उपमेयकी अपेक्षा उपमानकी अधिकता हो वहाँ अधिकोपम नामक दोष होता है । जैसे—श्रीधमञ्जनुमें शत्रुकी पत्नी म्लानकमल और कुमुदवाली नदीके समान मुरझाये हुए मुखवाली हो गयी ॥२३०॥

भरतके शत्रुकी म्लान मुखवाली नारीकी उपमा नदीमें केवल म्लान कमलके साथ देनी चाहिए थी, पर म्लानोत्पलका अधिक प्रयोग हुआ है ।

१. त्यागी—क । २. भग्नप्रक्रमकम्—क-ख । ३. वचनेद-ख । ४. म्लानास्था....यथा पर्यन्त—खप्रती नास्ति ।

वाक्येऽधिकपदानि स्वयंवाऽधिकपदं यथा ।

धर्मं प्रणयति प्राज्यं धर्मराजस्तथागतः ॥२३१॥

लिङ्गोक्तिः चोपमाभिन्ने भिन्नलिङ्गोक्तिकद्वयम् ।

मनो गम्भीरमब्धिर्वा हारस्ते निर्झरा इव ॥२३२॥

समाप्तपुनरात्तं स्यात् समाप्तस्वीकृतिः पुनः ।

बहुदुःखास्पदेऽरण्ये तिष्ठामः क्रूरमल्लुके ॥२३३॥

बहुदुःखास्पदेऽरण्ये तिष्ठाम इति समाप्य क्रूरमल्लुक इति पुनः स्वीकारात् ।

क्रियान्वयो न संपूर्णो यत्रापूरुणमिदं यथा ।

स्वप्नेऽस्माकं स्थितिः क्रूरैः सखान् पश्यन् जिनः स्थितः ॥२३४॥

नारकक्रूरबान्धवान् नरकवासानस्मान् पश्यन्निति वक्तुमिष्टौ न संपूर्णः ।

(२०) अधिकपद—जिस वाक्यमें अधिक पद हों, वह अधिकपद नामका दोष होता है। जैसे—तथागत धर्मराज बहुत अधिक धर्मका प्रवचन करते हैं ॥२३१॥

(२१-२२) भिन्नोक्ति और भिन्नलिङ्ग—उपमाकी भिन्नतामें लिङ्गोक्ति और भिन्नलिङ्गोक्ति नामक दोष होते हैं। जैसे—मन गम्भीर है या समुद्र। यहाँ मन नपुंसक है; अतः 'अब्धिः' को भी नपुंसक लिंग होना चाहिए तथा 'ते हारः निर्झरा इव'में हार एकवचन और निर्झरा बहुवचन है, अतः भिन्नवचनोक्ति दोष है। इसी प्रकार 'मनोगम्भीरमब्धिः'में 'मन' नपुंसक लिंग है और 'अब्धिः' पुल्लिंग है, अतः भिन्नलिङ्गोक्ति दोष है ॥२३२॥

(२३) समाप्तपुनरात्त—समाप्त वाक्यको पुनः दूसरे विशेषणसे जहाँ कहा जाये वहाँ समाप्तपुनरात्त दोष होता है। जैसे—बहुत दुःखके स्थान जंगलमें हमलोग रहते हैं, इस वाक्यके समाप्त हो जानेपर बहुत भालूवाले जंगलमें, यह विशेषण कहा गया है, अतः यहाँ समाप्तपुनरात्त नामका दोष है ॥२३३॥

बहुत दुःखके स्थान जंगलमें रहते हैं, इस वाक्यको समाप्तकर क्रूर भालूवाले यह विशेषण पुनः प्रयुक्त हुआ है, इसलिए उक्त दोष है।

(२४) अपूर्ण दोष—जिसमें सम्पूर्ण क्रियाका अन्वय न हो, वहाँ अपूर्ण दोष होता है। जैसे—नरकके क्रूर जोरोंके साथ हमारी स्थिति है, इसलिए नरकवासी हम लोगोंको देखते हुए ऐसा कहना इष्ट था, जो नहीं कहा गया, इसलिए अपूर्ण नामक दोष है ॥२३४॥

नरकके क्रूर बन्धुओंको तथा नरकवासी हम लोगोंकी देखते हुए यह कहना इष्ट था, जो नहीं कहा गया है, अतः अपूर्ण दोष है।

एकापव्यर्थभिन्नाक्रमपरुषगतालंकृतोन्वप्रसिद्ध-

सादृश्यं हेतुशून्यं विरससहचरभ्रष्टके संशयाद्वचम् ।

अश्लीलं चातिमात्रं विसदृशसमताहीनसामान्यसाम्ये

लोकाद्युक्त्या विरुद्धं स्युरिति कविमतेऽष्टादशोत्थदोषाः ॥२३५॥

अभिन्नार्थकमुक्तेन यदेकार्थमिदं यथा ।

तुष्टः पीनस्तनीं दृष्ट्वा हृष्टो वीक्ष्य पृथुस्तनीम् ॥२३६॥

वाक्यार्थरहितं यत्तदपार्थमिह तद्यथा ।

दाराः के मेरुरुत्तुङ्गो नद्यः शुक्रास्तु के गजाः ॥२३७॥

^२अत्र कोऽपि समुदायार्थो न पुष्टः ।

^३प्रयोजनोज्झितं प्रोक्तं यत्तद्व्यर्थमिदं यथा ।

शौर्याब्धिस्ते महान् बंग किमु चक्री न सेव्यते ॥२३८॥

भो बंगदेशाधिप शौर्याब्धिस्ते महानिति स्तुतिश्चक्री सेव्यतामित्युपदेशे न युज्यते ।

अर्थदोष—अर्थदोष अठारह होते हैं—(१) एकार्थ (२) अपार्थ (३) व्यर्थ (४) भिन्न (५) अक्रम (६) परुष (७) अलंकारहीनता (८) अप्रसिद्ध (९) हेतुशून्य (१०) विरस (११) सहचरभ्रष्ट (१२) संशयाद्वच (१३) अश्लील (१४) अतिमात्र (१५) विसदृश (१६) समताहीन (१७) सामान्य साम्य (१८) विरुद्ध ॥२३५॥

(१) एकार्थ—कहे हुए अर्थ से जो भिन्न न हो, उसे एकार्थ कहते हैं। यथा—कोई व्यक्ति पीनस्तनीको देखकर सन्तुष्ट हुआ और पृथुस्तनीको देखकर प्रसन्न हुआ। यहाँ पीनस्तनीको देखकर सन्तुष्ट हुआ, इसी अर्थको पृथुस्तनीको देखकर प्रसन्न हुआ, द्वारा कहा गया है। अतः एकार्थ दोष है ॥२३६॥

(२) अपार्थ—जो पद्य वाक्यार्थसे रहित हो, उसे अपार्थ कहते हैं। जैसे—‘दाराः’के इस पंक्तिमें शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थ तो है, किन्तु समुदायरूप वाक्यका अर्थ नहीं है, अतः अपार्थ दोष है ॥२३७॥

यहाँ किसी भी समुदायार्थकी पुष्टि नहीं होती है।

(३) व्यर्थ—जो प्रयोजनसे रहित वाक्यार्थवाला हो, उसे व्यर्थ कहते हैं; जैसे—हे बंगदेश, तुम्हारा शौर्यसागर महान् है, तुम चक्रवर्ती भरतकी सेवा क्यों नहीं करते ॥२३८॥

बंगदेशके अधिपति तुम्हारा शौर्यसागर महान् है, यह प्रशंसा है, चक्रीकी सेवा करो, यह उपदेश है। अतः प्रशंसाकी प्रयोजनरहितता होनेसे व्यर्थ दोष है।

१. ते के इत्यस्य स्थानं ते—ख । २. अत्र कोऽपि सोऽपि समुदायार्थो पुष्टः—ख । ३. पवन-नोज्झितं....ख ।

संबन्धेनोज्झितं यत्तदभिन्नमित्युच्यते यथा ।
 सस्यं वाराधितो धर्मा धदधिर्वागधिरिवत्तः ॥२३९॥
 धर्माराधनाभावस्याब्धे रत्नपूर्णस्य च न संबन्धः ।
 पूर्वापरत्वहानिः स्याद्यत्रापक्रममिष्यते ।
 जगदाह्लादनं कृत्वा पश्चादत्रोदितो विधुः ॥२४०॥
 अत्र उदयोत्तरकालभाविन आह्लादस्य पूर्वकालत्ववचनात् ।
 अत्यन्तक्रौर्ययुक्तं यत्परुषं कथितं यथा ।
 इमेऽपूपार्थिनो बालाः क्षिप्यन्तां दाववह्निषु ॥२४१॥
 अलंकारोज्झितं यत्त्रिरलंकारकं यथा ।
 दीर्घणोत्थाप्यमानेन मेहनेन तुरंगमः ।
 पृथ्वग्रन्थिनारुह्य बडवां वल्लेशयत्वरम् ॥२४२॥
 स्वभावोक्तिरपि न, श्लाघ्यविशेषणामावात् ।
 अप्रतीतोपमानं स्यादप्रसिद्धोपमं यथा ।
 मुखानि भान्ति चारुणि कैरवाणीव घोषिताम् ॥२४३॥

(४) भिन्नार्थ—जो परस्पर सम्बन्धसे रहित वाक्यार्थवाला हो, उसे भिन्नार्थ दोष कहते हैं । यथा—ठीक ही, धर्मकी वाराधना नहीं की, समुद्रको मणियोंसे भर दिया ॥२३९॥

यहाँ धर्माराधनाका अभाव और समुद्ररत्न पूर्णत्वका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

(५) अक्रमार्थ दोष—जिस वाक्यार्थमें पूर्वापरका क्रम ठीक न हो उसे अपक्रम दोष कहते हैं । यथा—प्रथम संसारको आनन्दित कर पश्चात् इस संसारमें चन्द्रमा उदित हुआ ॥२४०॥

यहाँ उदयके अनन्तर होनेवाले आह्लादको पहले कहा गया है ।

(६) परुषार्थ दोष—जो अर्थ अत्यन्त क्रूरतासे युक्त हो, उसे परुषार्थ कहते हैं । जैसे—अपूप माँगनेवाले इन लड़कोंको दावानलमें फेंक दो ॥२४१॥

(७) अलंकारहीनार्थ दोष—अलंकारसे परित्यक्त अर्थको निरलंकारार्थ कहते हैं । जैसे—यह अश्व विशाल उठाये हुए विस्तृत अग्रभागके गाँठवाले शिश्नसे चढ़कर बड़वा—अश्वको पीड़ित करता है ॥२४२॥

यहाँ स्वभावोक्ति अलंकार नहीं है, क्योंकि प्रशंसनीय विशेषणका अभाव है ।

(८) अप्रसिद्धोपमार्थ दोष—जिस वाक्यमें उपमान अप्रतीत अर्थात् अप्रसिद्ध हो उसे अप्रसिद्धोपम दोष कहते हैं । जैसे—स्त्रियोंके सुन्दर मुख कैरव-कुमुदके समान शोभित हो रहे हैं ॥२४३॥

मुखानां कैरवाण्युपमानत्वेन कविजनेषु न प्रसिद्धानि ।
 यत्रार्थकथनं हेतुरहितं हेतुशून्यकम् ।
 वने च्यूतादिरम्येऽत्र विहर्तुं न क्षमा वयम् ॥२४४॥
 कुत इत्युक्ते हेतुर्नोकः ।
 रसस्याप्रस्तुतस्योक्तिर्यत्र तद्विरसं यथा ।
 गच्छत्सशोककामिन्यश्चुम्बिताः शबरैर्वने ॥२४५॥
 चक्रिरिपुकान्ताः स्वपतिवियोगशोकिन्यः चुम्बिता इति विरसत्वम् ।
 शृङ्गारादिरसत्यागी चैतद्वा विरसं यथा ।
 गौरेकवालधिः साङ्घ्रिचतुष्को द्विखुरो व्यभात् ॥२४६॥
 भवेत्सहचरभ्रष्टं तुल्यवस्त्वप्रबन्धतः ।
 रतं स्मरेण सद्बोधः शास्त्रेण वनिता ह्लिया ॥२४७॥
 सद्बोधेन वनितारतयोरप्रकर्षात्ताभ्यां वा तस्याप्रकर्षात् ।

—कवि परम्परामें कैरव उपमान मुखके लिए प्रसिद्ध नहीं है ।

(९) हेतुशून्य दोष—जहाँ अर्थका कथन कारण बिना हो वहाँ हेतुशून्य दोष होता है । जैसे—आम्र इत्यादिसे रमणीय इस वनमें हम घूमनेमें असमर्थ हैं ॥२४४॥

—वयों असमर्थ हैं, इसका कारण नहीं कहा गया है ।

(१०) विरस दोष—जहाँ अप्रस्तुत रसका कथन हो उसे विरस दोष कहते हैं । जैसे—वनमें गमन करती हुई पतिवियोगजन्य शोकसे पीड़ित शत्रुनारियोंका मिलने चुम्बन किया ॥२४५॥

—चक्रवर्ती भरतके शत्रुओंकी पतिवियुक्ता, शोकग्रस्त कामिनियोंका चुम्बन किया जाना शृंगार रसके स्थानपर विरसता उत्पन्न करता है ।

अथवा शृंगार इत्यादि रसोंके त्याग करनेवाले वाक्यार्थको विरस कहते हैं । जैसे—एक पूँछ, चार पैर और दो खुरवाला वृषभ सुशोभित हुआ । इसमें कोई रस न होनेसे विरस दोष है ॥२४६॥

(११) सहचरभ्रष्ट—जिस वाक्यार्थमें सदृश पदार्थका उल्लेख न हुआ हो वहाँ सहचरभ्रष्ट नामका दोष होता है । जैसे—कामसे सुरत, शास्त्रसे उत्तम ज्ञान तथा लज्जासे वनिता [शोभित होते हैं] यहाँ सदृश वस्तुका उल्लेख न होनेसे सहचरभ्रष्ट नामका दोष है ॥२४७॥

—सद्बोधसे वनिता और सुरतमें कोई प्रकृष्टता नहीं हुई है और न उन दोनों (वनिता और सुरत) से सद्बोधमें प्रकर्ष होता है ।

१. च्यूतादिरम्ये....-ख । २. तद्बोधः-ख ।

यत्र वाक्यार्थसंदेहः संशयमिदं यथा ।

उत्पलानि सरोजानि स्त्रीवक्त्राणि हसन्त्वरम् ॥२४८॥

अत्र केषां कर्मत्वं केषां कर्तृत्वमिति संशयात् ।

ह्लोकरो मुख्यतोऽन्योऽर्थो यत्राश्लोलमिदं यथा ।

स्तब्धः पतति रन्ध्रौ यः स नोन्नतिमान् पुनः ॥२४९॥

ध्वनिना मेहनप्रतीतेः ।

सर्वलोकव्यपेतं यदतिमात्रमिदं यथा ।

वेरिस्त्रीनयनाम्भोभिरसंख्याः सागराः कृताः ॥२५०॥

यत्रातुल्योपमानं तदसदृशोपमं यथा ।

बडवानलदग्धोऽब्विशारदेन्दुरिव व्यभात् ॥२५१॥

हीनाधिकोपमाने ते हीनाधिक्योपमे यथा ।

विद्या शुनोव ते भाति बको मुनिरिव व्यभात् ॥२५२॥

(१२) संशयाच्च—जहाँ वाक्यके अर्थमें संदेह हो वहाँ संशयाच्च नामक दोष होता है । जैसे—कुमुद, कमल और स्त्रीमुख शीघ्र हैंसे ॥२४८॥

—यहाँ इन सीनोंमें किसकी कर्मता और किसकी कर्तृता है, यह निश्चय नहीं होता, इसलिए संशयाच्च नामक दोष है ।

(१३) अश्लील—जिसमें प्रधानतया दूसरा अर्थ लज्जाजनक हो उसे अश्लील दोष कहते हैं । जैसे—छिद्रान्वेषो शिथिल पड़ा हुआ जो गिर जाता है वह फिर उठता नहीं ॥२४९॥

—ध्वनिसे पुरुषचिह्नकी प्रतीति होती है, अतः अश्लील दोष है ।

(१४) अतिमात्र दोष—जो सभी लोकोंमें असम्भव हो उसे अतिमात्र कहते हैं । जैसे—शत्रुओंकी नारियोंके नयनजलसे असंख्य समुद्र बना दिये गये ॥२५०॥

(१५) विसदृश—जहाँ उपमान असदृश हो वहाँ विसदृशोपम दोष होता है । जैसे—बडवानलसे जला हुआ समुद्र शरद् ऋतुके चन्द्रमाके समान सुशोभित हुआ ॥२५१॥

(१६-१७) समताहीन और सामान्य साम्य—जहाँ उपमान उपमेयको अपेक्षा बहुत अपकृष्ट या उत्कृष्ट हो वहाँ हीनाधिक्योपमान या समताहीन दोष होता है । जैसे—तुम्हारी विद्या कुतियाके समान शोभती है । बगुला किसी घान लगाये हुए मुनि-के समान शोभता है ॥२५२॥

१. यत्राश्लोल....-स । २. रन्ध्रौ....-क-ख । ३. क-प्रती हीना ...इत्यस्य पूर्व—तादृशा-ब्धिचन्द्रयोरसादृश्यात् विद्यते ।

विरुध्येत दिगाद्येन विरुद्धं बहुधा यथा ।
 उत्तरस्यां दिशि प्राज्यप्रभयोदिति भानुमान् ॥२५३॥
 अत्र दिग्विरोधः ।
 मरुदेशे सरस्तृष्णाहरं भाति सुशीतलम् ।
 महीशानां विषाणेभ्यो मौक्तिकान्युद्भवन्त्यरम् ॥२५४॥
 देशविरोधस्तदनु लोकविरोधः ।
 धर्मः पुरुषवर्तित्वास्पापहेतुरधर्मवत् ।
 बन्ध्या मे जननी भाति शीतलो वह्निराबभौ ॥२५५॥
 आगमस्ववचनप्रत्यक्षविरोधाः ।
 चुम्बनालिङ्गनाद्येन नीवीविस्त्रंसनेन च ।
 अन्तस्तुष्टां बधूं रम्यां शिशुराक्रोडति स्फुटम् ॥२५६॥
 अवस्थाविरोधः ।
 दोषस्तु रसभावानां स्वस्वशब्दग्रहाद् यथा ।
 शृङ्गारमधुरां तन्वीमालिलिङ्गं घनस्तनीम् ॥२५७॥

(५८) विरुद्ध- -दिशा इत्यादिसे प्रायः जो विरुद्ध प्रतीत हो उसे विरुद्ध दोष कहते हैं । जैसे—उत्तर दिशामें सूर्य बहुत अधिक प्रभासे उदित होता है । सूर्यका उत्तर दिशामें उदित होना विरुद्ध है, अतः यहाँ विरुद्ध दोष हुआ ॥२५३॥

देशविरुद्ध और लोकविरुद्ध—

मरुभूमिमें अत्यन्त शीतल तालाव विपासाको दूर करनेके लिए शीतल हो रहा है । राजाओंके शृंगोंसे शीघ्र भोती उत्पन्न होते हैं । प्रथम देशविरुद्धका और तृतीय लोकविरुद्धका उदाहरण है ॥२५४॥

आगम-स्ववचन-प्रत्यक्ष विरोध—

पुरुषमें रहनेके कारण अधर्मके समान धर्म भी पापका कारण है । मेरी बन्ध्या माता शीतल होती है । शीतल अग्नि चमकती है ॥२५५॥

प्रथम उदाहरणमें आगम विरोध है, द्वितीयमें स्ववचन विरोध है और तृतीयमें प्रत्यक्ष अनुभूतिजन्य विरोध है ।

अवस्था विरोध—छोटासा वचना भीतर ही भीतर अत्यन्त प्रसन्न हो कामिनीके साथ चुम्बन, आलिंगन एवं नीवीस्त्रलन इत्यादि काम-क्रोडाओंको स्पष्ट रूपसे करता है ॥२५६॥

यहाँ अवस्थाविरोध है, यतः छोटा शिशु काम-क्रोडाओंको करनेमें असमर्थ है ।

नामदोष—रस या भावोंका नामोल्लेख करनेसे नामदोष होता है जैसे—शृंगारसे मधुर और विशाल स्तनवाली कुशाङ्गीका आलिंगन किया ॥२५७॥

स्वशब्दग्रहणमत्र शृङ्गाररसे दुष्यति ।

सलज्जा पतिवक्त्राब्जे सेष्या वक्षोरमास्त्रियाम् ।

सविस्मयेन्द्रनाट्येऽभून्मरुदेवी मनोहरा ॥२५८॥

अत्र संचारिभावे लज्जापदग्रहणं दुष्यति ।

श्रूयमाणैर्ज्ञाणत्कारैरायुधानां परस्परम् ।

हत्याजाते रणे तस्याभूदुत्साहोऽन्यदुर्लभः ॥२५९॥

अत्र स्थायिभावस्योत्साहस्य स्वशब्दग्रहणेन दोषः ।

रतिं जहाति बुद्धिं स्वां लुनीते स्खलति स्फुटम् ।

करोति परिवृत्तिं च सेत्यालीनामभूद्वचः ॥२६०॥

अत्र रत्यादित्यागस्य करुणेऽपि संभवाद् विप्रलम्भे रत्यादित्यागानुभावस्य कष्टकल्पना ।

आगः सहस्र पश्यास्यं प्रसीद प्रियमालप ।

मुग्धे गलति कालोऽत्र घटीयन्त्रजलं यथा ॥२६१॥

शृंगार शब्दका नाम लेनेके कारण नाम दोष है ।

प्रियतमके मुखकमलके सामने लज्जायुक्त सुन्दर बधवाली रमा इत्यादि स्त्रियोंमें ईर्ष्यायुक्त हृदयके नाट्यमें आश्चर्यचकित मरुदेवी अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हुई ॥२५८॥

यहाँ संचारी भावमें लज्जाका नामोल्लेख होनेके कारण भावनामक दोष है ।

हथियारोंके परस्पर टकरानेके कारण मुनाई पड़ती हुई अनजानाहटसे हत्या होनेवाले युद्धमें दूसरोंमें नहीं पाया जानेवाला उसका उत्साह हुआ ॥२५९॥

यहाँ वीर रसके स्थायी भाव उत्साहका नामोल्लेख होनेसे भावनामक दोष है ।

वह रतिका त्याग कर रही है, अपनी बुद्धिको छिन्न कर रही है, स्पष्ट रीतिसे भ्रान्त हो रही है और करवट बदल रही है । इस प्रकार सखियोंकी परस्पर बातें हुईं ॥२६०॥

यहाँ रति इत्यादिके त्यागकी सम्भावना करुण रसमें भी हो सकती है । विप्रलम्भ शृंगारमें रति इत्यादिके त्याग स्वरूप अनुभावके कष्टप्रथ कल्पना होनेसे दोष है ।

हे सरल चित्तवाली ! अपने प्रियतमके अपराधको सहन करो । उसके मुखको देखो । प्रसन्न हो जाओ । उससे मधुर वार्तालाप करो । यहाँ पानी भरनेवाले घटीयन्त्रके समान समय चला जा रहा है ॥२६१॥

कालस्यानित्यत्वं शान्तरसेऽनुभावः स च शृङ्गारे प्रोक्त इति प्रतिकूल-
ग्रहणम् । इत्यादयो रसभावगता दोषा बाध्याः । लज्जारत्युत्साहादिशब्दग्रहणं
कैश्चिदिष्यते तथा बहुधा प्रयोगात् ।

नवचित्त्वचित्त्व चित्रादी दोषा एव गुणा यथा ।

शास्त्रमव्यष्ट षड्वर्गं व्यजेष्टायष्ट सज्जिनम् ॥२६२॥

क्रियापदोदाहरणकाव्यमेकं^१ कृतं चेत्परुषमपि न दुष्यति ।

यमकश्लेषचित्रादौ द्व्यक्षरादिनिबन्धने ।

विलष्टासमर्थनेयार्थपदादि न च दुष्यति ॥२६३॥

सुविम्बावरेऽस्या नितम्बाम्बरेण गिरिस्था लता वा नितम्बाम्बरेण ।
अत्र यौगिकात्^२ प्रत्युक्तस्याम्बरशब्दस्य मेवार्थेऽसमर्थत्वेऽपि न दोषः ।

राजीवराजीवतनी सुराणां नेत्राऽलिनेत्रालिरवादितत्त्वम् ।

अत्र वाक्यसंकीर्णत्वेऽपि न दोषः । एवं पूर्वोक्तशब्दालंकारप्रकरणे दोषाणा-
मपि गुणत्वं द्रष्टव्यम् ।

समयको अनित्यता शान्तरसमें अनुभाव है, वह अनुभाव यहाँ शृंगार रसमें
कहा गया है । अतएव प्रतिकूलता है—इत्यादि रस और भावमें विद्यमान दोषोंको सम-
झना चाहिए । लज्जा, रति, उत्साह इत्यादि शब्दोंका उल्लेख कोई-कोई आचार्य उचित
मानते हैं, क्योंकि उनका प्रयोग प्रायः देखनेमें आता है ।

कहीं दोष भी गुण होते हैं ।

कहीं-कहीं चित्रादि काव्योंमें रहनेवाले दोष भी गुण हो जाते हैं । जैसे—उसने
शास्त्रों का अध्ययन किया, काम, क्रोध इत्यादि शत्रुसमूहोंको जीता और ससमदेव जिने-
श्वरकी पूजा की ॥२६२॥

क्रियापदोंके उदाहरण—इस काव्यमें परुष दोष भी नहीं माना जाता है ।

यमक, श्लेष और चित्रकाव्य तथा दो अक्षरोंके निबद्ध रचनामें विलष्ट, असमर्थ
और नेयार्थ इत्यादि दोष नहीं माने जाते हैं ॥२६३॥

किसी नायिकाके नितम्बके वस्त्रसे वैसी ही शोभा हुई जैसे पर्वतके नितम्ब
भागपर अवस्थित मेघसे पर्वतपर उभरी हुई लताकी शोभा होती है ।

यहाँ यौगिक शक्तिसे प्रयोग किये हुए अम्बर शब्दका भेष अर्थमें प्रयोग करनेसे
असमर्थ दोष नहीं हुआ । इसी प्रकार 'राजीवराजीवतनी सुराणां नेत्रालिनेत्रालिरवादि
तत्त्वम्' में वाक्य संकीर्ण होनेपर भी दोष नहीं माना जायेगा । पूर्व कथित शब्दालंकार
प्रकरणमें दोषोंको भी गुण समझना चाहिए ।

१. स—प्रती कश्चिद् । २. काव्यमेवम्—क । ३. प्रत्युक्तस्या...क-स ।

एकादश्यां करजलिखितग्रीवमालिङ्ग्य गाढं
पायं पायं दशनवसनं किञ्चिदालीढलोलाः ।
घातं घातं हृदि सहसितं मन्मथामारमुद्रा
भङ्गक्रीडातरलितकराः कामिनीं द्रावयन्ति ॥२६४॥

व्रीडाकराश्लीलमपि कामशास्त्रे न दुष्यति ।

वर्चोगृहं विषयिणां मदनायुधस्य
नाडीव्रणं विषमनिर्वृतिपर्वतस्य ।

प्रच्छन्नपातुकभनङ्गमहाहिरन्ध्र-

मातृर्बुधा जघनरन्ध्रमदः सुदत्याः ॥२६५॥

जुगुप्साश्लीलमपि वैराग्यप्रस्तावे न दूषणम् ।

धन्विनः स्थानमन्यस्य सामान्यस्येदृशं कुतः ।

अहो दृष्टिरहो मुष्टिरहो ^१सौष्ठवमित्यपि ॥२६६॥

अर्जुनेन चापज्यासंधाने कृते नृपस्तवे अहो पदानां बहुधा विस्मये
प्रयोगे न दोषः ।

मुक्ताहार इति प्रोक्ते शेषरत्ननिवर्तनम् ।

कार्मुकज्यापदेनापि चापारोपणनिश्चयः ॥२६७॥

एकादशी तिथिको शीघ्रापर नखच्छेद पूर्वक गाढालिङ्गन करके अथर चुम्बन,
वक्षस्थल पर मुष्टि प्रहार करते हुए, मदन मन्दिरकी मुद्राका भंग करनेमें चञ्चल हाथवाले
विषयीजन कामितियोंको द्रवित करते हैं ॥२६४॥

यहाँ लज्जोत्पादक अश्लील वर्णन होनेपर भी कामशास्त्रका विषय होनेके कारण
दोष नहीं माना जाता है ।

विद्वानोंने सुन्दरीके जघन छिद्रको विषयीजनोंका शीचालय, कामदेवके अस्त्रोंको
नाडीका व्रण, भयंकर वैराग्यरूपी पर्वतकी गुफाको गिरानेवाला तथा कामदेवरूपी सर्पका
महान् बिल कहा है ॥२६५॥

वैराग्यके प्रकरणमें रमणोके वराङ्गका मह चित्रण जुगुप्सा रूप अश्लीलता
उत्पन्न करनेपर भी दोषावह नहीं है ।

साधारण अन्य किसी धनुषरीका ऐसा स्थान कैसे हो सकता है । उसकी दृष्टिको
आश्चर्य है, मुष्टिको आश्चर्य है और उसका सौष्ठव भी आश्चर्यजनक है ॥२६६॥

अर्जुनके द्वारा धनुषपर जघासन्धान करनेपर राजाओं द्वारा की गयी इस स्तुतिमें
अनेक बार विस्मयके अर्थमें अहो पदका प्रयोग किया है, पर वह दोषजनक नहीं है ।

कलभे करिशब्देन तज्जन्यत्वं निवेद्यते ।

इत्यादियुक्तशब्दानां गणस्यार्थोऽपि बुध्यताम् ॥२६८॥

इति दोषप्रकरणम् ।

श्लेषो भाविकसंमितत्वसमतागाम्भीर्यरीत्युक्तयो

माधुर्यं सुकुमारता गतिसमाधि कान्तिरौजित्यकम् ।

अर्थव्यक्तिसदारता प्रसदनं सौक्ष्म्योजसो विस्तरः

सूक्तिः प्रौढिहदात्तता पुनरपि प्रेयान्ससंक्षेपकः ॥२६९॥

अनेकेषां पदानां तु यत्रैकपदवत्स्फुटम् ।

भासमानत्वमाख्यातः श्लेषाख्यः कविना गुणः ॥२७०॥

अशरणमशुभमन्तित्यं दुःखमनात्मानमावसामि भवम् ।

मोक्षस्तद्विपरीतात्मेति ध्यायन्तु सामयिके ॥२७१॥

सुकुमारता इस शब्दके अर्थन मान्ये अन्य रत्नोंके मारण करनेकी निवृत्ति हो जाती है । इसी प्रकार धनुषपर उपा शब्दसे ही चाप चढ़ानेका निश्चय होने लगता है ॥२६७॥

कलभ शब्दमें करि शब्दसे उसकी जन्यता प्रतीत होती है, इत्यादिसे युक्त शब्दोंके समूहका अर्थ समझना चाहिए ॥२६८॥

दोष प्रकरण समाप्त ।

गुण—

(१) श्लेष, (२) भाविक (३) सम्मितत्व (४) समता (५) गाम्भीर्य (६) रीति (७) उक्ति (८) माधुर्य (९) सुकुमारता (१०) गति (११) समाधि (१२) कान्ति (१३) औजित्य (१४) अर्थव्यक्ति (१५) उदारता (१६) प्रसदन (१७) सौक्ष्म्य (१८) ओजस् (१९) विस्तर (२०) सूक्ति (२१) प्रौढि (२२) उदात्तता (२३) संक्षेपक और (२४) प्रेयान् ये चौबीस काव्यके गुण माने गये हैं ॥२६९॥

१. श्लेषके गुण—

जहाँ अनेक पदोंकी एक पदके समान स्पष्ट प्रतीति हो वहाँ श्लेष नामक काव्य-गुण माना जाता है ॥२७०॥ यथा—

शरण रहित, अशुभ, नश्यर, आत्मज्ञान विहीन संसारमें निवास करता हूँ । मोक्षका स्वरूप इसके विपरीत है । सामायिकमें संसार और मोक्षके इस स्वरूपका चिन्तन करे ॥२७१॥

१. भाविक—स । २. गाम्भीर्यरीत्युक्तयो—स ।

अत्र पठनसमये बहूनां पदानामेकपदवदवभासनं न तु पदच्छेदकरण-
कालादी ।

भावतो वर्तते वाक्यं यत्र तद्भाविकं यथा ।

तावदर्थपदत्वं यत्, संमितत्वगुणो यथा ॥२७२॥

श्लेषादिगुणानां मध्ये केषांचिद्दोषपरिहारद्वारेण गुणत्वम् । केषांचिन्तु
स्वत एवोत्कर्षजोवत्वेन गुणत्वम् । तत्र ये स्वत एव चारुत्वातिशयहेतवः सन्ति
ते गुणाः ।^१ को गुणः कस्य दोषस्य परिहाराय प्रभवतीत्युक्ते तत्र तत्र गुणलक्षण-
प्रतिपादनप्रस्तावे निगद्यते । यावत्प्रयोजनमस्ति तावत्प्रयोजनपदवत्त्वं संमितत्वं
न्यूनाधिकपदपरिहाराय तत् ।

तात नाथ रथाङ्गेश विनीतानगरीपते ।

लवणाम्बुधिमेतं त्वं पश्य पश्य महामते ॥२७३॥

अत्र प्रीतिस्वरूपभाववशात् तात नाथेति वाक्यप्रवृत्तिः ।

यावन्ति जिनचैत्यानि विद्यन्ते भुवनत्रये ।

तावन्ति सततं भक्त्या त्रिः परोत्य नमाम्यहम् ॥२७४॥

यहाँ पढ़नेके समय एक पदके समान प्रतीति होती है । पदच्छेद करनेके समय
एकपदवत् भास नहीं होता ।

२-३ भाविक और संमितत्व—

जहाँ वाक्य भावसे [किसी इष्टके प्रति भक्ति प्रदर्शित] रहे उसे भाविक कहते
हैं । जितने पद उतने ही अर्थ जिसमें समाहित हों उसे संमितत्व कहते हैं ॥२७२॥

—श्लेष इत्यादि गुणोंमेंसे कुछमें दोषपरिहारक होनेसे गुणत्व है और कुछमें
स्वयं काव्योत्कर्षताके कारण गुणत्व है । कौन गुण किस दोषको दूर करनेमें समर्थ होता
है, इस प्रश्नके उपस्थित होनेपर तद्-तद् गुण विवेचनके प्रसंगमें इसका विचार किया
जायेगा, जितना प्रयोजन ही उतना ही पदवाला संमितत्व न्यूनाधिक पदके परिहारके
लिए कहा गया है ।

हे तात ! हे नाथ ! हे चक्रवर्तिन् ! हे विनीता नगरीके अधिपति ! हे बुद्धि-
शालिन् ! तुम इस लवणाम्बुधि—समुद्रको देखो ॥२७३॥

—यहाँ प्रीतिरूप भावके कारण तात, नाथ इत्यादि पद कहे गये हैं ।

तीनों लोकोंमें जितने जिनबिम्ब हैं उन सभीकी भक्तिसे तीन बार नमस्कार
करता हूँ ॥२७४॥

१. पठनसमये—ख । २. परिहारेण गुणत्वम्—ख । ३. गुणाः सर्वेरिष्टाः दोषपरिहार-
हेतवस्तु न सर्वे सम्मताः ये दोषाभावं गुणमिच्छन्ति तेषामेव सुकुमारत्वादयो गुणाः ।
को गुणः...क-ख । ४. वाक्यप्रवृत्तिः—ख ।

रचनाया अवेषम्यभणनं समता यथा ।

^१प्रक्रान्तिदोषमङ्गस्य परिहाराय सा मता ॥२७५॥

अवनितलगतानां कृत्रिमाकृत्रिभाषां

वनभवनगतानां दिव्यवैमानिकानाम् ।

इह मनुजकृतानां देवराजाचितानां

जिनवरनिलयानां भावतोऽहं स्मरामि ॥२७६॥

अत्र पादचतुष्केऽपि तुल्यवत्कथनात् समत्वम् ।

गाम्भीर्यं ध्वनिमत्त्वं तु रीतिः प्रारब्धपूरणम् ।

पतत्प्रकर्षदोषस्य हानये रीतिरुच्यते ॥२७७॥

चन्द्रस्य निष्फलस्याब्धेर्गाढस्य^२ कुलभूभृताम् ।

नीचैः^३ किं कारणमेति^४ सृष्टश्चकी^५ विरिचिचक ॥२७८॥

मुख्याद् व्यतिरिक्तः प्रतीयमानो व्यङ्ग्यो ध्वनिः ।

^६समस्तदुःपटच्छन्नजगदुद्योतहेतवे ।

जिनेन्द्रांशुमते तन्वत्प्रभाभाभारमासिने ॥२७९॥

(४) समता—रचनामें विषमताहीन कथनको समता कहते हैं । प्रक्रान्ति नामक दोषको दूर करनेके लिए यह गुण माना गया है ॥२७५॥ यथा—

मैं पृथ्वीपर विद्यमान कृत्रिम और अकृत्रिम वन, भवनमें स्थित, दिव्य विमानोंमें स्थित मनुष्य, देव और राजाओं द्वारा अचित जिनमन्दिरोंको भक्ति-भावसे नमस्कार करता हूँ ॥२७६॥

—यहाँ चारों चरणोंमें समान कथनके कारण समता गुण है ।

(५-६) गाम्भीर्य और रीति—ध्वनिमत्त्वको गाम्भीर्य कहते हैं और प्रारब्धकी पूर्तिमात्रको रीति कहते हैं । पतत्प्रकर्ष दोषको दूर करनेके लिए रीतिको कहा गया है ॥२७७॥

कलाहीन चन्द्रमा, गहरे समुद्र और कुलपर्वतोंको नीचा दिखानेके लिए ब्रह्माने चक्रवर्ती भरतकी रचना की है क्या ? ॥२७८॥

—यहाँ मुख्यार्थसे भिन्न प्रतीयमान व्यंग्यध्वनि है ।

सम्पूर्ण पापरूपी कुवस्त्रसे आवच्छादित संसारको प्रकाशित करनेके कारण फैलती हुई प्रभाकी कान्तिके समूहसे चमकते हुए जिनेन्द्ररूपी सूर्यको नमस्कार हो ॥२७९॥

१. प्रक्रान्तिमङ्गदोषस्य—क-ख । २. —गाढस्य—ख । ३. पृष्टश्चकी....क-ख । ४. नमस्तमः-पटच्छन्न.... क-ख । ५. तन्वत्प्रभाभाभार....क-ख ।

भणितिर्या विदग्धानामसावृत्तिरितीष्यते ।
 अश्लीलपरिहाराय स्वीक्रियेतात्र साऽपि च ॥२८०॥
 राजस्ते कमलासक्तिश्चित्तवृत्तेः समीक्षिता ।
^२भास्वकाऽपि त्वया चारुकुमुदाभासनं कृतम् ॥२८१॥
 पाठकालेऽपि वाक्येऽपि भिन्नाभिन्नपदत्वतः ।
 यत्प्रतीयेत तत्प्रोवर्तं माधुर्यं विदुषा यथा ॥२८२॥
 दानं ज्ञानधनाय दत्तमसकृत्पात्राय सद्वृत्तये
^३जीर्णान्युग्रतपांसि तेन सुचिरं पूजाश्च बहुव्यः कृताः ।
 शीलानां निचयः सहाभलगुणैः सर्वैः समासादितो
^४दृष्टस्त्वं जिन येन दृष्टिसुभगश्चापरेण क्षणम् ॥२८३॥
 वर्णकोमलता सानुस्वारत्वं सुकुमारता ।
 हान्यै श्रुतिकटुत्वस्य दोषस्य कथिता च सा ॥२८४॥
 चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम् ।
 वन्देऽभिवन्द्यं महतामृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषायबन्धनम् ॥२८५॥

(०) उक्ति—जो काव्यकुशल कवियोंकी भणिति है उसे उक्ति कहते हैं । उक्ति गुण अश्लील दोषको दूर करनेके लिए माना गया है ॥२८०॥

तेरे राजाकी चित्तवृत्तिकी आसक्ति कमलामें दीख पड़ती है । तुमने अपनी ही कान्ति कुमुदकी कान्तिके समान कर दी है ॥२८१॥

(८) माधुर्य—पढ़नेके समय और वाक्यमें भी जो पृथक्-पृथक् पदसे प्रतीत होते हैं विद्वानोंने उन्हें माधुर्य गुण कहा है ॥२८२॥

उसने ज्ञानो, सच्चरित्र और मुपात्रको बार-बार दान दिया, कठिन तपस्याएँ कीं और बहुत पूजा की, स्वच्छ गुणोंके साथ सब प्रकारके सदाचार समूहको उसने पा लिया, जिसने हे देखनेमें रमणीय जिनन्द्र भगवान् ! श्रद्धासे युक्त होकर एक क्षणके लिए तुम्हारा दर्शन कर लिया ॥२८३॥

(९) सुकुमारता—अनुस्वार सहित अक्षरोंकी कोमलताको सुकुमारता कहते हैं और यह गुण श्रुतिकटुत्व आदि दोषोंको दूर करनेके लिए माना गया है ॥२८४॥

मैं उन चन्द्रप्रभ जिनकी वन्दना करता हूँ जो चन्द्रकिरण सम गौरवर्षसे युक्त जगत्में द्वितीय चन्द्रमाके समान दीप्तिमान् हैं; जिन्होंने अपने अन्तःकरणके कषाय बन्धनको जोटा है और जो ऋद्धिबारी मुनियोंके स्वामी हैं तथा महात्माओंके द्वारा वन्दनीय हैं ॥२८५॥

१. शक्तिस्—ख । २. भास्वतापि त्वया चाह....।—क-ख । ३. जीर्णान्युग्रतपांसि....ख ।

४. दृष्टस्वम्—ख । ५. कषायबन्धम्—क-ख ।

स्वरारोहावरोहो द्वौ रम्यौ यत्र गतिर्यथा ।
 आरोप्यतेऽन्यधर्मोऽन्यत्र^१ समाधिर्यथा पुनः ॥२८६॥
 सारा वाणी पुरुजिनपतेर्नाकिनाथाभिपूज्या
 हीना^२ दोषैरुत्तमप्रयुता मोक्षमार्गाविभासा ।
 चञ्चलमप्रकटनमयप्रस्फुरच्छुद्धुमुक्तिं
 तत्त्वज्ञानिं नयतु सकलं भव्यवृन्दं विगर्भम् ॥२८७॥
 पूर्वार्धे^३ दोषाक्षरप्रचुरत्वात्^४ स्वरस्यारोहः अपरार्धे ह्रस्वाक्षरत्वेन स्वर-
 स्थावरोहः ।

कोटिः पल्लविता लोके सुतस्य वृषभेशिनः ।
 मानो म्लानो द्विषां लोके तदाज्ञाया विरोधिनाम् ॥२८८॥
 रचनास्युज्ज्वलत्वं यत्काव्ये सा कान्तिरिष्यते ।
 ग्राम्यदोषनिरासाय स्वीकृता सा पुनर्यथा ॥२८९॥
 जयति भगवान्हेमाम्भोजप्रचारविजृम्भिता-
 वभरभुकुटच्छायोद्गीर्णप्रभापरिचुम्बिती ।
 कलुषहृदया मानोद्भ्रान्ताः परस्परवैरिणो
 विगतकलुषाः पादौ यस्य प्रपद्य विश्वसुः ॥२९०॥

(१०) गति और (११) समाधि—जहाँ स्वरके आरोह और अवरोह दोनों ही सुन्दर हों, वहाँ गति नामक गुण होता है और जहाँ दूसरे धर्मका दूसरी जगह आरोप किया जाये वहाँ समाधिगुण होता है ॥२८६॥

इन्द्रादि देवताओंसे पूज्य, दोषोंसे रहित, अनुनय सहित, मोक्षमार्ग प्रकाशक जिनेश्वर पुरु महाराजको वाणी उत्तम सुखको प्रकाशित करे और प्रकाशमान शुद्ध मुक्तिके अधिकारी, तत्त्वज्ञानसे मुक्त सम्पूर्ण भव्य जीवोंको गर्व रहित करे ॥२८७॥

—पूर्वार्धमें दोष अक्षरोंकी अधिकताके कारण स्वरका आरोह है और उत्तरार्धमें ह्रस्व अक्षरोंकी अधिकताके कारण स्वरका अवरोह है ।

कृष्णभदेव भगवान्के पुत्रका यश संसारमें विस्तृत हुआ और उनकी आज्ञाको नहीं माननेवाले शत्रुओंका मान भी फीका पड़ गया ॥२८८॥

(१२) कान्ति—काव्यमें रचनाकी अत्यन्त उज्ज्वलताको कान्ति कहते हैं । ग्राम्यदोषको दूर करनेके लिए विद्वानोंने इस गुणको माना है ॥२८९॥

सुवर्णकमलके प्रचारसे बड़े हुए, देवताओंको मुकुटमणिके निकली हुई प्रभासे व्यास तिवके चरणोंको प्राप्तकर कलुषित हृदयवाले, उद्भ्रान्त चित्तवाले, परस्पर द्वेषी

१. समाधिर्यथा—ख । २. नादाभिपूज्या—ख । ३. दोषैरुत्तमयन....ख । ४. प्रचुरत्वात्—ख ।
 ५. तदाज्ञया विरोधिना—ख ।

दृढबन्धत्वमौर्जित्यं विसन्धिविनिवृत्तये ।
 वन्दारुवृन्दपरिघट्टविलोलिताक्ष-
 वृन्दारकेश्वरकिरीटतटावकीर्णः ।
 मन्दारपुष्पनिवहैविहितोपहारं
 वन्दामहे जिनपतेः पदपद्मयुग्मम् ॥२९१॥
 वाक्यान्तरानपेक्षत्वाद् यत्र संपूर्णवाक्यता ।
 अर्थव्यक्तिगुणः सोऽयं सोऽपुष्टार्थनिवृत्तये ॥२९२॥
 जयति जगदीशमस्तकमणिकिरणबालार्पकाल्पसावीविधिः ।
 जिनचरणकमलयुगलं गणधरगणनीयनखरकेसरकम् ॥२९३॥
 विकटाक्षरबन्धत्वं यत्रौदार्यं मतं यथा ।
 दोषान् काँश्चन तान् प्रवर्तकतया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं
 साद्धं तैस्सहसा मृते यदि गुरुः पश्चात्करोत्येष किम् ।
 तस्मान्मे न गुरुर्गुरुं स्तरान्कृत्वा लघूँश्च स्फुटं
 व्रूते यस्सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सद्गुरुः ॥२९४॥

मनुष्य भी पाप रहित होकर विश्वस्त हो गये, वे भगवान् सर्वश्रेष्ठ हैं अर्थात् उनकी जय हो ॥२९०॥

(११) और्जित्य—दृढबन्धताको और्जित्य कहते हैं, विसन्धि दोषकी निवृत्तिके लिए यह गुण माना गया है ।

वन्दना करनेवालोंके समूहकी भीड़से चंचल नेत्रवाले देवाधिपतियोंके मुकुटलक्ष्मि व्यास मन्दारके पुष्पोंसे उपहार प्राप्त जिनेश्वर भगवान्के कमलके समान दोनों चरणोंको नमस्कार करता हूँ ॥२९१॥

(१२) अर्थव्यक्ति—जहाँ दूसरे व्यक्तिकी अपेक्षा न रखनेपर वाक्य पूर्ण हो जायँ उसे अर्थव्यक्ति कहते हैं । यह अपुष्ट दोषको दूर करनेके लिए माना गया है ॥२९२॥

देवराजोंके—हन्द्रोंके मस्तकमणिकी किरणोंके समूहसे सम्पन्न अर्धविधिकी प्राप्त करनेवाले जिनेन्द्र भगवान् जयवन्त हों । इन जिनेन्द्र भगवान्के नख केशर गणधरोंके द्वारा वन्दनीय हैं और जिनके दोनों चरणारविन्द जगत्में श्रेष्ठ हैं ॥२९३॥

(१५) औदार्य—विकट अक्षरोंकी बन्धताको औदार्य कहते हैं । यथा—

यह प्रवर्तक होनेके कारण उन कुछ दोषोंको छिपाकर जाता है । उन दोषोंके साथ अचानक मर जानेपर यदि गुरु पीछा करता है तो यह क्या ? इसलिए मेरा गुरु गुरु नहीं है । अतिशय श्रेष्ठको भी स्पष्ट रीतिसे लघु बनाकर सर्वदा कुशलता पूर्वक जो बोलता है, वह खल सद्गुरु है । २९४॥

पदानामर्थचारुत्वप्रत्यायकपदान्तरैः ।

मिलितानां यदादानं तदौदार्यं स्मृतं यथा ॥२९५॥

इति वाग्भटोक्तिरपीष्टा ।

श्रीलीलायतनं महीकुलगृहं कीर्तिप्रमोदास्पदं

वाग्देवीरतिकेतनं जयरमाक्रोडानिधानं महत् ।

स स्यात्सर्वमन्त्रोत्सवैकभवनं यः प्राणितार्थप्रदं

प्रातः पश्यति कल्पपादपदलच्छायं जिनाङ्घ्रिद्वयम् ॥२९६॥

श्रियो लक्ष्म्या विलासगृहं स प्रातः जिनपदयुगं दृष्ट्वा स्याद्भवेत्
भवितुमर्हंतोत्यर्थः । स्यादित्यत्र तृध्यप् चाहं इत्यनेन लिङ् ।

शब्दार्थयोः प्रसिद्धत्वं झटित्यर्थापेक्षामम् ।

प्रसादः क्लिष्टदोषस्य परिहाराय स स्मृतः ॥२९७॥

यस्य विज्ञानकोणस्थौ लोकालोकावष्णुपमौ ।

तस्मै वीरजिनेन्द्राय नमस्तत्पदलब्धये ॥२९८॥

अर्थकी चारुताके प्रत्यायक पदके साथ वैसे ही अन्य पदोंकी सम्मिलित योजना-
को औदार्य कहते हैं ॥२९५॥

इस प्रकार कहा हुआ वाग्भटका मत भी अभीष्ट है ।

जो मनुष्य इष्ट वस्तुको देनेवाले तथा कल्पवृक्षके कोमल पत्तोंकी कान्तिके समान
सुन्दर जिनेश्वर भगवान्के चरणारविन्दोंका प्रातः दर्शन करते हैं, वे शीभा और सम्पत्ति-
का क्रीडाभवन भूमि इत्यादि स्थायी सम्पत्तिका आश्रय, यश और आनन्दका पात्र,
सरस्वतीके आनन्दका ध्वज, विशाल विजयस्त्री लक्ष्मीका कोश और सभी प्रकारके
उत्सवोंका अद्वितीय महान् स्थान बन सकते हैं ॥२९६॥

प्रातःकाल जिनेश्वरके चरणोंके दर्शनसे मनुष्य लक्ष्मीका विलासभवन ही
सकता है अर्थात् उसके यहाँ लक्ष्मीका स्थायी वास सम्भव है । 'स्यात्' इस पदमें
'तृध्यप् चार्हः' इस सूत्रसे लिङ्लकार हुआ है ।

(१६) प्रसाद—शब्द और अर्थकी प्रसिद्धि तथा झटिति अर्थको समझा देनेकी
क्षमताको प्रसादगुण कहते हैं । यह क्लिष्ट दोषको दूर करनेके लिए माना गया
है ॥२९७॥

जिस जिनेश्वर भगवान्के केवलज्ञानके कोनेमें लोक और अलोक परमाणुओंके
समान भासित होते हैं उन वीर जिनपतिको उनके पदकी प्राप्तिके लिए मैं वन्दना करता
हूँ ॥२९८॥

१. निदानम्-ख । २. त्व व्य वा ह्न् इत्यनेन लिङ्-ख ।

तिङ्गं सुपां परिज्ञानं सौशब्दं कथितं यथा ।
 च्युतसंस्कारहान्यर्थं तदिह स्वीकृतं पुनः ॥३०३॥
 कवीनां गमकानां च वादिनां वाग्मिनामपि ।
 यशः सामन्तभद्रीयं मूर्ध्नि चूडामणीपते ॥३०४॥
 कविनूतनसंदर्भो गमकः कृतिभेदकः ।
 वादी विजयवाग्वृत्तिर्वाग्मी तु जनरञ्जनः^२ ॥३०५॥
 उक्तेर्यः परिपाकः सा प्रौढिरित्युच्यते यथा ।
 कल्पद्रोविभवो विधेः कुशलता भानोः सुतेजोगणो
 हेमाद्रेः प्रतिबिम्बनं गुणगणः स्वायंभुवोक्तेः स्फुटः ।
 गाम्भीर्यं जलधेर्विधोविलसनं चिन्तामणेदित्सनं^३
 जैनश्रीकरुणागणः शमरसश्चेत्येष^४ सक्थो निधीट् ॥३०६॥
 पदानि यत्र युज्यन्ते क्लृप्तमानविशेषणैः ।
 उदात्तता यत्ता सा चानुचितार्थत्वहानये ॥३०७॥

(३०) सूक्ति—तिङ् और सुप्के उत्तमज्ञानको सौशब्द कहते हैं । यह च्युतसंस्कार दोषको दूर करनेके लिए माना गया है ॥३०३॥

सामन्तभद्रका यश कवियों, ध्वनिके ज्ञाताओं, शास्त्रार्थियों और धर्मशास्त्रके व्याख्याताओंके भक्तकपर चूडामणिके समान प्रतीत हो रहा है ॥३०४॥

कवि, गमक, वादी और वाग्मीका स्वरूप—

नयी रचना करनेवालेको कवि, कृतिको समालोचना करनेवालेको गमक, विजयो-वाणीसे जीविका करनेवालेको वादी अथवा शास्त्रार्थकी क्षमता रखनेवाले व्यक्तिको वादी और अपनी व्याख्यान कलासे जनताको मुग्ध करनेवालेको वाग्मी कहते हैं ॥३०५॥

(३१) प्रौढ़ि—अपने कथनके सम्यक् परिपाकको प्रौढ़ि कहते हैं । यथा—कल्प-वृक्षको सम्पत्ति, ब्रह्माकी कुशलता, सूर्यका महातेज, सुमेरुका प्रतिबिम्ब, स्वयंभू भगवान्-की उक्तिका सुस्पष्ट गुण समूह, चन्द्रमाका विलस, चिन्तामणिकी दानशुलता, समुद्रकी गम्भीरता, जिनेश्वर भगवान्की शोभा, दया, और समर्पिता इन सब बातोंकी संभावना चक्रवर्ती भरतमें है ॥३०६॥

(३२) उदात्तता—जहाँ प्रदांसनीय विशेषणोंसे पद युक्त होते हैं, वहाँ उदात्तता नामक गुण अनुचितार्थत्व नामक दोषको दूर करनेके लिए माना गया है ॥३०७॥

१. वाग्मिनामपि—ख । २. जनरञ्जनकः—ख । ३. -दित्सनम्—ख । ४. चैत्येषु—ख ।

५. श्रीकरुणाङ्गणः—ख ।

पठद्ब्रन्दिकुलाक्रोर्णं चलच्चामरसंचयम् ।
विनमद्भूपसंघट्टं निषीशास्थानमाबभौ ॥३०८॥

उदात्तत्वमीदार्थेऽन्तर्भवति वाग्भटाद्यपेक्षया ।
चादूक्तैः प्रियतरः प्रोक्तः प्रेयानित्युच्यते यथा ।
पाशुष्यस्य च दोषस्य परिहाराय स स्मृतः ॥३०९॥

कारुण्यं त्वयि धीरता त्वयि शमस्त्वय्युत्तमत्वं त्वयि
प्रागलभ्यं त्वयि धीरता त्वयि महैश्वर्यं त्वयि प्राभवम् ।
गाम्भीर्यं त्वयि सत्कला त्वयि यशस्त्वय्युत्तमत्वं त्वयि
क्षेमं श्रीस्त्वयि चक्रभृद्भुवमिमां रारक्ष्यतां ब्रह्मवत् ॥३१०॥

संक्षिप्यार्थो निरूप्येत यत्र संक्षेप उच्यते ।
कुशवंशोद्भवाज्जाता बहवो भूमिपाः पुरा ।
तेषां सीभाग्यसंदर्शी ज्ञानचन्द्रो विभात्ययम् ॥३११॥

इति गुणप्रकरणम्

स्तुति पाठ करते हुए चारणोंसे व्यास, हुल्लते हुए चामरोंकी राशिसे भरपूर और
शुक्ले राजाओंके समूहवाला चक्रवर्ती भरतका सभामण्डप सुशोभित हुआ ॥३०८॥

मीदार्थमें उदात्तताका अन्तर्भाव है, यह वाग्भटका मत है ।

(३३) प्रेयान् —अत्यन्त अनुनयनय वचनोंसे जहाँ कोई प्रिय पदार्थ प्रतिपादित
हुआ हो वहाँ प्रेयान्गुण पाशुष्य नामक दोषको दूर करनेके लिए माना गया है ॥३०९॥

तुल्यमें करुणा, धीरता, शान्ति, उत्तमता, धृष्टता, श्रेष्ठता, ऐश्वर्य, सामर्थ्य,
गम्भीरता, उत्तमकला, यश, सर्वोत्तमता, क्षेम, लक्ष्मी इत्यादि सब कुछ विद्यमान है ।
अतएव हे चक्रवर्तिन् ! ब्रह्मके समान इस पृथ्वीकी बार-बार रक्षा कीजिए ॥३१०॥

(३४) संक्षेपः—जहाँ किसी अभिप्रायको बहुत संक्षेपसे कहा जाये वहाँ संक्षेप
नामका गुण होता है । जैसे—पहले पुरुकुलमें बहुत राजा हुए । उनमें अन्यन्त भाग्य-
शाली यह ज्ञानचन्द्र विशेष शोभित हो रहा है ॥३११॥

गुण प्रकरण समाप्त ।

१-२. उदात्तप्रभृति स्मृतः पर्यन्तं-खप्रती नास्ति । ३. यशस्त्वय्युत्तमत्वम्-क-ख ।
४. गुरुवंशोद्भवा जाता-ख । ५. सन्वशि-ख ।

माधुर्यं शौचशौर्यं स्मृतिधृतिविनया वाग्मितोत्साहमाना-
 स्तेजोधर्मो दृढत्वं प्रियवचनमपि प्राज्ञता दक्षता च ।
 त्यागो लोकानुरागो मतिदृढकुलता सत्कलावेदिता च
 स्थैर्यं शास्त्रार्थसूक्तिर्वैय इति च गुणा नेतृसाधारणास्ते ॥३१२॥
 नायकस्तद्गुणोपेतः स चतुर्धा प्रभाष्यते ।
 उदात्तललितौ शान्तोद्धतौ धीरोक्तिपूर्वकाः ॥३१३॥
 दयालुरनहंकारः क्षमावानविकल्पनः ।
 महासत्त्वोऽतिगम्भीरो धीरोदात्तः स्मृतो यथा ॥३१४॥
 तान्म्लेच्छान् विहितामसोऽपि नमय प्राणैः सह श्रीजये-
 त्यात्तथीकैरणः सुरेशहरिदाद्यब्धिस्थदेवानतिः ।
 व्यायत्नप्यनहंकृतिः सकलदिग्भूमीशपूज्याङ्घ्रिकः
 श्रीपञ्चास्यपराक्रमो न विकृति सर्वत्र सोऽनाग्निधीट् ॥३१५॥

नायकके गुण—

माधुर्यं, शौच, शौर्यं, स्मृति, धृति—धैर्यं, विनय, वाग्मिता, उत्साह, मान, तेज,
 धर्म, दृढता, मधुरभाषण, प्राज्ञता—विद्वता, दक्षता, त्यागशीलता, लोकप्रीति, मति—
 बुद्धिमत्ता, कुलीनता, सत्कलाविज्ञता, शास्त्रार्थकी क्षमता, सुभाषितज्ञता, तारुण्य आदि
 गुण नायकमें होते हैं ॥३१२॥

नायकके भेद—

उपर्युक्त गुणोंसे युक्त नायक चार प्रकारके होते हैं—(१) धीरोदात्त (२)
 धीरललित (३) धीरशान्त (४) और धीरोद्धत ॥३१३॥

धीरोदात्तका स्वरूप—

दयालु, घमण्डरहित, क्षमाशील, अविकल्पन—अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा नहीं
 करनेवाला, अतिबलशाली, अत्यन्त गम्भीर धीरोदात्त नायक होता है ॥३१४॥

उदाहरण—

अपराध करनेवाले उन म्लेच्छोंको सुकाओ, प्राणोंके साथ उनपर विजय प्राप्त करो,
 इस प्रकार श्री और कण्ठासे युक्त; इन्द्र, सूर्य आदि और समुद्रस्थ देवताओंसे अभिवन्दित;
 ध्यान करते हुए भी अहंकारसे रहित; सम्पूर्ण दिशाओंके राजाओंसे वन्दित चरण; सिंहके
 समान पराक्रमी निधिपति भरत कहीं भी विकृति—विकारको प्राप्त नहीं हुए ॥३१५॥

धीरललित—

विविध प्रकारकी कलाओंमें विरोध आसक्तिवाला, सुखी, मन्त्रियोंपर राज्यकार्य-

कलासक्तः सुखी मन्त्रिसमर्पितनिजक्रियः ।
 भोगो मृदुरचिन्तो यः स धीरललितो यथा ॥३१६॥
 गवाक्षसंलम्बितपादयुग्मप्रवेदितात्मस्थितिरुद्धहर्म्ये ।
 चिक्रीड राजा परिरम्भचारुकटाक्षगीतादिभिरङ्गनाभिः ॥३१७॥
 कलामार्दवसौभाग्यविलासी च शुचिः सुखी ।
 रसिकः सुप्रसन्नो यो धीरशान्तः मतो यथा ॥३१८॥
 कान्तास्यपद्मनयनद्युतिनालजाल-
 संपोथमानतनुर्भं पुरि पर्यटन्तम् ।
 सौधस्थितापि वनिता नवकामदेवं
 बाहू प्रसारयति तं परिरब्धुकामा ॥३१९॥
 चपलो वञ्चको दसश्चण्डो मात्सर्यमण्डितः ।
 विकथनो ह्यसौ नेता मतो धीरोद्धतो यथा ॥३२०॥

को सौपनेवाला, भोगी और चिन्तारहित जो नायक होता है, उसे धीरललित कहते हैं ॥३१६॥

उदाहरण—

किसी राजाने खिड़कीपर फैलाये हुए दोनों चरणोंसे अपने स्थितिको सूचित करते हुए, सुन्दरतम कोठेपर अनेक प्रकारके आलिंगन और कटाक्षादि कलाओंको जानकारी रखनेवालो सुन्दरियोंके साथ क्रीडा की ॥३१७॥

धीरशान्त—

कला, मृदुता, सौभाग्य और विलाससे युक्त, पवित्र, सुखी, रसिक और अत्यन्त प्रसन्न रहनेवाले नायकको धीरललित कहते हैं ॥३१८॥

उदाहरण—

सुन्दर मुखपद्म और नेत्रोत्पलकी कान्तिसमूहसे आधरपूर्वक देखी जाती हुई, लावण्ययुक्त, नगरमें घूमते हुए विलक्षण कामदेवके समान सुन्दर उस राजाको आलिंगन करनेकी इच्छावाली कोठापर बैठी हुई कामिनो अपने दोनों हाथोंको फैलाती है ॥३१९॥

धीरोद्धत—

वंचक, वंचक, घमण्डी, द्वेष करनेवाला और अपनी प्रशंसा करनेवाला धीरोद्धत नायक होता है ॥३२०॥

१. मधुरचिन्तो यः—ख । २. जाल्नाल....—ख ।

अप्रेक्ष्योऽजनि राहुरप्यपि विघ्नः कार्श्येतरद्वन्द्वगः
 सूर्यः क्षत्र्यपदं गतश्च रिपवः संशेरते गह्वरे ।
 गर्भस्थोऽतिसुकम्पते शिशुररं यस्यास्य मे गर्जनात्
 कीटा^१ धावत मा म्रियध्वमिति तच्चक्रोद्भटो युद्धवान् ॥३२१॥
 सर्वेष्वपि रसेषूक्ता नायकास्ते चतुर्विधाः ।
 प्रत्येकं तेषु शृङ्गारे चत्वारो भाषिता^२ बुधैः ॥३२॥
 दक्षिणः शठधृष्टावनुकूलश्चेति भाषिताः ।
 दक्षिणो बहुसौम्यः स्याद् गूढविप्रीतिकुच्छठः^३ ।
 व्यक्तागा गतभोधृष्टस्त्वेकाधीनोऽनुकूलकः^४ ॥३२३॥

बह्वीषु नायिकासु अवैषम्येण स्नेहानुवर्ती दक्षिणः । नायिकामात्रज्ञाता-
 प्रीतिकारो शठः । नखक्षतादिना व्यक्तापराधो धृष्टः । नायिकायास् एकास्यां
 विशेषानुरक्तोऽनुकूलः ।

उदाहरण—

चक्रवर्तीका एक सैनिक मेरे गर्जन करनेसे राहुके सदृश अदृश्य हो गया, प्रबल
 युद्धमें प्राप्त चन्द्र और सूर्य आकाशमें भाग गये, शत्रुगण गुफाओंमें शयन करते हैं, गर्भमें
 रहनेवाला शिशु शोधाऽपूर्वक अत्यन्त डर रहा है, हे जीनेके समान शत्रुसैनिकों,
 मैदानसे भागो, मरो मत, इस प्रकार कहते हुए युद्ध करने लगा ॥३२१॥

रसानुसार नायकोंकी व्यवस्था—

प्रायः सभी रसोंमें धीरोदात्त आदि नायक ग्राह्य होते हैं, पर शृंगार रसमें
 चारों प्रकारके नायकोंके चार-चार भेद कहे गये हैं ॥३२२॥

शृंगार रसानुसार नायकोंके उपभेद—

शृंगार रसमें प्रत्येक भेदवाले नायकके चार भेद होते हैं—(१) दक्षिण
 (२) शठ (३) धृष्ट (४) अनुकूल । जो बहुत सौम्य होता है, उसे दक्षिण नायक कहते
 हैं । छिपकर अप्रिय कार्य करनेवालेको शठ नायक कहते हैं । प्रकट अपराधी होनेपर भी
 जो डरता नहीं है, उसे धृष्ट नायक कहते हैं । जो केवल अपनी प्रियतमाके ही अधीन
 हो, उसे अनुकूल नायक कहते हैं ॥३२३॥

—बहुत नायिकाओंमें समान रीतिसे प्रेम करनेवालेको दक्षिण, सभी नायि-
 काओंसे विदित अप्रिय कार्य करनेवालेको शठ नायक कहते हैं । परनायिका कृत नखक्षत
 इत्यादिके द्वारा प्रकट अपराधवालेको धृष्ट और एक ही नायिकामें विशेष आसक्तिवाले-
 को अनुकूल नायक कहते हैं ।

१. कीटाधावत मा-ख । २-३. सर्वेष्वपि इत्यारभ्य...बुधैः पर्यन्तं-खप्रती नास्ति ।
 ४. -खप्रती इत्यस्यानन्तरं दक्षिणः इत्यादि ३२२ तमछन्दो वर्तते । ५-६. व्यक्ता इति
 आरभ्य अनुकूलकः पर्यन्तं-खप्रती नास्ति । ७. व्यक्तापराधी निर्भयो धृष्टः-क-ख ।

मत्क्रीडागृहवक्षसीतरवधूः स्वप्नेऽपि मास्तामिति
 श्लोकान्ता सकलार्थसाधनपटौ बाहौ च वीरेन्दिरा ।
 झाह्यौ चोद्ध(?)मुखे कृतादरतया जागर्ति सा देव्यपि
 तत्रैवेच्छुरिति प्रबुध्य तिघिपोऽस्थाद् द्वित्रिंशतीविधिः ॥३२४॥
 काञ्चीनूपुरकिङ्किणीमणिरत्नं श्रुत्वान्येकान्तागतं
 गाढाद्लेषमहादलधोकृतभुजप्रस्थिः शठाद्यासि भोः ।
 साक्षात्त्वमनसो गतं मम सखी ह्यज्ञातवत्यागता
 त्वन्मातुर्यवचोभ्रमा मम पुरस्तां श्लाघते स्मादरात् ॥३२५॥
 तस्याश्चारुरते रदक्षतमहामुद्राङ्कितं स्वाधरं
 धूर्तं च्छादयते किमङ्घ्रिनगनप्रादेश मे रदक्षितः ।
 इत्युक्तेन मया क्व चास्ति तदिति व्यामाष्टुमिच्छावता
 गाढारिलष्टतनुः सुविस्मृतवती तच्छर्मरोमाञ्चिता ॥३२६॥
 सुखं त्वमसि चेदस्ति विश्वेन्द्रियसमुद्भवम् ।
 अन्याङ्गनाकटाक्षादीननिच्छोर्मम सुप्रिये ॥३२७॥

मेरे बिलासभवनके भीतर कोई दूसरी स्त्री स्वप्नमें भी न रहे, सम्पूर्ण कार्योंके करनेमें निपुण मेरे बाहुमें परम रमणीय वीर लक्ष्मीका निवास ही, मेरे मुखमें सर्वदा सरस्वती रहे । वह देवी भी वहीं रहना चाहती है, इस प्रकार जगकर सब कुछ विधान करनेवाले चक्रवर्ती भरत दोन्तीन क्षण तक स्थिर रहे ॥३२४॥

कोई शठ नायक कह रहा है कि अन्य नारीकी रक्षणा और नूपुरकी मणिध्वनि-को सुनकर गाढ आलिंगनसे ढीले किये हुए भुजबन्धनवाले हे शठ ! तू शठतासे कहीं जा रहा है, साक्षात् तुम्हारे मनकी बातको न जाननेवाली तुम्हारे मोठे बचनोंकी भास्ति-में पड़ी हुई वह मेरी सखी आ गयी, इस प्रकार अत्यन्त आदरसे वह मेरे सामने सखी को प्रशंसा करती रही ॥३२५॥

उसकी सुन्दर रतिक्रीडामें दन्त-अतरूपी मुद्रासे चिह्नित अपने अधरको चरणोंमें नभस्कार करनेके बहानेसे मेरे क्रोधके समक्ष अपनेको समर्पित करनेवाले हे धूर्त, क्यों छिपा रहे हो, ऐसा कहनेपर वह कहाँ है, उसे पीछनेकी इच्छावाले नायकने उस नायिकाका शरीर गाढ आलिंगनमें बाँध लिया और उस सुखसे रोमांचित देहवाली वह नायिका सब कुछ भूल गयी ॥३२६॥

हे प्रियसभे ! अन्य कामिनियोंके कटाक्ष इत्यादिको न चाहनेवाले मेरा सुख तुम ही हो । सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे उत्पन्न सुखरूप तुम्हीं मेरे लिए सुख स्वरूप हो ॥३२७॥

१. चोद्धमुखे—ख । २. नादिर्विधिः—ख । ३. साक्षात्त्वमनसो—क-ख । ४. सखि—ख ।
 ५. पुरस्त्वम्—क-ख । ६. लज्जतः—ख । ७. रदक्षितः—क । ८. सुविस्मृतवति तच्छर्म....—ख ।

घोरोदात्तादिनेतृणामिति भेदास्तु षोडश ।
 परमध्यावरत्वेन त्रित्वमेवैव बोधितम् ॥३२८॥
 नायका भेदतस्त्वष्ट्रचत्वारिंशदिति रिताः ।
 विदूषको विटः पीठमर्दो नेतृसहायकाः ॥३२९॥
 नेतुर्विदूषको हासकारी चारुप्रसङ्गतः ।
 नायकस्वान्तरागानुकूलविद्यो विटो मतः ॥३३०॥
 मनागूनगुणो नेतुः कार्ये दक्षोऽन्तिमो मतः ।
 लूब्धधीरोदात्तारत्नपापिजाः प्रतिनायकाः ॥३३१॥
 सत्त्वजा यौवने पुंसां शोभाद्या ह्यष्टधा गुणाः ।
 गाम्भीर्यं स्थैर्यमावुर्यं तेजः शोभाविलासनम् ॥३३२॥
 औदार्यं ललितं चेति तेषां लक्षणमुच्यते ।
 गाम्भीर्यं या प्रभावेनाविकृतिः क्षोभणेऽपि च ।
 कार्यादिचलनं स्थैर्यं विघ्ने महति सत्यपि ॥३३३॥

नायकोंके अन्य भेद—

घोरोदात्त, घोरललित आदि नायकोंके सोलह भेद हैं अर्थात् मूल चार भेद और प्रत्येकके दक्षिण, शठ, धृष्ट आदिको अपेक्षा चार-चार भेद; इस प्रकार कुल $4 \times 4 = 16$ भेद हैं । ये सोलह प्रकारके नायक उत्तम, मध्यम और अधमके भेदसे तीन-तीन प्रकारके होते हैं ॥३२८॥

इस प्रकार नायकोंके $16 \times 3 = 48$ अड़तालीस भेद माने गये हैं और इनके सहायक विदूषक, विट और पीठमर्द माने गये हैं ॥३२९॥

विदूषक और विट—

सुन्दर प्रसङ्गसे नायकको हँसाने तथा प्रसन्न रखनेवालेको विदूषक और नायकके भीतरी प्रेम तथा अनुकूलताको जाननेवालेको विट कहते हैं ॥३३०॥

पीठमर्द और प्रतिनायक—

नायकसे कुछ कम गुणवाला तथा कार्यमें जो कुशल हो, उसे पीठमर्द कहते हैं । लोभी, धीर, उद्विष्ट, स्वयं और महापापी प्रतिनायक होते हैं ॥३३१॥

सत्त्वोत्पन्न युवावस्थाके गुण—सात्त्विक गुण—

पुरुषोंके युवावस्थामें सत्त्वसे उत्पन्न गम्भीरता, स्थिरता, मधुरता, तेज, शोभा, विलास, औदार्य और लालित्य ये आठ गुण होते हैं ॥३३२॥

गम्भीरता—

पूर्व पद्यमें प्रतिपादित गुणोंमें उदारता और लालित्य नहीं आये थे, जिनका

१. बोधितम्—क-ख । २. प्रभावेनाविकृतिः—ख ।

माधुर्यं तर्कणं सूक्ष्मकलासंचयगोचरम् ।
 प्राणनाशोऽपि धिक्काराक्षमत्वं तेज उच्यते ॥३३४॥
 शोभायां शौर्यदक्षस्ये स्पर्धा नीचैर्घृणाधिकैः ।
 विलासो(?) सस्मितोक्तिस्सधैर्या^१ गतिः प्रसन्नदृक् ॥३३५॥
 औदार्यं स्वपरेषु स्याद् दानाभ्युपगमाधिकम् ।
 ललितं मृदुशृङ्गाराकृती^२ सहजचेष्टनम् ॥३३६॥

उल्लेख इस पद्यमें है । धुब्बावस्थामें भी प्रभावके कारण जो विकृतिका अभाव है, उसे गम्भीरता कहते हैं ॥३३३॥

स्थैर्य, माधुर्य और तेज —

महान् विघ्नके उपास्यस हो जानेपर भां कार्यसे विचलित न होनेको स्थैर्य कहते हैं । सूक्ष्म कलाओंके संचय, प्रत्यक्ष और तर्कज्ञानको माधुर्य कहते हैं । माधुर्यका अभिप्राय मनःक्षोभके कारणोंके रहते हुए भी मनकी स्वस्थता और शान्ति है । प्राणनाशके समय भी धिक्कारको नहीं सह सकनेको तेज कहते हैं । तात्पर्य यह है कि तेज वह सात्त्विक पौष्ट्य गुण है, जिसे किसी दूसरेके द्वारा किये गये 'आक्षेप अथवा अपमानका प्राणसंकट पड़नेपर भी सहन न करना कहा गया है ॥३३४॥

शोभा और विलास—

'शोभा' को दक्षता, शूरता आदि पौरुष गुणोंकी जननीके रूपमें देखा जा सकता है । इस गुणमें बड़ोंके साथ स्पर्धा और नीचोंके साथ घृणा रहती है । हास्ययुक्त कथनको विलास कहते हैं । इसके कारण दृष्टिमें धीरता, चालमें विचित्रता और बोल-चालमें मन्दहासकी छटा छिटका करती है ॥३३५॥

औदार्य और ललित—

अपने या दूसरोंके प्रति दान या आदानके आधिक्यको औदार्य कहते हैं । इस गुणमें प्रियभाषण पूर्वक दान अथवा शत्रु-मित्रके प्रति समदर्शिताका व्यवहार किया जाता है । कोमल और शृंगारकृतिमें स्वाभाविक चेष्टाको ललित कहते हैं ॥३३६॥

नायिकाओंके भेद—

पूर्वोक्त नायकके गुणोंसे युक्त स्वकीया, परकीया और सामान्या, ये तीन नायिकाएँ होती हैं ।

१. विलासे सम्मतोक्तिस्-क । विलोकेन स्मितोक्तिः—ख । २. सधैर्यगतिः—ख ।
 ३. लप्रती सहज इति पदं नास्ति ।

स्वीयेतरा च सामान्या नायिका तद्गुणा त्रिधा ।
 सशीला सत्रपा स्वीया प्रगुणा च सती यथा ॥३३७॥
 व्रीडानतास्यामृजुचित्तवाणी, स्वशीलमालापितहारयष्टिम् ।
 बभार वक्षस्पुरुषदृदेवीं लक्ष्मीमिव प्रेमकरीं निधीशः ॥३३८॥
 अन्योढा कन्यका चेति सान्या तु द्विविधा मता ।
 सशृङ्गाररसान्योढा कन्यका नीरसा यथा ॥३३९॥
 इति स्वेष्टार्थसंवादे वनमाला स्मरातुरा ।
 दूत्या पत्यौ परोक्षे द्वागविक्षदराजमन्दिरम् ॥३४०॥
 स्वाङ्के समारोप्य धवेन केन कुमारि भाव्यं वद चेति सूक्ते ।
 अशोमुखोभूय पितुः पुरस्ताल्लिलेख पादाङ्गुलिभिर्भुवं सा ॥३४१॥
 सीत्काराश्लेषधौष्ट्याद्यैरनुरक्तेव रञ्जयेत् ।
 दातारं नायकं वेश्या सा तु साधारणा यथा ॥३४२॥

स्वकीया—

शोणवती, लज्जायुक्त, विशेष गुणशालिनी और पतिव्रताको स्वकीया कहते हैं ॥३३७॥

उदाहरण—

अश्ववर्ती भरतने लज्जासे नीचेकी ओर मुख किये हुए सरसचित्त और वाणी-वाली, अपने शीलसे मालाके समान आचरण करनेवाली द्वारसे सुशोभित और अधिक प्रेम करनेवाली लक्ष्मीके समान उस राजमहिषीको अपने वक्षस्थलपर धारण किया ॥३३८॥
 परकीयाके भेद—

परकीयाके दो भेद हैं—(१) अन्योढा और (२) कन्या । अन्योढा—अन्य परिणीता शृङ्गारसे अत्यधिक सुसज्जित रहती है और कन्या शृङ्गारमें अधिक प्रेम नहीं करती, अतएव इसे रसरहित कहा गया है ॥३३९॥

उदाहरण—

किसी प्रकार अपने अनुकूल कार्यका संदेश पाकर वनमालासे सुशोभित कामपोडिता कोई परकीया पतिकी अनुपस्थितिमें तुरन्त दूतीके साथ राजमन्दिरमें प्रविष्ट हुई ॥३४०॥

'हे कुमारी, बोल, तेरा पति कौन होना चाहिए' अपनी गोदमें लेकर ऐसा अनुरोध किये जानेपर पिताके सामने नीचा मुख किये हुए, वह पैरको अंगुलियोंसे पृथिवीकी कुरेदने लगी ॥३४१॥

गणिका धन देनेवाले नायकको सीत्कार, आलिङ्गन, धृष्टता आदि कार्योंसे प्रेम करनेवाली नायिकाके समान रञ्जित करती है, अतः इसे सामान्या कहते हैं, क्योंकि वह सभीकी स्त्री हो सकती है ॥३४२॥

१. पत्यपरोक्षे—ख । २. धाष्ट्यादिरनु—ख ।

पद्मरागमणिजातरक्तिमा स्फाटिकीव दृषदायताम्बका ।

जायते च गणिका यदा युता येन रागसहिता तदैव च ॥३४३॥

मुग्धा मध्या प्रगल्भेति स्त्रीया सा त्रिविधा मता ।

रते वामालपञ्चगुणा नवदोषतन्मया ॥३४४॥

नवाङ्कुरोद्भिन्नकुचां लताङ्गी मुखाब्जलोलकचञ्चरीकाम् ।

रतोररीकारमतिच्युतां तां बहिः परं तुष्टिमितोऽनुगृह्य ॥३४५॥

मध्या^३ गूढवयः कामा मोहितान्तरते यथा ।

केशान् गृह्णति चुम्बति प्रतिलिखत्यास्फालयत्यादरा-

द्वक्षो ह्यूरुतटे करं^४ रदनखं व्यापारयत्यात्मनः ।

तन्वाने रतत्राटुकोटिमतुले श्रीनायके भोः सखि

शापांस्तत्र शतं व्यधामपि मया ज्ञानं न किञ्चित् तदा ॥३४६॥

गणिका—

पद्मराज गणिकी लालिमाके समान प्रतीत होनेवाली तथा स्फटिक गणिके समान स्थिर और विस्तृत नेत्रवाली जब जिस पुरुषसे मिलती है, उसी समय प्रेमभावकी प्रतीति कराती है । ऐसी नायिकाको गणिका कहते हैं ॥३४३॥

स्वकीया नायिकाके भेद और मुग्धाका स्वरूप—

स्वकीया नायिकाके तीन भेद हैं—(१) मुग्धा (२) मध्या और (३) प्रगल्भा । सुरतादि कार्योंमें असहमत, अल्प सुरतादि करनेवाली युवति और नूतन काम-वासनावाली नायिकाको मुग्धा कहते हैं ॥३४४॥

उदाहरण—

नूतन त्रिकासोन्मुख पयोधरवाली, लताके समान कृशाङ्गी, मुख कमलपर भ्रमरके समान पड़े हुए केशवाली, सुरत स्वीकृतिसे विमुख उस मुग्धाको आलिंगनकर किसी नायकने बहुत अधिक बाहरी सन्तोषको प्राप्त किया ॥३४५॥

मध्याका स्वरूप—

गुप्तावस्थामें विद्यमान काम वासनावाली तथा सुरतके अनन्तर बेहोश हो जानेवाली नायिकाको मध्या कहते हैं । यथा—

केशोंके ग्रहण करने, चुम्बन करने, अंगोंको सहलाने, आदरपूर्वक वक्षःस्थलको हाड़न करने तथा ऊरु तटपर अपने हाथोंको रखने, दन्त एवं नखसत करने और असीम

१. रतोररिका—ख । २. मितो निगृह्य—ख । मितो निगृह्य—क । ३. लठवयः—ख ।

४. वरनखम्—ख ।

अत्यन्तसुवयःकामा लीनेव प्रियवक्षसि ।
 प्रगल्भा सुरतारम्भेऽप्यस्वाधीनमना यथा ॥३४७॥
 गाढाश्लेषप्रलीनस्तनत्रिसज्युगोद्भिर्नैरागोद्गमाढ्या
 सान्द्रस्नेहातिरेकप्रगल्भितिरणम् काञ्चिन्नसुश्रेणिनुस्था ।
 मा मालं मेति दैन्यप्रलपितवदना किं मृता किं सुषुप्ता
 काये किं सुप्रविष्टा मनसि समुषिता वेति सा रंरमीति ॥३४८॥
 मध्या श्रेष्ठा मता धीरा धीराधीरा तथेतरा ।
 सागसं भेदयेद्धीरा सोत्प्रासान् नृजुवाग्यथा ॥३४९॥
 केतवया नवकण्ठकैर्मलमुखं व्यापारितं हन्त हा
 प्रस्वेदकलदमातपेन लपनं वातेन कीर्णाः कचाः ।

सुरतके लिए नायकके विशेष अनुरोध करनेपर हे राखि, मैंने सैकड़ों प्रकारकी शपथ करायी और उसके बाद मुझे होश न रहा, इस प्रकार कोई नायिका अपनी सखीसे अपने नायकके वृत्तान्तकी कह रही है ॥३४६॥

प्रगल्भाका स्वरूप—

अत्यन्त प्रस्फुटित काम अवस्थावाला, प्रियतमके वक्षःस्थलसे चिपटी हुई, सुरतके प्रारम्भमें परतन्त्र चित्तवाली नायिकाको प्रगल्भा नायिका कहते हैं ॥३४७॥

उदाहरण—

गाढ आलिङ्गनके कारण प्रियतमके वक्षमें बिलीन, कुचोंमें कमल सूत्रमें उत्पन्न रोमांचसे अत्यधिक रागको सूचित करनेवाली तथा अत्यन्त प्रेमकी अधिकतासे गिरी हुई और शब्द करती हुई रक्षना—कांचीवाली तथा स्खलित हुए कमरके बस्त्रवाली कोई प्रगल्भा नहीं, नहीं, बस करो' इस प्रकार दीनतासे युक्त वचन बोलती हुई 'मर गयी, सो गयी, शरीरमें घुस गयी, अथवा मनमें छिपकर रह गयी' इस प्रकार कथन करती हुई रमण की ॥३४८॥

मध्या नायिकाके भेद—

मध्या नायिकाके तीन भेद हैं—(१) धीरा (२) अधीरा और (३) धीरा-धीरा । सरल बोलीवाली धीरा नायिका अपराधी प्रियतमको आलंकारिक भाषामें कष्ट देती है ॥३४९॥

धीरा मध्याका उदाहरण—

खेद है कि केतकीके नवीन कण्ठकसे तुम्हारा गला और मुख फट गया है । धूपके कारण मुख पसीनेसे आर्द्र हो गया है । केश पवनके कारण अस्त-व्यस्त हो गये हैं ।

१. खप्रती अपि पदं नास्ति । २. रोमोद्गमाद्या-ख । ३. किं नु सुप्ता-ख । ४. खेदये-
 खीराः-ख । ५. -नृजुवान् यथा-ख ।

यातायातपरिश्रमाद् वपुःरिदं क्लान्तं तवेवं त्वयि
 तावत्तिष्ठ च तिष्ठ मा विश भूहं धूल्या प्ररक्ताम्बका ॥३५०॥
 धीराधोरा मता साश्रुवक्षत्रसोत्प्रासवाग्यथा ।
 दयिते किं नाथ कान्ते जहिहि मयि रुष रोषतः किं कृतं ते
 मम चेतो दन्दहीमि प्रियवठर कृतं किं स्वयागो मयैव ।
 यदि चैवं रोदिषि त्वं किमिति रुदितहृत्सर्वं नु को मे प्रियोऽहं
 नहि दग्धा मे मनस्त्वं रुदितमकृतं सा त्वं चमूरीशितेति ॥३५१॥
 गलदश्रुप्रवाहेण कठोरवचसा क्रुधा ।
 खंदयेत्सापराधं या स्यादधीरा च सा यथा ॥३५२॥
 दन्तोत्पीडगताधरामृतरसं स्वेदच्युतास्वच्छति
 गाढादिलष्टभुजोरुपाशयुगलव्याबन्धनाक्षकिकम् ।
 नेत्रैरोक्षिनुमक्षमा वयममुं त्वं मुञ्च मुञ्चालि भोः
 किं तेनाद्रियतां च मा खलवरो यायातु यायातु सः ॥३५३॥

जाने-जानेके परिश्रमसे यह शरीर एक गया है; अतएव ठहरो-ठहरो घरमें मत धुसो,
 धूलिसे रेंगी हुई आँखवाली किसी मध्या धीराने कहा ॥३५०॥

अश्रुयुक्त मुखवाली तथा सव्यङ्ग्य दक्षिणवाली नायिका धीराधोरा मानी गयी है ।

धीराधोराका उदाहरण—

हे प्रिये ! क्या कहते हो स्वामिन्, प्रिये मुझपर क्रोध मत करो । क्रोधसे मैंने
 क्या तुम्हारा किया ? मेरे चित्तको बार-बार जलाती हो । हे कठोर प्रेमी, तूने क्या
 किया है ? अपराध तो मैंने ही किया है । तब इस प्रकार रोती क्यों हो ? मेरी हलाई
 रोकनेवाले तुम कौन हो ? मैं तुम्हारा प्रियतम हूँ । तुम मेरे मनको जलानेवाले नहीं हो,
 इसके बाद वह रो पड़ी कि तुम सेनाके स्वामी हो । शासक हो ॥३५१॥

अधीराका उदाहरण—

गिरते हुए आसुओंकी धारासे तथा कर्कश वचनसे जो क्रुद्धा नायिका अपराधी
 प्रियतमको कष्ट पहुँचावे, उसे अधोरा कहते हैं ॥३५२॥

मध्या अधीराका उदाहरण—

परनायिका कृत दन्तक्षतके कारण नष्ट अधरामृत रसवाले, रतिजन्य पसंनाने
 नष्ट मुख कान्तिवाले और गाढ आलिङ्गनके कारण, नष्ट भुजाकी शक्तिकाले, इसको हम
 नेत्रोंसे देखना नहीं चाहतीं । हे सखि ! इसे छोड़ो-छोड़ो, इससे क्या लाभ ? इसका आदर
 मत करो, यह महादुष्ट चला जाये-चला जाये ॥३५३॥

१. नु मे कोपे प्रियोऽहम्—ख । २. सान्त्वं चमूरीशितेति—ख । ३. यथा इत्यस्यानन्तरं
 खप्रती वठरस्यान्मातृमुख इत्यभिधानात् कर्णाटभाषायाम् ।

प्रगल्भाऽपि त्रिधा मध्यावदेव परिभाषिता ।
 व्याजेनाद्या रतं त्यक्त्वा सागसं खेदयेद्यथा ॥३५४॥
 कान्ताभ्यर्णस्थिता तां संभ्रूससुपादाः कन्दुकातीरिरगताः
 दाश्लेषं विघ्नयन्ती गलखलपितादीनि चालीजनेभ्यः ।
 ताम्बूलं तालवृत्तं मुकुरमपि ममाशानयन्त्वित्युपात्तं
 नीतेभ्यः कोपजालं सफलमकृतं तं चातुरी खेदयन्ती ॥३५५॥
 दृष्ट्वा तं खण्डितोष्ठं कलहयति पुरैवाशु केशग्रहं नो
 दत्ते गण्डं सदोष्ठं वितरति न च संचुम्बितुं भुग्नसुभ्रूः ।
 नीवीविस्रंसने वा वितरति न तनुं श्लिष्यतोऽप्यप्रहृष्टा
 शिक्षां तन्वी स्वनेतुः कुरुत इति महाकोप एषोऽत्र नान्यः ॥३५६॥
 धीराधीराप्रगल्भादिः सोत्प्रासानृजुवाग्मथा—
 अन्योन्यस्मेरता च भ्रुकुटिविरचना दृष्टिमातः प्रसादो
 गाढाश्लेषोऽपि मौनं भणितमनुनयो यत्र रोमाञ्चवृद्धिः ।

प्रगल्भा नायिकाके भेद—

प्रगल्भा नायिकाके भी मध्यमा नायिकाके समान ही तीन भेद होते हैं । इनमें धीराप्रगल्भा अपराधी प्रियतमको किसी बहानेसे सुरत सुखसे वंचित करके दुःख देती है ॥३५४॥

मौढा अधीराका उदाहरण—

प्रियतमके पासमें खड़ी, वह हाथमें पकड़े हुए पुष्पके कन्दुकको लानेका बहाना करनेवाली आलिंगन और गलेसे सटकर चार्त्तलापमें विघ्न पहुँचाती हुई, पान, पंखा, दर्पणको मेरे पासमें लाओ और सखियोंके लानेपर सखियोंके द्वारा ही प्रियतमको कष्ट पहुँचाती हुई उस चतुर नायिकाने अपने क्रोधको सफल किया ॥३५५॥

प्रगल्भा धीराधीराका उदाहरण—

सुन्दर और टेढ़ी भौंहवाली कोई नायिका कटे हुए ओष्ठवाले अपने प्रियतमको देखकर कलह करती है । प्रथम केशग्रह नहीं होने देती, चुम्बन करनेके लिए सुन्दर अघरसे युक्त कपोलको नहीं देती, नीवीके स्खलित हो जानेपर भी शरीरको प्रदान नहीं करती, आलिंगन करनेपर भी प्रसन्न नहीं होती; इस प्रकार कृशांगी वह अपने नायकको दण्ड देती है । इसमें कारण महान् क्रोध ही है, दूसरा कुछ भी कारण नहीं है ॥३५६॥

प्रगल्भा धीराधीरा रहस्यपूर्ण कुटिल शब्दका प्रयोग करती है ।

परस्पर दर्शन होनेपर मुँहका विकसित होता, भौंहोंका टेढ़ा करना, दृष्टिका पड़ना, प्रसन्नता, गाड़ आलिंगन करनेपर भी मौन, अनुनय करनेपर भी अलंकारकी ध्वनि, रोमांचकी वृद्धि; स्नेहका आधिक्य भी कोपाधिक्यका कारण प्रेमकी विरसता होती है । देखी,

१. ममाशानयन्ति—क ।

स्नेहोद्रेकोऽपि कोपो भवति ननु सदा तस्य वैरस्यमासो-
 त्प्रेम्णः पश्याद्य पादान्तग लुठसि तथाप्यस्ति मन्युः खलायाः ॥३५७॥
 अधोरा तु प्रगल्भादिस्तर्जयेत्ताडयेद्यथा-
 कोपादायान्तमुष्णश्चसितदयितया बाहुपाशेन बध्वा
 वासागारं च नीत्वा परिजनपुरतः सूत्रयन्त्यापराधम् ।
 नातो भूयो दुरात्मन्निति मधुरगिरा संखत्या पदाभ्यां
 मञ्जीरासिञ्जिताभ्यां हसति मुदमितस्ताडितो निह्नुतीढः ॥३५८॥
 मध्या तथा प्रगल्भा च भिदा ज्येष्ठाकनिष्ठयोः ।
 प्रत्येकं षडङ्गिणो ज्ञेया कान्तिलोकयो यथा ॥३५९॥
 कान्ते एकत्रसुस्थे त्वविदितचरमात्प्रेमतोऽभ्यपेत्य दृष्ट्वै-
 कस्या नेत्रे पिधायापिहितवरमहाकेलिदम्भेन चान्याम् ।
 ईषदश्रीवाप्रमङ्गः पुलकितसुतनू रोमहर्षि दधाना
 मन्तर्हासोरुगण्डां तरलतरदृशं चुम्बति द्राक् च धूर्तः ॥३६०॥

आज उसके पैरोंके पासमें लौटता हूँ, तो भी उस दुष्टका क्रोध शान्त नहीं होता ॥३५७॥
 प्रगल्भा अधीरा—

प्रगल्भा अधीरा नायिका अपराधी प्रियतमको डराती और मारती है ।

क्रोधसे गर्म साँस लेती हुई नायिकाने अपराधी प्रियतमको बाहुबन्धनसे बाँधकर
 तथा विलासभवनमें ले जाकर नीकरोंके समक्ष अपराधको घोषणा करती हुई बोली—हे
 दुष्ट, ऐसा काम फिर कभी नहीं करना, ऐसा कहकर रोती हुई मधुर ध्वनि करते हुए
 नूपुर युक्त चरणोंसे हँसते नायकको उसने चरण प्रहार द्वारा ताडित किया तथा
 आनन्दित और प्रदीप्त नायकने उसे छिपाया, चोटका खयाल न किया ॥३५८॥

मध्या और प्रगल्भा नायिकाके भेद—

मध्या और प्रगल्भा नायिकाके दो-दो भेद होते हैं । मध्या ज्येष्ठा, मध्या कनिष्ठा,
 प्रगल्भा ज्येष्ठा, प्रगल्भा कनिष्ठा—इस प्रकार उपर्युक्त धीरा अधीरा इत्यादिके भेदोंको
 मिलाकर कामियोंको सन्तुष्ट करनेवाली मध्या और प्रगल्भा नायिका छह-छह प्रकारकी
 होती है ॥३५९॥

कोई घूर्त नायक एक जगह बैठी हुई अपनी दो प्रियतमोंको देखकर आवाजके
 बिना पैरोंके द्वारा प्रेमसे उनके पास गया और अत्यन्त आदरसे एकके नेत्रोंको हथेलीसे
 वन्द कर उत्तम खेलके बहाने गर्दनको थोड़ासा टेढ़ा किया तथा रोमांचित होकर रोमांच-
 को धारण करनेवाली भीतरी हँसीसे पुलकित कपोलवाली और चंचल नयनोंवाली दूसरी
 नायिकाका शोघ्रतासे चुम्बन कर लिया ॥३६०॥

१. वैराग्यमासीद्-ख । २. खप्रती 'मुष्ण' इति नास्ति । ३. संखत्या-ख ।

अष्टावासामवस्थाः स्युः स्वाधीनपतिकादयः ।

स्वाधीनपतिका वासकसज्जिका कलहान्तरा ॥३६१॥

खण्डिता विप्रलब्धा तु तथा प्रोषितभर्तुका ।

विरहोत्कण्ठिता^१ चान्या तथान्या चाभिसारिका ॥३६२॥

स्वाधीनपतिका^२ सन्नायत्तनाथा मता यथा ।

यालंकृता प्रियामस्या यथा वासकसज्जिका ॥३६३॥

^३उरोजयोरेणमदेन तस्याः कुतूहली यं मकरं लिलेख ।

विभावयामास स भावयोनेः स्थूलाग्रजाग्रन्मकरध्वजस्य ॥३६४॥

काञ्चीसु नूपुरविसि^४ञ्जितचित्तरम्या

मुञ्जद्विरेफमुखनीरजशोभमाना ।

मास्वत्युदेष्यति मृणालनिभोरुहारा

कान्ते समेष्यति बभौ नलिनीव तन्वो ॥३६५॥

उपर्युक्त नायिकाओंके स्वाधीनपतिका आदि आठ भेद होते हैं । (१) स्वाधीन-पतिका (२) वासकसज्जिका (३) कलहान्तरा (४) खण्डिता (५) विप्रलब्धा (६) प्रोषितभर्तुका (७) विरहोत्कण्ठिता (८) अभिसारिका ॥३६१-३६२॥

स्वाधीनपतिका और वासकसज्जिका—

सदा पतिके समीप और अधीन रहनेवाली नायिकाको स्वाधीनपतिका और जो प्रियतमके आगमनको सुनकर अपनेको सजाती है, उसे वासकसज्जिका कहते हैं ॥३६३॥

उदाहरण—

नायिकाके अधीन रहनेवाले किसी कौतुकी नायकने उस प्रियतमके वक्षःस्थलपर कस्तूरीसे मकराकृति बनायी । वह आकृति भावसे उत्पन्न कामदेवके विशाल दाँतके समान शोभित होने लगी ॥३६४॥

रशना और नूपुरके शब्दसे प्रसन्न चित्तवाली तथा गुँजते हुए झमरसे युक्त, कमलके समान मुखसे सुशोभित, कमलनालके समान श्वेत और शीतल हारसे युक्त वक्षः-स्थलवाली, विरहसे कृशांगी नायिका प्रियतमके आनेपर कमलिनीके समान शोभित हुई ॥३६५॥

१. ज्या तथा चान्याभिसारिका—ख । २. ऽसन्ना इति पदं—स्वप्रती नास्ति । ३. उरोजयोरेण—ख । ४. संजित—ख ।

पश्चादाती निरस्येशं कलहान्तरिता यथा ।
 विबुद्धाङ्गजचिह्नशे खण्डितेर्ष्यावती यथा ॥३६६॥
 अनुतेतुमनाः कान्तः परुषोक्त्या हतो गतः ।
 किमिन्दुरभ्रसंच्छद्यो न संहरति कौमुदीम् ॥३६७॥
 ओष्ठं तद्दन्तदष्टं स्थगयसि करतः कीर्णकेशान्मुमोल्या
 तत्पीनोस्तङ्गचञ्चरकुचरचितमहाकुङ्कुमाद्रं च वक्षः ।
 वस्त्रेणास्या नखाग्रैलिखितगलतटं गोपयस्यच्छहारै-
 दिग्ध्यापो स्त्रीसुभोगव्यतिकरजनितः केन गोप्योऽङ्गगन्धः ॥३६८॥
 वञ्चिता समयायानाद्विप्रलब्धेशिना यथा ।
 देशान्तरस्थिते नाथे यथा प्रोषितभर्तृका ॥३६९॥

कलहान्तरिता और खण्डिता नायिका—

अपने प्रियतमको पाससे हटाकर पश्चात् जो अफसोस करती है, उसे कलहान्तरिता तथा प्रियतमको परनायिकाके साथ उपभोग करनेसे लगे हुए चिह्नको देखकर नायकसे ईर्ष्या करनेवाली नायिकाको खण्डिता कहते हैं ॥३६६॥

कलहान्तरिताका उदाहरण—

नायिकाको मनानेकी इच्छावाला कोई नायक, उस नायिकाके कर्कश बचनोंसे व्यथित होकर चला गया; इसपर वह नायिका उसी प्रकार दुःखी हुई, जिस प्रकार मेघाच्छादित चन्द्रमा कौमुदीको नष्ट कर देता है। आशय यह है कि जिस प्रकार मेघाच्छादित चन्द्रमा कौमुदीको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार नायिका द्वारा कलह किये जानेपर नायकके वियोगसे नायिका दुःखी होती है ॥३६७॥

खण्डिताका उदाहरण—

कोई खण्डिता अपने प्रियसे कहती है कि आप उस परनायिकाके दाँतसे काटे ओष्ठको हाथसे ढँकते हो, अस्त-व्यस्त केशोंको सुन्दर मुकुटसे, उसके पीन और उन्नत स्तनोंसे संलग्न अधिक कुंकुमसे आर्द्र छातीको वस्त्रसे, उसके नखके अग्रभागसे चिह्नित कण्ठको स्वच्छहारसे छिपाते हो तो सर्वत्र फैलनेवाले, स्त्रीसुरतसे उत्पन्न शरीरकी गन्धको कैसे छिपाओगे ? ॥३६८॥

विप्रलब्धा और प्रोषितभर्तृका—

प्रियके द्वारा किये गये संकेत या आगमनसे उगी हुईको विप्रलब्धा तथा जिसका प्रिय परदेश गया हो, उसे प्रोषितभर्तृका कहते हैं ॥३६९॥

आलि यामो गतो नाथस्तथाप्यायाति नाघुना ।
याम उत्तिष्ठ विश्वासः कोऽस्ति वञ्चकपुरुष (वि) ॥३७०॥
सौधोपरि स्थितवती सकरस्थगण्डा
दूरान्तरस्थपतिमात्मनि चिन्तयन्ती ।
तत्पाणिपीडितकुचः च तन्मङ्गलिष्ठां
स्वां मन्यते पतिपुतां विद्युतापि तन्वी ॥३७१॥
अव्यलीकविलम्बेशे विरहोत्कण्ठिता यथा ।
सर्तुं सारयितुं वेच्छुर्यथा सा चाभिसारिका ॥३७२॥
दूति प्रेयान् परिगतनटीदूतवतीभिः प्रबद्धो
नूनं नो चेत् प्रसरति विधौ कोमुदीं द्रावयान्तीम् ।
प्रद्युम्नेन्द्रूपलमुरतरस्फारगन्धे प्रवाति
मन्दं मन्दं मसति शिशिरे किं विलम्बेत कान्तः ॥३७३॥

विप्रकल्पाका उदाहरण—

हे सखि, एक प्रहर बीत गया, तो भी अभी प्रियतम नहीं आया । हे लगपुरुष,
हम चले, उठो वञ्चक पुरुषमें क्या विश्वास हो ! ॥३७०॥

प्रोषितमस्तुकाका उदाहरण—

सुन्दर हथेलीपर गालको रखी हुई तथा कोठेपर स्थित विरहिणी तन्वी कोई
नायिका दूर गये हुए अपने पतिको चिन्तन करती हुई, उसके हाथसे दवाये हुए स्तन-
वाली तथा उसकी गोदमें उपविष्ट अपनेको संयोगिनी मानती है ॥३७१॥

विरहोत्कण्ठिता और अभिसारिका—

वस्तुतः किसी कारणवश पतिके परदेशमें विलम्ब करनेपर विरहोत्कण्ठिता तथा
स्वयं प्रियतमके पासमें जाने या उसे बुलानेकी इच्छावाली नायिकाको अभिसारिका
कहते हैं ॥३७२॥

विरहोत्कण्ठिताका उदाहरण—

कोई विरहोत्कण्ठिता अपनी दूतीसे कह रही है—हे दूति ! हमारा प्रियतम
चारों ओर रहनेवाली नारियोंकी दृष्टिरूपी मजबूत रस्सियोंसे निश्चय ही बांध लिया
गया है; नहीं तो कामरूपी चन्द्रकान्तमणिको द्रवित करनेवाली चन्द्रकिरणके साथ
चन्द्रमाके इस प्रकार उदित होने तथा बहुत अधिक गन्धवाले शीतलवायुके मन्द-मन्द
चलनेपर इस समय प्रियतम विलम्ब क्यों करता ? अर्थात् तुरन्त आ जाता ॥३७३॥

१. वञ्चकपुरुषे—ख । २. दूती....ख । ३. द्रावयन्तीम्—ख ।

स्वापाङ्गामेन्दुकान्तीक्षणपरि(वि)चितास्यकलञ्जाः स्मरेपू-
 त्यातश्रोजर्जरान्तःकरणविचलिताः फुल्लराजीवनेत्राः ।
 गाढाश्लेषाभिधाञ्छा गलरवमुखरा वञ्चितालीसमूहाः
 श्रीकान्तान्तापराधानपि कठिनकुचाः स्निग्धकेशाः^१सरेयुः ॥३७४॥

स्मरसि मनसि मातः कं सुरोमाञ्चिताङ्गी
 मदविलुलितनेत्रा चित्रनारीपटस्था ।
 इव दिगन्तभिवोक्षा किं ह्लिया भूहि भूढं
 दहतकि मदनः (?) स्वद्रोहिणी शून्यचित्ता ॥३७५॥

लिङ्गिनी शिल्पिनी दासी घात्रेयी प्रतिवेशिनी ।
 कारुः सख्यो सुदूत्यः स्युस्तदभावे स्वयं मत्ता ॥३७६॥

विशतिः स्त्रीष्वलंकाराः सस्वञ्जा यौवने मताः ।
 त्रयोऽप्यङ्गभवा भावो हावो हेलेति भाषिताः ॥३७७॥

अभिसारिकाका उदाहरण—

अपने नयनके कोणकी कान्तिके समान चन्द्रकान्तितुल्य नयनोंसे परिचित, निर्लज्ज, कामके उपद्रवसे अर्जर, अन्तःकरणसे विचलित, विकसित नयन, गाढ आलिंगन-को इच्छावाली, कण्ठके शब्दसे मुखर, सखि-समूहको ठगनेवाली, कठोर स्तनवाली, चिक्कन केश या योनिवाली अभिसारिकाएँ अपराधी होनेपर भी प्रियतमके पास जायें ॥३७४॥

कोई नायिका अपनी घायसे कह रही है—हे सावः ! रोमांचयुक्त, मदसे नाचते हुए नेत्रोंवाली, बस्त्रपटपर चित्रित नारीके समान दिशाओंको न देखनेवाली, अपने ही साथ डोह करनेवाली, शून्यचित्त होकर किसे स्मरण कर रही हो, लज्जासे क्या लाभ ? गुप्तरीतिसे कहो, क्या कामदेव जला रहा है ॥३७५॥

दूतियाँ—

संन्यासिनी, शिल्पिनी, दासी, घात्री—घाय, पड़ोसिन, कारीगरीकी जानकार, घोबिन, नाहन, तमोलिन इत्यादि दूतियाँ तथा इन सबके अभावमें नायिका भी दूतीका कार्य करती है ॥३७६॥

स्त्रियोंके सात्त्विक भाव—

युवावस्था आनेपर स्त्रियोंमें वीस सात्त्विक भाव होते हैं । अंगोंसे उत्पन्न भाव, हाव और हेला तीन सात्त्विक भाव हैं ॥३७७॥

१. परिचकितास्-क । २. श्रीकान्तान्तापराधानपि....-ख । ३. स्मरेयुः-क । ४. दहत-किमघनः-ख ।

समालंकृतयः शोभा कान्तिदोषिप्रगल्भताः ।

माधुर्यं धैर्यमौदार्यमित्येताः परिभाषिताः ॥३७८॥

लीलाविलासललिते किलिकिञ्चितविभ्रमौ च^२ कुट्टिमितम् ।

मोहायितत्रिब्रोकौ विच्छित्तिविहृतमाविविच्यन्ते ॥३७९॥

सत्त्वं हि मनसो वृत्तिविशेषो^३ विकृतिच्युतिः ।

भावो हि भाव्यलंकारकृदादिविकृतियथा ॥३८०॥

बालक्रीडास्वबद्धा^४ तिरलसदृगाबद्धधम्मिलभारा

श्रोत्रे संभोगवार्तास्वपि नयति जनैराश्रितालीजनेभ्यः ।

पुंसामङ्गं विशङ्कं तरलमृगदृगारोहति प्राग्यथा नो

साम्युद्भिन्नस्तनोद्यन्नं वमदनकलानम्यमाना कुमारी ॥३८१॥

भावो मानससंभूतः शृङ्गारो विविधास्त्रियाम् ।

दृशां ध्रुवां विकारो यः स हावः स्मरजो यथा ॥३८२॥

शोभा, कान्ति, दोषि, प्रगल्भता, माधुर्य, धैर्य और औदार्य ये सात नारियोंके शोभावर्द्धक सात्त्विकभाव हैं ॥३७८॥

लीला, विलास, ललित, किलिकिञ्चित, विभ्रम, कुट्टिमित, मोहायित, त्रिब्रोक, विहृत, सत्त्वञ्ज अलंकार हैं ॥३७९॥

सर्व और मायका स्पष्टीकरण—

मनको वृत्तिको सत्त्व और विशेषको विकृतिच्युति तथा भविष्यमें शोभा बढ़ाने-वाली प्रभृति विकृतिको भाव कहते हैं ॥३८०॥

बालकोंके खेलोंमें आदर भावनावाली, अलसायी आँखोंसे युक्त, जूड़ाको ठीक तरहसे सजानेवाली, धीरेसे आश्रित सखियोंके द्वारा की जानेवाली संभोगकी बातोंको सुननेवाली, कुछ विकसित पक्षीघरावाली, उद्योगमान नूतन कामकलाकी ओर झुकाववाली चंचल-नमना कुमारी बाल्यकालके समान पुरुषोंकी गोदमें शंकाहित आरोहण नहीं करती है ॥३८१॥

हाव-भाव—

मन से उत्पन्न स्त्रियोंके विविध शृंगारको भाव और कामसे उत्पन्न आँख या मोहोंके विकारको हाव कहते हैं ॥३८२॥

१. माधुर्यधैर्य...ख । २. कुट्टिमितम्-ख । ३. विकृतिच्युतः-ख । ४. धृतिरलस-ख । ५. नवमसदनकला-ख ।

लसत्पञ्चबाणस्य बाणं रक्षोषैः

स्फुरद्भ्रूषनुर्मुच्यमानैर्निशातैः ।

कटाक्षैर्हृद्बुदभेदवावतैः शरब्धं

सुभद्राङ्गना विध्यति त्वां लताङ्गी ॥३८३॥

शृङ्गारद्योतको व्यक्तो यथा हेला स एव च ।

धरतरमकरन्दास्वादमत्तां स्वदृष्टिं

मधुकरवरमालां चाहनिष्पन्दवृत्तिम् ।

अलसलसदपाङ्गां कामजञ्चत्पताकां

भवदनुनयदूतीं प्रेषयन्ती न ते स्यात् ॥३८४॥

अङ्गालंकरणं शोभा रूपतारुण्यतो यथा ।

तामीषदुद्भिन्नकुचां मृगाक्षीं

स्वाङ्गोरुशोभाजितसर्वभूषाम् ।

नेपथ्यगोहे पुरतो निषण्णाः

क्षणं व्यलम्बन्त सुभूषयन्त्यः ॥३८५॥

चमकते हुए भीहरूपी घनुषसे छूटे, हृदयको वेधनेमें समर्थ कटाक्षोंसे शोभित लताके समान कुशांगी सुभद्रा इत्यादि नारियाँ लक्ष्यस्वरूप तुझे कामके सम्पूर्ण बाणोंसे छेद रही हैं ॥३८३॥

हेला—

शृङ्गारके प्रकाशक व्यक्त हाव ही हेला है ।

उदाहरण—

सुन्दर मकरन्दके पीनेसे मतवाली, सुन्दर निश्चेष्ट, मतवाली आँखोंवाली भ्रमरकी सुन्दर श्रेणीमुल्य अलसानेसे सुशोभित नेत्रकोणवाली, कामदेवकी फहराती हुई लताके समान आपको मनानेके लिए दूतीको भेजती हुई वह नायिका अङ्गकी नहीं हो सकती ? ॥३८४॥

शोभा—

रूप और तरुणाईसे अङ्गोंके अलंकरणको शोभा कहते हैं ।

उदाहरण—

अपने अङ्गोंकी अधिक सुन्दरतासे सभी आभूषणोंको जीत लेनेवाली, किञ्चित् विकसित पयोधरवाली उस सुन्दरीको, सामने बैठी हुई तथा अलंकृत करती हुई सुन्दरियोंने नेपथ्यगृहमें बाणमात्रका विलम्ब कर दिया ॥३८५॥

१. सुभाङ्गना—क । २. लताङ्गी—क । ३. -दपाङ्गा—ख । ४. पताका—ख । ५. प्रेषयन्तीव तेऽस्यात्—क तथा ख । ६. तारुण्यता—ख ।

अतिरागरसापूर्णा कान्तिः शोभैव सो यथा ।

वासागारासिताया ललितकुचरुचोत्सारितं गण्डभासा
भग्नं कण्ठोपघूर्णत् कलरुचिरमहागानतो भस्मितं वा ।

अन्यासंसर्गरोधि स्वपतितनुमहाबन्धरञ्जयिताक्षी-
प्रद्योतैः केशबन्धे निहितमिह तमो भारतेशो लुलोके ॥३८६॥

कान्तिरेव च विस्तारगता दीप्तिर्यथा मत्ता ।

वाताञ्चत्पुष्पमूले^१ बहलकिसलयच्छादिते कायकान्त्या
श्रीवल्लीमण्डपे सा स्वपतिभुजबलोत्सारितारातिमालाम् ।

द्वान्तालीं दर्शयन्ती चरति घनकुचोत्सारयन्ती कृशाङ्गी
गुञ्जन्मञ्जोरनादभ्रमरपिकरवैः कायजोद्रेकयन्ती ॥३८७॥

त्रपोत्पन्नभयत्यागः प्रागल्भ्यं भणितं यथा ।

कान्ति—

अत्यन्त राग और रससे परिपूर्ण शोभाको ही कान्ति कहते हैं ।

उदाहरण—

केलिभवनमें स्थित नायिकाके सुन्दर कुचकी कान्तिसे खदेड़े हुए, उसके कपोलके तेजसे भागे हुए, कण्ठके पास नृत्य करते हुए सुन्दरतम महागानसे डराये हुए, अन्य रमणियोंसे अपने पतिके संसर्गको रोकने में रस्सीके समान प्रतीत होनेवाले, नयनोंके प्रकाशसे केशपाशमें रखनेके समान अन्धकारको श्रीभरतने देखा ॥३८६॥

दीप्ति—

अत्यन्त विस्तृत हुई कान्तिको ही दीप्ति कहते हैं ।

उदाहरण—

शरीरको कान्तिरूपी बहुत किसलयोंसे आच्छन्न पवनसे हिलते हुए पुष्प और मूलवाले लता-मण्डपमें अपने प्रियतमको भुजाके बलसे हटाये हुए शत्रु समूह स्वरूप अन्धकार श्रेणीको दिखाती हुई तथा सुदृढ़ स्तनोंसे दूर भगती हुई, शब्द करते हुए मंजीरके शब्दके समान भ्रमण और कोयलोंके शब्दोंसे शरीरमें उत्पन्न सौन्दर्यको बढाती हुई वह कृशाङ्गी घूमने लगी ॥३८७॥

प्रागल्भ्य—

लज्जासे उत्पन्न भयके त्यागको प्रागल्भ्यता कहते हैं ।

घर्मासारा प्रचञ्चन्मणितघनरवा मुक्तकेशौघमेघा
 नेत्रप्रद्योतविद्युत्प्रसरसुरुचिरा सालकास्येन्दुरम्या ।
 आरक्ताक्षी प्रभाश्रीशबलितमहिमभ्रूरुसुत्रामचापा
 प्रावृट्कालोपमा सा रतनैरचरिता^१ शिक्षिकाभूत्कलानाम् ॥३८८॥
 माधुर्यं रम्यता श्लाघ्यवस्तुयोगेऽपि तद्यथा ।
 वल्काम्बरेणापि च चारुगुञ्जाफलोहारेण विभूषितापि ।
 वनेचरी कुम्भकुचा नितम्बभारेभयाना निरुणद्धि पान्थम् ॥३८९॥
 चलनेनाहतं चित्तवृत्तं धैर्यं भवेद्यथा ।
 निशि निशि शशिबिम्बो जाज्वलीतु स्वगात्र-
 ज्ज्वलन्निशिहारी^२ दन्दहीनु प्रसङ्गः ।
 अतनुरपि निहन्तु प्राज्यमेवं च भर्तुः
 पितुरपि मम मातुःश्लाघ्यता तन्वहाप्या ॥३९०॥

उदाहरण—

पसीनेसे स्नात, वृद्धिगत रक्षनास्थ मणियोंकी ध्वनियोंसे व्याप्त, भेदके समान खुले हुए केशसमूहसे युक्त, चमकती हुई विद्युत्के विस्तारसे सुन्दर, केशयुक्त मुखचन्द्रसे रमणीय, ईषत् रक्त नेत्रवाली, देहकी प्रभासे चित्रित, भौंहरूपी इन्द्रघनुषके घापसे विशिष्ट वर्णा ऋतुके समान, आसक्त मनुष्योंसे उपभुक्ता वह सुन्दरी कलाओंकी शिक्षिकाके समान प्रतीत हुई ॥३८८॥

माधुर्य—

प्रशंसनीय वस्तुओंके योग न रहनेपर भी रम्यताको माधुर्य कहते हैं ।

उदाहरण—

वृक्षके छालके वस्त्रसे तथा सुन्दर गुंजाफलके आभूषणोंसे सुशोभित, कुम्भके समान पयोधरवाली और नितम्बके भारसे हस्तिनीके समान मन्द-मन्द चलनेवाली वह वनेचरी पथिकको रोक रही है ॥३८९॥

धैर्य—

अचंचल मनोवृत्तिको धैर्य कहते हैं ।

उदाहरण—

धैर्यशालिनी कोई नायिका कह रही है—प्रति रात्रि अन्द्रमा बार-बार षले, प्रतप्त ज्वर अपने शरीरको खूब जलावे, कामदेव भी मार डाले, तो भी अपने पति, पिता और माताकी प्रतिष्ठा रक्षाने योग्य नहीं है ॥३९०॥

१. केशाद्यमेघा—ख । २. वर—ख । ३. शिक्षिता—ख । ४. भारेभयानानि रुणद्धि—ख ।

५. दन्दहीनु....—ख ।

बह्वायासेऽपि चौदार्यं विनयोत्कर्षता यथा ।
 प्रस्वेदबिन्दुवदनां श्लथकेशवन्धां
 क्रीडारुणाक्षियुगलां रदपीडितोष्णाम् ।
 कण्ठस्तनादिनखरक्षतचन्द्रखण्डां
 तुष्टो विलोक्य निधिपो विनयान्वितां ताम् ॥३९१॥
 चेष्टितैमंधुरैर्लीला प्रियानुकरणं यथा ।
 'उषितं शयितं हसितं रमितं
 ध्रमितं सुगतं सुकृतम् (सुधृतम्) ।
 प्रियगं रमणीव नटी सरसा
 वरवासगृहेऽनुचकार वरा ॥३९२॥
 चेष्टातिशयनं गात्रे विलापः प्रियवीक्षणत् ।
 स्फुटन्नेत्रपद्मा स्मितोत्केसराद्या
 लसद् वाग् द्विरेफोरुङ्गङ्काररम्या ।

औदार्य—

बहुत परिश्रम करने पर भी सदा विनय भाव रखनेको औदार्य कहते हैं ।

उदाहरण—

चक्रवर्ती भरत पसीनासे युक्त मुखवाली, शिथिल केश बन्धनवाली, क्रीडाके कारण रक्तनयन, दाँतसे पीडित ओष्ठवाली, कण्ठ और कुच इत्यादिपर नखशतसे खण्डिता, तन्त्रतासे युक्त उस प्रियतमाको देखकर परम प्रसन्न हुआ ॥३९१॥

लीला—

मधुर चेष्टाओं तथा वेदादिसे प्रियतमके अनुकरणको लीला कहते हैं ।

उदाहरण—

सरस नटीके समान किसी सुन्दरीने सुन्दर विलास भवनमें प्रियतमके रहने, सोने, हँसने, रमण करने, घूमने और गमन करने, आदि सुकृत्योंको नकल की ॥३९२॥

विलास—

प्रियतमके दर्शनसे स्थान, आसन, मुख और नेत्रादि क्रियाओंकी विशेषताओंकी विलास कहते हैं ।

उदाहरण—

विकसित नेत्रकमलवाली, ईषद् हास्यरूपी केसरसे भरपूर, सुन्दर वचनरूपी

१. उषितं हसितं शयितं रमितम्—ख । हसितं गदितं रमितम्—क । २. विलासः—क ।

अपास्तोरुर्ध्व्या मरालोक्याना
 स्मरं पद्मिनी स्वं बभौ व्यञ्जयन्ती ॥३९३॥
 मसृणं सुकुमारोऽङ्गविक्षेपो ललितं यथा ।
 पुष्पाञ्जलिं स्फुरदपाङ्गमुपक्षिपन्ती
 श्रीहस्तपल्लवविवर्तनतो लपन्ती
 पादारुणाम्बुजयुगं भुवि विक्षिपन्ती
 भ्रूभंगमादिवयसा नृपमालुलोके ॥३९४॥
 शुगुरुद्रोषादिसांकर्यं यथा तु किलकिञ्चितम् ।
 द्यूते भर्त्रा जिते व्यावितवसनकुचादर्शनेनास्य विप्तं
 भ्रान्तं कृत्वा विजिग्ये पुनरपि विजिते सावधानेन भर्त्रा ।
 कोपारक्ताक्षिवीक्षा भ्रमितपतिमना जेतुकामा लताङ्गी
 तेनैवास्मिन् जिते सा रुदितनतमुखी तुष्टिगास्थं लुलोके ॥३९५॥

अमरोंकी संकारसे रम्य, अधिक धैर्यको छोड़ देनेवाली तथा हंसके समान सुन्दर चालवाली और अपने काम भावको प्रकट करती हुई पद्मिनी—नायिका सुशोभित हुई ॥३९३॥

ललित—

अंगोंकी सुकुमारता, स्निग्धता, चांचल्य इत्यादिकी ललित कहते हैं ।

उदाहरण—

कम आयुवाली किसी नायिकाने खमबत्ते हुए नयनकोणके साथ, पुष्पाञ्जलिकी ऊपर फेंकते हुए, सुन्दर हस्तकमलको नचाते हुए चार्त्तिलापमें संलग्न, पृथ्वीपर चरण-कमलोंको रखती हुई, भ्रूविक्षेप पूर्वक राजाको देखा ॥३९४॥

किञ्चकिञ्चित्—

शोक, रोदन और क्रोध आदिके सांकर्यको किलकिञ्चित् कहते हैं ॥

उदाहरण—

पतिके द्वारा द्यूतमें जीते जानेपर गिराये हुए वस्त्रसे पयोधरोंकी दिशाकर पतिके मनको अनुरंजितकर जीत लिया । पुनः सावधानी पूर्वक खेलकर नायकने उसे जीता, तब कोपके कारण रक्तनेत्रोंसे देखनेवाली तथा पतिके मनको भ्रान्तकर जीतनेकी इच्छावाली वह नायिका लताके समान कांपने लगी । पुनः नायकके जीतनेपर रुदित तथा नीचे मुख की हुई वह नायिका सन्तुष्ट होकर उसका—नायकका मुख देखने लगी ॥३९५॥

संभ्रमाद्विभ्रमो भूषाव्यत्ययः पुष्पागमे ।
 निशाम्य कान्तं बहिरागतं तं
 मञ्जीरयुग्मं करयोश्च काञ्चीम् ।
 कण्ठे च हारं सुकटीतटे सा
 भालेऽञ्जनं दृक्त्तिलकं करोति ॥३९६॥
 कुप्येत्तुष्टान्तरालिङ्गमुखे कुट्टिमितं यथा ।
 आलिगन्तं घटकुचयुगं वक्षसीवातिलीनं
 चुम्बन्तं तं हृकुटिरुनिरा वारणती कलभ्याम् ।
 अन्तस्तुष्टा बहिःसुष्टा मान्मथं व्यञ्जयन्ती
 स्वं भावं सा भवति पुलकैः फुल्लराजीवनेत्रा ॥३९७॥
 मतिस्तस्त्वेन चित्रादावपि मोट्टावितं यथा ।
 साङ्गभंगादि वा नार्थं स्मृत्वा मोट्टावितं यथा ॥३९८॥

विभ्रम—

प्रियतमके आगमनादिके कारण हर्षवशा नायिका द्वारा शृंगार करना मूल वस्त्रादिको विपरीतक्रमसे धारण करनेको विभ्रम कहते हैं ।

उदाहरण—

प्रियतमको बाहरसे आया हुआ सुनकर कोई नायिका हाथोंमें दो मञ्जीरोंको, गलेमें रशनाको, कमरमें हारको, ललाटपर अञ्जनको और आँखोंमें तिलकको लगा रहो है ॥३९६॥

कुट्टमित—

केवल दिखावटके लिए जो नायिकाके द्वारा निषेध—नहीं-नहीं कहा जाता है, उसे कुट्टमित कहते हैं ।

उदाहरण—

प्रियतमके द्वारा कुचकलशोंके आलिगन करनेपर वह प्रियके वक्षःस्थलमें लीन हो जाती है, नायकके चुम्बन करनेपर वह नायिका भीतोंको देहाकर हाथोंसे निवारण करती हुई भीतर प्रसन्न होती है और ऊपरसे रीनेकी इच्छावाली रोमांचोंसे अपने कामभावको प्रकट करती हुई विकवित कमलनयना हो जाती है ॥३९७॥

मोटावित—

प्रियतमाको चित्र इत्यादिमें देखनेपर उसे वस्तुतः समग्र अंग आदि तोड़ना,

चारुचित्रगतं नाथं दृष्ट्वा राजीवलोचना ।
मृदुसल्लापिनी व्रीडानतास्या रागिणी स्थिता ॥३९९॥

मदनदवशमाय प्रस्तुतायां कथायां
तव नृपवर सख्या जृम्भितैर्लोलनेत्रा ।
कठिनवरकुचाश्रोत्रभ्रमुत्कोर्णोद्यन्तां
वलयितमृदुसारोदग्रबाहूज्ज्वलास्थात् ॥४००॥

गर्वविशस्तु बिम्बोकः कथितोऽनादरो यथा ।
ऊरुश्रोणिकुचान् स्पृशन् व्यपनयंस्तत्प्रीतचीनाञ्चलं
मृग्यास्ते तिलकालका इति पदालीलातिलोलाङ्गुलिः ।
भ्रूभङ्गोस्तरङ्गनतितदृशा दृष्टोऽस्यवशं तथा
गर्वविशविचित्तयानवरतेनाहं कृतार्थोक्तः ॥४०१॥

अंगड़ाई लेना, पसीना आना, अथवा प्रियतमके स्मरण करनेपर उक्त चेष्टाओंके होनेको मोटायात कहते हैं ॥३९८॥

कमलनयना मनोरम चित्रमें अपने प्रियतमको देखकर अत्यन्त मधुरभाषिणी प्रेमिकाके समान लज्जासे मुख झुकाकर खड़ी हो गयी ॥३९९॥

हे राजन् ! कामाग्निकी शान्तिके लिए सखीके द्वारा तुम्हारी चर्चा प्रस्तुत किये जानेपर संचलनयना, कठिन और रमणीय स्तनके अग्रभागपर विकासको प्रकट करती गलेमें लपेटे हुए कोमल और सुन्दर भुजासे परम कमनीय वह कामिनी जम्हाई लेती हुई खड़ी हो गयी ॥४००॥

बिम्बोक—

गर्वके आवेश या प्रेमकी आँचके लिए या दीप्तिके लिए नायिकाके द्वारा किये गये नायकके अपमानको बिम्बोक कहते हैं ।

उदाहरण—

तुम्हारे कुछ श्वेतकेश खोजने लायक हैं, इस बहाने उसके श्रोणी और स्तनोंका स्पर्श करता हुआ तथा उन अंगोंपर से पतले वस्त्रको हटाता हुआ मैं भीहोंको बहुत टेढ़ा-कर आँखें नचाते हुए उसके द्वारा अत्यन्त अपमानपूर्वक देखा गया और गर्वके आवेशसे उसने चमत्कारपूर्ण नूतन रतिक्रियासे मुझे कृतार्थ किया ॥४०१॥

कार्ये स्वल्पोऽप्यलंकारो विच्छित्तिस्तुष्टिकृदयथा ।

तस्या अलक्ष्तरचितं मकरं कपोले

१ तद्योजतोऽन्तरितरागमुदुदगतं वा ।

दृष्ट्वान्तरङ्गपरितोषगतश्चुचुम्भ

प्रमातिरेकमधुराधरमुत्पलाक्ष्याः ॥४०२॥

यन्नोक्तं व्रीडया वाच्यमपि तद् ३ व्याहृतं यथा ।

एणाक्षी लोलतारे मयि च शबलिते निक्षिपन्ती सुनेत्रे

पौनःपुन्येन लज्जास्मितनतवदना सामिभिन्नस्फुटोष्ठम् ।

जिह्वाश्रोत्रितं दधाना भुवमपि चरणाङ्गुष्ठतः ४ संलिखन्ती

५ स्वान्तस्थं तद्वदुनोति स्वहृदयमपि मे न ब्रवीति स्फुरन्ती ॥४०३॥

विच्छित्ति—

आवश्यकता पहनेपर थोड़े ही आभूषणोंसे सन्तोषजनक कार्य हो जावे, तो उसे विच्छित्ति कहते हैं ।

उदाहरण—

किसी नायिकाके कपोलपर महावरसे बनाया हुआ मकरका आकार और उसकी रचनासे प्रकट रागको देखकर अत्यन्त भीतरी आनन्दवाले किसी नायकने प्रेमाधिभयसे उस कमलनयनाके अत्यन्त मधुर अधरका चुम्बन किया ॥४०२॥

व्याहृत—

अत्यन्त आवश्यक और कहने योग्य बात भी जब लज्जाकी अधिकताके कारण नहीं कही जाये, तो उसे व्याहृत कहते हैं ।

उदाहरण—

कोई मुगाक्षी चंचल गुतलीवाले तथा चित्र-विचित्र नयनोंकी मुझपर फेंकती; बार-बार सलज्ज-सहास, झुके हुए मुखवाली, अधस्तुले हुए अधरोंपर तथा जिह्वाके अग्रभागपर कहने योग्य बातको धारण करती, पैरके अंगूठेसे पृथ्वीको खोदती; पर अपने भीतर रही हुई हृदयकी बातको मुझसे नहीं कहती, अतएव मेरे मनको बहुत कष्ट दे रही है ॥४०३॥

१. तद्योजतो—क । २. —मुत्पलाक्ष्याः क-ख । ३. विहृतम्—क । ४. संलिखन्ती—ख ।
५. स्वन्तस्थम्—ख ।

लक्ष्मोदाहृतितः प्रोक्तो नेतृभेदो मनागिति ।
 शेषस्तु कामशास्त्रादौ 'विस्तरेण विबुध्यताम् ॥४०४॥
 वक्तुमिच्छति चेद् द्रूयाद् राजसंसदि कोविदः ।
 गलावलम्ब्यलंकारचिन्तामणिबिभूषणः ॥४०५॥
 अल्पज्ञत्वात् प्रमादाद् वा स्वलितं तत्र तत्र यत् ।
 संशोध्य गृह्यतां सदभिः द्रिष्ट्यावकरदृष्टिवत् ॥४०६॥

इत्यलंकारचिन्तामणौ रसादिनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।

लक्षण और उदाहरणों द्वारा संक्षेपमें नायिकाभेद कहा गया है, विस्तारसे जानना हो तो कामशास्त्र आदि ग्रन्थोंको पढ़ना चाहिए ॥४०४॥

गलेमें 'अलंकारचिन्तामणि' नामक अलंकार ग्रन्थको हारके समान धारण किया हुआ विद्वान् यदि राजसभामें बोलना चाहे, तो बोल सकता है ॥४०५॥

अल्पज्ञता या प्रमादसे जहाँ-तहाँ भूल हुई हो तो सज्जन व्यक्ति इसका संशोधन-कर तथ्योंको इस प्रकार ग्रहण करे, जिस प्रकार आँखोंसे देखकर कूड़े-करकटके ढेरमेंसे अच्छी वस्तुको ग्रहण कर लिया जाता है ॥४०६॥

अलंकारचिन्तामणिमें रसनिरूपणनामका पंचम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

जगत्प्रपूज्य विन्ध्याग्रे इक्ष्वाकुवरवंशजम् ।
सुरासुरादिवन्द्याङ्घ्रि दोर्बलीशं नमाम्यहम् ॥१॥
राजाधिराजचामुण्डराजा निर्मितपत्तनम् ।
तत्पुरे स्थितवतां चारुकीर्तिपण्डितयोगिनाम् ॥२॥
प्लवसंवत्सरे मासे शुक्ले च सुशरदृती ।
आश्विने च चतुर्दश्यां युक्तायां गुरुवासरे ॥३॥
एतद्दिनेष्वलंकारचिन्तामणिसमाह्वयम् ।
सम्यक् पठित्वा श्रुत्वाहं संपूर्णं शुभमस्तु नः ॥४॥
काश्यपे नाम्नि गोत्रे च सूत्रे चाह्वाननाम्नि च ।
प्रथमानुयोगशास्त्रायां वृषभप्रवरेऽपि च ।
एतद्वंशेषु जातोऽहम्—

मैं संसारमें पूजनीय विन्ध्यपर्वतपर विराजमान, इक्ष्वाकुवंशोत्पन्न, देव-दानवोंके द्वारा वन्दनीय करण और अत्यन्त बलशाली भुजावाले ब्राह्मणकी नमस्कार करता हूँ ॥१॥

राजाधिराज चामुण्डराजके द्वारा निर्मित नगरमें पण्डित योगिराज चारुकीर्ति निवास करते थे ॥२॥

प्लव नामक संवत्सर शरदृतु आश्विनशुक्ला चतुर्दशी गुरुवारके दिन चिन्तामणिके समान इस अलंकारचिन्तामणि नामक ग्रन्थकी अच्छी तरह पढ़ा, सुना । हमलोगोंका कल्याण हो ॥३-४॥

काश्यपगोत्र, चाह्वानसूत्र, प्रथमानुयोग शास्त्रा, और वृषभ प्रवर—इस वंशमें मैं उत्पन्न हुआ ।

१. एतावत् पर्यन्तमेव प्राचीनपुस्तके लभ्यते । इति-उत्तरं एतच्छ्लोकपूर्तिपर्यन्तमेव स्यादिति भाति इति शुभम् । इति प्रथमप्रदी । शाकाब्दे नगसूपभाजि विभक्ते माघे सिते चारुणि सप्तम्याभिरुपपण्डितिरिदं मे शान्तराजो लिखं । शास्त्रं सत्कविचक्रवर्त्यभिषयाख्यातो-अजन्मार्हतो भारद्वाजकुलो ह्यदोशिवसतात् सद्दत्तकुमार्केन्दुभम् ॥

परिशिष्ट १

पारिभाषिक शब्दकोष

[अ]

| | |
|---------------------------------------|---|
| अंगच्युत २८५ | अन्तोत्तर २८, ३९ |
| अकारित्वात् लुप्तोपमा १२० | अन्योन्य ११९, १८२ |
| अक्रमार्थ २९२ | अन्योन्योपमा १३४ |
| अक्षरच्युत ७२ | अन्योन्यकार ११२ |
| अछन्दोमय २३ | अपस्मार २४० |
| अजहृद्वाभ्या २६० | अपह्नव ११२, ११३ |
| अतद्गुण ११२, ११९, १७० | अपह्नति २८, ११५, ११८, १५२ |
| अतिमान २९४ | अपभ्रंज ६३, ६४ |
| अतिशयोक्ति ११९, १५८, १६०, १६१, १६२ | अपूर्ण २९० |
| अतिशयोपमा १३५ | अपार्थ २९१ |
| अद्भुत २५५, २५६ | अपृष्टार्थ २७२ |
| अधिकपद २९० | अपोह २१७ |
| अधिक ११२ | अप्रयोजक २८३ |
| अतन्तरपादभुरजबन्ध ७६ | अप्रतीत २८२ |
| अनन्वय ११२, ११३, ११९, १४१ | अप्रसिद्धोपमार्थ २९२ |
| अनियमोपमा १२४ | अप्रस्तुतप्रशंसा ११२, ११७, ११८, ११७ |
| अनुकूल ३११ | अप्रस्तुतस्तुति ११८ |
| अनुक्तनिमित्त ११२ | अभिसारिका ३२३ |
| अनुप्रास २७, ९८, ११२, ११४ | अभूलोपमा १३७ |
| अनुमान ११७, ११९ | अभ्यास ४ |
| अगृहा २४९ | अयुक्तरूपक १४९ |
| अन्तरालापक ६८ | अर्थच्युत २८६, ११८ |
| अन्वयानुपपत्ति १२३ | अर्थान्तरन्यास ११२, ११४, १२८, २०१, २०२ |
| अन्यार्थ २८० | अर्थप्रहेलिका २८, ६७ |
| | अर्थव्यक्ति ३०४ |
| | अर्थार्थ ११२, ११४, ११८, २०३ |

अर्द्धभ्रम ८०, ८१, ८२
 अर्थालंकार २, १११
 अलंकार ३, ९७, १११
 अलंकारहीनार्थ २९२
 अल्पार्थ ६
 अल्पार्थविशेष २९५
 अवहित्या २३१
 अविमृष्टविशेषांश २८३
 अध्यय ५
 अधु २३०, २३१
 अश्लील २९४
 अश्लीलत्व २८२
 अक्षिरष्टमालापरम्परित १४७
 अष्टदल १९
 असंगति ११३, ११८, १७९, १८०
 असंभावितोपमा १३८
 असत्-वर्णन १६
 असमर्थ-तत्त्व २८३
 असाधारणोपमा १३७
 अस्थितिसमास २८४

[आ]

आक्षेप ११२, ११८, १९२, १९३, १९४
 आचिख्यासोपमा १३६
 आदिमध्यउत्तरजानि ३८
 आद्युत्तर २७
 आरभटी २७१
 आलम्बन २२७
 आर्षी १२५
 आलस्य २३९
 आविग २३८
 आसक्ति २४३

[इ]

इन्द्रमाला ४१

इन्द्रपादमुरजबन्ध ७७

[ई]

ईर्ष्या २३५

[उ]

उपमा २३५

उक्तिनिमित्तविशेषोक्ति ११२

उत्प्रेक्षा ११२, ११५

उत्साह १०

उदात्त ११२, ११४, ११८, १२०, २१५

उदात्तता ३०७

उद्दीपन २२०

उद्बोध २३१

उन्माद २३९, २४५,

उपमा १९, ११२, ११३, ११५, ११६

उपमेय ११६, ११७, ११८, १२१

उपमेयोपमा ११२, ११५, ११८, १४२

उपमाधिक २८९

उपसर्ग ५

उत्प्रेक्षा ११६, ११८

उत्तर ११८, २०९

उल्लेख ११२, ११३, ११८, १५४

[ऊ]

ऊर्जस्व ११२, १२०, २१२

[ए]

एकाक्षरच्युत ४, ८३

एकालाप २७

एकावली ११२, ११४, १२०, २१७

एकान्तापक ३१

एकदेशवर्ती १४४

एकदेशविवर्तिनी १३३

एकद्विब्रान्तरित ९८

[ओ]

ओज ३०६
ओजस्वी २७
ओजस्वीजाति ३४

[औ]

औजित्व ३०४
औदार्य ३०४, ३२२
औत्सुक्य २८१

[क]

कथिता-अपह्नुति ३९
कर्तृणमा अनुक्तधर्मालुप्तोपमा १२८
कर्मणमा अनुक्तधर्मालुप्तोपमा १२०
कर्मक्यच् अनुक्तधर्मालुप्तोपमा १२९
कला ८
कलाशास्त्र ३
कलहान्तरिता ३२२
कविराज ५५
कविसमय १५
काकतालीय ५८
काकपद २८, ५१
काकु ९५
कान्ति ३०३, ३२७
कामतन्त्र ३
कामाग्रस्थाणै २४२
कारणमाल ११४
कारणमाला १२०, २१६
कारणरूपका १४५
कार्ष्ण्य २३४
काव्यलिग ११२, ११४, ११७, ११८,
२००
किलकिञ्चित् ३३०
क्रियोपमा १२८

क्रियाकलोत्प्रेक्षा १५८
क्रियास्वरूपमाउत्प्रेक्षा १५७
क्रियाहेतु उत्प्रेक्षा १५१
किल्बिषार्थ २८१
कुट्टमित ३३१
कृति ३
कृतता २४४
केवलशिलिष्टपरम्परित १४६
केवल अशिलिष्ट परम्परित १४७
कौशिकी २७०
कौतुक २७, ३६
क्रमच्युत २८५
क्यच् अनुक्तधर्मालुप्तोपमा १२२
क्विप् अनुक्तधर्मालुप्तोपमा १२९
क्रोध २३५

[ख]

खण्ड २८
खण्डिता ३२२
खण्डोत्तरजाति ४६

[ग]

गणिका ३१६
गणित ३
गतप्रत्यागत २८, ५५, ५६
गत-प्रत्यागताई ८६
गतप्रत्यागतपादयमक ८७
गति ३०३
गद्यकाव्य २३
गर्भ २३४
गाम्भीर्य ३०१
गुण २, १११
गुणीभूत २७५
गुप्तक्रियामुरज ७९

गुणस्वरूपगा उत्प्रेक्षा १५८

गूढतृतीयचतुर्थान्तर ७८

गूढस्वेष्टपादचक्र ८८

गोकस्वजन १४

गोमूत्र २८

गोमूत्रिका १२, ५२, ७१, ७८

गौडी २५९

गाम्भ्यदोष ६८१

गलानि २३१, २३२

[च]

चक्षुःप्रीति २४३

चक्रबन्ध ४९

चक्रवृत्त ९४

चाटूपमा १३७

चापल्य २४१

चिन्ता २३३

चित्र २७, ६३, ११०, ११२, ११८

चित्रनाम्य १८

चित्रजानि ६४

चैष्टा ७

च्युतसंस्कार २८२

[छ]

छत्रबन्ध ९५

छन्द ३

छन्दश्च्युत २८४

छन्दोमय २३

छेकानुप्रास ९८, ९९

[ज]

जगण २१, २३

जहद्वाच्या २६७

जागरण २४३

जाड्य २३३

जातिफलोत्प्रेक्षा १५६

जाल्यभावकलोत्प्रेक्षा १५७

[त]

तगण २१

तदवाक्यानीपमा १३७

तद्व्यापङ्गतिरूपक १४९

तद्गुण ११२, ११३, ११४, ११८, १७१

तद्विजयार्थी १२६

तद्विनगना अनुकथर्मा आर्थी लुप्तोपमा १२८

तद्विनगना श्योली १२६

तर्क २३७

तर्कशास्त्र ३

तार्किक २८

ताक्यरसोय ४३

तुल्ययोगिना ११२, ११३, ११५, ११६,

११८, १३९, १८३

त्रिव्यम्भ-त्रिःसमस्त ६५

[द]

दक्षिण ३११

दण्ड ७

दण्डबन्ध ८९, ९०

दाम ७

द्विधध्वनि १०२

दीपक ११२, ११३, ११४, ११५, ११६,

११८, १२०, १८५

दीप्ति ३२७

दृष्टान्त ११२, ११५, ११८, १८७

द्वन्द्व २३४

दोष २

द्राक्षापाक २६१

द्विभेद ७

द्विकावली १२०

द्विःव्यस्त २७, २९

द्विःव्यस्त-समस्त २७
द्विःसमस्त २७, २९
द्विःसमस्तक-सुव्यस्तक २७
द्विःसमस्त जाति २९
द्विःव्यस्तक-समस्तक ३०
द्विःसमस्तक-व्यस्तक ३०

[ध]

धर्मोपमा १३३
धीरा ३१६
धीरलंकित ३०९
धीरदान्त ३१०
धीरोदात्त ३०९
धीरोद्धत ३१०
धृति २३३
धृष्ट ३११
ध्यान ९७
ध्वनि २७५

[न]

नगण २०, २१, २३
नर्मभेद ६
नागपाश ६१, ६२
नागपाशक २८
नामरूपात् २८, ४१
नारिकेलपाक २६१
निन्दोपमा १३६
निद्रा २३१
निर्वेद २३४
निरर्थ २८०

निश्चयपाद १५

निश्चयपाद ११३, ११४, ११५, ११८, १८९

निश्चयपाद ११३

निश्चयपाद ११३

निश्चयगर्भासन्देह १५२
निश्चयोपमा १३५
निश्चयान्ता सन्देह १५२
निःशालयन्त्र ९१
निःशुक्लकालापक ७४
नेयार्थ २७८
न्यूनोपमदोष २८९

[प]

पनसप्रकर्ष २८८
पट्टबन्ध ९०
पदोत्तर २८
पदकाव्य २३, २८
पदबन्ध ४९
पदकीया २४९, ३१५
पदम्परितरूपक १४५
पदशुबन्ध ९२
परिकर ११२, ११४, ११८
परिणाम ११२, ११८, १२३, १५०
परिवृत्ति ११२, ११४, ११८, २०४, २०५
पर्याय ११२, ११४, १२०, २१३, २१४
पर्यायोक्ति ११२, ११७, ११८, १९८
परुषत्व २८३, २९२
पादोत्तरजाति ४७
पांचाली २५९, २६०
पुनस्त २८७
पुष्पावचय १४
पूर्णोपमा १२४
पृष्ठप्रश्न ३७
पृष्ठप्रश्नजाति ३७
पैशाची ६३
प्रक्रमभंग २८९
प्रगल्भा ३१७, ३१८, ३१९, ३२०
प्रज्ञा २

प्रतिपदोक्ति ११२

[भ]

प्रतिभा ३

प्रतिवस्तूपमा ११२, ११३, ११५, ११८,
१८६

प्रतिपेक्षोपमा १३१

प्रतीप ११३, ११८, १९८

प्रथमीक ११२, ११४, १२०, २१२

प्रबन्ध ६

प्रमान १०

प्रभिक्षक २७

प्रभिक्षत्रिच ३२

प्रभिन्नक चित्रालंकार ३२

प्रलाप २४६

प्रश्नजाति ५०

प्रश्नोत्तर २४

प्रश्नोत्तरसम ३७

प्रशंसोपमा १३६

प्रसाद ३०५

प्रहेलिका ६०

प्राकृत ६३, ६४

प्रागल्भ्य ३२१

प्रातिहार्य ११०

प्रेयान् ३०८

प्रेक्स ११२, १२०, २११

प्रोपितभर्तृका ३२२, ३२३

प्रोङ्गि ३०७

भगण २०, २१, २२

भग्नोत्तर २७

भग्नोत्तर चित्र ३८

भय २३६, २३९, २३६

भयानक २५४

भारती २१२

भाविक ११२, १२०, २१०, २००

भिन्नलिङ्ग २९०

भिन्नार्थ २९२

भिन्नोक्ति २९०

भूतभाषा ६४

भृंगारश्म्व ९४

भेद्यभेदक २७, ३४

भ्रान्तिसान् ११२, ११३, ११५, ११८

[म]

मध्यमकवि २३

मध्या ३१६

मध्यमा आरभटो २७३

मध्यमा कैशिकी २७३

मध्योत्तर २८

मन्थ १०

महाकवि २६

महाकाव्य ६

महोपमा १३५

माधुर्ष ३०२, ३२८

माला ११२, ११४, १२०

मालादीगक २१७

मालानिरवयव १४५

मालोपमा १३३

मिश्रित २३

मीलन ११२, ११४, ११७, ११८, १३९

मुग्धा ३१६

[व]

बहिरालापक ६९

बहिरालापक अन्तर्विषय ६९

बहुक्रियापाद ८७

बिम्बप्रतिबिम्बभाव १३२

ब्रह्मदीपिका चित्र ९२

मुरजबन्ध ७५
मुरज ७८
मूर्च्छा २४५
मृत्ति २६
मोह २३९
मोहावित ३३१

[य]

यगण २१, २२
यतिच्युति ५, २८४
यतिमाधुर्व ६
यथासंख्य ११२, ११४, २०३
यमक १८, २७, १००, १०१
यान ७
यान्तबन्ध ९३
युक्तरूपका १४९
यौगिक २६३, २६४

[र]

रमण २१, २२
रत्नत्रय १२१
रस २, २४२, २४७
रसवत् २११
रसी १२०
रोति २, २५९, ३०१
रीतिच्युत २८४
रूपक-रूपक १४९
रूढ २६३
रोमाञ्च २३०
रोद्र २५१, २५२

[ल]

लय २३०
लक्षित ३३०
लटानुप्रास ९८, १९९

लीला ३२९
लुप्तोपमा १२४

[व]

वक्रोक्ति १४, २७, ९७, ११४, ११८
वर्णोत्तर २८, ४४
वर्णसाम्य ९८
वर्द्धमान २८
वर्द्धमानाक्षर ५६
वस्तुप्रतिवस्तुभाव १३२
वस्तूपमा ३४
वाक्यगता अनुक्तवर्मा आर्यी लुप्तोपमा १२७
वाक्यगता अनुक्तवर्मा श्रौती १२७
वाक्यगता आर्यी १२६
वाक्यगता श्रौती उपमा १२५
वाक्याकीर्ण २८२
वाक्योत्तर २८, ४४
वासाकमज्जिका ३२१
विकल्प ११२, ११४, ११८, २०७
विग्रह ७
त्रिचित्रालंकार १८०
त्रिच्छित्ति ३३३
विट ३१३
विन्दुच्युत २७
विन्दुमत्त २७
विद्रुपक ३१३
दिनोक्ति ११८, १६४
विपर्ययोपमा १३४
विप्रलब्धा ३२२
विप्रलम्ब २४९
विद्वोक ३३२
विधम ३३१
विभावना ११२, ११४, १७८
विभाव ११८, २२६
विरस २९३

विरहोत्कण्ठता ३२३
 विरुद्ध २९५
 विरुद्धाशय २८०
 विरोध ११८, १७३
 विरोधमूलकविशेष १८२
 विरोधोपमा १३७
 विलास २२९
 विशेष ११२, १७६, १७७
 विशेषक ११८
 विशेषोक्ति ११२, ११४, ११८, १७९
 विषाद २४१
 विषम २८, ११२, ११४, १८२
 विषमवृत्त ४०
 विपर्ययविट्टेपण २४४
 विसदृश २९४
 विसर्गान्दुस २८७
 विस्तर ३०६
 वीभत्स २५४
 वीर २५३
 व्रीडा २३७
 वृत्त २८
 वृत्ति २५३, २७०
 वृत्त्यानुप्रास १२०
 वेषधु २२०, २७१
 वैदर्भी ६, २५९
 वैशर्ष्य २३०
 वैश्वर्य २३०
 व्यंग्यार्थ २
 व्यञ्जना २६८
 व्यञ्जनश्रुत ७२
 व्यतिरेक ११३, ११५, ११८, १९०
 व्यर्थ २९१
 व्यस्त २७, २८
 व्यस्तसमस्तक १४९

व्यस्तसमस्त २७
 व्यस्तसमस्तक ३०
 व्याकीर्ण २८६
 व्याघात ११२, ११३, १२०, २१३
 व्याजोक्ति ११२, ११४, ११८, १६७
 व्याजश्रुति ११२, ११८, ११५, १९६
 व्याधि २४०
 व्याहृत ३२३
 व्युत्पत्ति ३

[अ]

शंका २३१, २३२
 शकुन ८
 शब्दच्युत २८५
 शब्दशक्तिमूलक २६९
 शब्दार्थघटना ३
 शब्दार्थलिङ्ग भिन्नचित्र ३२
 शब्दार्थ भिन्नविध ३३
 शब्दालंकार ९
 शब्दात्रली ९८
 शब्दशास्त्र ३
 शब्दसाम्य ९८
 शक्यता ८
 शान्त २५१
 शाब्दिक २८
 शास्त्रार्थ २८
 शिष्टमालापरम्परित १४७
 शिल्पशास्त्र ३
 शुद्धसन्देह १५१
 शृङ्खलाबन्ध ६०
 शोभा ३२६
 श्लेष १८, १९, ९७, ११२, ११६, ११८,
 १२१, १९१, २९९
 श्लेषोपमा १३६

दलेकार्थं पाद-पूर्व ४५

दलोकोत्तर २८

ध्रम २३३

श्रीती १२५

श्रीती समासगता १२५

[प]

षठ ११, ३१

षड्रिपु ७

[स]

संकर १२७, २२०

संकल्प २४३

संक्षेपक ३०८

संगति ११२

संचारी २३१

संजवर २४६

संदेह १५१

संदिग्धतत्त्व २८१

संतानोपमा १३६

संवेदन २२४

संशयाह्व २९४

संशयोपमा १३५

संस्कृत ६३, ६४

संसृष्टि १२०, २१९, २२०

सगण २१, २३

सत्-वर्णन १६

सत्त्व २२९

सन्देह ११२, ११३, ११४, ११८

सन्धि ७

सन्धिच्युत २८६

सम ११२, ११४, १८२

समस्त २८, २९

समता ३०१

समताहीन २९४

समस्थापूर्ति २३, २४, २५

समाप्त पुनराप्त २९०

समाधानरूपक १५०

समाधि ११२, ११४, ११८, ११९, १२०,
२०९, ३०३

समासगता अनुक्तधर्मा श्रीती १२७

समासगताअनुक्तधर्मा आर्धी लुप्तोपमा १२७

समासगता आर्धी १२६

समासगा लुप्तोपमा १३०

समासगत रूपक १४२

समासोक्ति ११२, ११४, ११७ ११८,
१६५, १६६

समाहित ११२

समुच्चय ११९, १२४, १३८, ११९,
१२०, २०७

समुच्चयोपमा १३५

सम्बन्धच्युत २८६

सम्यतत्त्व ३००

सर्वतोभद्र २८, ५२, ५३

सहचरअष्ट २९३

सहोक्ति ११२, ११३, ११८, १६२, १६३

सात्वती २७१

सात्त्विक २२९

सादृश्य ११३

साध्यवसाया २६७

साम ७

सामान्य ११२, ११७, ११८, १७०

सामान्यसाम्भ २९४

सार ११२, ११४, १२०, २१८

सारोपमा २६७

सालंकार २७

सुकुमारता ३०२

सुषक्रक २८

सुप्ति २४०
 सुवाक्यग्रहित २८८
 सूक्ष्म ११०
 सूक्ति ३०७
 सोम २८
 सोक्ष्म्य ३०६
 स्तम्भ २३०
 स्तोत्र २
 स्थायीभाव २२४, २२५
 साष्टान्धकप्रहेलिका ६८
 सम्भोग-शृंगार २४१, २४८
 स्मरण ११२, ११८, १४२
 स्मृति २३६
 स्याद्वाद २७७

स्वकीया २४८, ३१५
 स्वाधीनपतिका ३२१
 स्वभावोक्ति ११२, ११४, १६७
 स्वैद २३०

[ह]

हर्ष २३५
 हारबन्ध ९६
 हाव-भाव ३२५
 हास्य २४९
 हीयमानाक्षर २८, ५८
 हेतुरूपक १४९
 हेतुशून्य २९३
 हेतूपमा १३९

परिशिष्ट २
पद्यानुक्रमणिका

| | परि.।श्लोकाष्ट. | अनुभावाः | परि.।श्लोकाष्ट. |
|-------------------|-----------------|--------------------|-----------------|
| [अ] | | | |
| अङ्गना | ४।१७३।१६८ | अनुपास्त | ५।१२५।२५६ |
| अङ्गालंकरण | ५।३८५।३२६ | अनुरक्ते | ५।१०८।२५२ |
| अतिदूर | ३। ३। ९८ | अनेकेषां | ४।२३१।१८७ |
| अतिरोगरसापूर्णा | ५।३८६।३२७ | अन्यवाक्य | ५। ९२।२४९ |
| अतिरोहित | ४।१०४।१४३ | अन्यागोचर | ५।२७०।२९९ |
| अत्यन्त | ५।१६०।२७० | अन्योडा | ५।२२५।२८८ |
| | ५।२४१।२९२ | अन्योन्यस्मरेता | ५।११०।२५२ |
| अत्यन्तसुवधः | ५।३४७।३१७ | अपल्लवस्त | ५।३३९।३१५ |
| अत्रान्तरे | ५। ७९।२४६ | अपभ्रंशस्तु | ५।३५७।३१९ |
| अत्रानिष्टस्यासि | ५।१०४।२५१ | अपविर्हरि | ४। ९।११९ |
| अथोदाहरणं | १। ५। २ | अपि चाथन्तिरन्यासो | २।१२१। ६४ |
| अथोद्दीपन | ५। ९२।२५० | अपि द्वे ते | ५।१८२।२७७ |
| अथ तावद् कृत्वे | २। १। २७ | अप्रतीतोपमानं | ४। १४।११९ |
| अथौ शृङ्गगुहारत्न | १। ४४। १० | अपि द्वे ते | ५। ९३।२४९ |
| अथरस्तन | ५। ६६।२४३ | अप्रतीतोपमानं | ५।२४३।२९२ |
| अधिकं | ४। ११।११९ | अप्रेक्ष्योऽजनि | ५।३२१।३११ |
| अतिप्रौढ | ५।१६९।२७३ | अवद्वेषदवाक्यं | ५।२१६।२८५ |
| अनन्तद्योतन | ५।१५०।२६९ | अब्धौ विद्रुम | १। ४१। ९ |
| अनन्वय | ५।२१७।२८६ | अभवदूर्ध्व | ३। २७।१०७ |
| अनुनेतुमनाः | ५।३६७।३२२ | अभान्मिश्रमिति | ५।१८५।२७८ |
| अनुप्रास | ३। ५। ९८ | अभिप्रायक | ५।२३६।२९१ |
| अनुभावोऽत्र | ५।१२८।२५७ | अभिलाषादि | ५। ९५।२४९ |
| अनेकान्तात्मार्थ | ४।१०६।१४४ | अभिषिक्तः | २।१५०। ७६ |
| अनुभावः | ५।११४।२५४ | अमरेश्वर | ४।२२२।१८६ |
| | | अम्बुदाम्बुविका | १। ७८। १७ |
| | | अम्भः केलौ | १। ६६। १५ |

| | | | |
|--------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| अम्भोभिः | १। १३। ४ | आदि ब्रह्मा | ४। ३३। १२१७ |
| अभ्यते क्षमिना | २। ५०। ३९ | आदि ब्रह्मन् | ४। १५। ११६१ |
| अयुक्तसंजल्प | ५। ४५। २३६ | आदि ब्रह्मणि | ४। २९। १२०८ |
| अरन्ध्रघाश्च | २। ८१। ५१ | आदि ब्रह्महितापदेश | ४। २९। १२०८ |
| अरण्ये | १। ४५। १० | आदीशब्राह्म | ४। १८। ११७२ |
| अरातिमहिषाः | ४। ३४०। २२१ | आधारः | ४। २८। १२०४ |
| अरिषड्भ्रम | १। २७। ७ | आधाररहिता | ४। १९। ११७६ |
| अरिषट्कर्म्यस्य | ५। १७८। २७६ | आधारराधेय | ४। २०। ११७७ |
| अर्थः काम | ४। १०१। १४२ | आभ्यां | १। ८८। २१ |
| अर्थसंदिग्ध | ५। २०१। २८१ | आमन्त्रणा | २। ९९। ५६ |
| अलंकारमलंकार | १। ४। १ | आमन्त्रयतां | २। २३। ३२ |
| अलं दम्भोलिना | ४। २५४। १९५ | आमोलिताम्बक | ५। ७२। २४६ |
| अल्पज्ञत्वात् | ५। ४०६। ३३४ | आरूपविषयत्वे | ४। १२५। १५० |
| अवद्युतटमटति | ४। २८३। २०४ | आर्षीतिद्वितया | ४। ३७। १२६ |
| अवनितलगतानां | ५। २७६। ३०१ | आर्षीवाक्यगता | ४। ३५। १२६ |
| अविमृष्ट | ५। २०६। २८३ | आर्षीसमासगा | ४। ४१। १२७ |
| अविहृद् | १। २८। ७ | | ४। ३६। १२६ |
| अवहित्याकृतेर्गुति | ५। ४९। २३७ | आलम्ब | ५। ११३। २५३ |
| अव्यलीक | ५। ३७२। ३२३ | आलम्बन | ५। १२१। २५५ |
| अशक्यवेस्तु | ४। २००। १७९ | | ५। १२७। २५७ |
| अशरमशुभम | ५। २७१। २९९ | आलि | ५। ३७०। ३२३ |
| अश्वे वेगित्व | १। ४९। ११ | आलिगन्तं | ५। ३९७। ३३१ |
| अष्टादासामवस्थाः | ५। ३६१। ३२१ | आशीरूर्ध्वं नमोर्ध्वं | १। ९८। २३ |
| असद्विन्दु | २। १३५। ७० | आश्रमे मुनिपादान्ते | १। ५७। १३ |
| असन्निधानतो | ४। १६३। १६४ | आसक्तो | ४। १७१। १६७ |
| असम्मतिः | ४। ९३। १४० | आसते | २। १५६। ८० |

[आ]

[इ]

| | | | |
|----------------------|-------------|-----------------------|-------------|
| आगः सहस्रव | ५। २६१। २९६ | इक्ष्वाकु | ४। १५३। १५९ |
| आज्ञामन्दारमालास्य | ४। २९४। २०७ | इक्ष्वाकुकुल | ४। १५४। २६८ |
| आत्तपो तप्तपान्थानां | २। १६। ३० | इति स्वेष्टार्थसंवादे | ५। ३४०। ३१५ |
| आत्मोत्कर्षो | ५। ३५। २३४ | इत्याद्यदृश्य- | ४। ३०५। २१० |
| आदरप्रेक्षणं | ५। ६५। २४३ | इदं न | ४। १३५। १५३ |
| आदिः पादो | २। १८५। ९५ | इदं भवेति | २। ४३। ३७ |

| | | | |
|----------------------|------------|--------------|-----------|
| इन्दुः क्षयी | ४। ७४।१३६ | उभयार्थप्रदं | २। १५। ३० |
| इन्दुपङ्कज | ४। ८१।१३७ | उभे व्यस्त | २। ३। २७ |
| इन्द्र नागेन्द्र | ४।२१।८।१८३ | उभौ शृङ्गार | ५।१३०।२५८ |
| इयं जातिफलोऽप्रेक्षा | ४।१४३।१५६ | उरोजयोरेण | ५।३६४।३२१ |
| इलापाला | १। ८३। १९ | उषितं शयितं | ५।३९२।३२९ |
| इष्टानिष्टागमोद्भूता | ५। ३४।१०८ | | |

[ऊ]

[ई]

| | | | |
|-------------|-----------|------------------|------------|
| ईषत् प्रौढी | ५।१६४।२७१ | ऊरुश्रोणीसुरो | १। ३१। ७ |
| ईर्ष्या सा | ५। ४०।२३५ | ऊरुश्रोणिकुचान् | ५।४०।१।३३२ |
| | | ऊर्ध्वाध्वो मध्य | ४।२०।२।१७७ |

[उ]

[ए]

| | | | |
|-----------------|-----------|------------------------|--------------------|
| उक्तस्य नुः | २। ६०। ४३ | एकश्रुतिप्रकारेण | २। १९। ३१ |
| उक्तिर्यत्र | ४।२५३।१९५ | एकत्र संचिती | ४। ८२।१३८ |
| उच्यते | ४।१७०।१६७ | एकस्य | ४। ४३।१२८ |
| उत्तरं यत्र | २। ४१। ३७ | | ४। २९।१२४ |
| उत्पन्ने | ५।१५१।२६७ | एकद्विग्या | ४।१३८।१५४ |
| उत्साहो | ५।१०९।२५२ | एकापव्यर्थ | २। ९८। ५६ |
| उद्गतं | ४। ८४।१३८ | एकसन्धौ | ५।२३५।२९१ |
| उद्दिष्टा यैः | ४।२७९।२०३ | एकस्या | २।१७७। ९२ |
| उद्दीप्यते | ५। ८।२२७ | एकस्याः | ४। ८७।१३९ |
| उद्बोधश्चेतना | ५। ४६।२३७ | एकस्यानेक | ४।३१७।२१४ |
| उद्भवन्त्यः | ५। २६।२३१ | एकादश्यां | ४।१९९।१७६ |
| उदात्तत्वमीदाम् | ५।३०९।३०८ | एकेन | ५।२६४।२९८ |
| उदिते | ४।२९७।२०८ | एकेनैवार्थभेदेन | २। ८७। ५३ |
| उद्याने कलिका | १। ४३। १० | एणाक्षी | २। २७। ३३ |
| उद्वाहे | ४।१५७।१६१ | एतय्यिमं | ५।४०३।३३३ |
| उपमा | ४। ५।११३ | एतम्यास | ४।३३६।२८० |
| उपमानो | ४। २८।१२४ | एते कारदचन्द्र | ५। २२।२७२ |
| उपमानन्वयो | ४। ८।११९ | एवं प्रत्येकमुक्तास्ते | ४।१३२।१५२ |
| उपमानोपमेय | ४।२३६।१८९ | एषूदाहरेणेषु | १। ९३। २२ |
| उपमेयं | ४।२२०।१८४ | | ४। ९०।१३९ |
| उपमानाधिक्यं | ५।२३०।२८९ | | |
| उपायापाथ | ५। ६१।२४१ | ओष्ठः | [ओ] ५।३६८। ३२ |

[औ]

औदार्यं

५।३३३।३१३
५।३३६।३१४

काकली

२।१४४। ७३

का कला

२।१४५। ७३

का कृष्णवल्लभा

२।१००। ५७

काञ्चीरु

५।३६५।३२१

काञ्चीनूपुर

५।३२५।३१२

कादिवर्ण

१। ८९। २२

[क]

कः कम्पयति

२। २८। ३३

कः कीदृक्

२।१३०। ६८

कथं प्राग्भो

४।१५९।१६२

कण्ठस्थः

४।२२७।२०२

कन्तोः

५। ९७।२५०

कः पतिः

२। ९६। ५६

कः पञ्जरमध्यास्ते

२।१३९। ७२

कः पुमान्

२। ६९। ४५

कः पुमानसंबुद्धिः

२। ७४। ४७

कर्पूरेण

५। ३७। २३४

क्रमतामक्रमं

२।१५१। ७७

क्रमेणानेक

४।३१४।२१३

कलासु

५। ८१।२४६

कलासक्तः

५।३१६।३१०

कलामार्दव

५।३१८।३१०

क्व कीदृक्

२। २१। ३१

क्विपा

४। ४७।१२९

क्वचित्

५।२६२।२९७

क्वित्वमातनोति

१।१०६। २६

क्विविप्रौढगिरा

४।१५१।१५८

क्वभिभिर्न

५।२७०।२८१

क्वचिर्नूतन

५।३०५।३०७

क्ववीनां समयस्त्रेष्वा

१। ६९। १५

क्ववीनां

५।३०४।३०७

क्वस्यादानोयते

२। ७२। ४७

क्वस्त्याज्यो

२। ८४। ५२

क्वाकस्येव

२। ८२। ५१

कान्ते पश्य

३। २। ९७

कान्तास्यपत्र

५।३१९।३१०

कान्ताभ्यर्ण

५।३५५।३१९

कान्ते एकत्र सुस्थे

५।३६०।३२०

कार्पण्यं

५। ३८।२३४

का पुरोर्मौनिनो

२। ९४। ५५

कामदन्धेन

४।१२१।१४९

कामज्वरेण

५। ७१।२४४

कामिनी

५। ७०।२४४

कामिनीर

३। २०।१०४

कामुकः

२।१४६। ७४

कार्यकारण

४।२०६।१७९

कार्यसिद्धयर्थ

४।३०१।२०९

कारुण्यनिधि

४।२३८।१९०

कारुण्यं

५।३१०।३०८

कालासह

५। ६०।२४१

कालोरमा

४।२१३।१८२

काव्यहीनत्व

५।१९०।२७९

का शास्त्रेण

२। ७१। ४६

का श्रद्धा

२। ६८। ४५

किं किमस्त्री

२। ४८। ३९

किन्ता निन्धा

२।१०३। ५८

किं भर्माप्यभिन्नं

५।१७६।२७६

किमाहुः

२। २०। ३१

किमेष सिन्धुः

४।१३०।१५१

क्रियास्वरूपगोत्रप्रेक्षा

४।१४५।१५७

क्रियास्वरूपहोत्रप्रेक्षा

४।१४६।१५७

क्रियाभाव

४।१४९।१५८

| | | | |
|---------------------|-----------|---------------------|-----------|
| क्रियाहेतु | ४१४७।१५७ | [ग] | |
| क्रियान्वयो | ५।२३४।२९० | गतप्रत्यागतं | २। ८। २८ |
| क्रियाणां | ४।२९५।२०७ | गतप्रत्या- | २। ९२। ५५ |
| क्रियागदेन | ५।२१५।२८५ | गलदधु | ५।३५२।३१८ |
| कीर्तिः | ५।२८८।३०३ | ग्लानं | २।१५३। ७८ |
| कीदृशं नन्दनं | २। २५। ३२ | गवाक्षसंलम्बित | ५।३१७।३१० |
| कुत्रास्ते | २। ८०। ५० | गणाद्वा वर्णतो | १। ९६। २३ |
| कुमारे राजभक्ति | १। ३४। ८ | गाढार्लेष | ५।३४८।३१७ |
| कुवादिनः | ४।३१५।२१४ | गाम्भीर्यं | ५।२७७।३०१ |
| केऽमिलाः | २। ३८। ३६ | गायतो | ३। ४०।११० |
| केफिनो | १।१४२। ३३ | गानं घान्यसरोवल्ली | १। ३८। ९ |
| केचित्सी | १।१०४। २६ | गिरिभिरिव | ४। ५९।१३३ |
| केतवया | ५।३५०।३१७ | गिरी रत्नादि | १। ७०। १६ |
| के दहन्ति | २।११३। ६१ | गुणसंश्लिष्ट | ५।१३४।२५९ |
| केम्यो हितकरो | २। ४४। ३८ | गुणस्वरूप | ४।१५०।१५८ |
| के मधुरारावा | २।१४१। ७३ | गुणालंकार | ५। ९।२२७ |
| केवलप्रस्तुतान्येषा | ४।२१६।१८३ | गुरुणामन्तिके | १। १२। ४ |
| केशान् | ५।३४६।३१६ | गोरेत्य | २।१०८। ५९ |
| केशेषु प्रसितः | २। ३१। ३४ | गोष्ठी | ४।२८७।२०५ |
| केशरा | २।१४३। ७३ | गौणगौणा | ५।१७३।२७४ |
| कलासाधो | ४।२२६।१८६ | [घ] | |
| कोऽस्ति | २। ९५। ५५ | घनसार | २।१८०। ९३ |
| कोकिलो | ५।१८३।२७७ | [ङ] | |
| क्रोधः कृतावराधेषु | ५। ३९।२३५ | चक्रत्वालिस्य | २। ७७। ४९ |
| क्रोधाग्निजलदः | ४।११३।१४७ | चक्र्यादलेषधियं | ४।३०२।२०९ |
| को दुःखी | २। ७९। ४९ | चकाराष्ट | २।१०९। ५९ |
| कोपादाभ्यान् | ५।३५८।३२० | चक्रिणि | ४।१६६।१६५ |
| को लघुयचक्रः | ४।२९१।२०६ | चक्रिदत्त | ४।१६७।१६५ |
| क्षयोपशमने | ५। १।२२४ | चक्रिनिर्जित | ४।२०५।१७९ |
| क्षीरनीर | ४।३३७।२२० | चक्रिर्वरितसम्बन्धः | ५।११५।२५४ |
| [ख] | | चक्रिशासन | ४।२५२।१९४ |
| खण्डिता | ५।३६२।३२१ | चक्रिकीर्ति | ४।३११।२१२ |
| | | चक्रिकण्ठीरवः | ५।१५३।२६७ |

| | |
|------------------------|-----------|
| चक्रेशगुह्यो | ४।१६१।१६३ |
| चक्रेशिन् | ४।२४८।१९३ |
| चतुष्टयं समुद्रस्य | १। ७३। १६ |
| चतुष्क | २।१७१। ९१ |
| चतुस्त्रिद्वयैक | ४।१८७।१७२ |
| चादयो न | १। १७। ५ |
| चपलो | ५।२२०।३१० |
| चन्द्रेऽन्नकुलटा | १। ५६। १३ |
| चन्द्रार्कोदयमन्त्र | १। ६८। १५ |
| चन्दने फलपुष्पे | १। ७५। १७ |
| चन्द्रातप | २।१८८। ९५ |
| चन्द्रोऽन्वे तु | ४। ६६।१३४ |
| चन्द्रप्रभं | ४।१३४।१५३ |
| | ५।१५०।२६६ |
| | ४। २५।१२३ |
| चन्द्रस्य | ४।२७१।२०० |
| | ५।२८५।३०२ |
| | ४।२४०।१९० |
| चन्द्रबिम्ब | ४। ६१।१३३ |
| चलनेत्र | ४।१२०।१४९ |
| चास्थी | २।१५७। ८१ |
| चारुत्व हेतुना | ४। १।१११ |
| चारुत्वहेतुतायां | ४। २।१११ |
| चुम्बनालिङ्ग | ५।२५६।२९५ |
| चाहचित्रगतं | ५।३९९।३३२ |
| चित्रं संशुद्धमन्यत्तु | २। ९। २८ |
| चिन्तारत्नं | ४।१५५।१६० |
| चेतः संभ्रम | ५। ५२।२३८ |
| चेतो निमीलनं | ५। ४७।२३७ |

[छ]

| | |
|---------------|-----------|
| छन्दोऽलंकार | १। १०। ३ |
| छन्दो रीतिमति | ५।२०९।२८४ |
| छन्दोभङ्ग | ५।२११।२८४ |

[ज]

| | |
|----------------|-----------|
| जगदानन्दिनी | १। २। १ |
| जगले | २।१३८। ७२ |
| जनमे नामकल्याण | १। ५९। १३ |
| जनानां | ३। १६।१०३ |
| जयति | ५।२९०।३०३ |
| | ५।२९३।३०५ |
| | ५।३०१।३०६ |
| ज्योत्स्नया | ४।२२५।१८५ |
| जहाति | २।११८। ६३ |
| जात्यभाव | ४।१४४।१५७ |
| जिनमानस | २। १४। २९ |
| जिन स्वयि | २।१७२। ९१ |
| जिनार्को | ४।११६।१४८ |
| जिनाङ्घ्रिमुख | ४।१८३।१७१ |
| जिनं तं | ३। २४।१०५ |
| जिनेषपदयुगं | १। १९। ५ |
| जिष्णूत्स्फुट | २।१८१। ९३ |
| जिष्णू रिपौ | ४।१४०।१५५ |
| जुगुप्सैव | ५।११८।२५४ |
| जुगुप्सामङ्गल | ५।२०२।२८२ |

[झ]

| | |
|------------------|-----------|
| झाजाञ्चा- | १। ८६। २० |
| झाङ्गीमृत्यु ततः | १। ९०। २२ |

[त]

| | |
|---------------------|-----------|
| तर्कतः सूत्रतः | २। ५८। ४२ |
| तच्छील | ४। ९७।१४१ |
| तर्जनादि | ५। ४२।२३५ |
| ततान तानं | ३। ३६।१०९ |
| ततोत्तिता | २।१५९।८३ |
| तत्त्वं सत्त्वादिना | ४।१९२।१७४ |
| तत्त्वे जीवोऽत्र | ४।३३२।२१८ |
| तदा जातो | ४।२९२।२०६ |

| | |
|---------------------|------------|
| तमोनिवारकः | ४१२८६।२०४ |
| तन्वन् | ४१२४३।१९१ |
| तन्मिश्रोऽन्यो | ५११४९।२६४ |
| तमसः सूत्र्यभेदत्वं | १। ७१। १६ |
| तमसा | ४१२२१।१८४ |
| तमोऽस्तु | २।१५२। ७८ |
| तव सिंहस्थ | २।२४१।१९१ |
| तत्र स्याद्वादिनो | ४१२५८।१९६ |
| तयाम्ब | २।१३३। ६९ |
| तस्मान्मे | ५।२९४।३०४ |
| तस्यावचाहरते | ५।३२६।३१२ |
| तस्या | ५।४०२।३३३ |
| तात नाम् | ५।२७३।३०० |
| तानि धर्माणि | १। २४। ७ |
| ताम्ब्लेच्छान् | ५।३१५।३०९ |
| तापहारित्वे | ४।२४६।१९२ |
| तवास्तु | ५। ६३। १५६ |
| तिलतण्डुल | ४।३३३।२१९ |
| तुल्यवर्तन | ५। ५६।२३१ |
| तेजः संशोभकारि | २। ३३। ३५ |
| तेजोलक्ष्मी | ४।१६२।१६१ |
| तेन संवेद्यमानो | ५। २।२२४ |
| ते प्रत्येकं | ४। ३१।१२५ |
| त्रपानाशो | ५। ७४।२४५ |
| त्रिलोकी | ४।२६८।१९९ |
| त्रैलोक्यं धनलं | ५।५१।२३८ |
| त्वत्पादे | ४। ६४।१३४ |
| त्वं | ५।१६७।२७२ |
| त्वद्दवाभाति | ४। ९२।१४० |
| त्वद्विधा | ४। ६५।१३४ |
| त्वत्तनो | २।१३१। ६९ |
| त्वद्बोध | ४। ८३।१३४ |
| त्वदास्वमेण | ४। ७९।१३७ |
| त्वद्द्रुपसाम्य | ५। ६७।२४३ |

| | |
|--------------|-----------|
| त्वमम्ब | २।१७२। ३९ |
| त्वामाश्रिता | ४।२५१।१९४ |

[व]

| | |
|-------------------|-----------|
| दक्षिणः | ५।३२३।३११ |
| दन्तोत्पीड | ५।३५३।३१८ |
| दवाशुङ्गार | १। ३०। ७ |
| दयामूलो | २। ६३। ४४ |
| दयालुरनहंकार | ५।३१४।३०९ |
| दमिते कि | ५।३५१।३१८ |
| द्राक्षापाकः | ५।१४१।२६१ |
| दृष्ट्वा | ५।३५६।३१९ |
| द्वानं ज्ञानधनाय | ५।२८३।३०२ |
| द्वारवत्यन्त | ५।१५९।२७० |
| दिङ्मातङ्ग | ४।१०८।१४५ |
| द्वितीयार्थ | ४। ९८।१४१ |
| दिव्यैश्वर्यनसित | २।१५४। ७९ |
| द्विःसमस्त | २। ४। २७ |
| द्वीपतन्वीश्वर | २।१३४। ७० |
| दीर्घेणोत्थाप्य | ५।२४२।२९२ |
| दुःखमोहादिना | ५। ५७।३४० |
| दुहति | ४। ९५।१४० |
| दुति प्रेषान् | ५।३७३।३२३ |
| देदीप्यमान | ४।१०५।१४४ |
| द्वे द्वे पादे | २।१८३। ९४ |
| द्वेष्यां त्रया | १। २९। ७ |
| देशे मणिनदीस्वर्ण | १। ३७। ८ |
| द्वेषरागादि | ५। ६८।२४१ |
| देवोज्ज | ५।१८६।२७८ |
| देशो नाक | ४। ५८।१३२ |
| दोषरोषाति | ५। २३।२३१ |
| दोषस्तु | ५।२५७।२९५ |

[ध]

| | |
|---------|-----------|
| धन्विनः | ५।२६६।२९८ |
|---------|-----------|

| | | | |
|----------------|-----------|-------------------|-----------|
| धर्मराजोऽपि | ४।१९७।१७५ | नाकस्येन्द्रः | ४। ८८।१३९ |
| धर्मपुरुष | ५।२५५।२९५ | नागाकार | ४।२१९।१८४ |
| धर्मासारा | ५।३८८।३२८ | नाटकादिषु | २।११४। ६१ |
| धर्मेण | ४।३२६।२१६ | नायकं | ५। ५।२२६ |
| धानुनाम | १। १८। ५ | नाभेरभिमतो | २।१६७। ८९ |
| धिया ये | २।१५५। ८० | नायं वायुसमुत्थि | २।१२६। ६७ |
| धीवरोऽपि | ४।१८९।१७३ | नायकस्तद्गुणोत्तः | ४।१३६।१५४ |
| धीरोरुह्य | ४।१९०।१७३ | नायका | ५।३२९।३१३ |
| | २। २। २७ | नारायणसुसंबुद्धिः | २। १३। २९ |
| धीरोदात्ता | ५।३२८।३१३ | नासाञ्छादत | ५।१२२।२५५ |
| धीशं कान्ताभयं | २।१७०। ९० | निदाचं मल्लिका | १। ५। ११ |
| धुनिः | २। ९३। ५५ | निन्दा स्तुति | ४।२५६।१९५ |
| धुर्ये चक्रिणि | ४।२०७।१८० | निपीड्य | ५।१७७।२७६ |

[न]

| | | | |
|----------------------|-----------|--------------------|-----------|
| न च मुक्तावलि | ४। २७।१२४ | निर्योगास्फुटयोग | ५।१४७।२६३ |
| नतपाल | २।१६३। ८६ | निर्वेदोऽफल | ५। ३६।२३४ |
| नतपीला | ३। ४१।११० | निर्वेषो | ५।१२९।२५७ |
| नतिमूढधनं | ४।३२३।२१६ | निशि निशि | ५।३९०।३२८ |
| न पद्मे | ४। ७१।१३५ | निःशेषत्रिदशेन्द्र | ४।२१४।१८२ |
| न पूज्य | २।१०१। ५७ | निष्क्रामति | ४।२९६।२०८ |
| नमसितनिलपत्रे | १।१०२। २५ | निस्स्त्रतोषाथ | २। १८। ३० |
| नमामोहभेदं | ३। २५।१०६ | नीरजैश्च | ५।१८९।२७८ |
| नयमानक्षमा | २। ७६। ४८ | नीलाब्ज | ५। ७२।२४४ |
| नमः सिद्धेभ्यः | ४।२७३।२०१ | नृपे यशः | १। २६। ७ |
| नमप्रमाण | २। ७३। ४७ | नेतुर्विदूषको | ५।३३०।३१३ |
| न श्लाघ्यते | २। ६१। ४३ | नेत्रे त्वर्ये | ४। ६८।१३५ |
| नद्यामम्बुधिधायित्वं | १ः ४२। ९ | नेयापुष्टनिरन्ध | ५।१९१।२७९ |
| नवनीतं | ५। ८४।२४७ | नेयार्थं | ५।१९२।२७९ |
| नवाङ्कुरो | ५।३४५।३१६ | नेतदास्यमयं | ४।१२२।१४९ |
| न शशी | ४। ८०।१३७ | | |
| न सा सभा | ४।३२९।२१७ | पठद्बन्दि | ५।३०८।३०८ |
| न स्नेहाच्छरणं | ५।१३८।२६० | पतत्प्रकर्ष | ५।२२७।२८८ |
| न्यूनं | ५।२२९।२८९ | पदं यथा | १। २२। ६ |

[प]

| | | | |
|-----------------------|-----------|-----------------------|-----------|
| पद्मराभमणि | ५।३४३।३१६ | पुष्पाङ्गलि | ५।३९४।३३० |
| पदानुगुण्य | ५।१३९।२६१ | पुष्पोपचयने | १। ६५। १४ |
| पदानामर्थ | ५।२९५।३०५ | पुष्पार्थमूर्ध्व | २।१४९। ७५ |
| पदानि | ५।६०७।३०७ | पुष्पारत्न | ५।२००।२९२ |
| पदभिन्नः | ४।२४२।१९१ | प्रतापवक्त्रिणः | ५। ५४।२३९ |
| पद्माकरोऽपि | ४।१८८।१७३ | प्रतिगजितु | ४। ७८।१३७ |
| पर्यायिणोपमानो | ४।१००।१४२ | प्रतिविम्बनं | ४।२३९।१९० |
| परस्परक्रिया | ४।२१०।१८१ | प्रतिभोजजीवनो | १। ८। ३ |
| | २।१६५। ८७ | प्रतिघ्नं | २।१७३। ९१ |
| परस्वीप् | ४।२८८।२०५ | प्रतिवस्तूपमा | ४। १२।११२ |
| परुषाक्षर | ५।२०५।२९२ | प्रतीप | ४। ७।११३ |
| परुषी | ४।२६०।१९७ | प्रतीयमान | ४। ४।१११ |
| पर्यायमान | ४।२७५।२०१ | प्रमदया | ३। २९।१०७ |
| परुषेवाचिव | ४। ६२।१३४ | प्रयागेऽव | १। ४७। ११ |
| परुषवः | ४।११५।१४८ | प्रयुक्तं | ५।२०८।२८३ |
| पाठकालेऽपि | ५।२८२।३०२ | प्रयोजनोऽज्ञतं | ५।२३८।२९१ |
| पाठवा | २।१०६। ५८ | प्रसिद्धकारणा | ४।२०४।१७८ |
| पादत्रितय | २।१६९। ९० | प्रत्यादिकुञ्ज | ४।३३९।२२१ |
| पादास्ताब्जा | ५। ७।२२७ | प्रत्युत्तरोत्तरं | ४।३२५।२१६ |
| पारम्पर्योपदेशेन | १। ११। ३ | प्रत्येकं तु | १। ९४। २२ |
| पादवादाती | ५।३३६।३२२ | प्रश्नाभरं | २। ३९। २७ |
| पुत्रपौत्रं | ५।१२६।२५७ | प्रश्नोत्तरे | ४।२९०।२०६ |
| पुरे प्राकारतच्छीर्षं | १। ३९। ९ | प्रश्नोत्तरसमं | २। ५। २७ |
| पुरोहिते | १। ३३। ८ | प्रस्तुतानुपयोग्यार्थ | ५।१९३।२७९ |
| पुरोर्बहुसुतेष्वेष | ४। ८६।१३८ | प्रस्तुतस्यैव | ४।२६५।१८९ |
| | ४।२३०।१८७ | प्राच्योदीच्याः | ४।२०३।१७८ |
| पुरोः शास्त्रविधुः | ४।११०।१४६ | प्रावृत्काले | ५।१४०।२६१ |
| पुरोः समवसृत्यन्त | ५।१५२।२६७ | प्रारब्धनियम | ५।२२८।२८९ |
| पुराणारोहता | ४।२११।१८१ | प्राहुः क्षमारूप | २। ३६। ३६ |
| पुरुषाणोदयेनैव | ४।२३५।१८८ | प्राज्ञः प्राप्तसमस्त | ५।१३६।२५९ |
| पुरुदेवपुरी | ४।३२८।२१७ | प्रियकारिणि | २। ३५। ३५ |
| पुरोरग्रे | ४।२०९।१२० | प्रियस्य | ५। ८०।२४६ |
| पुष्पति हंसति | ४। ६०।१३३ | | |
| पुष्टः शोको | ५।१०१।२५१ | | |

[ब]

अधुपि प्रादि

५। ९१।२४८

| | | | |
|----------------|-----------|-----------------|-----------|
| बह्वायासेऽपि | ५।३९१।३२९ | भूम त्वदपादशेषा | ५।११९।२५४ |
| बहुवीरेऽप्यसा | ४।२३२।१८७ | भूपालकुञ्जराः | ४।२६१।१९७ |
| बहुलेजाः | ४।३४१।२२१ | भूमिपत्नी | १। २५। ६ |
| बालक्रीडा | ५।३८१।३२५ | भूमिति | ३। ३५।१०९ |
| बाहुभ्यां | ४।३१३।२१३ | भूमिजिष्णु | ५। ३०।२३२ |
| बाह्यान्तरार्ध | २।१२५। ६७ | भूमिपामर | २।१६८। ९५ |
| बहुश्रित्त | ४।१०९।१४५ | भूपिती | ४। ५६।१३२ |
| बोधभीष्टागमाद् | ५। ३३।२३३ | भोः केतकादि | २।१२७। ६७ |
| | | भो भव्याः | ४।३०७।२११ |

[भ]

[म]

| | | | |
|---------------------|-----------|---------------------|-----------|
| भणितार्थ | ५।२८०।३०२ | भकरन्दारुण | २।१३६। ६१ |
| भक्ता भवन्तु | ४।२७८।२०२ | भगणादीनां | १। ८७। २१ |
| भ्रमद्भ्रमर | ४। ७०।१३५ | भनक्रीडागृह | ५।३२४।३१८ |
| भरतयशसि | ४।१८१।१७० | भतिस्तत्पत्नेन | ५।३९८।३३१ |
| भरताह्वय | ४।१०३।१४३ | भदरोषविपावा | ५। २५।२३१ |
| भरते सिंहपीठस्थे | ४।२१७।१८३ | भदनदव | ५।४००।३३२ |
| भरतेऽगमहीभर्तु | ४।२६४।१९८ | भधुपानेऽलिमाश्रित्य | १। ३४। १४ |
| भवेन सहचरं भ्राष्टं | ५।२४७।२९३ | भग्वी द्रोळानि | १। ५०। ११ |
| भवेद्विनिमयो | ४।३२१।२१५ | भग्या भारभरी | ५।१६८।२७२ |
| भात्सुखं | १। ९५। २३ | भग्या त्रेधा | ५।३०९।३१७ |
| भास्वधौ | ४।२२३।१८५ | भग्या तथा | ५।३५९।३२० |
| भ्राम्यन्तां त्रीणि | २।१७५। ९२ | भनागूनगुणो | ५।३३१।३१३ |
| भारती | १। २३। ६ | भनोहरो | ५।२२४।२८७ |
| भारतीप्रसरो | ४।११७।१४९ | भन्वो शुचिः | १। ३५। ८ |
| भावतो | ५।२७२।३०० | भन्त्रे पञ्चाङ्गतो | १। ४६। १० |
| भावे | २।१८९। ९६ | भर्त्वं यार्तुं | ४।१६९।१६६ |
| भावो मानस | ५।३८२।३२५ | भन्धानिले | ५। ७५।२४५ |
| भासते | २।१६२। ८६ | भस्तेषु | ५।२५४।२९५ |
| भीतिरागादिना | ५। २१।२३० | महानन्द | २।१७४। ९१ |
| भीराकस्मिफ | ५। २८।२३२ | महाभ्रमण्ये | ३। १२।१०३ |
| भीरोषतीषणा | ५। २४।२३१ | महाभारतीते | ३। २२।१०५ |
| भीर्शंकागलानि | ५। २७।२३१ | महापुरुषसंसर्गा | ४।२७६।२०१ |
| भेदेऽभेदे | ४।१५२।१५८ | महासमृद्धि | ४।३१९।२१५ |

धुगादिदेव
मूढे जयकुमारेण
युद्धे तूर्यनिनादासि

४।११२।१४७
४।३२४।२१६
५। ६। १३

रूपकं
रोमहर्षण
रोमाञ्चः
रोषादिकारणं

४। ६।११३
५। १७।२२९
५। १८।२३०
५। २९।२३२

[र]

रचनाया
रचनात्युज्ज्वलत्वं
रञ्जितापि
रक्षितमा काभिदन्तेषु
रतिहासशुचः
रति जहाति
रत्नाकरोर्जपि
रत्यातपादिसंजात
रत्युल्लास
रत्याङ्गे
रदनाधरगण्डादि
रमणी
रमायाः
रवं नाट्यं
रसभावाभि
रसं जीवित
रसावस्थान
रसस्थाप्रस्तुतस्योक्तिः
रसानुरूप
रसोऽनुभूयते
रहस्यु

५।२७५।३०१
५।२८९।३०३
४।१९५।१७५
१। ७६। १७
५। ३।२२५
५।२६०।२९६
४।१९१।१७१
५। २०।२३०
५। ६४।२४२
५। ४५।२३५
१। ३२। ७
३। ७। ९९
१। ७४। १६
१। ७९। १८
५। ६३।२४२
५। ८३।२४७
५।१५८।२७०
५।२४५।२९३
५।२१२।२८४
५। १४।२२९
५। १२।२२८
५।१४२।२६१
४।३३५।२१९

[ल]

लक्ष्मीः का
लक्ष्मीगृह
लक्ष्मीः पद्माकरस्था
लक्ष्मीर्वक्षसि
लक्ष्मीदाहृतितः
ललनां
लिङ्गोक्तिः
लिङ्गिणी
लीलाविलासललित
लुप्ता वाक्य
लुप्ता समासमा
लुप्ता वाक्यगता
लुप्ता तद्धितमा
लुप्ताधारक्यना-
लुप्ता कर्मण
लुप्ता कर्तृण
लुप्ता कर्मक्य
लुप्तानुक्तोपमाना
लुप्ता समासमानुषत
लोचनोत्पल

२। ६५। ४४
४। २६।१२३
४।१३९।१५४
४।३१६।२१४
५। ५०।२३८
५।४०४।३३४
३। ११।१००
५।२३२।२९०
५।३७६।३२४
५।३७९।३२५
४। ३८।१२७
४। ३९।१२७
४। ५३।१३१
४। ४०।१२७
४। ४४।१२८
४। ४४।१२८
४। ४५।१२८
४। ४६।१२८
४। ४८।१२९
४। ५०।१३०
४। ५३।१३१
४।११९।१४९

[व]

राजानो
राजीवोपम
राज्ये
राज्ञस्तस्योदये
राज्ञस्ते
रुचिरध्यान

४। ५५।१३१
२। ८६। ५२
५। ५९।२४०
४।२४४।१९१
५।२८१।३०२
२। ७०। ४६

वक्तव्यं
वक्तुकामापि
वक्तुमिच्छति
वक्रोक्तिरव

५।२१८।२८६
४।२६२।१९७
५।४०५।३३४
४। १०।११९

| | | | |
|-----------------|-----------|----------------------|-----------|
| वक्षोऽवक्षी | २।१२३। ६५ | वाकयान्त | ५।२९२।३०४ |
| वक्ष्यमाणो | ४।२४७।१९२ | वाक्यार्थस्तबके | ४।३४५।२२३ |
| वर्चोगृहं | ५।१२०।२५५ | वाञ्छा | ५। ६८।२४३ |
| वञ्चिता | ५।३६९।३२२ | वाताञ्जनपुष्पभूले | ५।३८७।३२७ |
| वटवधः | २।१२९। ६८ | वार्धक्य | २। ८९। ५३ |
| वर्णभेदं | १। ८४। २० | वायुपक्षे | २। ५१। ४० |
| वर्ण एवोत्तरं | २। ६४। ४४ | वा वानरो | ३। ३७।१०९ |
| वर्णः कः | २।१२४। ६५ | वाहिन्यो | ५।१५५।२६८ |
| वर्णभार्याति | २।१६६। ८८ | विकस्वरोप | १। २१। ५ |
| वर्णकोमलता | ५।२८४।३०२ | विकल्पो | ४। १५।११९ |
| वर्णवर्णकयो | १। ८५। २० | विकासमपि | ४।१९४।१७५ |
| वर्णस्य | ४। १८।१२० | विजित्मानन | २।१७६। ९२ |
| वर्णते | ५।१६२।२७२ | विमानासिताङ्गो | ३। १९।१०४ |
| वर्णदिङ्मात्रता | १। ६७। १५ | विद्योतविद्यो | ३। २६।१०६ |
| वदन्ते | ३। ३८।१०९ | विनक्षयन्ति | २। ५३। ४० |
| वक्षु रमेव | १। १४। ४ | विपरीतार्थ | ५।१९०।२८० |
| वत् पुष्पादिभो | २। ४७। ३९ | विबुधेषा | ४।१९३।१७४ |
| वन्दे | २।१६४। ८७ | विभक्त्युत्पत्ति | ५।१४६।२६३ |
| वन्दे चारुहचां | ४।३३४।२१९ | विभाति | ५।१८७।२७८ |
| वन्द्यावुन्द | ५।२९१।३०४ | विभावाद्यैस्तु | ५।१२३।२५५ |
| वञ्चो डलो रलो | १। ८१। १८ | विरहे तापनिःस्वास | १। ६१। १४ |
| वभो शशिवलम | ३। ३४।१०८ | विरुद्धं | ५।२०४।२८२ |
| वलीहो भरतवचनी | १। ८२। १८ | विरुध्येत | ५।२५३।२९५ |
| वल्ग्यां | २।११५। ६१ | विरोधे | ४।२९३।२०७ |
| वल्काम्बरेणापि | ५।३८९।३२८ | विवाहे स्नानशुभ्रांग | १। ६०। १३ |
| वर्षासु | १। ५२। १२ | विशतिः | ५।३७७।३२४ |
| वस्तुर्वशी | २। ७५। ४८ | विशेष | ४। २१।१२८ |
| वस्तुपन्यस्य | ४। ८५।१३८ | विशेषवचनं | ५।२०७।२८३ |
| वस्तुना | ४।१७७।१६९ | विशेषणवैचित्र्य | ४।२४५।१९२ |
| वाक् सुघां | ५।२२१।२८७ | विश्वनाथ | ५।१६५।२७२ |
| वाक्यशौर्यत्र | ४।२२७।१८६ | विश्रान्ति | ५।२१३।२८४ |
| | ४।२३३।१८७ | विषमं वृत्तनामापि | २। ६। २८ |
| वाक्येऽधिक | ५।२३१।२९० | विसर्गो | ५।२२३।२८७ |
| वाक्यार्थ | ५।२३७।२९१ | विहाय | ४।१८२।१७१ |

| | | | |
|---------------------|-----------|--------------------------|-----------|
| वीतराग | ३। ३९।११० | वास्त्रिणां | ५।१२४।२५६ |
| श्रीहान्निद्राभिमान | ४।१६८।१६६ | शास्त्रेणैव | ५।२०३।२८२ |
| श्रीडाकरावलील | ५।२६५।२९२ | शिरःकम्पाश्रुमत्कायचलं | ५।१००.२५० |
| श्रीदानतास्या | ५।३३८।३१५ | शीतलं | २।१८७। ९५ |
| वैरिभल्लूक | ५।११६।२५४ | शुकः पङ्कज | २।१४०। ७२ |
| वैषम्यं | २। ५२। ४० | शुद्धा निदचयगर्भा | ४।१२९।१५१ |
| वैस्वयं | ५। १९।२३० | शुद्धतन्मूलसंभिन्न | ५।१४८।२६४ |
| वृत्तेन लघुना | २। ३७। ३६ | शुनीव | २। ९४।१४० |
| वृक्षाद्वृत्तादयः | ४।२३४।१८८ | शुभ्र श्रीहारमणिः | १।१००। २४ |
| वृषभनृपतिः | ५।१६१।२७१ | शुभा विभाति | ३। ३३।१०८ |
| वृषभेश्वर | ४।२२९।१८७ | शुभाणुपुञ्ज | ४।२६९।१९९ |
| व्यञ्जन | ३। ८। ९९ | शून्यत्वतापकुर्विष्यन्ता | ५। ३१।२३२ |
| व्यञ्जनानां | ३। १०।१०० | शुरे रथाङ्गभृत् | ४।३४४।२२२ |
| व्याघातश्रापि | ४। १६।१२० | शोणाङ्गुलि | ४।११२।१४२ |
| व्युत्पत्त्याभ्यास | १। ९। ३ | शोभमानं नभः | २। २६। ३३ |

[श]

| | | | |
|---------------------|-----------|------------------------|-----------|
| प्रकित्तुष्टि | २।१०७। ५९ | शोभा भवति | २। ४०। ३७ |
| प्रभूदान | ४।२६६।१९९ | शोभा साहायकशित्प्रकृतय | ५।१४४।२६२ |
| शब्दार्थालंकारतीर्ण | १। ७। २ | शोभा सिद्धीर्जिपि | ५।१७२।२७४ |
| शब्दार्थलिङ्ग | २। २२। ३२ | शोभायां | ५।३३५।३१४ |
| शब्दार्थभेदतो | २। २९। ३४ | श्रावेण गमयेत्कालं | २। ६२। ४३ |
| शब्दार्थ | ३। १। ९० | श्रीलीलायतनं | ५।२९६।३०५ |
| शब्दार्थो | ४। ३।१११ | श्रीः स्मरो | २। ४२। ३७ |
| शब्दः पदं | ५।१४५।२६३ | श्रीशक्तः | ४।१५६।१६० |
| शब्दो | ५।२१४।२८५ | श्रीचन्द्रः | ४।१३१।१५२ |
| शब्दार्थयोः | ५।२९७।३०५ | श्रीयशः | ४।३४३।२२२ |
| शब्दानां | ५।२९९।३०६ | श्रीमत्पार्थिवचन्द्रेण | ४।३४२।२२२ |
| शम्भुस्मरारो | २। ८८। ५३ | श्रीमच्चक्रेश्वरस्थ | ४।१७९।१७० |
| शय्योत्थितः | १। १५। ४ | श्रीमते | १। १। १ |
| शरदीन्द्रिन | १। ५३। १२ | श्रीमद्भरत | ४। २३।१२२ |
| शरदिन्दुः | ४। ७७।१३७ | श्रीमद्द्विभजया | ४।१०७।१४५ |
| शशी शम्भु | ४। ७५।१३६ | श्रीमद्द्विभजया | ४।१७८।१६९ |
| शशाभ्यां | १। ९२। २२ | श्रीमत्समन्त | २।१२८। ६८ |
| | | श्रीभूमिपाणि | ५।१५६।२६९ |
| | | | ४।१७६।१६८ |

| | | | |
|---------------|-----------|----------------------------|-----------|
| सुखं स्वमसि | ५।३२७।३१२ | संप्रेश्य | ५। ५३।२३९ |
| सुखकर | २।११७। ६३ | स्फूर्जच्छात्र | ५।१६३।२७१ |
| सुखदुःखादि | ५। २२।२३० | स्वीयेतरा | ५।३३६।३१५ |
| सुखदौ | १। ९१।२२ | स्वाधोनपत्तिका | ५।३६३।३२१ |
| सुगन्धि | ४। ७२।१३६ | स्वसारोहावरोही | ५।२८६।३०३ |
| सुघां सर्वे | ४।१२६।१५० | स्वयं | ३। १३।१०१ |
| सुधासूति | ४। ९९।१४१ | | ३। १४।१०१ |
| सुभद्रा | ४।३१८।२१४ | स्त्रयोपिदास्यशुष्येन्नुम् | ४। ६९।१३५ |
| सुभ्रूवल्ली | ४।१२३।१४९ | स्वाङ्के | ५।३४१।३१५ |
| सुमनोनिलय | ४।२३७।१८९ | स्वकीया | ५। ९०।२४८ |
| सुरते | १। ६२। १४ | स्वभावमात्रार्थ | ४।१७२।१६७ |
| सुरासुरानु- | ३। ९। ९९ | स्वविच्छ | ४।२०८।१८० |
| सुरागो | ३। २३।१०५ | स्वर्गगते | ५। २८।२४० |
| सुराः किरीट | ४।१२७।१५१ | स्वेदकम्पादि | ५। ४१।२३५ |
| सुरैः कः | २।११०। ६० | स्वेदोत्कर्षण | ५। ३२।२३३ |
| सुस्थितं | २। ४९। ३९ | स्वयंवरे | १। ६३। १४ |
| सूर्योदिव | ४। ८३।१३८ | स्यातां | ४।१२८।१५१ |
| सूर्योऽजैजसा | ४।२६३।१९८ | | |
| भेविता | २। ५६। ४१ | [६] | |
| सेनापतिरभीर | १। ३६। ८ | हरतीज्या | २।१५८। ८२ |
| सोऽज्या | २।१७८। ९२ | हरिः पद्यविरोधोति | ५।१८१।२७७ |
| सौषोपरि | ५।३७१।३२३ | ह्रस्वाभ्यां | ५।१०६।२५२ |
| संपदन्यतयोः | ५। ८७।२४७ | हा निधीश | ५।१०३।२५१ |
| संयोगार्थ | ५।१७९।२७७ | हा जगत्सुभग | ५।१०२।२५१ |
| संस्कृतं | २।११६। ६२ | हारशोभित | ४। ५७।१३२ |
| | २।११९। ६४ | हारमूपुरकेयूर | ५। ११।२२८ |
| संध्यभाषो | ५।२१९।२८६ | हासाक्ष्यः स्थायिभावो | ५। ९६।२४९ |
| संबुद्धि | २। २४। ३२ | हास्यशान्ताद्भुता | ५।१६६।२७२ |
| संबुध्यसे | २।१४७। ७४ | हीनाधिकोपमाने | ५।२५२।२९४ |
| संबुध्यतां | २। ९१। ५४ | ह्योयन्ते | २।१०५। ५८ |
| संबोधनं | २। ५४। ४१ | ह्यीकरो मुख्यतोऽप्योऽर्थो | ५।२४९।२९४ |
| संबोध्यो | २।११२। ६० | हुंभारवं | ४।१७४।१६८ |
| संगीतसंगिरमसौ | ५। ७३।२४४ | हेमन्ते हिमसंलग्नं | १। ५४। १२ |
| | | हेतो विरुद्ध | ४।२१२।१८१ |

परिशिष्ट ३

उद्धरण सूची

| | | |
|----------------------|----------------|---------------------------|
| नाभेरभिमतो | २।१२६ | आदि. १२।२१९ |
| भोः केतकादित्रयैर्न | २।१२७ | आदि. १२।२४७ |
| वटवृक्षः पुरोऽयं | २।१२९ | आदि. १२।२२६ |
| कः कीदृङ् | २।१३० | आदि. १२।२४८ |
| त्वत्तनो काऽम्ब | २।१३१ | आदि. १२।२४९ |
| त्वमम्ब रेचितं | २।१३२ | आदि. १२।२५१ |
| तवाम्ब किं | २।१३३ | आदि. १२।२४९ |
| श्रीपं नन्दोऽश्वरं | २।१३४ | आदि. १२।२३१ |
| असद्विन्दुभिराभान्ति | २।१३५ | आदि. १२।२३२ |
| समजं धातुकं | २।१३७ | आदि. १२।२३४ |
| जम्बे कयापि | २।१३८ | आदि. १२।२३५ |
| कः पञ्जरमध्यास्ते | २।१३९ | आदि. १२।२३६ |
| शुकः पञ्जरमध्यास्ते | २।१४० | आदि. १२।२३७ |
| के मधुराराजाः | २।१४१ | आदि. १२।२३८ |
| का स्वरभेदेषु | २।१४३ | आदि. १२।२३९ |
| काकली स्वरभेदेषु | २।१४४ | आदि. १२।२३९ |
| का कः श्रयते | २।१४६ के पूर्व | आदि. १२।२४१ |
| कामुकः श्रयते | २।१४६ | आदि. १२।२४१ |
| संबुध्यसे | २।१४७ | आदि. १२।२४५ |
| स्नात स्वमलमभीरं | २।१४८ | स्तुति. २ पद्य, पृ. ५ |
| अभिषिक्तः | २।१५० | स्तुति. ४८ पद्य, पृ. ५७ |
| क्रमतामक्रमं | २।१५१ | स्तुति. ५० पद्य, पृ. ६० |
| तमोऽस्तु | २।१५२ | स्तुति. १०० पद्य, पृ. १२१ |
| ग्लानं चैनश्च | २।१५३ | स्तुति. ९१ पद्य, पृ. ११२ |
| दिव्यर्ध्वति | २।१५४ | स्तुति. ६ पद्य, पृ. १० |
| विद्या ये | २।१५५ | स्तुति. ३ पद्य, पृ. ६ |

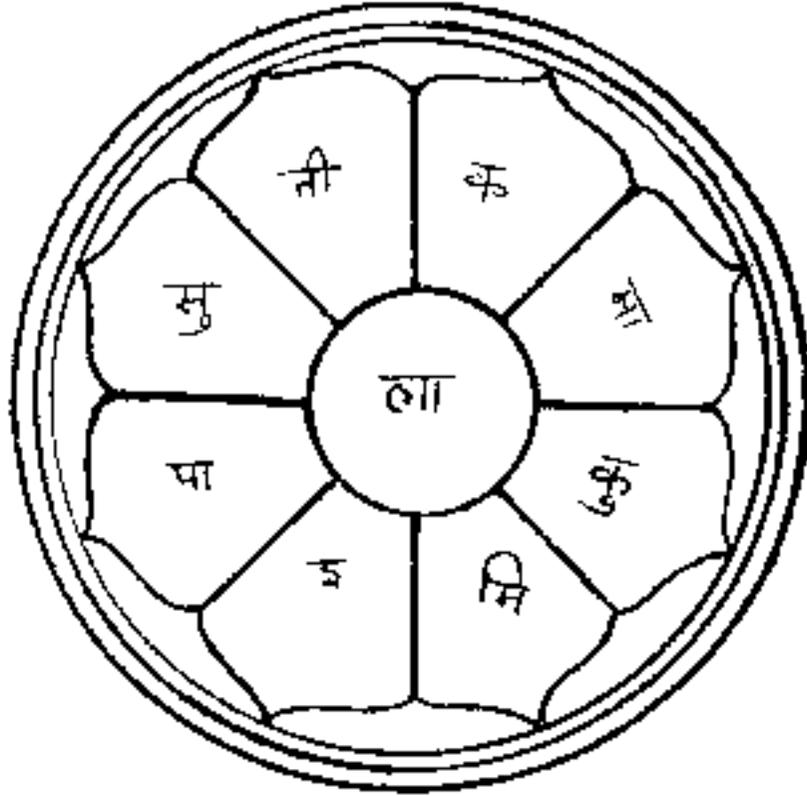
| | | |
|-------------------------------------|-------|---|
| आसते सततं | २।१५६ | स्तुति. ४ पद्य, पृ. ६ |
| चारुश्रीभुमरां | २।१५७ | स्तुति. ३३ पद्य, पृ. ४५ |
| हरतीज्याऽऽहिता | २।१५८ | स्तुति. ४३ पद्य, पृ. ५३ |
| सजोतिता | २।१५९ | स्तुति. १३ पद्य, पृ. १९ |
| येयायायाययेयाय | २।१६० | स्तुति. १४ पद्य, पृ. २० |
| भानोदाना | २।१६१ | स्तुति. ९७ पद्य, पृ. ११९ |
| भासते विभृतास्तोना | २।१६२ | स्तुति. १० पद्य, पृ. १६ |
| नतपाल महाराज | २।१६३ | स्तुति. ५७ पद्य, पृ. ६८ |
| वन्दे चाहृचां | २।१६४ | स्तुति. २८ पद्य, पृ. ३५ |
| पारावाररवारापारा | २।१६५ | स्तुति. ८४ पद्य, पृ. १०३ |
| वर्णभार्याति | २।१६६ | स्तुति. ५४ पद्य, पृ. ६५ |
| श्लोकपादपदावृत्तिः | ३। १२ | स्तुति. पृ. ९ |
| अभवद्दूर्ध्वमुदारवः | ३। २७ | हरि. ५५।१११ |
| चन्द्रप्रभं नौमि ४।२५; ४।१३४; ५।१५० | | मुनि. १। २ |
| संप्रत्यपापाः | ४।१४२ | वर्म. १। ४ |
| कल्पना | ४।१४३ | वाग्भटालङ्कार ४।८९ |
| उच्चते वदतुमिष्टस्य | ४। ७० | वाग्भ. ४।९४ |
| निःशेषत्रिदशेन्द्र | ४।२१४ | भूपालजिनचतुर्विंशतिका ४ पद्य |
| उपमेयं समीकर्तुं | ४।२२० | वाग्भट. ४।८७ |
| तमसा लुप्यमानानां | ४।२२१ | वाग्भट. ४।८८ |
| अनुपात्तविवादीनां | ४।२३१ | वाग्भट. ४।७० |
| बहुवीरेऽप्यसावेको | ४।२३२ | वाग्भट. ४।७१ |
| उक्तिर्यत्र प्रतीतिर्वा | ४।२५३ | वाग्भट. ४।७४ |
| चन्द्रप्रभं नौमि | ४।२७१ | धर्मशर्माभ्युदय १।२ |
| काष्ठस्थः कालकूटोऽपि | ४।२७७ | आत्मानुशासन १३५ पद्य |
| अत्रटुत्तटमटति | ४।२८३ | विक्रान्त कौरव नाटककी प्रशस्तिमें तथा जिनेन्द्र कल्याणभ्युदय ग्रन्थकी प्रशस्तिमें एवं मल्लिवेष प्रशस्ति |
| यत्रार्तवस्त्रं | ४।२८९ | मुनिसुवत १।३४ |
| पिहिते कारागारे | ४।३०४ | प्रमेयरत्नमालामें प्रयुक्त |
| अधरस्तन | ५। ६६ | हरिवंश १४।४४ |
| मुरारिरपि | ५। ८८ | हरिवंश ४२।१०४ |
| हा जगत्सुभग | ५।१०२ | हरिवंश ६३।२० |
| प्राज्ञः प्राभसमस्त | ५।१३६ | आत्मानुशासन ५ पद्य |

| | | |
|-----------------------------|-------|-----------------------------------|
| न स्नेहापछरणं | ५११३८ | बाल्मिकिभक्ति १ पद्य |
| प्रावृट्काले सविद्युत् | ५११४० | लघु आचार्य भक्ति |
| वर्षोभृंहं त्रिपयिणां | ५१२६५ | आत्मानुशासन १३३ पद्य |
| यात्रन्ति जिनवैत्यानि | ५१२७४ | अकृत्रिमवैत्यालय अर्थ |
| अवनितलगतानां | ५१२७६ | पूजा, अकृत्रिम जिनालय अर्थ |
| दानं ज्ञानधनाय | ५१२८३ | भूपाल जिनचतुर्विंशतिका ६ पद्य |
| चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं | ५१२८५ | स्वयम्भूस्तोत्र, चन्द्रप्रभस्तुति |
| जयति भगवान् | ५१२९० | वैद्यभक्ति |
| पदानामर्थचाह्व | ५१२९५ | वाग्भट. ३१३ |
| श्रील्लोकायतनं | ५१२९६ | भूपाल, जिनचतुर्विंशतिका १ पद्य |
| जयति जगदीश | ५१३०१ | शाकटायन प्रक्रियाका संगल पद्य |
| कवीनां ममकानां च | ५१३०४ | आदि. ११४४ |

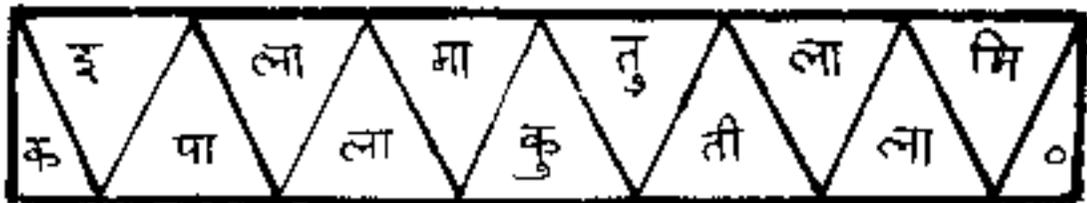


परिच्छेद ४
चित्रबन्ध सूची

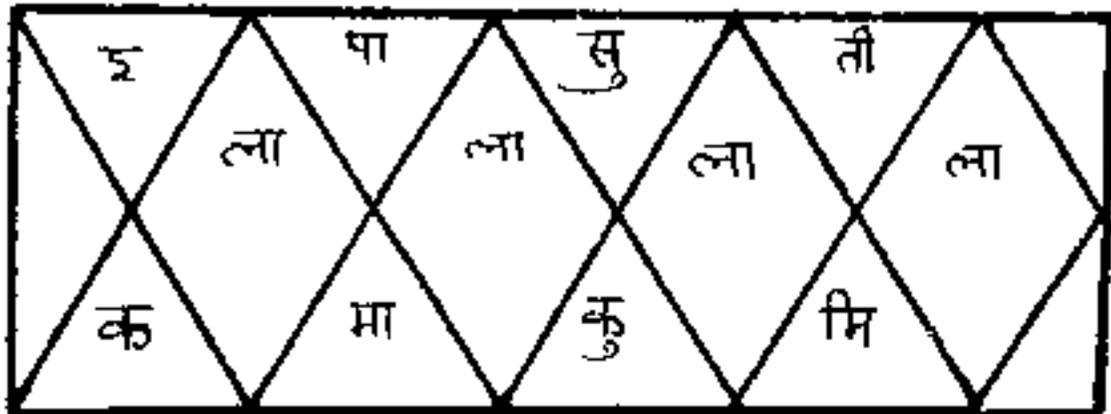
पृष्ठम् ११, श्लोकः ८३, अष्टदशक्षत्रबन्धः ।



पृष्ठम् १९, श्लोकः ८३, गोमूत्रिकाबन्धः ।



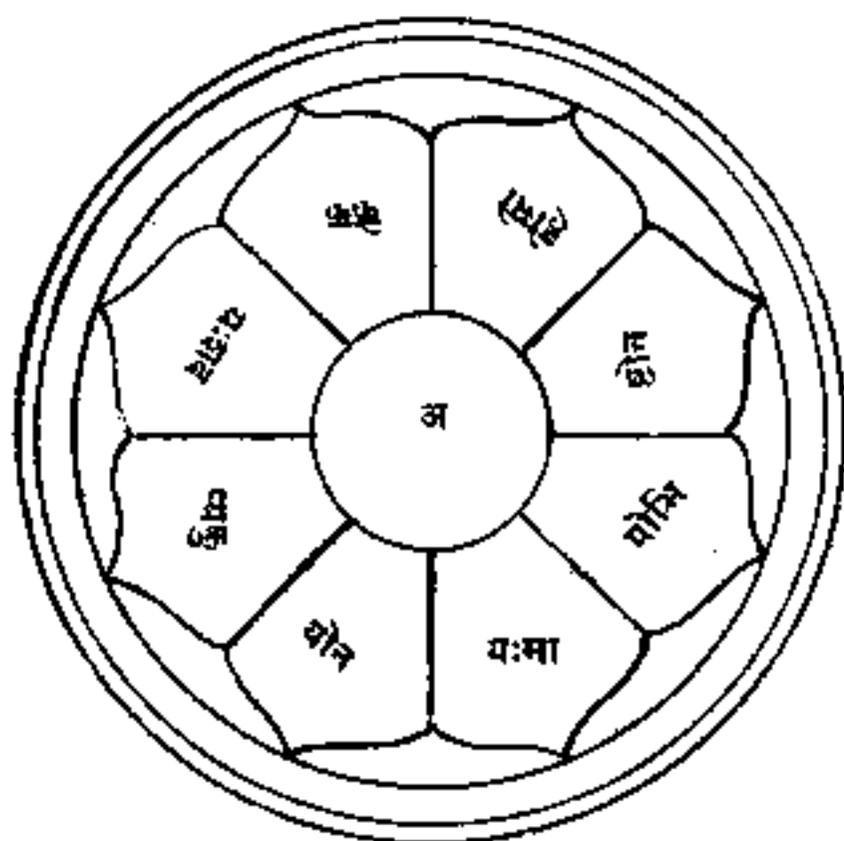
पृष्ठम् १९, श्लोकः ८३, प्रकारान्तरेण गोमूत्रिकाबन्धः ।



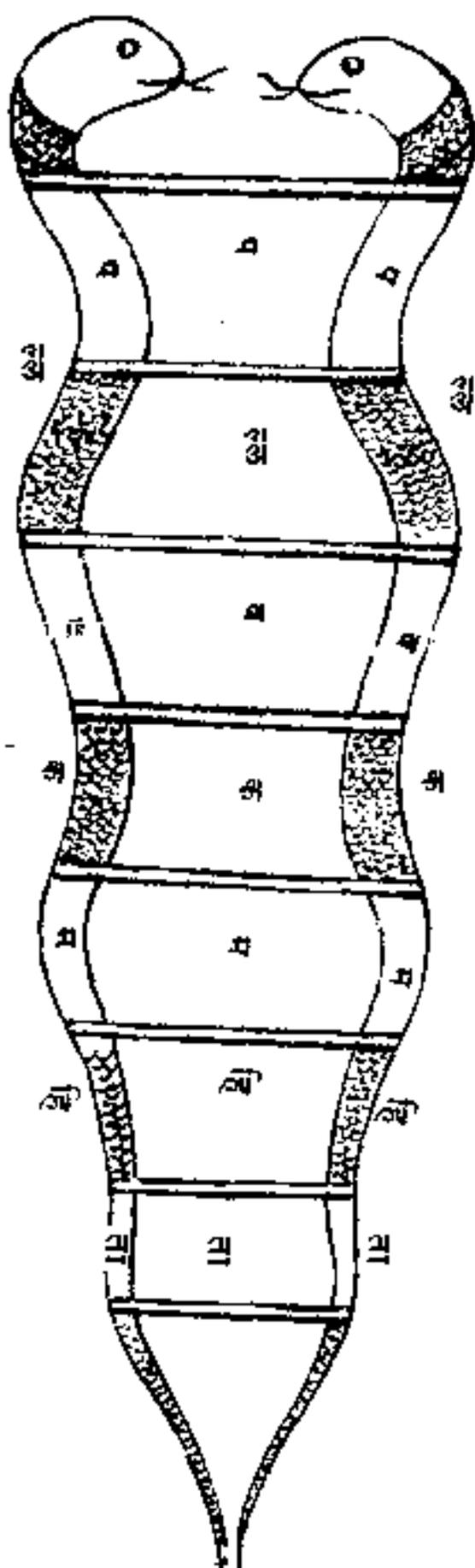
पृष्ठम् ४८, श्लोकः ७६, चक्रबन्धः ।



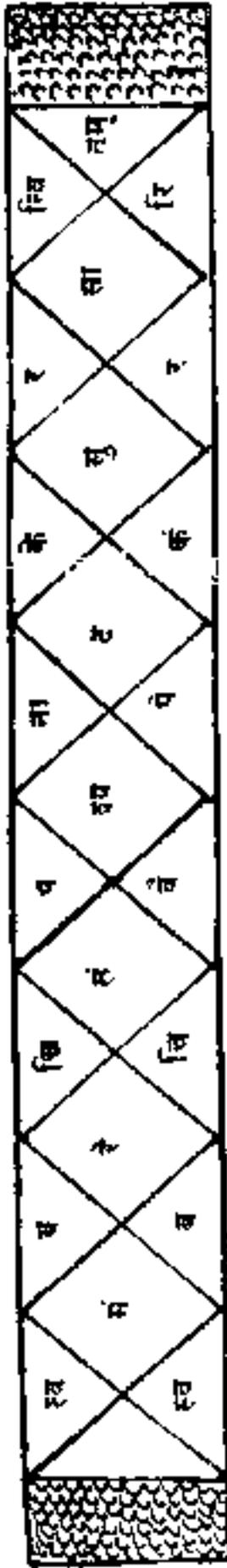
पृष्ठम् ५०, पक्तिः ५, पद्यप्रश्नबन्धः ।



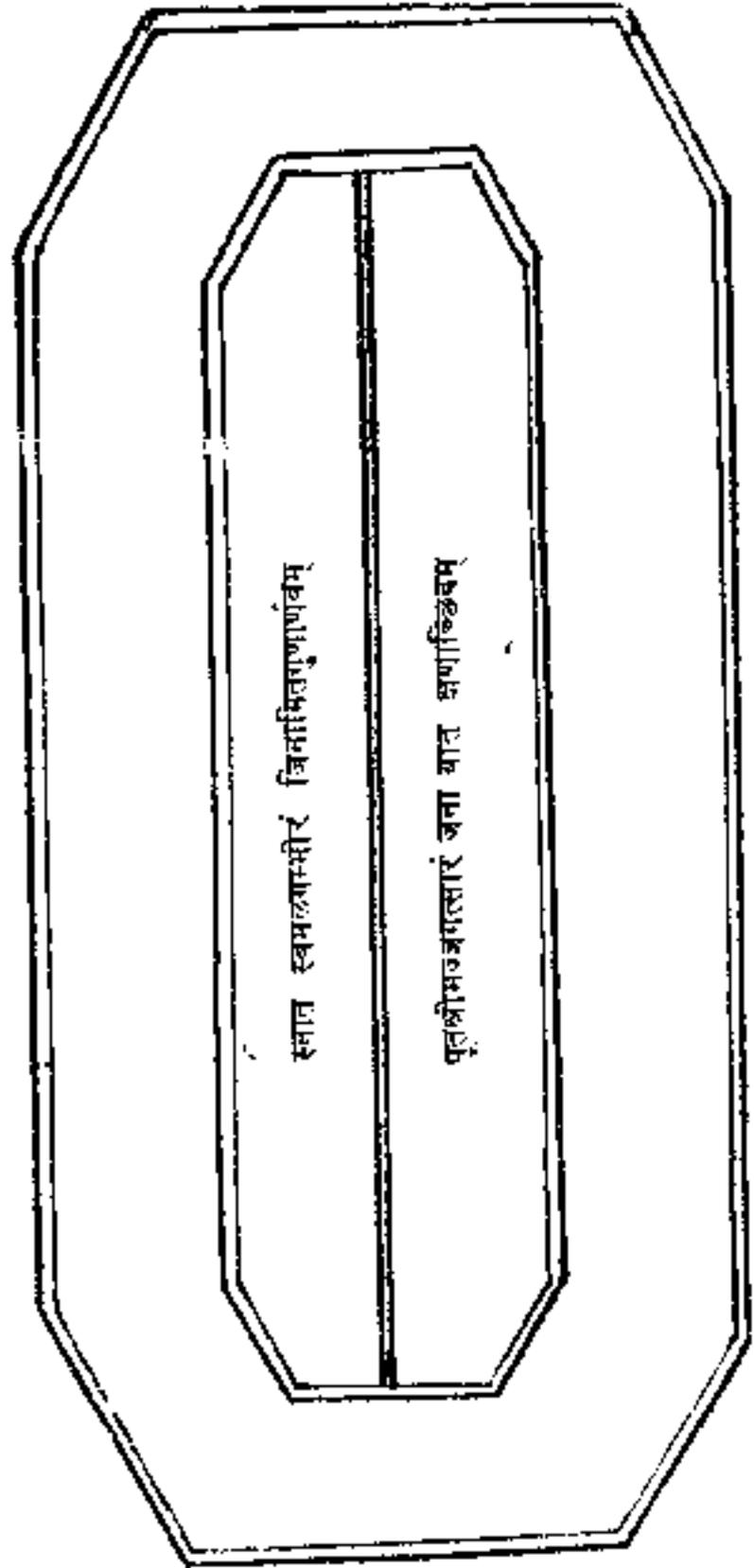
पृष्ठम् ६२,
पंक्तिः १,
नागपाशबन्धः ।



पृष्ठम् ६९, श्लोकः १३२, गोमूत्रिकाबन्धः ।



पृष्ठम् ७५, श्लोकः १४८, मुरजबन्धः ।



पृष्ठम् ७६, श्लोकः १५०, अन्तरपादमुरजबन्धः ।

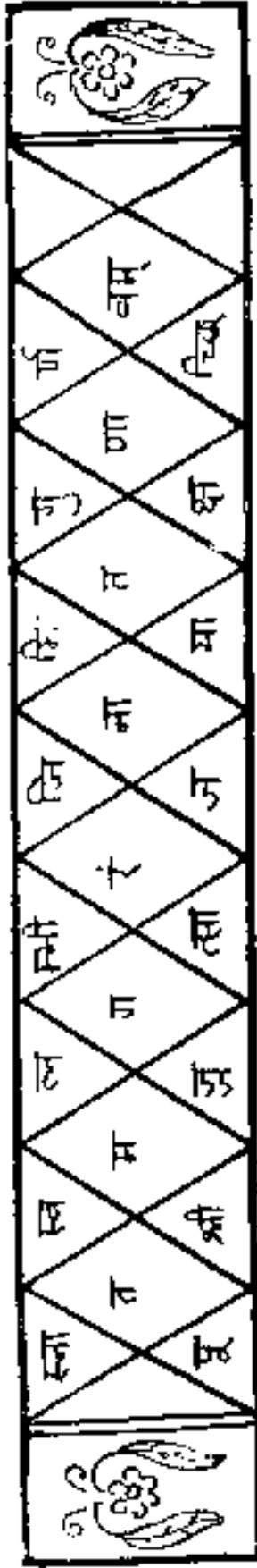
अभिपिबतः मुरंलोकः

त्रिभिर्भक्तिपरं कः ।

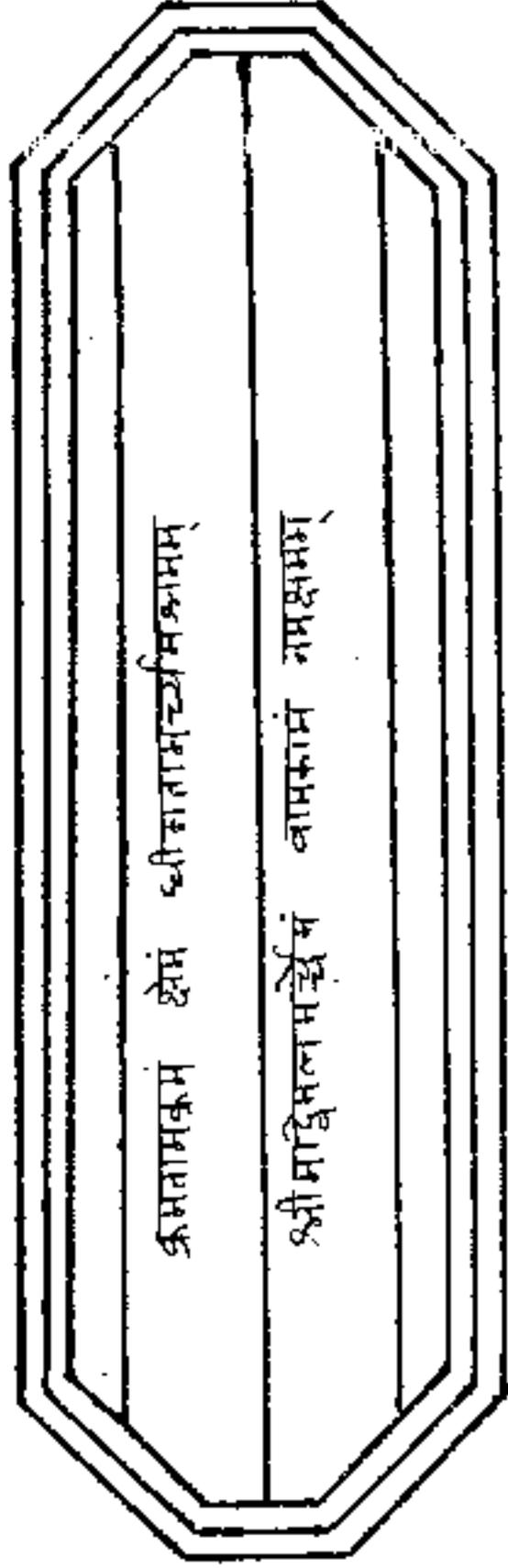
वासपूज्य मयोशेषं

त्वं सुपूज्यः कथीदृशः ।

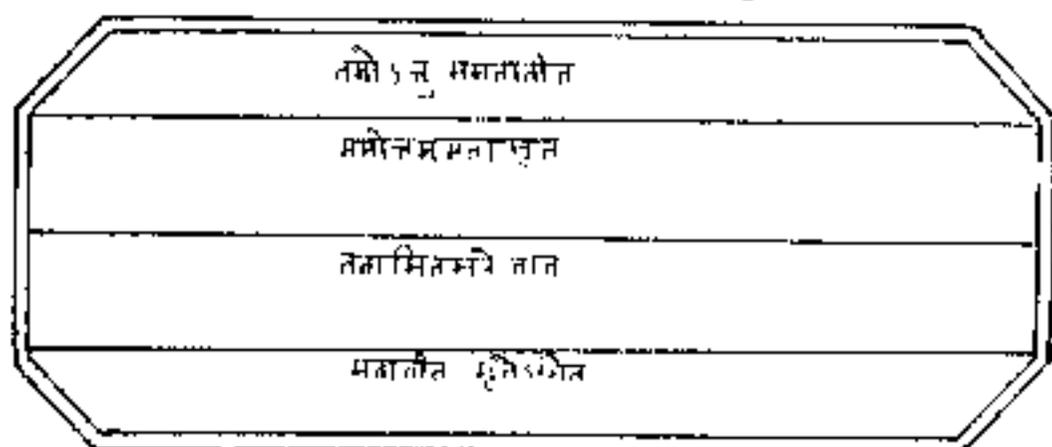
पृष्ठम् ७५, श्लोकः १४८, गोभूषिकावन्धः ।



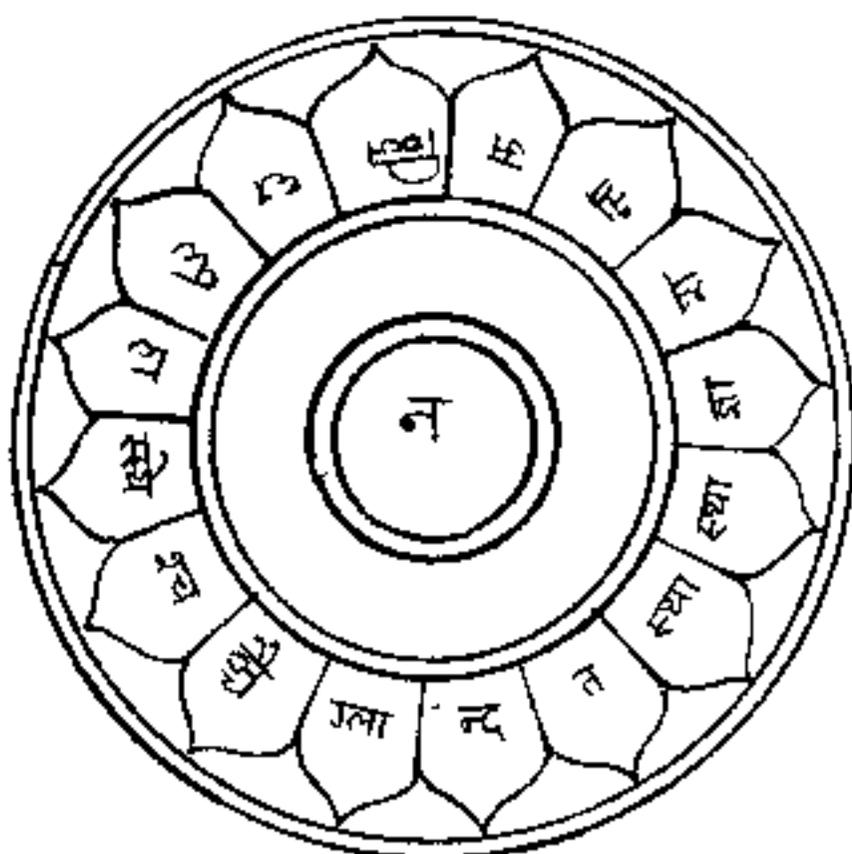
पृष्ठम् ७७, श्लोकः १५१, इष्टपादमुरजवन्धः ।



पृष्ठम् ७८, श्लोकः १५२, अनन्तरपादमुरजबन्धः ।



पृष्ठम् ७८, श्लोकः १५३, षोडशदलपद्मबन्धः ।



पृष्ठम् ७८, श्लोकः १५३, गोमूत्रिकाबन्धः ।



पृष्ठम् ७८, श्लोकः १५३, अन्तरितमुरजबन्धः ।

| |
|------------------------|
| ग्ला नं चैनशव नक्ष्येन |
| हा न ही न धनं त्रिन |
| अनन्ता न शान ज्ञान |
| स्थान् रथा न त नं दन |

पृष्ठम् ७९, श्लोकः १५४, प्रकारान्तरेण मुरजबन्धः ।

| |
|-------------------------|
| दिनें ध्वनेनितच्छत्र |
| धामो दुन्दुभिः स्वनेः । |
| दिनें विनिर्मेतस्तीत्र |
| अमददुरिभिर्जनेः । |

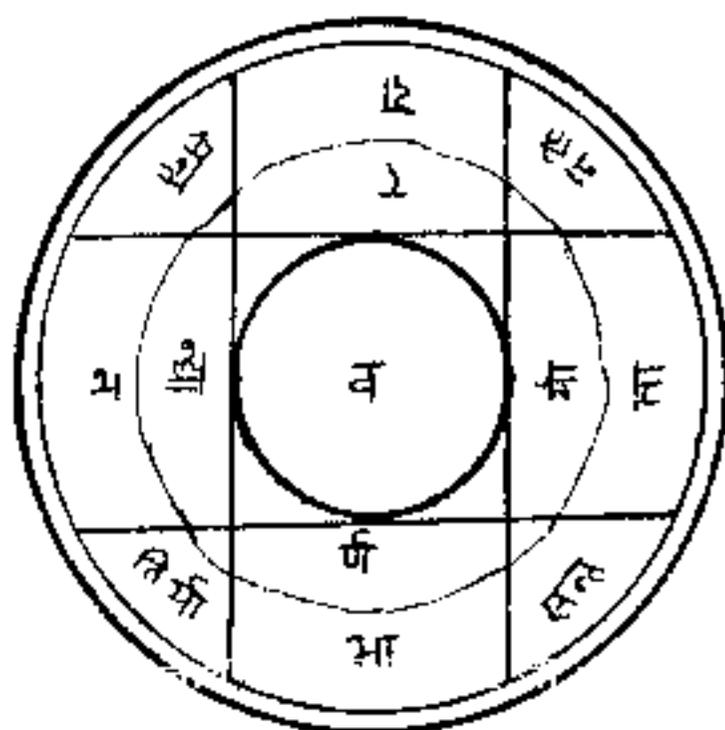
पृष्ठम् ८०, श्लोकः १५५, अर्धभ्रमबन्धः ।

| | | | | | | | |
|----|------|----|----|-----|----|-----|------|
| दि | पा | ये | कि | त | ये | ता | त्वा |
| घा | नु | पा | या | न्व | रा | न | त |
| घे | ऽपा | पा | या | त | पा | रा | ये |
| कि | माऽऽ | भा | ता | न | त | न्व | त |

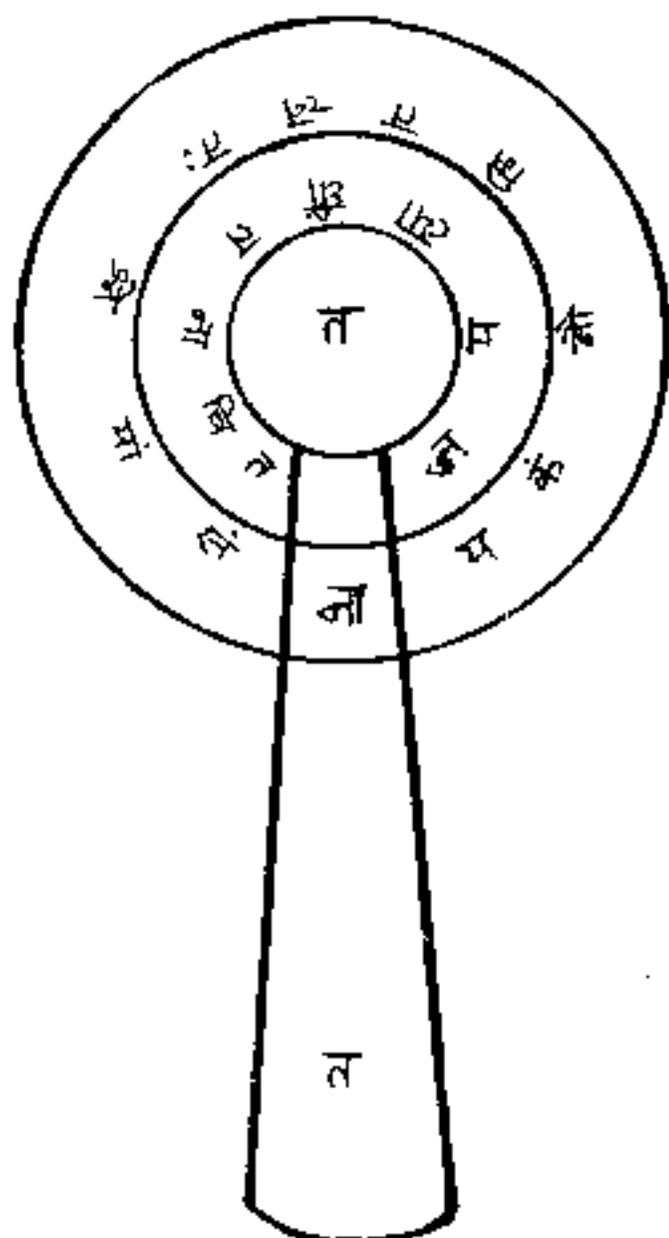
पृष्ठम् ८७, श्लोकः १६५, सर्वतोभद्रवन्धः ।

| | | | | | | | | | |
|----|-----|----|------|----|------|-----|-----|-----|----|
| पा | रा | वा | रा | का | र | र | वा | रा | पा |
| रा | क्ष | मा | क्ष | मा | क्ष | क्ष | मा | क्ष | रा |
| वा | मा | ना | म | ना | म | ना | मा | ना | वा |
| र | क्ष | म | इक्ष | म | इक्ष | म | ना | क्ष | र |
| र | क्ष | म | इक्ष | म | इक्ष | म | ना | क्ष | र |
| वा | मा | ना | म | ना | म | ना | मा | ना | वा |
| रा | क्ष | मा | क्ष | मा | क्ष | मा | क्ष | मा | रा |
| पा | रा | वा | रा | का | र | र | वा | रा | पा |

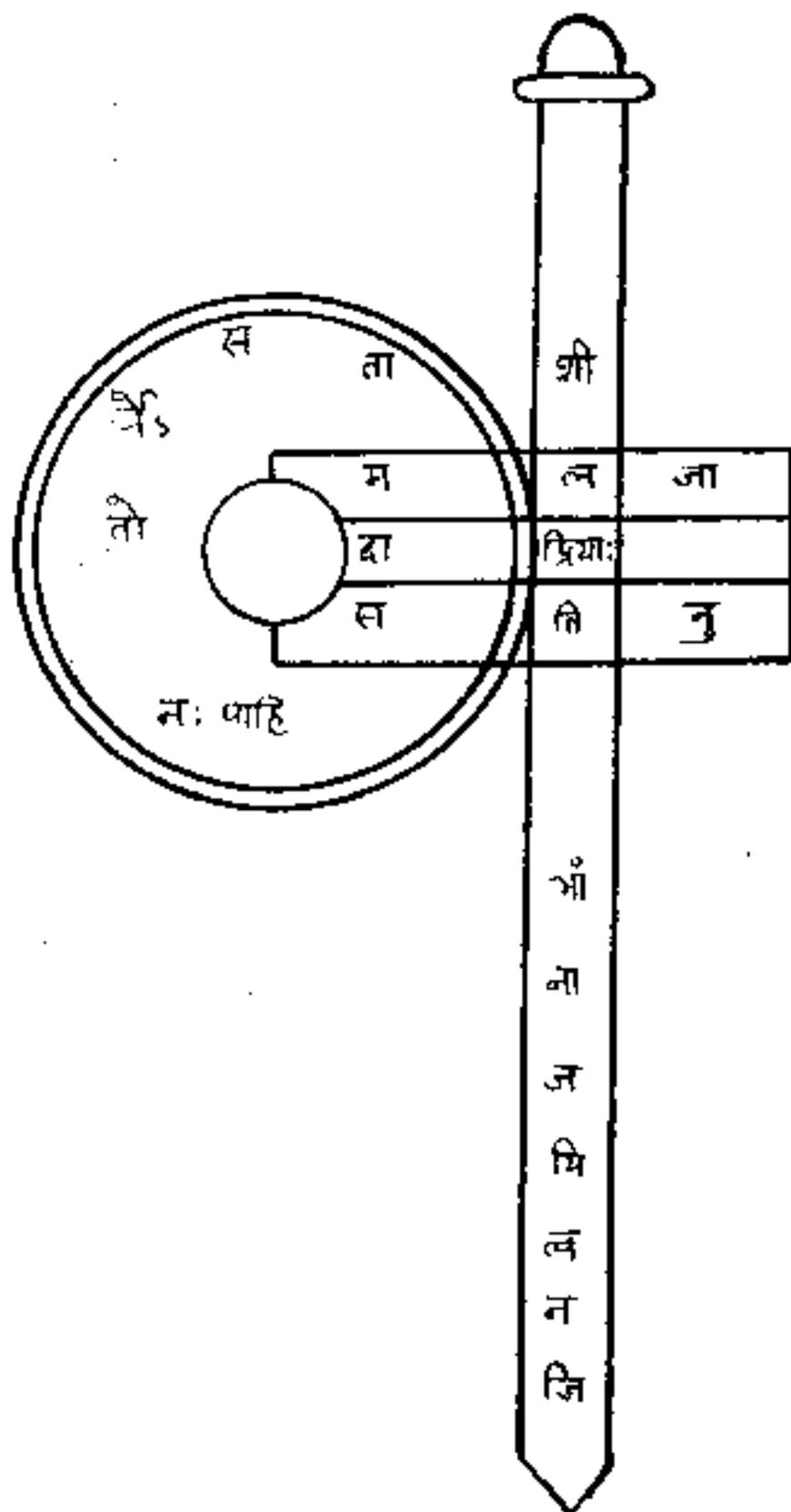
पृष्ठम् ८८,
श्लोकः १६६,
अक्षरबन्धः ।



पृष्ठम् ८९,
श्लोकः १६७,
दर्पणबन्धः ।



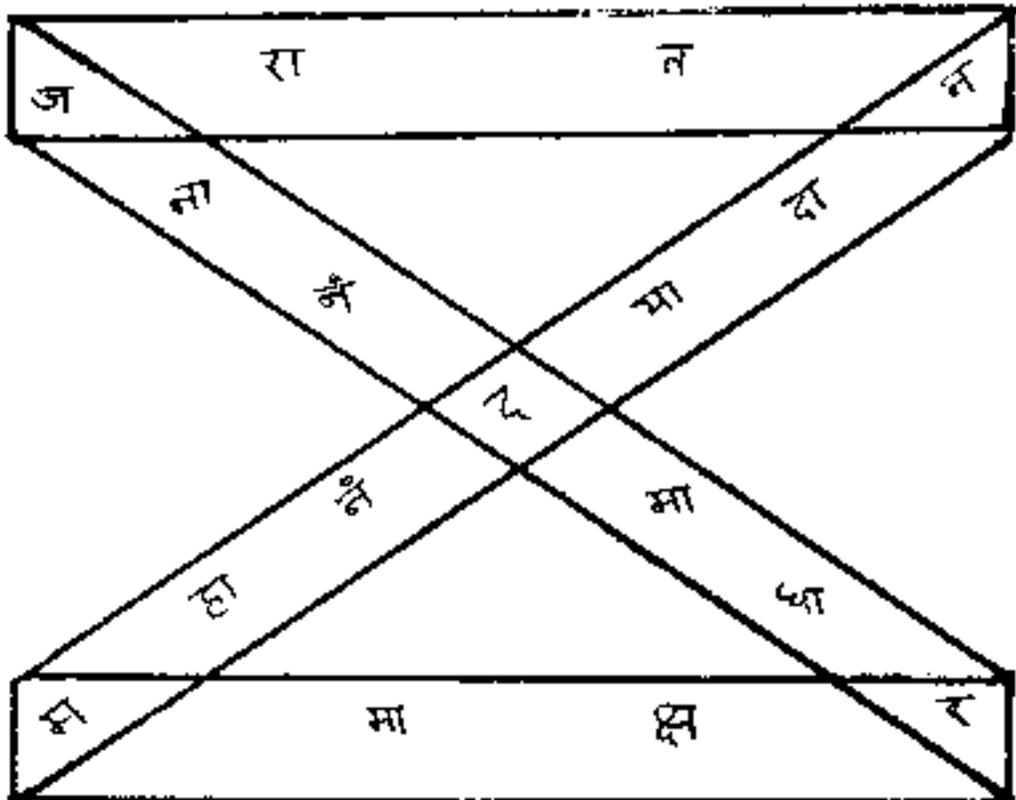
पृष्ठम् २१, श्लोकः १७२३, तालवृत्तबन्धः ।



पृष्ठम् ९०, श्लोकः १७०३, पट्टबन्धः ।

| | | | | | | | |
|-----|----|------|------|-----|----|------|----|
| धी | यी | द्वे | तं | च | ना | स्ये | कं |
| शी | भ | वं | मं | न | मी | मि | तं |
| कां | ता | य | स्मा | त्व | हं | जि | ता |

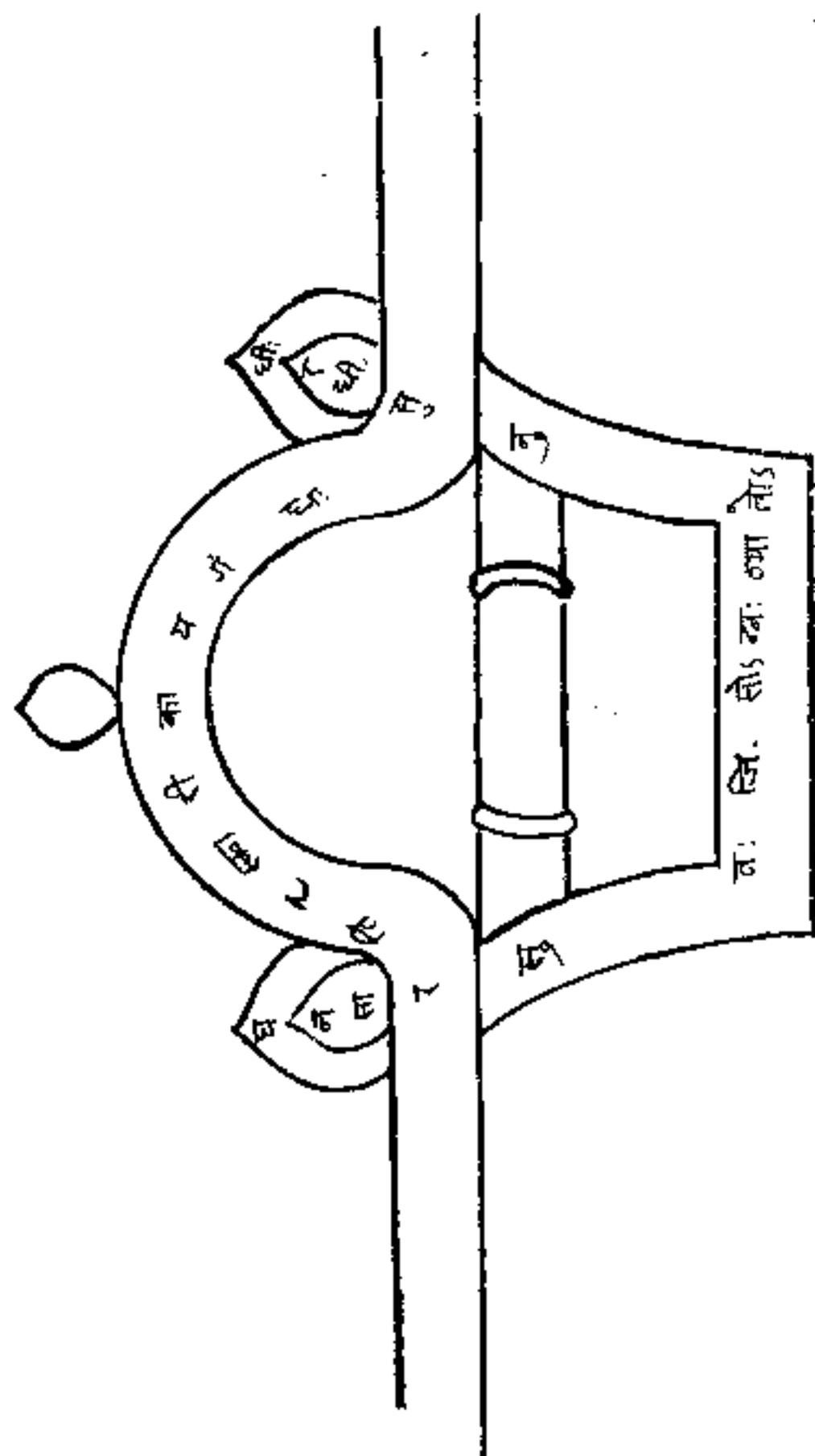
पृष्ठम् ९१, श्लोकः १७४३, निःसालबन्धः ।



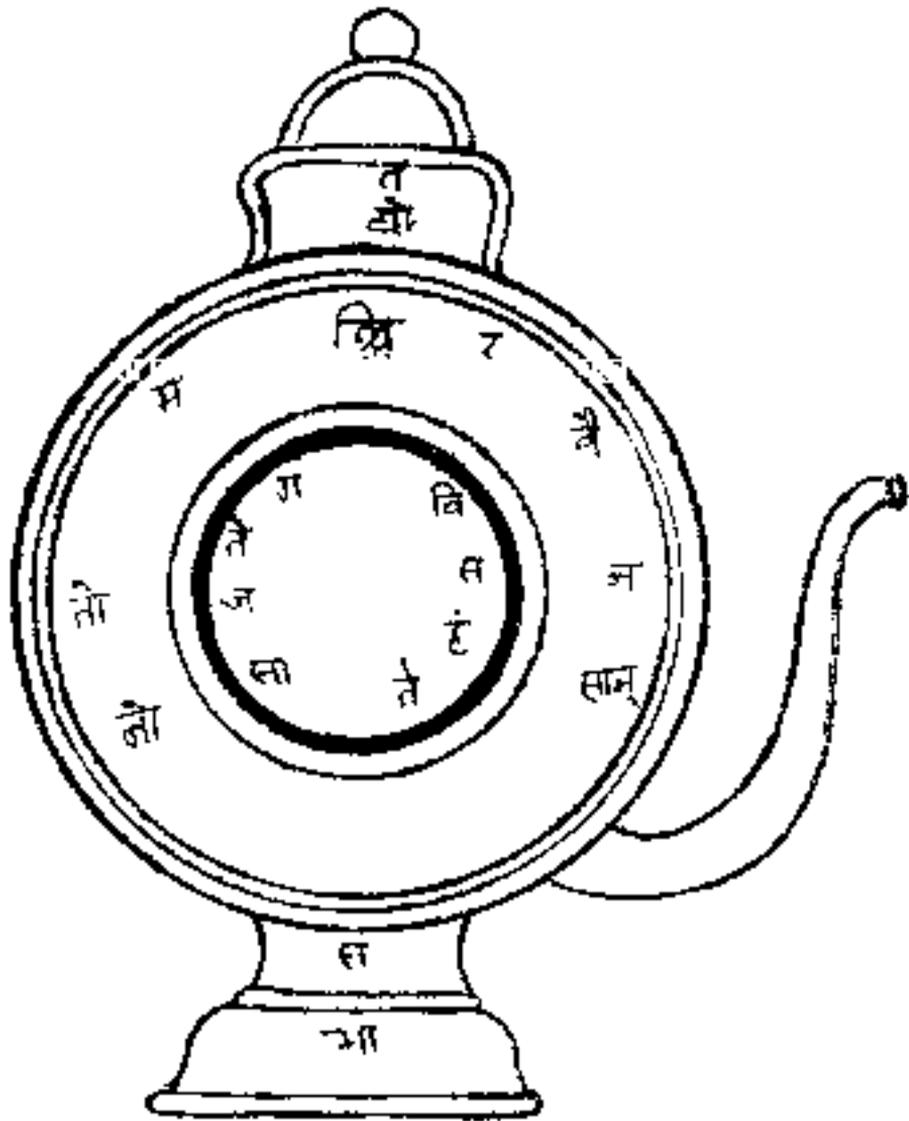
पृष्ठम् ६२, श्लोकः १७६३, ब्रह्मदीपिकाबन्धः ।



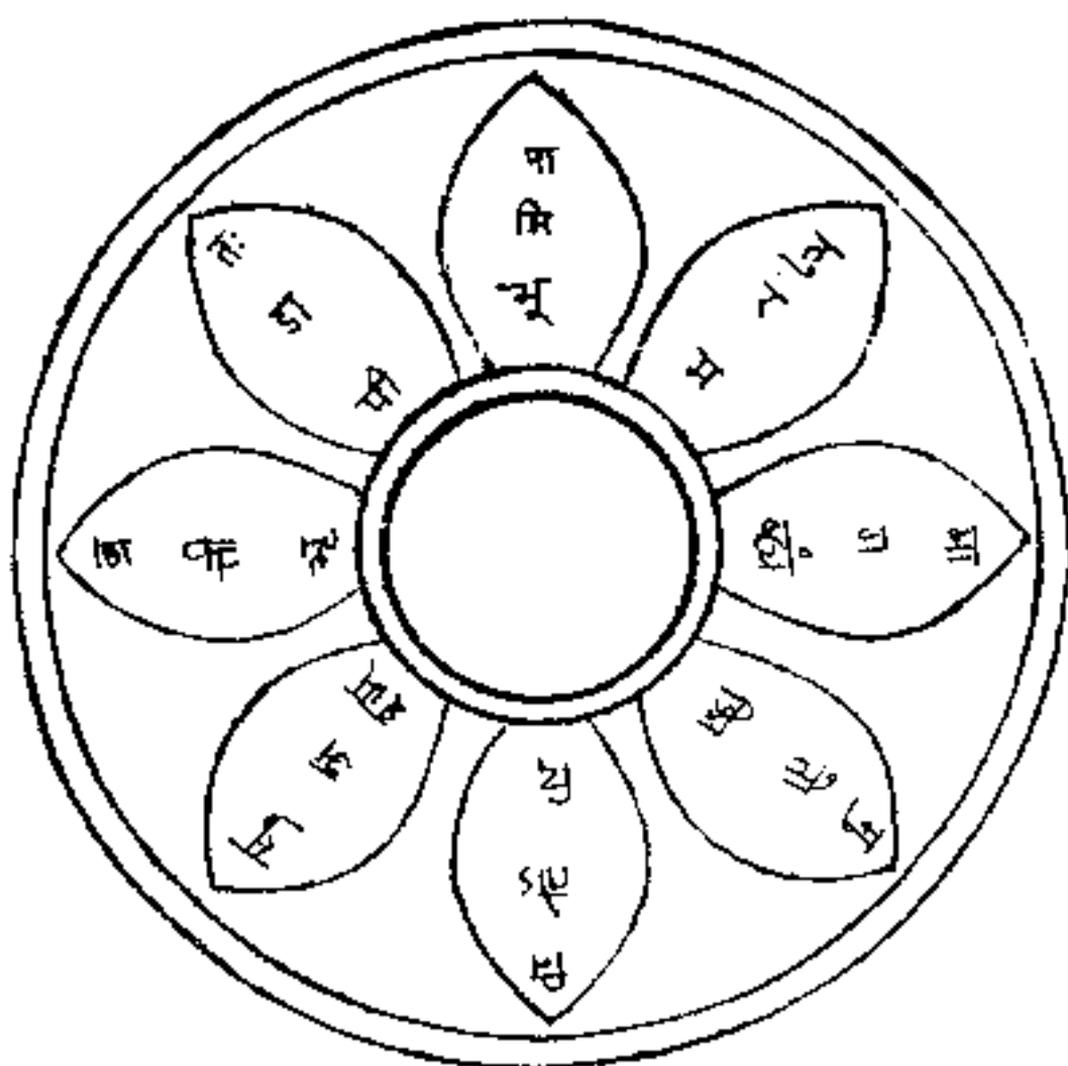
पृष्ठम्, १३, श्लोकः १८०३, यानवन्धः ।



पृष्ठम् ९४, श्लोकः १८४२, भृङ्गारबन्धः ।

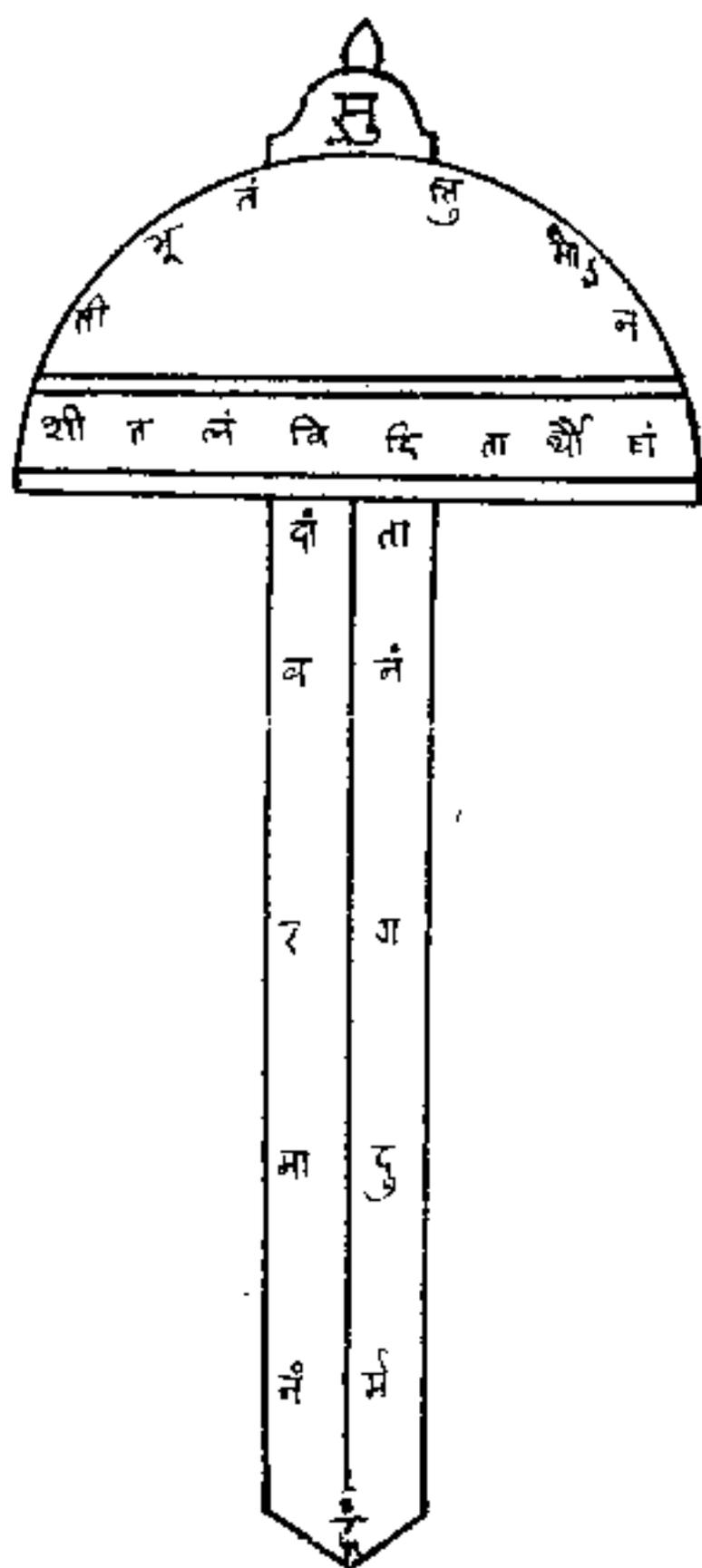


पृष्ठम् १५, श्लोकः १८६३, ब्रह्मदीपकवन्दः ।



अलंकारविन्तामणि

पृष्ठम् ९५, श्लोकः १८७३, छत्रवन्धः ।



पृष्ठम् १५, श्लोकाः १८८३, हारबन्धः ।

